





परम पृज्य १८८ ऋत्तार्य श्री शार् तसागर णि महाराज

॥ वीतरागाय नम ॥

परमपूज्य आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज द्वारा विरचित

**संयम प्रकाश**  
**पूर्वाब्द्ध-द्वितीय भाग**

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज के परम शिष्य परम पूज्य १०८  
मुनिराज श्री धर्मभूषणजी महाराज के मुनि अवस्था के प्रथम चातुर्मास के शुभ अवसर  
पर दिगम्बर जैन समाज कैलाश नगर द्वारा प्रकाशित एव स्वाध्यायार्थ सप्रेम भेट  
(वीर निर्वाण सम्वत् २५२० विक्रम सम्वत् २०५१ मिति दि० १४ सितम्बर १९९४)

प्राप्ति स्थान

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर

गली न० २ कैलाश नगर दिल्ली-११० ०३१

# श्री महावीराय नम

## प्रकाशकीय

१ अप्रैल १९९४ पूय (१५ शुक्लक श्री कुलभूषण जी अब मुनिराज श्री १८ धर्मभूषण जी महाराज के मुनिदीक्षा समारोह में गानौर मडी (हरियाणा) जाने का सुअवसर मिला नाथ में जैन समाज कैलाश नगर के प्रधान ला सुखवीर सिद्ध जैन गली न २ ला जयपाल जैन (अरहत धागे वाले) श्री धर्मपाल जैन प्रधान गली न १२ श्री चमनलाल जैन श्री सुभाष चन्द जैन जोहडी वाले श्री सुरेन्द्र कुमार जैन पानीपत वाले श्री मुखपाल सिंह जैन श्री आदिश्वर जैन आदि अनेक मानुभाव और शालीमार ब्राह्मण स श्री श्रीपाल जैन गोहाने वान) भी थे। दीक्षा महोत्सव के पश्चात् हम नाग महाराज श्री के दर्शनार्थ जागी भवन गये वहा महाराज श्री प्रसन और शात मुद्रा में विराजमान थे। साथ ही एक ग्रथ चौकी पर विराजमान था।

धर्म चर्चा के बीच महाराज श्री ने समय प्रकाश ग्रंथ पर प्रकाश जाला और उसके पुन मुद्रण की प्रेरणा समाज को दी। महाराज श्री को यह ग्रथ पालम कागोनी दिल्ली में प्राप्त हुआ था। महाराज श्री की प्रेरणा के फलस्वरूप समाज ने ग्रथ प्रकाशन करना स्वीकार किया और महाराज श्री से मुनिअवस्था का प्रथम चातुर्मास कैलाश नगर में करने की प्रार्थना महाराज श्री स की। पश्चात् महाराज श्री का विहार गुरुवर आचार्य श्री १८ शांति सागर महाराज के सानिध्य में अनेको स्थानो पर हुआ और जैन समाज कैलाश नगर न अनेक स्थानो पर कैलाश नगर चातुर्मास की प्रार्थना दान्तार्य। समाज की भक्ति व पुण्योदय से समाज की प्रार्थना स्वीकार हुई।

महाराज श्री की प्रेरणा ग्रंथ का प्रथम चतुर्मास जो १९९४ से कैलाश नगर में होना था प्रकाशित कर वितरित कराने की थी। वस अप अवधि में ग्रंथ को प्रकाशित कराने के लिए हमें किन्तु ना उपवान का निर्णय लेना पडा और मुद्रण में भी शीघ्रता की गई इसलिए मूलग्रथ की छपाई में जो त्रुटिया रह गयी थी वह पूर्णतया ठीक नहीं हो सकी फिर भी सतोष है कि ग्रंथ को पाठको तक समय पर देना संभव हो सका।

ग्रंथ के रचयिता परम पूय १८ आचार्य श्री सूर्य सागर जी महाराज परम तपस्वी थे।

इस ग्रथ में समय का वर्णन है यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसके समय में भेद प्रभेदो को बहुत विस्तार से समझाया गया है इसका प्रारम्भिक मगलाचरण में यह भी स्पष्ट है कि यह कोव नवीन रचना नहीं है समय प्ररूपक विभिन्न ग्रथों के विषय का संग्रह मात्र है। समय विषयक प्राय सभी जैन ग्रथों के प्रमाण वसमें मौजूद हैं। इतना ही नहीं जैनतर साहित्य के प्रमाणो को भी ग्रथ के विषय को समझाने के लिए उदघत किया गया है। इससे यह ग्रथ सर्व साधारण के लिए विशेष उपयोगी बन गया है। विभिन्न विषयो को देखने के लिए पाठक तो यह चाहता है कि वह थोडे समय में बहुत अधिक जान पाव। एस पाठका के नित्ये इस प्रकार के संग्रह बहुत उपयोगी होते हैं।

समय की उपयोगिता अत्यधिक रूप में सभी धर्माचार्यों ने स्वीकार की है। धार नास्तिक भी इसकी उपयोगिता को स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते। क्योंकि परलाक को छोड़ भी द तो भी उस लाक में मधुआ का शात एव सफल जीवन व्यतीत करने के लिए इसकी नितात आवश्यकता है। समय हीन जीवन पर्वत में गिर पाषाण चट्ट की तल कड़ा चक गिरगा समका कोर् अणज नहीं लगा सकता।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान होने के कारण समय का सर्वाधिक महत्त्व होता है। गहम्य धर्म प्रवृत्ति प्रधान है और मुनिधर्म निवृत्ति प्रधान है। यदि इन दोनों में ही समय का अभाव हो तो न वह सच्चा गन्तव्य है न ही सच्चा मुनि। इस निवे यह कहना सर्वथा उचित है कि समय ही मनुष्य के पवित्र जीवन की कमीती है। जैन शास्त्रों में जैसा भी मना नैतिक एव सम्पुण विवचन मिलता है ऐसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इस लिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय कर्त्तव्य को अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

इस ग्रन्थ के दस अधिकार हैं। आदि के पाच अधिकार (पूनाधर्म) मकर समय मुनि धर्म और अंत के पाच अधिकार (उत्तरार्द्ध) में दश नयम (गहम्य धर्म) का वर्णन है। पूर्वार्द्ध की पाच अधिकार प्रथम व द्वितीय भाग में हैं। और उत्तरार्द्ध के पाच अधिकार तृतीय व चतुर्थ भाग में हैं।

ग्रन्थ के प्रकाशन में मकल जैन समाज एव अन्य सहयोगियों का सहयोग हमें मिला जिसके फलस्वरूप बहुत कम समय में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका समस्त जैन समाज कैलाश नगर उनका आभारी हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में इसी प्रकार आप सबका सहयोग हमको मिलता रहेगा।

ग्रन्थ का स्वाध्याय कर्त्तव्य साधारण समय की ओर अग्रसर होकर अपना जीवन सफल बनाये।

इसी भावना के साथ स्वाध्यायार्थ संप्रेम भेद

श्री दिगम्बर जैन समाज कैलाश नगर दिल्ली ११० ३१

अध्यक्ष  
ला सुखवीर सिंह जैन

विशेष सहयोगी  
श्री श्रीपाल जैन  
(गोहाने वाले)

संयोजक  
श्री सुरेन्द्र कुमार जैन  
(पानीपत वाले)

सरक्षक  
श्री धनपाल मिह जैन  
(दरियागज)

## श्री १०८ आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज का जीवन परिचय

श्री आचार्य सूर्यसागर जी महाराज का जन्म कार्तिक शुक्ल नवमी शुक्रवार विक्रम सम्वत् १९४ को ग्वालियर रियासत के शिवपुर जिलान्तर्गत पेमसर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री हीरालाल व माता का नाम गैदबाई था। आप पोरवाल दिगम्बर जैन जाति के यसलहा गोत्र में उत्पन्न हुए हैं।

गृहस्थाश्रम में आपका नाम हजारीमल जी था। हीरालालजी के सहोदर भाई श्री बलदेव जी के कोई सतान नहीं थी अतः हजारीमलजी उनके दत्तक हो गये। बलदेव जी की धर्मपत्नी का नाम भूलाबाई था। बलदेवजी झालरापाटन में अफीम की दलाली करते थे। हजारीमलजी बाल्यावस्था में ही झालरापाटन आ गये और वहाँ ही उन्हें सामान्य शिक्षा प्राप्त हुई। दुर्भाग्यवश स १९५२ में जबकि हजारीमलजी बारह वर्ष के ही थे श्री बलदेव जी की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद हजारीमलजी का पालन पोषण झालरापाटन के प्रसिद्ध सज्जन नाथूरामजी जोरजी रावके द्वारा हुआ। ये बलदेवजी के परम मित्र थे। परिस्थितिवश हजारीमलजी को विशेष शिक्षा प्राप्त न हो सकी और छोटी अवस्था में ही शिवपुर जिले के मेवाड़ ग्राम में ओंकारमलजी पोरवाल की सुपुत्री मोलाबाई के साथ विवाह भी हो गया। इसके कुछ दिनों बाद हजारीमलजी इन्दौर चले गये और वहाँ आपने रावराजा सर सेठ आदि अनेक पद विभूषित श्री हुकुमचन्दजी साहब के यहाँ तथा बाद में स्वर्गीय सेठ कल्याणमलजी के यहाँ नौकरी की। किन्तु आपको नौकरी करना पसन्द नहीं आया। स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना ही आपने अच्छा समझा और एक कपडे की दुकान इन्दौर में ही कर ली। साथ में कपडे की दलाली भी करते रहे। इससे आपकी आर्थिक स्थिति सतोषजनक रही।

आपके कई सताने हुईं। उनमें श्री शिवनारायणजी एव समीरमलजी दो पुत्र अब भी मौजूद हैं जो इन्दौर में ही कपडे का व्यवसाय करते हैं।

हजारीमलजी की बाल्यावस्था से ही धर्म की ओर बहुत रुचि थी। शास्त्र स्वाध्याय पूजन प्रक्षाल सामायिक आदि में आप बचपन से ही काफी समय लगाया करते थे। ज्यो २ अवस्था बढ़ती गई धर्म की ओर आप अधिकाधिक झुकते गये। भाग्यवश आपको धर्मपत्नी भी ऐसी ही मिली जो धार्मिक चर्चाओं को अच्छी तरह समझती और गोमटसार आदि सिद्धान्त ग्रंथों का स्वाध्याय करती थी। इससे आपको ज्ञान वृद्धि में काफी सहायता मिली। पर दुर्भाग्यवश यह सहयोग बहुतकाल तक न रहा। वि० सवत् १९७२ में आपकी स्त्री का देहान्त हो गया। पत्नी वियोग के पश्चात् ससार, शरीर और भोगों से आप उदासीन रहने लगे और हृदय में वैराग्य मय जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा बढ़ने लगी।

स १९८१ का वर्ष था। एक दिन रात्रि के समय श्री हजारीमलजी को यह स्वप्न हुआ कि जलाशय में एक तख्ते पर बैठा हुआ कोई आदमी उनसे कह रहा है कि 'चलो आओ देर न करो। पर उसके आग्रह करने पर भी उन्होंने जलाशय में प्रवेश नहीं किया। तब उस आदमी ने तख्ते को किनारे पर लगाया और उनको किसी तरह तख्ते पर चढ़ाकर थोड़ी दूर जल में ले जाकर एक स्थान पर रखे हुए पीछी

कमण्डल की ओर सकेत करके कहा-इन्हें उठा लो। पर उन्होंने इनकार कर दिया। उस व्यक्ति के दो तीन बार कहने पर भी जब उन्होंने पीछी कमण्डल नहीं उठाये और 'नहीं उठाऊंगा यह कहते हुए ही बिस्तोर पर कुछ हटे तो पलग पर से गिर पड़े।

यह सब स्वप्न था। कोई सच्ची घटना नहीं। फिर भी इसने हजारीमलजी के जीवन में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया और उनका ससार छोड़ने का विचार और दृढ़ हो गया। सयोगवश उस वर्ष सवत् १९८१ में श्री शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) का चातुर्मास्य योग इन्दौर में ही था। हजारीमलजी को ससार से विरक्ति हो गई थी। फलस्वरूप आसोज शुल्का षष्ठी वि स १९८१ को श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) के पास आपने ऐलक दीक्षा ले ली। ऐलक हो जाने के बाद इन्हीं हजारीमलजी का नाम सूर्यसागरजी रखा गया। इसके ५१ दिन पश्चात मगसर कृष्णा एकादशी को हाटपीपया (मालवा) में उन्हीं आचार्य शान्तिसागरजी के पास सर्व परिग्रह को त्यागकर आपने निर्ग्रन्थ दिग्म्बर दीक्षा धारण कर ली।

मुनि जीवन की दीक्षा के बाद स्वात्मोत्थान का विचार तो आपके सामने रहा ही पर स्वेत्र प्राणियों को किस तरह धर्म पर लगाना चाहिए यह विचार भी आपके हृदय में सतत बना रहा और इसके अनुसार आपकी शुच प्रवृत्तिया भी होती रहीं। आपके सद्उपदेशों से अनेक स्थानों पर पाठशाळाएँ, औषधालय आदि अनेक परोपकारी सस्थाएँ खुलीं। सैकड़ों स्थानों में विनाशकारी सघर्ष मिटकर शान्ति स्थापित हुई। जो झगड़े-यायालयों से न मिट सके थे जो पचासो वर्षों से समाज की शक्ति को क्षीण कर रहे थे जिनमें हजारों रुपये नष्ट हो चुके थे जिनको लेकर बीसों बार मारपीट और सिर फुटबाल तक हो चुकी थी परस्पर पिता-पुत्र भाई बहन स्त्री पुरुष आदि में जिनके कारण खूब लडाइया चल रही थीं परस्पर कुटुम्बियों में जिनके वजह से आना जाना और मुख से बोलना तक बंद था-ऐसे एक नहीं सैकड़ों व्यक्तिगत सामाजिक पचायत परोपकारी सम्बन्धित चौमू, भिड जयपुर टोक मुगावली दक्षुरई चंदेरी हाटपीपत्या टीकमगढ नेणवा उदयपुर सेपवारी भीलवाडा नरसिंहपुरा डबोक साक्रोदा भादवा आदि सैकड़ो स्थानों के झगडे आपके उपदेशाश्रुत से शांत हुए। इससे जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। जिन जिन नगरों व ग्रामों में आपका पदार्पण हुआ है शान्ति की लहर दौड गई है। यही वर्तमान मुनि समाज में आपका आदरणीय स्थान है और सभी नवीन तथा प्राचीन विचार वालों की आप में श्रद्धा है। जैन समाज में ही नहीं जैनेतरों पर भी आपके उपदेशों का प्रभाव पडता है और फलस्वरूप वे प्रतिज्ञाएँ लेते हैं।

मुनि दीक्षा लेने के बाद अब तक निम्नलिखित स्थानों पर आपका चातुर्मास्य योग हुआ है

विक्रम सवत् १९८२ में-ललितपुर। स ८३-८४ में इन्दौर। स -८५ में-कोडरमा। स ८६ में-जबलपुर। स० ८७ में-दमोह। स०८८ में-खुरई। स ८९ में-टीकमगढ। स० ९० में-भिड। स ९१ में-आगरा। स ९२ में-लाडनू। स ९३ में जयपुर। स ९४ में-अजमेर। स ९५ में-उदयपुर (मेंवाड)। स ९७ में-भिडर (मेंवाड)। स० ९८ में-भीलवाडा (मेवाड)। स० ९९ में-लाडनू। स० २००१ में जयपुर। इन सभी स्थानों पर आपकी पावन-कृपा से जनता को बहुत लाभ पहुचा है

# धार्मिक शिक्षा एव सामाजिक सगठन के प्रेरणा स्रोत

पूज्य मुनिराज श्री १०८ धर्म भूषण जी महाराज

पूज्य मुनिराज कर्हणा की मूर्ति निस्पृह वृत्ति समान सुधारक महान तपस्वी दिगम्बर सन्त हैं। आपकी आदर्श मुनिचर्या एव किठन तपस्या का जनमानस पर अपूर्व प्रभाव है। आपकी प्रवचन शैली जनसाधारण की भाषा में हृदय ग्राही ओजस्वी एव तर्क संगत है।

आप का जन्म श्रावण शुक्ल सप्तमी विक्रम सम्वत् १९३६ को उत्तर प्रदेश क मेरठ जिला अन्तरगत करनवाल ग्राम मे सम्पन्न एव धार्मिक परिवार मे हुआ। आपके पिता श्री डाल चन्द जैन और माता श्रीमती हुक्मा देवी जैन सरल परिणामी सदग्रन्थ थे। आपका नाम प्रेम चन्द रखा गया। बालक प्रेम चन्द बचपन से ही धर्म के प्रति रुचिवान और जिज्ञासु थे। १७ वर्ष की अल्पायु मे आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज के सानिध्य मे क्षुद्र जल का त्याग एव सयम का प्रतीक जनेऊ धारण किया। ग्रहस्थ मे रहते हुए आपने व्यापार मे प्रमाणिकता स्थापित की परन्तु व्यापार आपका विषय नहीं था। आपका मन तो वैराग्य की ओर झुका हुआ था। सयम के प्रति रुचि प्रणामो मे निर्विक्ता बढ़ती गई और २४ वर्ष की आयु में आचार्य शिवसागर जी महाराज से स्वामिया की जयपुर मे दसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। निरन्तर धर्मध्यान आहादान साधु सतो मे रहना व्रत सयम आपकी दैनिक चर्या बन चुक थे। फलत ८ वर्ष की आयु मे आचार्य विमल सागर जी महाराज से पहाडी धीरज दिल्ली मे सप्तम प्रतिमा व्रत ग्रहण किए। साधना बढ़ती गई और ४१ वर्ष की आयु में पूज्य आचार्य १८ श्री शांति सागर जी महाराज (हस्तिनापुर वालों से) रामपुर मनहारन मे धुल्लक दीक्षा ग्रहण की। मन्तारात्र श्री ने आप का नाम कुलभूषण रखा। आपका विहार सर्वत्र ग्राम नगर उ प्र हरियाणा दिल्ली अनेक स्थानो मे हुआ और अनेक चतुर्मास हुए। आपक उपदेशो से प्रभावित होकर जगह जगह धार्मिक पाठशालाए स्कल कालिज योगी भवन धर्मशाला बनवाए व जिनवाणी का त्रिणोधार काया। आप उपदेशो मे समाज उन्धार देहेज प्रथा पर प्रतिबध एव बच्चों के लिए धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था आदि पर विशेष ध्यान देते हैं।

छपरौली मेरठ में जैन कॉलिज एव गनौर मंडी (हरियाणा) मे जैन कालिज धर्मशाला जिनमदिर जिर्णोद्धार आदि बहुत बडे कार्य आपकी प्रेरणा से हुए परन्तु निस्पृह वृत्ति के परिणाम स्वरूप आपने किसी भी म्यान पर अपना नाम लिखवाने से मना कर दिया।

साधना दिन प्रतिदिन बढ़ती गई एव परिणामो मे निर्मलता आति गई। और दि १७ ४ ९४ को गनौर मण्डी हरियाणा मे परम पूज्य आचार्य १०८ श्री शांति सागर जी महाराज से दिगम्बर मुनि व्रत ग्रहण किए। महाराज श्री ने आपका नाम मुनिवर श्री १८ धर्मभूषण जी रखा

मुनि दीक्षा का समारोह बहुत आकर्षक था। गन्नौर मन्त्री का दुन्हन की तरफ पजाया गया था। दूर दूर से सामाजिक नेता राजनेता विद्वान गण पधारे थ। अपार जन समूह दिगम्बर व की जय बोन रहा था।

महाराज श्री का मुनिअवस्था का प्रथम आहार मठ चन्द्रभान आनन्द कुमार जैन (राइस मिल वाले) गन्नौर गण्डी हरियाणा मे हुआ था।

जैन समाज कैलाश नगर की प्रार्थना स्वीकार कर महाराज श्री न मुनिअवस्था का प्रथम चतुर्मास का सौभाग्य कैलाश नगर वासियो को दिया। चतुर्मास मे बहुत धर्म प्रभावना हो रही है प्रवचनो मे बहुत भीड रहती है। महाराज श्री की हम पर अपार कृपा है।

चतुर्मास क इस पुनित अवसर पर महाराज श्री क चरणो मे शत शत नमोस्तु

## दिगम्बर जैन समाज

कैलाश नगर दिल्ली ११ ३१

## सक्षिप्त जीवन परिचय

पिता	स्वर्गीय श्री डाल चन्द जैन
माता	स्वर्गीय श्रीमती हुक्मा देवी जैन
भाई	स्वर्गीय सलेक चन्द जैन व रूप चन्द जैन
बहिन	श्रीमती कमला तथा जयमाला देवी जैन
धर्मपत्नी	श्रीमती शीलवती जैन
सुपुत्र एव	
सुपुत्री	श्री आदिश कुमार जैन एव अजना जैन

# पूज्य १०८ मुनिराज श्री धर्म भूषण जी महाराज का सदेश

- 1 स्वाध्याय परम तप है  
स्वाध्याय से ज्ञान और ज्ञान से चरित्र में निर्मलता आती है अतः नित्यप्रति धार्मिक ग्रंथों का घर व मंदिर जी में स्वाध्याय करना चाहिए।
- 2 नित्य प्रति देव दर्शन रात्रि भोजन का त्याग और पानी छान कर पीना चाहिए।
- 3 मास मदिरा अडे आदि के सेवन का त्याग तो प्रत्येक जैन के जन्म से ही होता है चौंदि का बर्क साबूदाने रेशमी वस्त्र आदि का जिनके उत्पादन मे हिंसा होती है ऐसी सभी पदार्थों का त्याग करे।
- 4 विवाह आदि के अवसर पर रात्रि में सामूहिक भोजन एव दहेज प्रथा पर प्रतिबध लगावे।
- 5 जनसाधारण के हितार्थ प्रत्येक स्थान पर धर्मार्थ औषधालय खोले जायें जिनमें शुद्ध औषधि का प्रबध हो जिनके माध्यम से ब्रतियों साधु सतों की सेवा भी की जा सके।
- 6 बच्चों का भविष्य उज्ज्वल बनाने और सासारिक करने के लिए धार्मिक पाठशालाएं खोली जाएं जिनके माध्यम से बच्चे ज्ञानवान चरित्रवान बनें व अपने कर्तव्यों का बोध कर देश व समाज की उन्नति मे सहयोगी बनें।

आशा है उपरोक्त तथ्यों की और समाज जागरूक होकर कर्तव्य का पालन करेगा।



परम पूज्य १०८ मुनिराज श्री घर्मभूषण जी महाराज

## शिष्य परम्परा

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (छाणी)

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ सूर्यसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विजयसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ निर्मलसागरजी महाराज

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (हस्तिनापुर)

परम पूज्य मुनिराज श्री १०८ धर्म भूषणजी महाराज

## भजन

हम स्यादवाद का डका फिर  
दुनिया मे आज बजाये गे ।  
प्रभु वीर जिनेश्वर क गुण गा  
जग से मिथ्यात हटाये गे ।।  
हठ का हम भूत भगायेगे  
उपेक्षा से समझाये गे ।  
अनके गुण है वस्तु मे  
स्याद वाद से बतलाये ग ।।  
है एक उमग भरी दिल मे  
लहराये अशिसा का झडा ।  
है भव्य जीवो से भरी हृद  
पृथ्वी को कर दिरालाये गे ।।  
परिग्रह वृत्ति को दूर भगा  
आकिचन धर्म अपनाए गे ।  
मिद्धान्त तीन मन्वीर के है  
जन जन मे हम पहुचाये गे ।।  
समत भद्र नैमा डका  
अक लक बन आज बजाये गे ।  
आचार्य कट कद कह गये  
अध्यात्म सुमन सजाये गे ।।  
जिन धर्म का बिगुल बनायेगे  
राम दूर भगा कायरता को ।  
हा छोड वृथा अगडे को हम  
अण्डे की लाज बचाये गे ।।

## \* विषय-सूची \*

— > २२२२२२ < —

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
मङ्गलाचरण	१४१	बहु आदि जीव के उपकारक नहीं	१४४
भावना का महत्व		धम की प्रशंसा	१४६
भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद	१४४	ज्ञानवान को शरीर और धनादि में अनुराग क्यों नहा होता ?	१४७
वारह भावनाओं का नाम	१४३	अयत्न भावना	१४८
अनित्य भावना		अयत्न का ४ भेद	
धन का अनित्यता	१४३	जीव से भिन्न अयत्न वस्तु का स्वरूप	१४९
जावन की अनित्यता	१४४	ससार में कौन किमका हुआ है ?	१५०
यावन का अनित्यता	१४४	सृजन व परजन का भेद	१५१
मव पदार्थों की अनित्यता		शत्रु व मित्र कौन है ?	१५२
अशरण भावना	१४९	समारानुभ्रंजा	१५३
कर्मोन्मत्त की प्रबलता	१४७	ससार का स्वरूप	
शरण के भेद-प्रभेद	१४१	जीवों की अवस्था के भेद	
एकत्व भावना	१४२	( १ ) संसार	१५४
एकत्व के भेद		( २ ) असंसार	"
प्रकारान्तर से एकत्व भावना का स्वरूप	१४५	( ३ ) नो संसार	"
		( ४ ) तत्रितय चपाय	"

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
चारों प्रकार के ससार का स्वरूप और उनका काल	५६४	लोक के विभाग—	५५५
पांच प्रकार का परिवर्तन	५६५	अधोलोक का वर्णन	
द्वय-परिवर्तन	५६५	निगोत्रिया जीवों का निवास	
स्रोत्र-परिवर्तन	५६७	नरक पृथ्वियों का वर्णन	५८३
काल परिवर्तन	,	प्रथम पृथ्वी और उसके ३ विभाग	"
भाव का तात्पर्य	५६६	स्वर भाग की १६ पृथ्वियों	,
भाव-परिवर्तन का विस्तार पूर्वक वर्णन		५क भाग	
भव परिवर्तन	५७१	अव्यहृत्त भाग	"
संसार में जीव को सवत्र भय	५७२	सातों नरकों की मोटाई व रूढ़ि नाम	,
जीव का चौरासी लाख योनियों में = न्य	५७३	नारकियों के शरीर की ऊंचाई	५८४
संसार के छह भेद	५७४	नरक में ठंड और गर्मी	,
संसार में दुःख ही दुःख	५७५	नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार	५८५
सांसारिक सुख के साथ दुःख	५७७	नरक में जन्म कौन लेता है ?	५८६
लोकानुभवे	५७७	नरकों के उत्पाद स्थानों का आकार व उनमें जन्म की दशा	५८७
लोक के भेद	५७७	नारकियों के दुःख	"
लोक का स्वरूप	५७७	नारकियों की आयु व शरीर की ऊंचाई	"
लोक का आकार	५७८	नारक जीवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र	५६१
वातवलयों के आधार पर लोक की स्थिति		नरक से निकले हुए जीवों का उत्पत्ति-क्रम	"
अन्यमर्तों का अपेक्षा लोक का स्वरूप		नरक में गमन करने वाले जीवों का विभाग	"
सांख्य मत की अपेक्षा लोक का स्वरूप		नरक पृथ्वी में जीवोत्पत्ति का अंतर	"
सांख्यादि अन्यमर्तों का निराकरण	५८६	भवनवासियों के आवास—	"
	५८६	भजनवासी देवों के भेद	५६३
	५८०	इंद्रों में परस्पर ईर्ष्या	"
	५८०	भवनवासी देवों के बिह्व	"
	५८०	भवनवासी देवों के भवनों की विशेषताएँ	"

विषय
व्यन्तरादि देवों के आवास-स्थान
देवों में इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम
इन्द्रों की सभा सेना व देवागनापै
अमुरादि देवों के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम
देवों के शरीर का उ सेच
यन्त्र देव
यन्त्रों के शरीर का वणन
य त्रों के चैत्य वृक्ष
यन्त्रों में इन्द्र प्रतीन्द्र द्वागना व सना
यन्त्रों के इन्द्रों के नगर
वाण यन्त्रों के भेद आवास स्थान और उनकी आयु
यन्त्रों के निलय
यन्त्रों के रहन क क्षेत्र
<b>मध्यलोक</b>
तिर्थक लोक का वर्णन
जम्बूद्वीप का वणन
कुलाचलों का विस्तार और वणन
कुलाचलों पर सरोवर
सरोवरों के मध्य कमल और उनपर सपरिवार देवियाँ
झण्डों से नदियों का उद्गम
गङ्गा नदी के निकास व गमनादि
सिंधु ”
शेष नदियों का वणन
नदियों का विस्तार
भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

प्रश्न संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
५६४	विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु का स्वरूप	६०६
,	अथ चार मेरु पर्वत	”
,	सुमेरु पर्वत की चौड़ाई का क्रम	६०७
५६५	मेरु पर स्थित शिलाओं का वणन	६०८
	जम्बू वृक्ष का वणन	”
५६६	विदेह क्षेत्र	६१०
	वृषभाचल पर्वतों का वणन	६११
”	राजधानियों का वणन	६१२
	नाभिगिरि का वणन	”
५६७	कूर्णों का वणन	”
	कालचक्र का परिवर्तन	६१३
५६८	उत्तर्पिणी अवसर्पिणीकाल और उनके ६ भेद	”
	काल की अपेक्षा जीवों की आयु	”
५६९	कल्पवृक्षों के भेद	६१४
	भोगभूमि का स्वरूप	६१५
	कमभूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरों की उत्पत्ति	”
	कुलकरों का काय	६१६
६०	तिरसठशालाका के पुरुष	६१७
	तिर्थकरों के शरीरों की ऊँचाई व आयु का प्रमाण	”
,	तिर्थकरों के अन्तराल	६१८
६२	जिनधर्म का उच्छेत्काल	”
	शक और कल्की की उत्पत्ति	६१९
६०३	नियत भोगभूमियाँ	”
६०४	कुभोग भूमि कहा कहा है ?	६२०
६०५	कुभोग भूमियों में जन्म लेनेवाले जीव	”
”	धातकीसङ्घ और पुष्कराध की रचना	६२१

विषय	पृष्ठ संख्या
लवण समुद्र का पालाक	
अथ द्वीप व समुद्र	
समुद्रों के जल का रसास्वात्	
योतिष देवों का वयान	
योतिष देवों के विमान	
विमानों के आकार व वय	
योतिष विमानों की गति	
सूय व चन्द्रमा की संख्या	
चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथियाँ	
योतिषियों की आयु	
योतिष देवों की त्रेत्रागनाय	
योतिष देवों में उपपात	
<b>उर्ध्वलाक</b>	
उर्ध्वलोक का विस्तार	
स्वर्गों में त्रैत्रिक क्रम	
नवग्रहैवेयानि वर्णन	
प्रतर संख्या	
विमानों की गति	
प्रकाशक विमानों की संख्या विस्तार और बाह्यरूप	
विमानों के रंग	
त्रैत्रिक निवास करने का विमान और उसका नाम	
त्रैत्रिक नगर	
महा त्रियों व त्रिकाया परिवारानि का गणन	
इंद्र के आस्थान मण्डप का स्वरूप	
मानसम्भ और करण्डक	

पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
६२१	त्रैत्रिक उत्पत्ति गृह	६३५
६२	कल्पवामिनो देवागनाथों के उत्पत्ति स्थान	"
६२३	देवों का प्रकीर्ण ( काम सेवन )	
६२४	वैमानिक देवों की विक्रिया गमन शक्ति और अवधिज्ञान	६३६
	सौधर्मादि देवों के जन्म व मरण का विरह काल	
	इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल	६३७
६२६	आभियोग्यानि अधम देव जैसा क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं	६३७
	घातायुधक की आयु	
६२७	भवनत्रिक देवों में घातायुधक सम्पत्ति और मिथ्यादृष्टि की आयु	६३८
६२८	लौकिक देवों का स्वरूप अवस्थान आयु आदि का वयान	
	कल्पवासिनी त्रियों की आयु का प्रमाण	६३९
	गुणस्थान की अपेक्षा त्रैत्रिक जन्म	
	देवों के जन्म का घुसान	६४०
	देवादि की विभूति किनको प्राप्त होता है ?	६४१
	ईषत्रागभार नामक अष्टम पृष्ठा	
६६	<b>अशुचि अनुप्रेक्षा</b>	६४२
	शरीरादि की अपवित्रता	६४२
	शरीर का उपादान भा अशुचि है	५४३
६३१	शरीर की उत्पत्ति का क्रम	
६३२	शुद्धि के भेद	"
	लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	६४५
६३३	लोकोत्तर शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप	६४६
६३४	<b>आस्रवानु प्रेक्षा</b>	६४८
	आस्रव का स्वरूप	"

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का स्वरूप	६४६	उत्तम सत्य	६६६
अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप		सत्य के दश भेद	६६७
शुद्धोपयोग के भेद	६५१	उत्तम समय	६६८
मुनि का शुद्धोपयोग	६५१	समय के भेद और उनका स्वरूप	
गृहस्थ का शुद्धोपयोग		समयी का निवास	
सवर भावना	६५२	उत्तम तप	६६६
सवर का स्वरूप		उत्तम आकिञ्चन्य	"
बध का सच्चिप्त स्वरूप		उत्तम ब्रह्मचर्य	"
१५ प्रमादों का कथन	६५३	बोधिदुर्लभ भावना	६७०
इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति		मनुष्य-जन्म कितना दुर्लभ है	
निर्जरानुप्रेक्षा	६५४	अनगार-भावना अधिकार	६७२
निर्जरा के २ भेद व उनका स्वरूप	६५५	१ लिङ्ग शुद्धि	६७२
धर्मानुप्रेक्षा	६५६	दीक्षा योग्य पात्र	६७३
धम का स्वरूप		पात्र के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रों का उद्धरण	६७४
दशलक्षधर्म		शून्य के पात्र की अपेक्षा भेद	६७५
उत्तम धमा	६५७	दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे	६७७
उत्तम मार्दव	६६	लिङ्गशुद्धि आयतन है	"
उत्तम आर्जव	६६३	लिङ्गशुद्धि का प्रतिमा रूप से बरण	६७८
उत्तम शौच	६६४	लिङ्गशुद्धि से लाभ	
लोभ के भेद और उनका स्वरूप	"	२ व्रत शुद्धि	६७९
		३ वसतिका शुद्धि	६८०

विषय	पृष्ठ संख्या
भयानक वन में मुनि का निवास	६८१
<b>४ विहार शुद्धि</b>	६८२
मुनि की पापभीकता	६८४
<b>५ भिक्षा शुद्धि</b>	६८४
भिक्षार्थ पर्यटन विधि	६८७
<b>६ ज्ञान शुद्धि</b>	६८६
विद्वान् माधु कैसे होते हैं	६६
<b>७ उज्ज्वल शुद्धि</b>	६६१
उज्ज्वल शुद्धि के ४ भेद और उनका स्वरूप	६६४
—याधि उज्ज्वल होने पर मुनि क्या करते हैं	६६५
<b>८ वाच्य शुद्धि</b>	६६८
वचन प्रयोग	६६६
लौकिक कथा निषेध	६६८
<b>९ तप शुद्धि</b>	६६९
कायक्लेश तप	७०
अभ्रावकाश योग	
आतपन योग	
वृक्षमूल योग	
वचन जन्य क्लेशनाप	
शस्त्रादि प्रहार को सहने की क्षमता	

पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
६८१	<b>१० ध्यान शुद्धि</b>	७०१
६८२	इन्द्रिय विजय	७०२
६८४	इन्द्रिय विजय से ही ध्यान सिद्धि होती है	७०३
६८४	मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका समयमादि आठ अनुयोगों द्वारा वर्णन	७०५
६८७	लिंगकल्प के चार भेद	७०८
६८६	प्रतिलेखन ( मयूरपिच्छिका ) का स्वरूप	७०९
६६	प्रतिलेखन में आवश्यक पांच गुण	७११
६६१	मयूरपिच्छिका का ही प्रतिलेखन क्यों ?	७१२
६६४	११ प्रकार का श्रमण कल्प	७१३
६६५	भाव श्रमण बनने का उपदेश	७१४
६६६	भिक्षा शुद्धि कब होती है ?	७१५
६६८	क्या मुनि आदर के भूखे हैं ?	७१६
६६९	मुनि के ठहरने योग्य स्थान	७१७
७०	दुजन-ससग त्याग	७१८
	पापश्रमण का लक्षण	७१९
	शास्त्र स्वाध्याय का महत्त्व	७२०
	भेद विवर्तन	७२
	राग इत्यादि का त्याग	७२१
	पदार्थों से विरक्ति	७२२
	इन्द्रियों पर विजय	७२३
	मेषुनन्द्रिय विजय	७२४
	स्पृशानेन्द्रिय विजय	७२५
	स्त्री-स्वरूप चिन्तन-त्याग	७२६
	ब्रह्मचर्य के भेद	७२७

विषय
ब्रह्मचर्य रत्नाय ऋश दोषों से बचना
यति के दो प्रकार का त्याग
शील अनुरूपण
शील के १८० भेदों का वर्णन
चौरासी लाख उत्तर गुण
मिस्रि २१ भेद
शील विराचना के १० भेद
आरम्भित आदि १ आलोचना के दोष
प्रायश्चित्त के दश भेद

पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
७२४	शील और उत्तर गुणों के विशद ज्ञान के लिये ५ प्रकार	७२६
७२५	शील व गुणों की संख्या निकालने का नियम	७३
७२६	प्रस्तार का उपपत्ति क्रम	७
७२७	सम प्रस्तार	७३१
	विषम प्रस्तार	,
७२८	अक्षरमक्रमण का नियम	७३
	नष्ट निकालने की विधि	७३
७२९	डाढ़प्ट का विधान	,
	पूर्वाद्ध चतुर्थ किरण की समाप्ति	७३५



## \* विषय-सूची \*

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
वृहत्समाधि अधिकार वर्णन	७३७	३ अविधि मरण	७४२
मगलाचरण		१ सर्वाविधि मरण	,
समाधि मरण का अर्थ		२ देशाविधि मरण	
समाधि की प्राप्ति		४ आद्य त मरण	
आयुबन्ध का नियम	७३८	५ बालमरण	७४३
समाधियुक्त मरण का स्वरूप	७३६	१ अत्यक्त बाल	
मरण के १७ भेद	७४०	२ यवहार बाल	
१-आवीचिमरण		३ दशान जाल	
आवीचिमरण के भेद	७४१	४ ज्ञानबाल	
१ प्रकृति आवीचिमरण		५ चारित्रबाल	
२ स्थिति	,	६ दशान बाल के दो भेद	"
३ अनुभव		( १ ) इच्छा प्रवृत्तबालमरण	
४ प्रवेश		( २ ) अनिच्छा प्रवृत्तबालमरण	४४
२ तद्भव मरण	७४२	६ पण्डित मरण	७४४
		१ यवहार पण्डित मरण	,
		२ दशान	"
		३ ज्ञान	"

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
४ चारित्र्य परिदृष्ट मरण	७४४	१४-भक्त प्रत्याख्यान मरण	७५०
७-अवसन्नमरण	७४५	१५-इगिनी मरण	
८-बालपंडित मरण		१६-प्रायोपगमन मरण	
९-सशान्य मरण	७४६	१७-कवली मरण	
द्रव्य और भावशाल्य		पंडितपंडितादि पात्र मरणका विशेष वर्णन	७५०
मायाशाल्य		मरण पांच ही क्यों ?	७५१
मिथ्याशाल्य		पंडितपंडितादि पात्रा मरण का स्वरूप	
निदानशाल्य		पंडित मरण के तीन भेद	७५२
१ प्रशस्तनिदान		प्रायोपगमन मरण	७५३
२ अप्रशस्तनिदान		इगिनी मरण	
३ भाग निदान		भक्त प्रतिज्ञा ( भक्त प्रत्याख्यान ) मरण	७५५
१ पलायमरण	७५७	भक्त प्रत्याख्यान के दो भेद	७५५
११ वशात् ( आर्त्तवश ) मरण		सविचार भक्त प्रत्याख्यान	
१ ईर्ष्या वशात् मरण		अविचार	
२ वेदना वशात् मरण	७५८	सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण के अह लिगात्	
३ कषाय वशात् मरण		चालात भेद और उनका सद्धिन्त स्वरूप	७५९
१ क्रोध वशात् मरण		उक्त अह लिगादि के अधिकार द्वारा विशेष वर्णन	७५९
२ दुःखादि आठ मान वशात् मरण		अहाधिकार	
३ निकृष्ट आदि पांच माया वशात् मरण	७५९	आराधना योग्य साधु का वरण	
४ लोभ वशात् मरण		भक्त प्रत्याख्यान करने वाले के कौनसा लिंग होना चाहिए	
५ नोकषाय वशात् मरण		भक्त प्रत्याख्यान के समय आर्यिका के लिए नमन भेष	७६१
१२-विप्राख्यस ( विप्राख्य ) मरण		उत्सव लिंग के चार भेद	७६४
१३-शुभ्रपुट मरण	७६		

विषय	पृष्ठ संख्या
स्वाध्याय के मात गुण	७६५
१ आसहित ज्ञान	७६६
२ भावस्वर	
३ नवीन २ मवेगभाव	
४ मोक्ष मार्ग में स्थिरता	७६७
५ तप वृद्धि	७६७
६ गुप्ति पाचन में तपस्यता	
७ परोपदेश सामग्य	
बुरा यो का कारण अज्ञान	७६८
अज्ञानी के जो कार्य कम बाध करते हैं वे ही ज्ञानी के कम बाध करते हैं	
विनय की महिमा	७७१
विनय के भङ्ग	७७२
१ दशान विनय	
२ ज्ञान विनय	
३ चारित्र्य विनय	७७३
४ तप विनय	
५ उपचार विनय	
मन को वश में करने की आवश्यकता	७७३
निरंतर विहार की उपयोगिता	७७४
समाधिमरण के लिए तत्परता	७७५
समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद	७७७
१ आलोचना शुद्धि	७७८
२ शय्यासस्तर शुद्धि	

विषय	पृष्ठ संख्या
३ उपकरण शुद्धि	७७८
४ भक्तपान शुद्धि	
५ वैयावृत्त्यकरण शुद्धि	
शुद्धियों के अन्य प्रकार से भेद	
१ दशान शुद्धि	७७९
२ ज्ञान शुद्धि	
३ चारित्र्य शुद्धि	
४ विनय शुद्धि	
५ आवश्यक शुद्धि	
विवेक के भेद	७८६
१ इन्द्रिय विवेक	७८०
२ कर्पाय विवेक	
३ उपधि विवेक	"
४ भक्तपान विवेक	७८१
५ देह विवेक	
विवेक के अन्य प्रकार से भेद	
मन्त्रोत्थान के लिए उद्यत आचार्य का आचार्यपद त्याग	७८२
त्यागने योग्य ५ कुभावनाएँ	७८३
पाच शुभ भावनाएँ	
१ तप भावना	
तप भावना से रहित साधु में दोष	७८४
२ सुत भावना	७८५
३ सत्त्व ( अभीकृत्व ) भावना	७८६

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
भद्र २ प्रयाग में आत दुलो का स्वरूप विगा कर आत्मा को अभय बनाना	७८७	आचाम्न तप	८१४
४ एतत्त्व भावना	७९१	भक्तप्रत्याग्यान का काल	
५ धृतिबल भावना	७९६	भक्तप्रत्याग्यान काल की यापन विधि	८१५
मल्लेखना क भद्र	७९३	कथाय से बचने के उपाय	८१७
अनशन तप के दो भेद	७९५	मल्लेखना के आराधक आचाय का कर्त्तव्य	८१८
अवमोक्ष तप	७९५	गिष्य समूह आचाय के लिए परिग्रह स्वरूप है	८१९
रमपरित्याग तप	७९६	मघ का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश	
वृत्ति परिमरण तप	७९७	वान क अनिचार	८२०
कायक्लेश तप	७९८	अशन क ,,	
विविक्तशायामन तप	७९९	चारित्र क ,	८१
वमनिका मन्त्रधा आधाक्रम तेष	८००	आचाय क लिए ध्यान देन योग्य विषय	८२१
१ उत्तम तप क मोलह भद्र और उनका स्वरूप	८००	आचाया क लिए आवश्यक विनय और उमके भेद	८२४
२ उत्तम तप क १६ भद्र और उनका स्वरूप	८००	दशन विनय	
३ मध्या तप क १० भद्र और उनका स्वरूप	८०४	ज्ञान विनय	
वमनिका के अगारादि चार तप और उनका स्वरूप	८०५	चारित्र विनय	
वसतिका के याग्य थान	८०६	तपोविनय	८२५
बाह्यतप के गुण	८०८	उपचार विनय	
मल्लेखना का आराधन अथ २ प्रयागा से	८१०	मुनि क लिए अनद्रा हास्य क्रीडादि के त्याग का वर्णन	८२५
प्रतिमा योग	८१३	मुनि मघ की वैवाचित्य भक्ति पूर्वक करने का विधान	८२७
भिच्छ प्रतिमा और उमके सात भेद	८१३	जनापवाद मार्ग पर जाने का मुनि को निषेध	८२९

विषय	पृष्ठ संख्या
पार्श्वस्थादि साध्वाभासों की मगति से साधु का पतन है	८३१
साधु का परोपकारी होना आवश्यक है	८३३
साधु आत्म प्रशसक न बने	८३५
साधु पर नि दा न कर	८३५
पूर्व आचार्य क उपदेश का नवीन आचार्य व मुनिषय द्वारा उत्तर	८३६
मन्याम क लिए आचार्य का दूमरे मध में गमन	८३७
अपने ही मध में रहन में दाप	८३८
निर्यापकाचार्य ( नवीन मध के आचार्य ) का कर्तव्य	८३९
निर्यापकाचार्य के अ वेषण का क्रम	८३९
निर्यापकाचार्य के अ वेषण का काल	४०
निर्यापकाचार्यके अ वेषण के लिए विहार की पाच प्रकार की विधि	
१ एक रात्रि प्रतिमा कुशल	
२ स्वाध्याय कुशल	८४१
३ प्रभ कुशल	
४ स्पर्धिल शायी	
५ आसक्ति रहित	
यदि विहार काल में वाणी बन्द हो जावे या मृत्यु को	

विषय	पृष्ठ संख्या
प्राप्त हो जावे तो क्या वह आराधक है	८४१
निर्यापकाचार्य का आगत साधु के प्रति कर्तव्य	८४२
मध के साधु व आगत साधु का परस्पर में परीक्षण	८४३
प्रति लेखन परीक्षा	८४५
वचन परीक्षा	
स्वाध्याय परीक्षा	
मलमूत्र क्षेपण परीक्षा	
भिक्ता परीक्षा	८४४
आचार हीन साधु को आश्रय देने में हानि	८४५
निर्यापकाचार्य के गुण	८४
१ आचारवान	
आचारवान का अन्य प्रकार से विवेचन	८४७
स्थिति कल्प के दस भेद	८४८
१ नम्रत्व स्थिति कल्प	
२ वहिष्ठ भोजनादि त्याग कल्प	८५०
३ श याधर के पिंड का त्याग	
४ राजपिंड त्याग	८५१
५ कुतिकर्म	८५२
६ मूलोत्तर गुण परिपालन	
७ येषुच	८५३
८ प्रतिक्रमण	८५४
९ एकमास निवास	८५५
१० पाज	११

विषय	पृष्ठ संख्या
आचारवान् आचार्य से छपक को लाभ	८५६
२ आचार्य का आधारत्व गुण	८५७
सयम की सफलता	८८५
छपक को सिद्धान्त के वेत्ता आचार्य की आवश्यकता	
छपक को परीषदों की भाषा से मैल दूर किया जाय	८५६
३ आचार्य का व्यवहार ज्ञत्वगुण	८६३
व्यवहार के ५ भेद और उनका स्वरूप	
प्रायश्चित शास्त्र का सब साधारण को सुनने का अधिकार क्यों नहीं	
समान अपराध होने पर सबको प्रायश्चित समान रूप से देते हैं या उसमें भिन्नता होती है	८६४
आचार्य में व्यवहारज्ञत्व ( प्रायश्चित शास्त्र ज्ञान )	
आवश्यक है	८६६
४ आचार्य का प्रकारत्व गुण	८६७
५ आचार्य का आयोपायदर्शित्व गुण	८६८
६ आचार्य का अवपीडकत्व गुण	८७०
छपक के प्रति आचार्य का उपदेश	
अवपीडक आचार्य का स्वरूप	८७३
७ आचार्य की विशिष्टता	८७५
( य । अग्रिसावी बना छपने म र गया है शुद्ध करलें )	
८ आचार्य का सुखकारी ( निवापक ) गुण	८७६
मगुण आचार्य की प्राप्ति कस हो	८७८
छपक गुरुकुल का आत्म समपथ कैसे करे ?	

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम सामाधिकारि बट् आवश्यक का विधान	८७८
बन्दिना क पश्चात् सघ में रहने की आज्ञा प्राप्ति	८७९
आचार्य में मघ मे रखने की आज्ञा देना एव आगत	
छपक को परीक्षा	८८०
छपक के लिए सघस्थ परिचारक माधुओं की सम्मति	८८०
एक आचार्य के पास कितने छपक समाधिमरख करते हैं	८८२
आचार्य का छपक के प्रति समस्त सघ के मध्य उपदेश	८८
आचार्य के ३६ गुण	८७७
प्रायश्चितादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे	८७
आलोचना का स्वरूप और भेद	८८६
साधारण आलोचना	८८६
विशेष आलोचना	,
शून्य क भेद	,
अतिचार शोधन बिना मृत्यु होन से हानि	८८८
छपक कायोत्सर्ग कैसे करे	८८६
आलोचना के लिए काल स्थान आदि का विधान	
( यहा आदि क स्थान में वादि छप ग ा है शुद्ध करलें )	८९०
आलोचना के आकम्पितादि दम दोष और उनका स्वरूप	८९२
साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करे	८९६
दर्पादि बीस अतिचार और उनका स्वरूप	८९६
आलोचना के पश्चात् आचार्य का कर्त्तव्य	९२

विषय	पृष्ठ संख्या
निष्कपट ओंग मकपट आलोचना और उनका प्रायश्चित्त	
आचारवादि विशिष्ट निर्यापक आचार्य के न भिन्न पर	
ममाधिभरण कौन करावे ? ६४	६४
प्रायश्चित्ताचरण क पवान् दह त्याग काल न होन पर	
क्षपक क्या करे ? ६४	६४
ममाधिभरण करने वाल क्षपक लिए वमतिका कैमी हो	
क्षपक का मस्तर कैसा हो	६७
मस्तर क चार भेद	६८
प्र ती मस्तर	
शल मय	
३ र प्रमय	
४ लय	
मस्तर क अ वश्यक गुण	
वैयावृत्य कुशल महायक मुन कैम होन चाहिण	६९
क्षपक को क्या परिचया का जाती ह और कानमा	
परिचर्या क लिए कितने मुनि नियुक्त किये जाते हैं	६९९
क्षपक क सम्मुख ि करने योग्य विकथाए	६९
क्षपक का किस प्रकार इमारदेश किया जाय	
क्षपक के लिए कौनमा कथा उपयुक्त है	६९३
कथाओं के चार भेद	
आक्षेपणा और विक्षेपणा कथा	
सवचनी और निर्जनी कथा	६९४

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक के लिए विक्षेपणी कथा का निषेध	
क्षपक की आहार निययक योजना क लिए चार मुनि	
चार मुनि पीन योग्य पदार्थ क लिए अनयुक्त किए जाते हैं ६९८	६९४
चार मुनि भोजन पान के पत्रों की रना करते हैं	
चार मुनि मलमूत्रादि को प्रतिघ्नपना एव शय्यादि का	
प्रमाणन करते हैं ६९०	६९०
चार मुनि द्वार पाल का काम करते हैं	
चार मुनि रात्रि में जागते हैं	६९९
चार मुनि आगत श्रोताओं को उपनय नेत हैं	
दान विधान के लिए चार वाग्मी मुनि नियुक्त	६२२
ममाधिभरण क लिए ४८ परिचारक मुनि ही चाहिए	
या अधिक कम	
मल्लेखना स प्राण त्याग करने वाला जीव ससार में	
कितन भव धारण करता है ६४	६४
ममाधिभरण क काल का विभाजन	
क्षपक क लिए नैल प्रयाग का विधान	६६
क्षपक क ममक्ष भोजन ि कथाए नर्हा करना चाहिए	
क्षपक का तान प्रकार के आहार का त्याग करना	
न — प्रथम ६२८ के पश्चात् पृष्ठ न ६३३ छत्रगया है बाच के चार	
नम्बर छु गय है । पाठक ठाक करले । )	
पानक पदार्थ के ६ भेद ओंग उनका स्वरूप	६३४
क्षपक क उदरस्थमल को निवारण	६३६

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक द्वारा क्षमायाचना	६३७
क्षपक को कर्ण जाप	६३८
मिथ्यात्व का त्याग	६४
सम्यक्त्व का स्वरूप व गुण समझाना	६४१
मृत्यु समय श्रवण गोचर हुए षण्माकार मंत्र का प्रभाव	६४४
भिन्न २ रीति द्वारा नियापकाचार्य उपदेश देकर क्षपक का सम्यक्त्व मन्द करते हैं	६४५
क्षपक क राग का औपधानि द्वारा प्रतकार	
बाह्य उपचार का छोड़कर अन्तर्ग शुद्धि क लिए	
प्रयत्न व उपदेश	६४
उपमगा स विचलित न हान वाले महा मनिया क	
कुछ उदाहरण	५६
नमस्कार मनिया म भाग हुए दुःखा का दिग्मशन	
कराते हुए क्षपक का सम्बोधन	५४
नरक गति के दुःख	
तथैव गति के दुःख	६४७
मनु य गति म प्राप्त दुःख	६४८
देवगति के दुःखों का वर्णन	६४
आत्मचिन्तन व आराधना द्वारा प्राप्त शुभ फल का	६६३
आत राद्रादि भावा स कुगति की प्राप्ति	६६६
समाधिमरण द्वारा प्राण छोड़ने पर शरीर की स्थिति	६७

विषय	पृष्ठ संख्या
क्षपक की निषीधिका ( निषद्या )	६८८
निषीधिका किम दिशा में होनी चाहिए	
क्षपक के मृत्यु समय की त्रियाए	६६६
रात्रि म मरण होने पर जागरण व धन और छेदन	
क्रिय ए	६७०
शत्रु की बधनादि क्रिया क्यों ?	
य त देवों का वरण	६७१
यन्त्रों के भंग प्रभञ्ज	६७२
मुनि क शत्रु का क्या करना चाहिए	६७३
आयुष्म का सम धिमरण मुनि की भाति ही होता है	
या भिन्न प्रकार से	६७४
शत्रुक कि सति त्रि से शत्रु ले जायें	६७५
सस्तर कैसा हो	
क्षपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से शुभाशुभ	
फल का सूचक	६७६
मध्यम या उत्कृष्ट नक्षत्र में मरण होन पर उत्पात का	
निवारण	६७७
सधस्य मुनि का मरण होने पर सङ्घ के मुनियों का	
कर्तव्य	६७८
मृत क्षपक की गति का ज्ञान	६७९
क्षपक को महानता	६८०
नियापक मुनि की महानता	
क्षपक के दशन करने वाले धर्मात्माओं की पुण्य शालिता	६८१

विषय	पृष्ठ संख्या
सपक के वासस्थान तीथ हैं	
अविचारभक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप	६८०
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के ३ भेद	६८३
१ निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान	
निरुद्ध के भेद	६८४
२ निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान	
३ परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान	६८५
अविचार भक्त प्रत्याख्यान के अल्प काल में मुक्ति प्राप्ति	
कैसे ?	६८५
इ गिनी मरण	६८७
पडित मरण का तृतीय भेद प्रायोगमन	६६१
तीन भेदों के अतिरिक्त भी पडित मरण	६६३

विषय	पृष्ठ संख्या
चपसर्गादि आने पर आत्म ध्यानस्थ मुनियों के	
कुल्ल उदाहरण	६६३
जीवन्मुक्ति की उत्पत्ति का क्रम	६६४
ध्यान के बाह्य निमित्त	६६४
धर्म ध्यानस्थ मुनि द्वारा कर्म प्रकृतियों का विसर्पजन	६६५
केवली अवस्था	६६७
समुद्घात वखन	”
योगनिरोध ”	६६६
योग निरोध के बावजूद कौनसी कर्म प्रकृतिथा रहती हैं ?	”
शुद्धजीवकी गति कैसे होती है ?	१ ०
मिद्धशिला कहा है ?	”
सिद्धावस्था का सुख	१ १
पंचम किरण समाप्त	१ ०२

॥ श्री सर्वज्ञजिनवाण। नमस्तस्यै ॥

## शस्त्र-स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरणा

ॐ नम सिद्धेभ्य ॐ जय जय जय नमास्तु । नमास्तु ॥ नमोस्तु ॥

एमो अरिहताण, एमो सिद्धाण, एमो आडरायाण, एमा उवज्झायाण एमा लोए सव्वसाहूण ।  
ओकार बिन्दुसयुक्त, नित्य भ्यायन्ति योगिन । कामद माक्षद चैव, ओकाराय नमोनम ॥१॥  
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितमकलभूतलमलकलका । मुनिभिरुपासिततीथा सररवती हरतु ना दुरितात्  
अज्ञानार्तापिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया । चचुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥३॥

॥ श्री परमगुरवे नम परम्पराचार्यगुरव नम ॥

सकलकलुषविध्वशक, श्रेयसा परिवर्धक, धर्मसम्बन्धक, भव्यजीवमन प्रतिबोधकारकमित  
शास्त्र श्री सयम प्रकाश नामधेय अस्य मूलग्रन्थकर्तार श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार  
श्रीगणधरदेवा प्रतिगणधरदेवास्तेषा वचानुसारमासाद्य श्री सूर्यसागर महाराज आचायेण विरचित  
श्रोतार सावधानतया श्रयवन्तु ।

मगल भगवान् वीरो, मगल गौतमो गणी, मगल कुन्दकुन्दाद्या जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ १ ॥

— प्रत्येक मनुष्य को नित्य प्रति स्वाध्याय करना चाहिए । —

## ।।जिनवाणी स्तुती।।

वाणी सरस्वती तु त्रिनदेव की दुलारी ।

स्याद्वाद नाम तरा ऋषिया की प्राण प्यारी ।।

सर नर मुनिद्र सबही तरी सुकीर्ति गाव ।

तुम भक्ति म मग्न हो ता भी न पार पाव ।।

इस गाए म ह मट म हमका नही सुहाता ।

अपना स्वरूप भी ता नहीं मातु याए आता ।।

य कर्म शत्रु जननी हमको सदा सताए ।

गति चार माही हमको नित दुख द रूनाए ।।

तेरी कृपा स मा कछ हम जगति लाभ कर न ।

तम दत्त ज्ञान बन स निज पर परिचान कर ले ।।

ह मात तुम चरण मे हम जीश को जूकाव ।

टा ज्ञान टात हमका जब लो न माक्ष पावें ।।

श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज किरचित्त

संयम-प्रकाश

पूवाब्द-चतुर्थ किरण

(मुनिधर्म)

# सयम—प्रकाश

पूर्वाह्न—चतुर्थ किरण

भावनाधिकार

❀ मङ्गलाचरण ❀

श्रीपति बोधित नत्वा, नामेयात्तिजिनधरम् ।

यतेभाव प्रचयामि प्रशमामृतवर्षिणम् ॥१॥

भावना का महत्व

प्रत्येक प्राणी का उद्यान और पतन उसकी भावनाओं पर निर्भर है। सद्भावनाओं से वह ऊँचा उठता है और असद्भावनाओं से वह नीचे गिरता है। भावना का उद्यान ही मनुष्य का उद्यान है और सद्भावना से गिरना ही मनुष्यत्व का पतन है। वास्तव में देखा जाय तो भाव क आंतरिक मनुष्य और है भी क्या? मनुष्य भावनामय ही तो है। जीवन—निर्माण में भावना का कम महत्व नहीं है। वीर्यकर—प्रकृति ऐम मदान पुण्य का बंध भावना म ही होता है इसा स हम उमरा उपयोगिता और मह ब अच्छी तरह समझ सकते हैं।

भावना स पृथ की वास्तविक स्थिति मनुष्य क मामन आ जाती है। जब विवेकी मनुष्य अनित्य अशरण आदि की भावना—अभ्यास—रता है तब उसे ससार शरीर भोग आत्मा का आस्वरता पर हेयता स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। इसीलिए कहा गया है कि अपने आत्मा का ति चाहन वाले भव्यों को अनित्य आत्मा भावनाओं को अपने जीवन में उतारना चाहिए।

सचे मनुष्यत्व का निर्माण करना है तो भावनाओं का जीवन में उतारो। अज्ञय सुख की प्राप्ति चाहते हो तो भावनाओं का अवलम्बन लो।

सं प्र

पृ कि ४

## ‘भावना भव-नाशिनी !’

भावना भव का नाश करने वाली है। यदि भव (संसार) को नष्ट करना चाहते हो तो भावनामय बनो। भावनामय बनने-भावनाओं में घुल-मिल जाने—में ही मनुष्य का कल्याण है। ज्यों ज्यों भावनाएँ दृढ़ होती जाती हैं त्यों-त्यों वह आगे बढ़ता जाता है और आत्मिक अज्ञान सुख के निकट पहुँच जाता है।

कोई योगी-जीवन यदि भावना-हीन व्यतीत हो तो उसे योगी-जीवन कहना सफल नहीं। योगी-पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए जो भी बुद्धि विरोधता या महत्ता आना चाहिए वह भावना के बिना आ ही नहीं सकती। योगी ने संसार शरीर आदि को अनित्य और अराग्य समझ कर ही तो ब्रोकड़ा है। यदि वह उन भावनाओं को जीवन में दृढ़ न कर तो उसकी फिर संसार और शरीर में आसक्ति हो सकती है। और यदि ऐसा हुआ तब तो उन्नत चोर पतन हो जायगा। इसलिए उसे बहुत ही सफल कर रहना होगा। योग और ज्ञेय दोनों को साथ लेकर चलना होगा। जो अनिश्चलता अर्थात् उसे पाना और पाई हुई अनिश्चलता की रक्षा करना यही मुनि का योग ज्ञेय है। भावनाओं से ही वह इन दोनों चीजों को पाता है। भावनाएँ न हों तो न पाया हुआ कुछ भी शुभ कभी भी प्राप्त न हो सकेगा और तब प्राप्त की रक्षा भी असंभव ही रहेगी।

मुनि यदि वस्तुतः वह मुनि है तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। वह धर्म से आत्त-रौत में नहीं आता। उसका प्रयत्न धर्म से शुक्ल में जाने का होता है। वह पूरे आश्रम को पाना चाहता है। अपूर्ण मनुष्यत्व को नष्ट कर पूर्ण मनुष्यत्व को पा लेना ही उसका ध्येय होता है और वह भावनाओं के द्वारा अपने इस ध्येय की पूर्ति में सफल होता है। यह भावनाएँ धर्म-ध्यान रूप तो हैं ही किन्तु आगे जाकर यहाँ शुक्ल-ध्यान का आकार भी प्रकट करती हैं। शुक्ल-यान म जा कर्मों के ज्ञय करने की शक्ति मानी गई है वह भावनाओं के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है? अतः यह सिद्ध है कि योगी की सफलता का मुख्य कारण उसकी भावनाएँ ही होती हैं। अतएव योगियों का आचार-शास्त्र में भावनाओं का वर्णन बहुत ही आवश्यक समझ कर वराग्य की जननी वारह भावनाओं का वर्णन यहाँ किया जाता है।

## भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद।

भावना का अर्थ है एक प्रकार का अभ्यास। वैराग्य की स्थिरता और प्रशम-सुख की वृद्धि के लिए वारह प्रकार के अभ्यास उपयोगी बताये गये हैं। मूलाचार में लिखा है —

## बारह भावनाओं के नाम

अद्भुत चमत्कारमेव तमशास्त्रमभारतलोगमसुचित्त ।

आसव सवर शिञ्जरा धम्म बोधि च चित्तिजो ॥ २ ॥

अथानु—(१) अनित्य (२) अशरण्य (३) एकत्व (४) अच्युतत्व, (५) ससार, (६) लोक, (७) अशुचि (८) आस्रव (९) सवर (१०) निजरा (११) धम्म और (१२) बोधि—दुर्लभ—यह बारह भावनाएँ हैं। इनका निरन्तर चिन्तन अभ्यास—करना चाहिए।

## अनित्य—भावना ।

नित्य का अर्थ है हमेशा रहने वाली वस्तु। और अनित्य का अर्थ है विनाशमान। प्रत्येक वस्तु जन्म-मरण में नित्य होते हुए भी पर्यायापेक्षया अनित्य है। साधारण रूप से दुनिया की दृष्टि वस्तु क जिस रूप पर पड़ती है वह उसकी पर्याय है और वह अनित्य है। दिल्ली वाली कोई पर्याय—वस्तु की कोई स्थिति कोई रूप—नित्य नहीं। प्रतिक्षण वस्तु की कोई दूसरी ही स्थिति कोई दूसरा ही रूप होता है। फिर भी यह मूल प्राणी उसे नित्य समझ कर प्रेम करता है और स्वभाववशा उसका विनाश होते देख दुःखी होता है। उसके वियोग में व्यथित होता है। जब नाश होना वस्तु का स्वभाव है धम है तब उसके लिए खिन्न क्यों होता ? किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक ससारी प्राणी, जिसे सम्बन्धान नहीं हुआ है अपनी इष्ट वस्तु का वियोग देखकर दुःखी होता है सुनहरी जवानी पूरी होकर बुढ़ापा आ जाता है तो रोता है, अपने जीवन की अन्तम घड़ियाँ समीप आ जाती हैं तो विलाप करता है पुत्र आदि किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो कण्ठ-कन्दन मचाता है। इस दुःख से बचने का और कोई उपाय नहीं। एक अनित्यता की भावना ही ऐसी है जो वियोग के दुःख को सहने की क्षमता प्रदान करती है और अनन्त दुःखमय ससार में भी अत्याकुल होकर सुख और शान्ति के साथ जीवन बिताने की कला सिखलाती है।

अज्ञानी मनुष्य दुनियाँ के मोह में पड़कर अपने आपको भूतता है। क्षणिक वस्तुओं से नाता जोड़कर उनकी प्राप्ति का अभिमान करता है और उनके वियोग में क्लेश उठाता है। किन्तु ज्ञानी मनुष्य वस्तु-स्थिति का अनुभव कर दुनियाँ से मोह तोड़ता है और आत्मा से प्रेम जोड़ता है। अनित्य-भावना हम अभ्यास को दृढ़ बनाती है और बढ़ाती है। यही इसकी उपयोगिता है और मूर्ख से यह योगी-जीवन का मूल मानी जाती है।

## धन की अनित्यता का विचार

अज्ञानी प्राणी थोड़ा-सा धन पा लेता है तो अभिमान से फूला नहीं समाता। वह अपने आपकी स्थिति को भूल जाता है।

मारा को पीन पर नशा चढ़ा करता है किन्तु धन को पा लेने मात्र से ही उसमें उससे भी हजार गुणा पागलपन आ जाता है। उसे एक ऐसा रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे आग्न होते हुए भी वह दखता नहीं जान होते हुए भी सुनता नहीं और मुँह होते हुए भी बोलता नहीं। वह धम-धम द्रोह करता है। यस्नी बन जाता है। पर यह कभी नहीं सोचता कि यह लक्ष्मी कितने समय टिकन वाली है? यह तो चञ्चला है आज तक किसी के पास नहीं टिकी। पुण्याय से याद इसका समागम हुआ है तो मैं इस शुभ कार्यों में लख करके इससे पुण्य की नवीन ज्योति प्रशशिन करूँ। वह उसे पाप क कार्यों में लख कर अपने आग क माग में कटते बोता है या यह मुझ बाद में काम आवेगा इस विश्वास से ठगगा या फिर गुलाम की तरह उसका रक्षा में लगे रहता है। आता में उसे अपना या लक्ष्मी का प्रियोग होते देख दुःखी होना पड़ता है और रोना पड़ता है। अन्त-ध्यान से प्राण गवाने इच्छते हैं। किन्तु जाना को लक्ष्मी का अनित्यता का अनुभव करने वाले को इस प्रकार का दुःख नहीं होता है। न उस लोभ सताता है न कृष्णा। न यह मत्स उद्धत होता है आर न उसके लिए दूसरों को सताता ही है। वह अस्थायी सम्पत्ति से स्थायी स्वाथ सिद्ध करता है। सत्कार्यों में उसका उपयोग कर स्व-परहित अधन करता है।

### जावन का अनित्यता

म जगत् म किसी का जीवन स्थिर नहीं। कोई राजा हो चाहे रत्न धनी हो चाहे निधन मूल्य हो चाहे विद्वान् सबल हो चाहे नरपुत्र जन्मन भी यहाँ नम लिया है उसे एक न एक दिन मरना पगा। भरत आत्ति अतुल बन् और वैभवशाली चक्रवर्ती हुए पर अन्त मरना पगा। अभिमाना रावण मारा या उसे मारन वाले राम न भी न रहे। नाच-पाण्डवों की कितनी प्रसिद्धि थी पर आज उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं। जब बहो-उठो की ही यह पृथा नम चार साधारण मनुष्यों का तो यहाँ टिकाव हो ही कैसे सकता है? मनुष्य जैसा कोई निरन्तर नहीं। यह हर एक काल अनित्य है। वह कब आवेगी यह कोई नहीं जानता पर यह सबको मानना ही पगा कि वह अवश्य आवेगा। अन्त आवे कल आवेगा - न जब म आवे या अभी आ जाय उने कोई रोक नहीं मरगा। अनन्त भूतकाल से अब तक मनुष्य न उसको रोकने के लिए बहुत उपाय प्रयत्न किये हैं लेकिन उसने सभी को पड़ाबा है। ऐसा ज्ञान होता है कि वह मर न हारेगा। क्या मरु वस्तु का स्वभाव है। जन्म न साथ मृत्यु लगी हुई है। जन्म लेने के दूसरे क्षण से ही मृत्यु प्रारंभ हो जाती है। अथ क क्षण पूरे होते जाते हैं मृत्यु न न ही आती जाता है। जिम हम मृत्यु कहते हैं वह तो उसका स्थूल रूप है। अन्त दिचरण सत्ता ही न रहता है। नम छत्र वाले घड म म थाडा- उडा पाना हमेशा निकलता रहता है और इसी से थोड़े समय में वह फिल्टन गता सिखाइ नन लगता है। ऐसा ही हाल हमारे जीवन का है। प्रवृत्तगा स्वरन वाले आयु के निषेक जब पूरे हो जाते हैं तब हम समनत हैं कि हमारी मृत्यु आ ग। पर यह भ्रम है। हमारा चित्रन तो मरु न न न न की तरह प्रवृत्तगा नष्ट हो रहा है वह स्थिर है ही न है? उमका यथ व्यय यन्त्रि विचारणीय है तो उस पर प्राग्भ स ही दिचग करना चाहिए। अन्त में उसका उपयोग करने के लिए कोई



आपका बहुत कुछ अहित करता है। किन्तु बस्तु-स्थिति पर विचार करने से तो यहाँ कोई भी बस्तु नित्य नहीं जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यह सारा ससार-ससार की सभी बस्तुएं अनित्य हैं। ससार का अर्थ ही यही है जो अनित्य हो सना एक-सान रहे। यदि कहीं परिवर्तन नहीं तब तो वह ससार ही नहीं। सब बस्तुओं की अनित्यता का विचार कर श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं —

लोगो विलीयदि इमो फेषोन्व स-देव-माणुम तिरिक्ष्वो ।

रिद्वीओ सन्वाओ सिविक्षय-सदसख-समाओ ॥ १७१६ ॥ ( भग आ )

जैसे पानी के भाग या बुद्बुदे की स्थिति टिकाऊ नहीं क्षणिक है—वह देखते-देखते नष्ट हो जाती है वैसे ही देव मनुष्य और तिरिचों से भरे हुए इस लोक की स्थिति भी बिनाशमान है। यहाँ मृत्यु और तिरिचों का ही नहीं देवों का शरीर भी अनित्य है। हाथी घोड़ा रथ पयादे राज-भजन छत्र सिंहासनानि सब भ्रूतिभ्रंश स्वप्न-शनोपम हैं। स्वप्न की तरह जीवन के कुछ क्षणों में तो दिखती हैं और फिर सबटा के लिए लुप्त हो जाती हैं।

विज्ज्व चञ्चलाइ हि षण्डाड सव-सोवग्गाड ।

जल-बु-बुदोच अधवाणि ह ति सन्वाणि टाणाणि ॥ १७१७ ॥ ( भग आ )

ससार व समस्त मुख-संचालन ज्ञानतत्त्वों का समान चञ्चल है—एक क्षण स्थित और नष्ट हुए। कोमल स्फुरावाली शंखा या सुखानुभवा-जन सुगन्धित व सुन्दर दृश्य मनाहरक वन आदि भाग क्या स्थायी हैं? क्या जीव को ससार में सबदा मिल सके हैं? पूरा पुण्य स भोई सुख-सामग्री मिलती है तो वह सना रहती है? इस ज्ञान को सामग्री आगे के जीवन में तो कभी साथ जाता ही नहीं। उसमें यहाँ भा आसक्ति-पल्लव हूँ जो गांग मरुतुम और आगे सुख के स्थान में महा दुःख। इसलिए सासारिक सभी सुख सामग्रियों को अनित्यता पर जान ले। यह ग्राम नगर महल मत्तन कोई भी सदा तुम्हारे रहने वाले नहीं। यह घर मेरा है मैं यहाँ रहता हूँ हमेशा रहूँगा ऐसा कभी मत सोचो। इनमें स्थायिता का अभिमान तुम्हें इनके वियोग में ममबेधी पीडा देगा। इसलिए जल-बु-बुदोपम यह आनन्द है तो इनको अनित्य ही समझो।

शावागताव बहुग-पधाविता ह ति मन्व-मषधी ।

सन्वेमिमामया मि आण्छा जह अभमषाया ॥ १७१८ ॥ ( भग आ )

दुनियाँ का कोई सम्बन्ध सत्ता रहन वाला नहीं। नती को पार करने समय जिस प्रकार नाव में अनेक देशों के अनेक यात्री आ बैठते हैं थोड़ी देर एक साथ रहते हैं और किनारा आते ही उतर कर अपने अपने भाग की सुध लेते हैं वैसे ही कुटुम्ब का दशा है। एक कुल मपी नाव में अनेक यात्रियों की तरह कुटुम्ब के अनेक भाग नम लेकर आ बैठते हैं और किनारों की तरह आयु का अन्त होते ही बिना हाते हैं। मसी प्रभार स्वामी सपर अता पुत्र मित्र स्त्री आ। इसी आश्रय को नित्य नहीं समझना क्योंकि इन सब की स्थिति बान्धो के समूह की तरह देखते-देखते बिछुडने पाली है। ममलिण यह नमझना उनके सहारे में मी नीता रहूंगा ठीक नहीं।

मवामो वि आशुचा पाङ्गण पियडण व छाहाए ।

पीदी वि अछ्छिरागोव्व अशुचा मव्वजीवाण ॥ १७१६ ॥ ( भग आ )

नैम—अनियत नाना देशों से आय हुए पति ( मुमाफिर ) एक सराय या धमशाला में निवास करते हैं, अथवा किसी घनी छाया वाले बट आदि वृक्ष के नीचे अनेक स्थानों के मणुष्य आकर मलते हैं और दूसरे दिन अथवा कुछ काल के अन्तर अपना अपना भाग लेते हैं जैसे ही पूरा कम के फल स्वरूप पुत्र मित्र स्त्री आदि मनों का सयोग होता है। कम फल भोगने के पश्चात् वे भी कम से प्रेरित हुए विद्युक्त हो जाते हैं। फिर कभी आकर नहीं मलते। वक्रा प्रीति भी मिर नहीं। इन मत्त विगेष से जय नेत्रों की लालिमा के समान वह भी क्षणभंगुर हैं। अर्थात् ससार के लोगों का प्रेम स्वयं सा है। क्षणमात्र में बन्ल जाता है। किसा का स्वाथ न सचे तब देखो वह प्रेम रखता है या नहीं ? इसस आनलता स्पष्ट होगी।

रत्ति एगम्मि दुभे सउशाण पियडण व सजोगा ।

परिवमान अशुचो इस्मरियासाधसारोग्ग ॥ १७२० ॥ ( भग आ )

अथ—सायकाल होने पर रात्रि के समय नाना देश व दिशाओं से आकर पक्षी एक वृक्ष पर निवास करते हैं उनका पहले से सकेत नहीं होता। पहले के सकेत का वना ही वे आ मिलते हैं और प्रात काल पुन नाना दिग्देशों में चले जाते हैं। उसी प्रकार सकेत बिना ही अनेक गतिर्या म आये हुए कुटुम्बियों का सयोग होता है और वे मर कर पुन उस श्रावर आदि अनेक योानियों में चले जाते हैं। तथा चन्मा का परिवष ( उसके बिम्ब के आस पास कभी नभी हान वाला मण्डल ) इस प्रकार क्षणभंगुर है उसी प्रकार ससार का पेशय प्रमुत्व, आह्ला धन-सम्पत्ति आराग्य आदि सब आगरा है।

इदियसामग्गी वि अखिन्वा सभाव होइ जीवाण ।

मज्झणह व खराण जोव्वणमणवट्टिद लोए ॥ १७२१ ॥

चदो हीखो व पुणो विट्ठदि एदि य उद् अदीदो वि ।

खदु जोव्वण खियत्तइ खदीजलमदिच्छिद चेव ॥ १७२२ ॥ [ भग आ ]

अथ— त्रिंशत्-सामग्री मा आनत्य है । प्रथम तो त्रिंशत् की पूणता रा होना ही कठिन है और कश्चित् क्षयोपशम विशेष से इन्द्रिया की अर्थात् कल प्राप्ति होती है और उनमें विषय ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान होती है तो भयानक व्याधि के उपस्थित होने पर अथवा वीर्यान्तराय का तीव्रोत्थ होने पर अथवा अकस्थ के ढलने पर उनकी बहु विषय-ग्रहण की सामर्थ्य विलीन हो जाती है अतः उसे सध्या की क्षालमा के समान कुछ काल के लिए ही त्रिकांश सम्मत्ता । मनुष्यों की यौवनावस्था भी मध्याह्न काल के सदृश अस्थिर है । अर्थात् जैसे दिवस का मध्याह्न काल सायंकाल के आगमन पर अस्थिर हो जाता है उसी प्रकार जरा अवस्था के आने की सूचना मिलते ही यौवन भी अपना रास्ता लेलेता है ।

चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होता है और शक्ल पक्ष में वृद्धिगत होता है । वसतादि ऋतुएँ बीत जाने पर पुनरपि आती हैं । इन्तु मनुष्य की यौवनावस्था बात जान पर फिर लौट कर नहीं आती जैसे नदी का बहकर आगे गया हुआ जल फिर वापिस लौटकर नहीं आता है ।

धावदि गिरिखदिसोद व आउग मन्वजीवत्तागम्मि ।

सुकुमालदा वि हीयदि लोणे पुण्वणहत्ताही व ॥ १७२३ ॥ [ भग आ ]

अ ४— मपूर्ण जगत् की जीवों की आयु पत्रत से गिरन वाली नदी के प्रवाह के समान तीव्रगति से निरन्तर बौढ़ रही है । ओर समस्त प्राणियों की मार ॥ ( रोमलन ) प्रातः काल में द्वाया के समान क्षण क्षण में क्षीण होती रहती है । मार यह है कि इस ससार में जितने पदार्थ हैं । ईदते हैं वे सब नष्ट होने वाले हैं यद्द स्पष्ट है । शरीर रोगों का घर है उसका एक-एक रोम-कूप में पौने दो दो रोगों की सत्ता है । यौवन का माथ बुढ़ापा लगा हुआ है । बुढ़ाप म बल आर ज्ञान भा साथ छोड़ देते हैं । पेश्य विनाश से व्याप्त है—बलवर्ति, बलभद्र, नारायण सरस्वों का भा वैभव नहीं रहा । स्त्री पुत्र मित्र आण क जतने भी सयोग होत हैं उनका भी वियोग होता ही है । जीवन मरण का अर्थात् नाभाव है । अति बलवान भा मृत्यु से नहीं बचे । अनेक प्रकार के भोजन आदि से पुष्ट करते करते भी आयु के पूण होते ही शरीर सय छोड़ देता है । उस तीव्रकर ऐम भी विनाश स नहीं बचा सके । सत्काल ससार शरीर भोग आण सब को अनित्य समझ कर किसी से मोह मल सं प्र

करो। दुनियाँ की किसी विभूति को देख कर मत लुभाओ। यह विनाशी है, तुम्हें धोखा देगी। अस्थिर को स्थिर समझ लेने से पद पद पर दुख उठाना पड़ता है। तुम अपने अविनाशी आत्मा से प्रेम करो। शरीर के शीण होने से पहले ही धर्म की सिद्धि करो। धोखे में मत रहो। उन यावन आत्मा के सामान्य तथा बुटुम्बवों के मोह में पड़ कर अपने हित-साधन को न भूलो। अन्यथा 'देह' खेह हो जायगी फिर का करि हे मम ? ज्ञान का उपानन करना है तो शीघ्र करो तप की वृद्धि करना है तो शीघ्र करो दान देना है तो शीघ्र देखो। दूसरों की सेवा शुभया उपका आत्मा जो भी कुछ करना है उसमें विलम्ब मत करो। आगे के भगस मत रहो। यह अनित्यता का अभ्यास तुम्हें अपूर्व सुख प्राप्त करेगा।

### अशरण-भावना

अपन को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करना अशरण भावना है। कर्मोदय से प्राप्त होने वाले जन्म जर, मरण, रोग, शोक आदि दुःखा में नीच को शरण देने वाला इनम बचाने वाला कोई नहीं अपन यह जीव अशरण है। कहा भी है —

दृश्ययरहस्यम्बलवाहखाणि मतोमधाणि विज्जाओ ।

मल्लुभयस्स ख सरण शिगडी खीदी य खीया य ॥ ५ ॥

जम्मजरामरणममाहित्मिह सरण ख विज्जदे लोए ।

जरमरणमहारिउवारण तु जिणसासण मुच्चा ॥ ६ ॥ ( मूला द्वा अ )

अर्थ—हामी घाडे रज मनुष्य सेना वाहन मात्र औषधियों प्रसूति आदि विद्याए जीव को मृत्यु से बचाने में असमर्थ हैं। मनुष्य दूसरों से अपनी रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार चला करने हैं और उसमें कभी-क मफल भी हो जाते हैं—सामान्य दृष्ट और भेद यह चार प्रकार की नाति अत्यंत तो कृतकाय हो भी पाती है किन्तु मृत्यु के सामने ये सब हतवीय हैं जैसे गरुड़ के सम्मुख काले नाग। मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भाइ बंधु आदि कोई शरण नहीं होता है।

मरणमयमिह उवगदे देवा वि सइदया ख तारति ।

धम्मो ताख सरण गदिच्छि चित्तेहि सरणत्त ॥ ७ ॥ ( मूला द्वा अ )

अर्थ—मरण का भय प्राप्त होने पर इन्द्र महित सब देव मिल कर भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते। एक जिनेन्द्र निरूपित धम्म

ही रक्षक है इसलिए उसे ही शरण रूप चिन्तन करो ।

यामदि मन्वी उदिएणे कम्मे ण य तस्म दीमदि उवाओ ।

अमद पि विम सख्ख तण पि खीय वि हु ति अरी ॥ १७२६ ॥ ( भग आ )

अर्थ—कर्म का उन्मय होने पर नीचों की बुद्धि नष्ट हो जाती है । कुछ उपाय नहीं सूफता । अमृत विष हो जाता है । वृक्ष राक्षस रूप बनकर मृत्यु का कारण हो जाते हैं । बंधुजन शत्रु हो जाते हैं ।

भावाथ—अना त काल से अज्ञान क वशीभूत हुआ यह आत्मा अपनी भूल से निरन्तर ज्ञानावरणादि कर्मों का ग्रहण करता है और पथता है । अज्ञ-क्षेत्र-काल-भाव क संयोग से जब उसका अप्रिय एवं कटु फल मिलता है तब उसमें बचाने के लिए कोई समय नहीं होता है । इसलिए प्रायःक आत्मा अपने आपको अशरण अनुभव करे । संसार में दूसरा कोई कम-फल-भोग से बचाने वाला नहीं है ।

प्रतीकार राहत कर्म का जब उन्मय आता है तब उसके फल स्वरूप दुःख को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता । अर्गान् जन्म, जरा, मरण रोग चिन्ता भय वेदना आदि क उपग्रहित होने पर तत्त्व कर्मों का भोग अपश्य करना पडता है । इस चरित में जीवों का रक्षक व आश्रय देता साइ नहीं होता व यात्र कात्र जाव अपने कम क उन्मय से बचने क लिए किमी देव का सहायता से पाताल लोक में भी चला जाव तो भा उसका छूटना अस भव ३ ।

गिरि का कन्ठरा अन्वी पत्र व समुद्र मे तो क्या लोकान्त में भी जीव निवास करने चला जावे तो भी यह अशरण जीव उन्मयगत कर्म से नगाए छूटन क लिए समर नहीं हो सकता है । अज्ञात लोक क अज्ञात में जाना असम्भव है यह असम्भव काय भी कदाचित्त सम्भव हो जाव तो हो नाओ किन्तु अनगाछन ( प्रतीकार रहित ) कम का फल भोगे बिना छूटना सवथा अशक्य है ।

द्विपत्र चतुष्पत्र तथा पेट क बल चलन वाले जीवों का गमन भूमि पर ही होता है मखर आदि पलचर जन्तुओं की गति जल म ही होती है पक्षियों का गति आकाश म ही होता है किन्तु जाल का गमन सत्र अत्रिहृत है । इसकी गति को रोकने वाला संसार में कोई भी नहीं ह ।

सुय च त पवन आर त्व नम अगम्य प्रेशे हैं—अर्गान् मूय और चन् का प्रताप व प्रकाश संसार के कोने कोने में पहुँचता है वायु प्राय सत्र वहनी है और त्रों का प्राय सत्र गमन है तथापि लोक में ऐसे भी कई स्थान हैं जहाँ उक्त चारों का गमन नहीं होता

किन्तु काल की सप्रगति है। ऐसा कोई रमान ससार में नहीं जहाँ काल का गमन न होता हो।

विद्या बल मन्त्र बल औषधि बल शरीर का बल आत्मा का बल और हाथी घोड़े रथ योद्धा आदि सेना बल, साम दान लूट भ्रष्ट यह नीति बल कम जय फल को मिगने के लिए समथ नहीं है। जैसे उण्याचल के शिखर पर प्रयाण करने वाले सूय को रोहन क लिए कोई भी समथ नहीं है वैसे ही दुःख दन म प्रवृत्त हुए कम क उण्य का प्रतिरोध करने की किसी में भी शक्ति नहीं है।

भयानक तथा सघातक रोगो म महामारियोस बचने के उपाय हैं किन्तु कमालनी के बन का विष्वस करने वाले मदोन्मत्त हस्ती क समान ससार क जानो का मन्त्र करने वाले इस कम क उण्य स बचने का कोई उपाय नहीं है। रोगों का भी प्रतीकार तभी हो सकता है जब क कमों का मन्त्र - य हा या उपशम हो। जिस समय रोगों की उनीरण या ताम उण्य होता है उस समय उनका प्रतीकार करना सदा अशक्य हो नहीं अमम्भ है।

निकालत उमान - । जगत् पर सुख बल उण्य आर चकवती तो क्या साक्षात् त्रिजगत् श्वर तीर्थंकर भी मिटा नहीं सकते तम साधारण अल्पशक्ति वाले मनुष्य की तो सामध्य हा कहा ?

जिन शक्ति ना धारक कोई महाबली पल चलकर पृथ्वी के दूसरे छोर तक भी पहुँच जावे या भुजाओं से महासमुद्र को तैरकर उसको पार भी कर जावे तो भी उनीण कम के फल को उलघन करने के लिए कोई समथ नहीं है। उसे तो भोगना ही पड़ता है।

सिंह की डाढ म पहुँचे हुए मृग को तथा महामत्स्य के उतर में पहुँचे हुए छोटे मत्स्य को बचाने वाला कोई नहीं, उसका मरण अपश्यभावी है, इसी प्रकार आयु कम के अन्त में काल के मुख में पहुँचे हुए इस जीव का कोई शरण नहीं है।

ससार म शरण ( आश्रय ) दो प्रकार का है। एक तो लौकिक शरण और दूसरा लोकोत्तर शरण। इन दोनों के तीन २ भेद हैं। अर्थात् लौकिक शरण तीन प्रकार का है १ लौकिक जीव शरण २ लौकिक अजीव शरण और ३ लौकिक जीवाजीव शरण। इसी प्रकार लोकोत्तर शरण भी तीन प्रकार का है—१ लोकोत्तर जीव शरण २ लोकोत्तर अजीव शरण और ३ लोकोत्तर जीवाजीव शरण।

१ राजा देवता आदि लौकिक जीव-शरण हैं।

२ कोट खाई आदि लौकिक अजीव-शरण हैं।

३ कोट खाई आदि सहित ग्राम नगर पर्वत आदि लौकिक मिश्र-शरण हैं।

- १ लोकोत्तर जीव शरण—पञ्च परमेष्ठी अरिहतादि लोकोत्तर ( अलौकिक ) जीव शरण हैं ।  
 २ लोकोत्तर अजीव शरण—पञ्च परमेष्ठी के प्रतिविम्बानि अलौकिक अजीव शरण हैं ।  
 ३ लोकोत्तर मिश्रशरण—धर्मोपकरणसहित सायुवग अलौकिक जीवाजीव शरण हैं ।

इस लोक सम्बन्धी भय से बचाने वालों को लौकिक शरण कहते हैं और परलोक सम्बन्धी भय से बचाने वालों को लोकोत्तर शरण कहते हैं । जैसे—बलवान् मुधातुर और मांस के लम्पटा याघ के द्वारा एकान्त में न्बाए हुए मृग—शालक को उस याघ से छुटाने के लिए इस लोक में कोई समथ नहीं है उसी प्रकार जन्म मरण याधि प्रिय त्रियोग अप्रिय सयोग इष्ट पदाथ की अप्राप्ति दारिद्र्य आदि शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से घिर हुए स जीव को कोई शरण देने वाला नहीं है। अनन्त मुखों में उपलालित यह पुष्ट शरीर भी भोजन करनेमें ही आनन्द का महायक होता है वष्टों के आने पर आत्मा की सहायता करने में समथ नहीं होता है । घोर परिश्रम से उपाजन किया हुआ विपुल धन भी मृत्यु से रक्षा नहीं करता और न आत्मा के साथ परभव में भाग्य हो जाता है । सुख दुःख के सहयोगी मित्र भी मरण का समय आने पर इस जीव का सरक्षण नहीं कर सकते । चारों तरफ सत्ता घिरे रहने वाले बहुजन भी इसकी अन्त में छोड़ कर अलग हो जाते हैं । परभव में भी इसकी रक्षा करने वाला आर प्रतिक्षण सहायता करने वाला यदि इस लोक में कोई है तो वह एक धर्म ही है दूसरा कोई रक्षक नहीं है । अतएव हे आत्मान् ! जिस समय तुम्हें मृत्यु आकर घेर लेगी उस समय इन्द्र भी उससे बचाने में समथ नहीं होगा न बधु होंगे न मित्र—पुत्र—धन—बन्दादि । यदि सहायक होगा तो उत्तमता से आचरण किया हुआ एक धर्म ही होगा । इसलिए अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करो और धमाराधन में चित्त लगाओ ।

### एकत्व—भावना

इस जीव का कोई साथी नहीं । यह सत्ता अकेला ही है । अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है । जन्म जरा, मरण, रोगानि की प्राप्ति में कोई इसका हाथ नहीं बढाता । रूमों के फल स्वरूप अनन्त दुःख अपार वेदनाएँ अकेले को ही सहनी पडती हैं । इस प्रकार अभ्यास करना एकत्व भावना है ।

त्रय क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से एकत्व चार प्रकार का होता है ।

जीवादि ब्रह्म 5-यों में से किसी एक त्रय का त्रय एकत्व है । परमाणु जितने क्षेत्र में ठहरता है उतने क्षेत्र ( प्रदेश ) को क्षेत्र एकत्व कहते हैं । कालका जो एक समय है उस काल एकत्व कहते हैं । मोक्ष माग को भाव एकत्व कहते हैं ।

संसार में जो अनेकपन दिखाई देता है वह एकपने को लिए हुए है।

जिसने बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह त्याग करके सम्यग्ज्ञान से अपने एकपने का निश्चय कर लिया है जिसकी एक वशाब्ध्यात चारित्र्य रूप प्रवृत्ति हो रही है उस आत्मा के मोक्ष मार्ग रूप से एकपना होता है। उक्त एकपने की प्राप्ति के लिए ऐसी भावना करना चाहिए कि मैं इस संसार में अकेला ही हूँ। मेरा दूसरा कोई स्व अथवा पर नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। कोई दूसरा स्वजन या परजन मेरे व्याधि जन्म-मरणान्त के दुःखों का दूर नहीं कर सकता। मर व धुजन व मित्राणि श्मशान तक ही रहते हैं आगे साथ नहीं रहते। एक धम ही मेरा साथी है। जैसा कि कहा भी है —

वित्त गोहादे हश्चिताया न्यावत्त न्त वाधवा श्मशानात् ।

एक नानाजन्मवन्लीनिदान याति शुभाशुभ कर्म जीवेन सार्धम् ।

अर्थ—जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर परलोक में जाता है तब उसका साथ कोई नहीं देता। बड़े कष्ट से उपार्जन किया हुआ धन घर से ही साथ छोड़ देता है—वह तो घर में ही रह जाता है। खूब लालन-पालन किया हुआ शरीर चिता में ही छूट जाता है। आगे साथ नहीं जाता। पुत्र मित्र भ्रातृणां भी श्मशान स ही लाए जाते हैं। यदि कोई परभव में साथ जाने वाला है तो वह शुभाशुभ (पुण्य-पाप) कर्म ही है। उसके अतिरिक्त जीव का कोई साथी नहीं है।

इस प्रकार एकवचन का अभ्यास करने वाले के अनेक अमाय ( कुटुम्बी ) जनों में प्रेम-बंध और परकीय ( शत्रु आदि ) तनों में द्वेष-सम्बन्ध नहीं होता। एकवचन भावना से उसके निःसंगता उपपन्न होता है और परिग्रह का बोझ उतर जाने पर वह ऊर्ध्वगमन करतु है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सयस्यस्य परियस्यस्य य मज्जे एकको रुयत्तओ दुहिदो ।

वज्जदि मच्चुवमगदो ण जसो कोइ सम एदि ॥ ८ ॥

एकको करेइ कम्म एकको हिंददि य दीह समारे ।

एकको जायदि मरदि य एव चित्तेहि एयत्त ॥ ९ ॥ [ मूला वा अ ]

अर्थ—यह प्राणी भाई भतीजा पुत्रादि स्वजन और तस मित्र आदि परिजन के मध्य अकेला ही व्याधि से पीड़ित होकर दुःख भोगता हुआ काल क्षण प्राप्त बनता है। साथ में न स्वजन जाते हैं और न परिजन जाते हैं।

अकेला ही शुभाशुभ कर्म करता है और अकला ही अपार ससार में भ्रमण करता है। अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस प्रकार एतद्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

**पाव करोदि जीवो बधवहेदु सरीरहेदु च ।**

**शिरयादिसु तस्स फल एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥ [ भग आ ]**

अर्थ—यह आत्मा बंधुओं के लिए—उनकी शरीर रक्षा तथा उनके मनोरजनादि के लिए, और स्वयं अपने शरीर आदि के पोषण के लिए अनेक पाप करता है किन्तु उन पापों का नरक निगोत्राणि में फल अकेले को ही भोगना पड़ता है। उसमें हिस्सा बँटाने वाला कोई नहीं होता।

**रोगादिवेदणाओ वेत्तयसाणस्स शिययकम्मफल ।**

**पेच्छता वि समक्ख किंचि वि ण करति से शियया ॥ १७४८ ॥ [ भग आ ]**

अर्थ—पूर्वोपाजित असातावेत्तीय कम के उन्मय स उपपन्न हुई रोग का वेत्तना का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखकर भी ये स्वजन नधु लोग उसका प्रतीकार नहीं करते हैं।

भावार्थ—जब आत्म पूरकाल में सञ्चित कर्मों का फल स्वयं शरीर त्ववार—वेत्तना—जन्य दुःख प्राप्त करता है उस समय उसे प्राण—समान प्रिय मानने वाले बंधु क्या उन दुःखों का निवारण कर सकते हैं? उनको तो उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। तब ही आत्मन् । तुझे क्या करना चाहिए और तू क्या कर रहा है। जरा सांच। मत्तम और परजन्म में तेरा दिव करने वाला तुझे दुःख से छुटकारा दिलाने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। जो हर हालत में सुपन्नता रहे वह धर्म ही है। इस मत भूल। दूसरों के लिए अनय करके—यर्थ दुःखा मत बन।

**तह मरइ एक्कआ चेव तस्म ण विदिज्जा इवइ कोई ।**

**भोगे भोत्तु शियया विट्ठिज्जा ण पुण कम्मफल ॥ १७४९ ॥ [ भग आ ]**

अर्थ—स्वकीय आशु का क्षय होने पर यह अकला का मृत्यु को प्राप्त होता है। इसका सहायक दूसरा कोई भी नहीं होता है। ये स्वजन बंधु लोग सुख भोग भोगने के लिए हैं, परन्तु कम फल भोगन के लिए ये बंधु सहायक नहीं होते।

हे आत्मन ! त्वं बाधुओं के प्रेम जाल में फँसकर जो तू अपने स्वरूप को ही भूल रहा है उनका स्वरूप तो समझ ले। अनेक सुख भोग की सामग्री का तो तू सञ्चय करता है उसका सुखानुभव करने के निमित्त तो ये बाधु आदि तेरे पतिष्ठ सम्बन्धी बन जाते हैं, परन्तु जब तेरा मरण होने वाला होता है तब उस मरण को अपने में जोड़कर क्या तेरी सहायता करते हैं? कभी नहीं करते। यदि मरण में विभाग करते तो तू अकेला ही कैसे मृत्यु का प्रास होता? अनेकों का मरण एक मात्र क्यों नहीं होता? इससे यह स्पष्ट है कि ये स्वयं के सगे और विपत्ति में पतन देने वाले बन्धक (ठग) हैं।

प्रकारान्तर से एक २-भागना का स्वरूप

श्लिया अत्था देहादिया य मगा श कम्म इह होंति ।

परलोग अण्येत्ता जदिवि दइज्जति ते सुहु ॥ १७५० ॥ [ भग आ ]

अर्थ—परलोक में गमन करते हुए जीव के साथ उसके प्रिय बाधु धन शरीरादि जिनको कि परलोक में साथ ले जाने का उमंगी हृत् स्मरण होती है सोई भा नहीं जाते। इस त म मे भी विपत्ति आने पर जब एक बाधु आदि साथ छोड़कर अलग हो जाते हैं तो उनसे परलोक में साथ रहने की तो आशा ही क्या की जा सकती है? अतः यह जीव सत्ता अकेला ही है—यह स्पष्ट है।

इह लोण बधवा ते श्लियया श परस्स होंति लागस्स ।

तह चैव धण देहो मगा मयखासखादीय ॥ १७५१ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—संलोक में जो बाधु लोग हैं उनका सम्बन्ध इस जन्म के साथ ही है अर्थात् परजन्म के साथ नहीं है। धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह का सम्बन्ध भी पूर्वक प्रकार का ही है। बल्कि बाधु, धन शयनासन आदि परिग्रह कभी कभी इस जन्म में भी जीव की सहायता नहीं करते प्रत्युत उसका अपकार करने में तत्पर हो जाते हैं या इससे सवथा सम्बन्ध तोड़ देते हैं, जो वे इस जीव का अपकार परभव में भी करगे—यह बात विश्वास करने योग्य कैसे हो सकती है?

बाधु आदि जीव के अपकारक नहीं बल्कि बाधन के कारण हैं।

शरखमशरण बन्धवो बन्धमूल,

चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।

विपरिमृशत् पुत्रा शत्रवः सर्वमेतत् ।

त्यजत भजत धम निर्मल शर्मकामा ॥ ६० ॥ [ आत्मानु ]

अथ—शरण ( घर ) तेरा वास्तविक शरण ( रक्षक ) नहीं है । क्योंकि काल घर में भी आकर जीव को दबोच लेता है । बहुत लोग पाप कम का बंध कराने में कारण होते हैं । क्योंकि यह जीव उनका मोह जाल में फँसकर उनके भरण-पोषण आदि के लिए अनेक पाप कम करता है । चिरकाल की परिचित ( अनुभूत ) पत्नी को सुख देने वाली समझना भी भ्रम है । वह भी पुरुष के अनेक आपत्ति रूप घर में प्रवेश कराने का द्वार ही है । क्योंकि स्त्री के मोह से ही परमाथ छोड़कर गृह-जाल में फँसकर अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं । पुत्र भी शत्रु के समान होते हैं । क्योंकि जन्मते ही माता का यौवन और सौन्दर्य नष्ट करते हैं । बाल्यावस्था में माता पिता के सुख में विघ्न करते हैं । उनके पालन-पोषण आदि सुख साधना के लिए माता-पिता को अनेक दुष्कर्म करके धन का अजन करना पड़ता है । इस पर भी यदि वह कुपथगामी निकल जावे तो माता पिता को जन्म भर का संताप उत्पन्न हो जाता है । अतः उसके सब कम शत्रु के समान दुःख दायक हैं । इसलिए हे आत्मन् ! यन्त्रि तू दुःख और सताप में बचना चाहता है और सुख की लालसा रखता है तो इन सब से अपना सम्बन्ध तोड़ दे और धर्म से प्रेम सम्बन्ध जोड़ ले । यही तेरा मन्त्र सा गी या मित्र है । कहा भी है—

जो पुरुष धम्मो जीवेण कटो सम्मत्तचरणासुदमइभा ।

सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५२ ॥ [ भग आ ]

अथ—इस भव में जीव जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक चारित्र्य रूप धर्म का पालन करता है वही परलोक में इस जीव का गुणकारक ( सुखदायक ) व सहायक होता है । अर्थात् धर्म स्वर्गादि की प्राप्ति रूप अभ्युदय और निश्चयस ( मोक्ष ) को देनेवाला व परलोक में उपकारी होता है ।

धर्म की प्रशंसा में और भी कहा है—

दत्त्वा धावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीष्टान्विषादां  
कृत्वा लोकत्रयाश सुरनरपतिभि प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।  
मृत्युव्याधिप्रवृत्तिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे,  
मोक्षे नित्योरुमौख्ये चिपति निरुपमे य स नोऽन्यात् सुधर्म ॥ [ भग आ सस्कृत टीका १७५२ ]

अथ—यह धम भय शोफ आर विषाण ( दुःख ) का प्रनाश कर स्वयम्बधी एव भूतलसम्बधी समस्त विषय-सुख को ता है। सना पालन करने वाला जीव त्रिलोक का आधिपति होकर नरने को आर सुरानो से विशेष पूजित होता है। इस धम के प्रसाद से नीच से नम चरा मरण रोग पीक भिय प्रियाग ग रहिन निय आर मर अष्ट सुग स परिभूष निरूपम मात्र प्राप्त होता है। इस प्रकार अथवा हलनारकर नत्रयक धम निय हमारी रीत कर।

पिता—एक व भयना अथान असहायक भावना प्रदर्शन मनाय का निरूपण करना क्या उचित है ?

समाधान—यहा पर धम को सनाक प्रनाश य प्रसु आनि को असहायक सिद्ध किया है। अत इनमें उपकारकपने की बुद्धि का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि ससार म सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आर सम्यक् चारित्र रूप धम ही आत्मा का असली उपकारक है। क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। जो जिनका स्वभाव होता है वना धमका उपकारकता हो सकता है। कम के निमित्त से सयोग की प्राप्त हुए व तु अनानि गह पदा आमा क स्वभाव नहीं है किन्तु आमा का प्रकार अवस्था ( कम विशिष्ट अवस्था ) के निमित्त से य ( यधु आमा ) पन्थ उपलब्ध हुए है। उस पल का स्वभाव शीतल व बह शान्त का कता है किन्तु अग्नि के सयोग से उत्पन्न हुआ उष्णपना वन का त्रिकूल भाव है। यह शान्त वी रता नहीं होता प्रयु शान्ति का नाशक होता है। वैस ही धम आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा को शान्ति देने वाला है आर व धन आमा आमा क कम जय प्रिय भाग रागद पाणि भाव कम से प्राप्त हुए हैं इसलिए ये आमा की शान्ति के नाशक होते हैं। अत य आमा के उपकारक नहीं हैं।

सम्यक्वादि आमा क शभपरिणाम प्रशस्तगत प्रशस्तजात उषगोत्र प्रशस्त-सधान, सहनन आयु सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों को आमा मे उपन्न करक नष्ट हो जाते हैं। आर इनके कारण यह आमा न्य या मनुष्य पयाय प्राप्त करता है पचेन्द्रिय पर्याप्त, कुलीन शुभ-नीरोग शरीर का मारक तीघराल तर चीन वाला होता है और मुर का अनुभव करने वाला होता है। यह सब धर्मानुबन्धी पुण्य के उन्त्य से उत्पन्न होते हैं। इस पुण्यानुबन्ध, पुण्य के उन्त्य से भविष्य मे नीचा-ग्रहण करने के परिणाम और निरतिचार रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतएव धम उपकार करने वाला मुरय साधन है। सलिण हानी धम मे अनुराग करता है।

ज्ञानदान को शरीर और वनानि में अनुराग क्यों नहीं होता इसको कहते हैं—

बद्धस्म बधखे व ख रागो देहम्भि होइ खाणिसस ।

विससरिसेसु ख रागो अत्थसु महाभयेसु तदा ॥ १७५३ ॥ [ भग आ ]

अथ—जैसे रस्सी साकल आदि बन्धन से उधा हुआ मनुष्य बन्धन क्रिया के कारणभूत रस्सी आदि दुःख के देने वाले पदार्थों से प्रीति नहीं करता है वैसे ही सुख दुःख के साधनों का जिस पृथक् ज्ञान है वह ज्ञानी मनुष्य दुःख के कारण सारहीन अस्थिर ( नन्धर ) और महा अपवित्र शरीर में रग नहीं करता है । क्योंकि बुद्धिमान पुरुष गुण के पक्षपाती हुआ करते हैं ।

जैसे विप दुःख का देने वाला है और प्राणों का विनाशक होता है वैसे ही धन भी उसके उपाजन रक्षण आदि में लगे हुए मनुष्य को दुःख उत्पन्न करता है तथा प्राणा के विनाश में भी वह निमित्त होता है । क्योंकि ससार में प्रायः जितने नरसंहारक संभ्रम होते हैं वे धन के लिए ही होते हैं । इसलिए धन-सम्पत्ति महान् भय के उत्पन्न करने वाले होने से महाभयानक हैं ।

जो पदार्थ जिसका अनुपकार करने वाला होता है उस पदार्थ में विवेकी पुरुष की सहाय बुद्धि नहीं होती है, जैसे कि विष कटक आदि में नहीं होती है । शरीर धनादि भी आत्मा के अनुकारक हैं, इसलिए विवेक-शील पुरुष को इसमें बारम्बार असहायता की भावना करनी चाहिए । अर्थात् ये कभी किसी के अनुकारक नहीं हुए हैं । अतः मेरे ये उपकारक कैसे हो सकते हैं इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिए ।

### अन्यत्व—भावना

अन्यत्व नाम भेद का है । ससार के समस्त पदार्थों से मेरा आत्मा स्वयंथा भिन्न है । इस प्रकार अभ्यास करने को अन्यत्व भावना कहते हैं ।

अन्यत्व नाम स्थापना — और भाव के आशय से चार प्रकार का है । आत्मा जीव प्राणी, यह भेद नाम की अपेक्षा से है । काष्ठ की प्रतिमा प्रस्तर प्रतिमा स्थापित स्थापना से भेद है । जीव अन्यत्व अजीव द्रव्य यह द्रव्य से भेद है । एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य देव स्थापित भेद भाव की अपेक्षा से होता है ।

नीच और कम का परस्पर बन्ध होकर दोनों का एकीभाव हो रहा है तथापि लक्षण भेद से इनकी भिन्नता प्रतीत होती है । कथाम् जीव का लक्षण ज्ञान स्थान है और पुद्गल का लक्षण रूप रस गन्ध और स्पर्श है । इस प्रकार यह लक्षण छत्र भेद होता है ।

प्रत्येक समय में अनन्तान्त कम परमाणु योग के निमित्त से आकर कषाय के कारण से जीव के प्रदेशों में एकमेक होकर टहरते हैं और प्रातः समय अनन्तान्त कमपुद्गल जीव से पृथक् होते हैं, इस प्रकार बन्ध की अपेक्षा से भेद ( अन्यत्व ) होता है । औत्पारिकाद शरीर के कारण नोकमवगणा के नीचे पुद्गल आकर क्षीर नीर के समान जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और पुग्ने स प्र पू. कि ४

प्र नक्षण निवरा मो प्राप्त होत ह ।

जीव स्वयं आरिक्तात् शरीरनामकम् क उच्यते औदारिकात् शरीर का निर्माण करके शरीर में स्थिति करता हुआ भी उस नरक रोमन्त अस्मि आत्मा में नहीं रहता है । उस हास रूग्ण चर्वा शुक्र वीर्य कफ पित्त मल मूत्र, मस्तिष्क आदि प्रदेशों में भी नहीं रहता । स प्रकार हम तथा शरीर क अग्रयणों से जीव का भ्रम होता है । अतएव परम ध्यानी पुरुष तपस्या व ध्यान द्वारा शरीर से पृथक् होकर अनन्त ज्ञानात् गुणो से विशिष्ट हुआ मोक्ष में आश्रयित होता है । उस मोक्षावस्था की प्राप्ति के लिए यह शरीर है । यह शरीर त्रिगुण्य है मैं अतीन्द्रिय आत्मा त्रिगुण्यो के अगोचर हैं । यह शरीर अज्ञ (ज्ञान हीन) है और मैं ज्ञाता हूँ ज्ञानस्वभाव वाला हूँ । यह शरीर अनित्य है । मैं नित्य हूँ । स शरीर या आत्मा और अनन्त है । मैं आत्मा और अनन्त सहित हूँ । अनन्त काल मसार में भ्रमण करते हुए मैं अनन्त शरीर ग्रहण कर छोड़ दिये हूँ मैं उनसे भिन्न रहन वाला हूँ । हम प्रकार शरीर से जब मेरा सर्वथा भेद है तब बाह्य परिमर्हों से भ्रम का वषय में कहना ही क्या है ? स प्रकार का भावना पर आवाहण । मूलाचार में कहा है—

मादुपिदुमयशसवधिशा य सन्व वि अत्तशो अरण्ये ।

इह लोग बधवा ते श य परलाग सम शैति ॥ १० ॥

अरण्यो अरण्य मोयदि मदोचि मम शाहोचि मरण्यतो ।

अत्ताण श दु सोयदि ससारमहण्यवे बुह ॥ ११ ॥

अ—माता पिता कुटुम्ब आर परिवार क लोग व सगे सम्बन्धा सबही मुझ से अच्य हैं । इस भव के जो बधु लोग हैं, वे परमत्रय साथ नहीं जाते हैं । न नका किया हुआ कृत्य मेरे साथ जाने वाला है ।

यह मूढ आमा हाथ मेरा नाथ मर गया मेरा बधु मर गया इत्यादि अन्य जन का तो सोच चिन्ता करता है और ससार रूप महासागर में गोते लगाते हुए महा दुःख ज्वालाओं का आलिंगन करते हुए अपने आपका सोच नहीं करता है ?

भाबाध—मोहनीय कम ने आत्मा के असली स्वरूप को भुलाकर पर पदाथ में उसे इतना रत कर दिया है कि यह अज्ञानवरा पर पदाथों को ही आमा मान बैठता है तथा उनको ही मुख दुःख का मुख्य साधन समझ रहा है । तबही तो अपना प्रिय बधु या मित्र जब काल के गाल में चला जाता है तब अत्यन्त शोक सताप करने लगता है किन्तु अपना आत्मा अनन्त काल से इस संसार समुद्र में डुबकियाँ लगा रहा है कभी कभी गोता लगाकर नीचे जाता है तब नरक निगोद में जाकर तम धारण करता और वहाँ पर बचनागोचर एक श्वास स प्र

य १८ बार जन्म मरण १८ बार तो तब जेहन भेदन मरण आगत के जन्म नीत दु ग्यो का अनुभव करता है आर हुबकी लगाकर ऊपर आता है तब तिरुच और मनुष्य भव न अन्ध दु गो को भोगता है । तब अपना ही दु ख पूरा अवस्थाओं का साच नहीं करता है । इसलिए हे आत्मन ! अब उस त्रम को छोड़ न और माता पिता पुत्र मित्र स्वत्राणि को आत्मा से सदा भिन्न समन । उनका दु खित व मरणोन्मुख त्वकर दु ख आर शोक करन अज्ञानियों का कम है । कहा भा ४ —

प्रातिपूर्व कृत कम मनोवाक्कायकमभि ।

न निवारयितु शक्य महतैस्त्रिंशैरपि ॥ [ भा आ १७४ ]

अर्थ—जिम जीव ने मन वचन काय क प्रार नीतिपाठ जो कम किया है सब तेव मिलकर भी उसका निवारण नहीं कर सकते तब प्र य का क्या सामर्थ्य है जो उस कम का निवारण कर सक ।

शब्दा—पर दु ख का निवारण करन न । तब तब कोई समय नहीं हो सकता तब किसी दु खित जीव के दु ख के प्रतीकार का प्रयत्न करना य ह्वा । किसी व्याधि पाक्षित मनुष्य का औषध देन एव उसी षोष्युत्त आदि दु ख दूर करन क जो उपाय किये जाते हैं, उनका भी निराकरण हुवा । किसी क टु ख क नाश के उपाय करन का भी निषेध हुवा । इस प्रकार आचरण करने से परस्पर में महालुभूत व अनुत्सर्ग भा ग भा नाश हो जवे । प्र र कठं ता तथा नि यत ता प्रचार होने लगगा जो कि धम भावना से विरुद्ध है ।

समाधान—पर दु ख क निवारण करन कालप ना उचित प्रयत्न व उपाय क्रिय जाते ह उनका निषेध नहीं किया गया है । निषेध ता सदा कथा गया है कि यह मोही ची । परन्तु पर त मरु आगत क । नामत्त स आत्मा म शांत्तु टु ख आर मताप करता है यह मकी मूयता है । उचित त् य करते हुए तब टु खाना नी होते हैं तो समझना चाहिए कि यत्त उनक पूरापार्जित निकारचित बाध का कारण है । तत्र त्मिन् स अपनी आत्मा में दु ख आर शोक करके शोक व दु ख के गता मोहनीय म्म का बाध करना मूर्खता के आतारक आर क्या हो सकता है ? दुःखदि के नि वरण का प्रयत्न करना दूसरी बात है और यन्मे ममत्व परिणाम करके दु ख शोक का अनुभव करना दूसरी बात है ।

समाप्त म नीन कियका हुवा है ? हाइ । समा त सम्ब रा नहीं है । कहा है—

समाग्भि यत्त मगेण कम्मेष हरिमाणाण ।

को कम्म हा गयसो सज्जइ मोहा जणम्मि जसो ॥ १७५५ ॥ [ भाग आ ]



शत्रुता है।

यहाँ कोई किसी का स्वाभाविक मित्र व शत्रु नहीं होता। प्रतिकूल व्यवहार स शत्रु बन गया है उसके साथ उपकार का बर्ताव करने से यह पुन मित्र बन जाता है। जो प्राणों का घातक बन बैठा था उपकार रूपी मंत्र से उसका स्वभाव बदल जाता है और वही प्राणों की रक्षा करता हुआ देखा जाता है। तथा जो स्वभावतः प्रिय होता है ऐसे पुत्र पर भी अपकार रूपी विष का प्रयोग होने पर वही प्राण महाकर शत्रु बन बैठता है। उपकार और अपकार क्रियाएँ हमेशा एकसी नहीं रहती हैं। अतः उनके निमित्त से होने वाला बाधु भाव और शत्रु भाव भी फफसा नहीं रहता है। इसलिए किसी पर राग-द्वेष कभी नहीं करना चाहिए। बल्कि शत्रु मित्र स्वजन परिजन आदि का वास्तव में अपने से कोई सम्बन्ध न समझ कर उनसे मोह हटा लेना चाहिए और समार के सब सम्बन्धों को स्वाथ मूलक समझ कर अन्वयत्व भावना नष्ट करनी चाहिए। अथवा शत्रु मित्र आदि का कल्पना कर प्राणी अपने आपको भूलेगा तो कभी अपना अहित साधन न कर सकेगा। क्योंकि अज्ञानी प्राणी को अपने सब शत्रु और मित्र) की भाँ तो परम नहीं। कहा है —

“शत्रु व मित्र कौन है ?

जा जस्स वड्ढदि हिद पुरिमा सो तम्म वधवो होदि ।

जा जम्म डुग्गदि अहिद मां तम्म रिनुत्ति गायवो ॥ १७६३ ॥ [ भग आ ]

अथ—जा। मनुष्य जिसके हितकर व न प्रयत्न करता है वह उसका शत्रु व मित्र माना जाता है और जो मनुष्य उसके अहितकाय में प्रवृत्ति करता है वह उसका शत्रु मन्त्रा जाता है। अर्थात् हित करने वाले को बाधु और अहित करने वाले को शत्रु कहते हैं। इनालम हे आ मन ! तिनको तुने अपना बाधु समझ रखा है व कारण व तेर शत्रु हैं क्योंकि वे अभ्युत्थ ( स्वर्गात्ति का प्राप्ति ) और निश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति व कारण मम व विना करने वाले हैं। आर तात्र दुख के कारण हिंसा असत्यादि अपमयम को भी तुफ स वे ही करवाते हैं।

ता वय य है कि जिनका अराधना करने में अपकर्मा का नाश होकर सुख शान्ति के देने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और सांसारिक उल्काप सुख के कारण अहामत्याप की उपलब्धि होती है उम सम्पन्नान सम्पन्नान और सम्पन्न चारित्र ( रत्नत्रय ) रूप धम के कारण करने में बाधुगण विघ्न वाधाएँ उत्पन्न करते हैं। अर्थात् अनुपम सुख के कारणभूत धम का पालन करने में बाधक ही नहीं होते अपितु आमा को नरक आग नियोत्त के असीम दुखा व कारण हिंसा शूद्र गारी आत्त पापों को भी वे ही करवाते हैं और नरकादि के घोर दुखों में डूबा व न वाले धम मय बाधु विना करने हैं। यलिय ये शत्रु त मत्र नहीं भयानक शत्रु हैं। क्योंकि हित में बाधा करने वाले और आहत में सहायता करने वाले शत्रु ही होते हैं।

स प्र

पू कि ४

तम्हा खीया पुरिमस्स होंति साह् अणयसुहहेद ।

ममारमणीयता खीया य शरम्म होंत अरा ॥ १७६७ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—स पुरुष प्राणियों को इत मारग में लगाने के तथा स्वर्गात् में शत्रुय सुख व मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति कराने में शरण होते हैं। इसलिए वे हा असली बंधु है। परंतु जो पुत्र भ्राता भ्राता बंधु हैं वे अनेक दुखों से व्याप्त अपार संसार समुद्र में डुबोते हैं। इसलिए वे बंधु बंधु नहीं किन्तु शत्रु ही हैं।

इस गाथा से अपने से भिन्न जो सत्पुरुष हैं उन्हें सच्चे बंधु और अपने से भिन्न जो पुत्र भ्राता आदि बांधव हैं उन्हें असची शत्रु बतलाया है। हमस सत्पुरुषों के धर्मोद्देश में अनुग्रह और व्यापक माव उत्पन्न होता है और उधुओ म प्रीति व अनानुभव पैन होता है। क्योंकि सत्पुरुष म लोक व स पूरा उत्तम म सत्तम शत्रुय-जय सुख को देने वाले और अतीन्द्रिय अनुपम निरावा म मोक्ष के नित्य सुख को देने वाले हैं एवं म क माग पर लगाने हैं और ये बंधु लोग मनोमोहित सुख को देने वाले म नत्रय रूप धम का पालन करने में बावा उपस्थित करते हैं। ससार व एक हक्षा उनमें आम्भाद आकाश में जीवों को प्रयत्न करने हैं। अतः सत्पुरुषों को उपकारी समक कर उनमें आदर बुद्धि करना और स्वजन आदि के सम्मान को अहित रूप समक कर उनमें अनादर बुद्धि करना यही अत्यन्तानुपेक्षा का फल है।

### ससारानुपेक्षा

अव समागतुपेक्षा का वर्णन करत हुए ससार का स्वरूप वर्णन करते हैं।

ससार का स्वरूप

मिच्छन्त एवा छरणो मग्ग जिणुदेसिन् अपक्खतो ।

भमिहाण भमिड्डिल्ले जाजा ममारकतारे ॥ १३ ॥ [ मूला क आ ]

अर्थ—निन्ध्या व रूढ़ अन्धका से आच्छन्न ( दूरा हुआ ) यह आत्मा जिनेत्र भगवान् द्वारा निखलाय गय मोक्ष माग को नहीं देखता हुआ अज्ञानवशा भयानक नश मोहलतादि से अत्यन्त गहन ससार रूप बीड्ड वच में निरन्तर अमरण करत है।

भाषार्थ—जीवों की अवस्था चार प्रकार की हैं—१ ससार २ अससार ३ नो ससार ४ तत्रितय इत्यथाय (उक्त तीनों अवस्थाओं की अनुपेक्षा रूप अवस्था विशेष )

- [ १ ] समास—चौरासी लाख योनियों के भ्रूणाली नरकानि चारा गतियों में परिभ्रमण करने को समास कहते हैं।
- [ २ ] असमास—मोक्षपत्र में परम अमृत रूप त्रिय-सुख में प्रतिष्ठित होचाने को असमास ( संसार का अभाव ) कहते हैं।
- [ ३ ] नो समास ( ईपत्तु समास )—तेरहवें गुणस्थान में विरचमान सयोगकेवली ( अरिहत ) भगवान् के चतुर्गति रूप समास में परिभ्रमण का अभाव है अतः उनके समास नहीं है। तब समास के अन्त ( मुक्ति ) की प्राप्ति नहीं हुई है अतः असमास भी नहीं इसलिए उनके रूप समास को नो समास कहते हैं।

[ ४ ] तत्रितय-यपाय उक्त तीनों अमृतों की निवृत्ति रूप अवस्था विगेष-अयोगकेवली की अवस्था को तत्रितय-यपायरूप अवस्था कहते हैं। तब अवस्था में उक्त तीनों अवस्थाओं का अभाव पाया जाता है क्योंकि अयोगकेवली के भव भ्रमण का अभाव होने से समास अवस्था नहीं है। सयोगकेवली के ममान्तके आत्म प्रशान्त का परिस्पन्द ( चञ्चलपना ) नहीं होने से ईषत्समास रूप नोसमास भी नहीं है। तथा समास का अन्त ( मोक्ष ) प्राप्त नहीं होने से उनके समास भी नहीं है। न तीनों अवस्थाओं से अतिरिक्त यह एक चौथी ही अवस्था है।

शरीर का परिस्पन्द ( हिलन चलन ) न होने पर भी समस्त प्राणियों के निरन्तर आत्मा के प्रदर्शों का परिस्पन्द ( कम्पन ) होता है माला उनका समास माना गया है किन्तु विद्धा कब अयोगकेवलियों का समास प्रवेशों का परिस्पन्द नहीं होता है। क्योंकि उनका समास प्रशान्त का परिस्पन्द का कारणभूत कम सामान्य का अभाव है। इन दोनों के अतिरिक्त जीवों का तीन अवस्थाएँ होती हैं जिनका निरूपण ऊपर कर आये हैं।

बहु समास अभाव तीनों की अपेक्षा अनादि और अन्त है। भाग्य सामान्य की अपेक्षा अनादि और अन्त है। भाग्य विशेष ( सम्यक्दृष्टि ) की अपेक्षा समास सादि अन्त है। क्योंकि अनादिकाल से जो सिध्यात्वसहित समास था उसका सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर नारा हो जाने से सम्यक्त्व साहस समास का अनादि हुई है और इसका अन्त होन वाला है। इसलिए इसे सादि अन्त कहा है।

असमास सादि और अन्त है। अर्थात् मोक्ष अवस्था अनादि सहित और अन्त रहित है।

तत्रितय यपाय ( अयोगकेवली की अवस्था ) का काल अन्तमुद्धत मात्र है। अर्थात् अ इ च ऋ लु इन पाँच इत्स्व-स्वरो के उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतने काल पयन्त अयोगकेवली अवस्था रहती है। उसके अनन्तर मोक्ष हो जाता है।

नो समास ( ईपत्तु समास ) का काल अन्तमुद्धत सहित आठ बड़े कम पूर्वकोटि मात्र है। अर्थात् पूर्वकोटि षष की आयु वाला

चतुर्थ काल का नीचे आठ वर्ष के अनन्तर तपस्या प्रहण करके केवलज्ञान उपक्रम कर सकता है। इसलिए अन्तमु ह्यत्त सहित आठ वर्ष हीन पूर्व कोटिपथ पयन्त सयोगकेवली अवस्था रह सकता है। अतः नोसमार मान्ति मान्ति है।

सात्त्विक मांस स्मरण का काल जघन्य अन्तमु ह्यत्त है और उन्मत्तकाल अत्रपद्मलपरावर्तन मात्र है। जो जीव अनान्तिकाल से तम यात्रि था उमन काललधि यात्रि क योग त सम्यक्त्वं सा प्रणय किया तत्र उमके सम्यक्त्वं महिन ससार का आन्ति हुआ। वह समय धारण कर अ तमु ह्यत्त म मोक्ष प्राप्त करले तो उमके स्मरण का काल अतमु ह्यत्त मात्र हुआ और वह सम्यक्त्वं से युक्त होजावे और ससार में अधिक्त स अधिक रह तो अत्रपद्मलपरावर्तनकाल तत्र रह सकता है उमके अनन्तर उसका मोक्ष अवश्यभावी है।

वह स्मरण तत्र क्षेत्र काल आरभ्य की अपेक्षा स पांच प्रकार का होता है।

मूलाचार का मूलगाथा में चार प्रकार के ( तत्र क्षेत्र काल भाग ) परिवर्तन का निरूपण है परन्तु संस्कृत टीकाकार ने पाचों परिवर्तनों का प्रहण किया है। तसा प्रमाण भगवतीआराधना में भी मूलाचार के समान चार परिवर्तनों का ही विधान है। परन्तु संस्कृत टीकाकारों ने अन्य शास्त्रों के उद्धरण देकर भी परिवर्तन को भी प्रहण किया है। क्रमशः उक्त ग्रन्थों की गाथाओं को नीचे दिखाते हैं।

तत्र त्वंचे काले भावे य चतुर्विहा य समारो ।

चतुर्गुणिसमण्यिचद्वा बहुष्योरहिं शादव्वा ॥ १४ ॥ [ मूला ]

अत्र—तरन्ति चारगतियो मे गमन कराने सा कारणभूत ससार (परिवर्तन) तत्र क्षेत्र काल और भाव इस तरह चार प्रकार का तथा आगत है गय उह सात आन्ति प्रकार सा जानना चाहिए।

### द्रव्य-परिवर्तन

अरण गिह्यन्ति देह त पुण्य युक्तूय गिरहदे अरण्य ।

घटितत व य जीवा भमदि इमो त्व्वमसारे ॥ १७७३ ॥ ( भग आ )

अथ—जिस प्रकार कूप में लगा हुआ घटायत्र ( अरघट ) भ्रमण करता हुआ पहले प्रहण किये हुए जल का त्याग करता है और अन्य जल का प्रहण करता है उसी प्रकार ससार कूप में पडा हुआ यह प्राणी पून प्रहण किये हुए शरीर को छोड़ता और दूसरे शरीर

को धारण करता है इस प्रकार भिन्न २ शरीरों का ग्रहण और त्याग करना हुआ यह जीव अनाविकाल से इस संसार में भ्रमण कर रहा है। अनेक प्रकार के शरीरों के ग्रहण करने को ही द्रव्य-परिवर्तन कहते हैं।

भावाथ—एक शरीर का ग्रहण कर भावु पूर्ण करके उसे छोड़ दूसरे शरीर का ग्रहण करना और उसे भी छोड़ तीसरे शरीर का ग्रहण करना इसा प्रकार निरन्तर शरीर के ग्रहण और त्याग करने को न्य परिवर्तन कहते हैं।

न्य परिवर्तन दो प्रकार का है—१ नोकमद्रव्य परिवर्तन और कम न्य परिवर्तन।

१ नोकमन्य परिवर्तन—तीन शरीर ( आहारिक वैक्रियिक आहारक ) तथा छह पर्यापि ( आहार शरीर इन्द्रिय आम्बोद्धास भाषा मन ) के योग्य जो पुद्गल हैं वे तीव्र-मन्द मध्यम भावों से युक्त स्पर्श ( स्निग्ध रूक्ष ) वण गन्ध आदि रूप जैसे वे वेम प्रण एक्य और त्मर तीसरे आदि समय में वे निजरा को प्राप्त हुए। जिनका ग्रहण पहले नहीं किया था ऐसे पूर्वार्त्त पुद्गलों का अनन्त बार ग्रहण किया और त्याग किया तथा अभ्र ( गृहीत आर अगृहीत ) मले हुए ) पुद्गलों का अनन्तबार ग्रहण और त्याग किया। बीच बीच में गृहीत पुद्गलों का भी ग्रहण व त्याग किया। काल पाकर पूर्व समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण किया था उन्हीं को उसा प्रकार ( तीव्र-मन्द-मध्यम भावों द्वारा स्निग्ध रूक्ष वणानि रूप ) वही जीव जितने काल में नोकम रूप से ग्रहण करता है उतने काल को नोकमद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं।

कम द्रव्य परिवर्तन—किसी बीच न एक समय म झाना परमाणु आठ कम रूप पुद्गल तीव्रादि भाव से युक्त स्निग्धरूक्षादि स्वरूप ग्रहण किये। एक समय अधिक एक अनन्तर त्रतीय आदि समय म उनकी निजरा हुई। अनन्तबार अगृहीत कम पुद्गलों का ग्रहण कर निजरा की। मिश्र ( गृहीत व अगृहीत मले हुए ) कम पुद्गलों का ग्रहण कर निजरा की। मध्य में गृहीत कम पुद्गलों का ग्रहण कर निजरा का। म प्रकार काल पाकर उन्हीं कम पुद्गलपरमाणुओं का जिनका पहले समय में जिस प्रकार ग्रहण किया था—ग्रहण जितने काल म हो जावे उतन काल को कमद्रव्य-परिवर्तन कहते हैं। वही कहा है—

सन्वे वि पुग्गला खलु कममा भुत्तु जिक्कया य जीवेण ।

असह् अखतसुत्तो पुग्गलपरियदससार । ( टीका भग आ १७७३ )

त्समा आशय उपर आगया है।

जैसे—रङ्ग भूम ( नाटकघर ) में आकर नट नाना प्रकार की आकृत रंग व स्वभाव को धारण करता और छोड़ देता है जैसे ही न्य संसार म भ्रमण करनेवाला यह जीव नाना प्रकार की आकृति रण और स्वभाव को बार बार धारण करता और छोड़ता रहता है।

क्षेत्र समार

जत्य ख जादो ख मदो हवेज जीवो अणतसो चैव ।

काले तीदम्मि इमो ख सो पदेमो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥ ( भग आ )

अर्थ— स लोक-क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा है जहाँ पर यह जीव भूतकाल में अनन्त बार नहीं जन्मा हो और न मरा है ।

सच्चम्मि लोयस्वित्त कममो त खत्थि जम्म उप्पएण ।

आगाहणा य बहुमो परिभविदो खित्तससारे ॥ १७७६ ॥ ( भग आ )

भावार्थ—सबसे तब य शरीरवाला लक्ष्यपयाप्तक सूक्ष्मनिगोनिया जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के प्रदेशों के मध्य में एक उपन्न हुआ और क्षुण्ण भव प्रणय स जीव मर गया उसी क्षेत्र में वह जीव अणुल के असक्यातवें भाग प्रमाण आकारों के जितने प्रदेश हैं उतनी बार तम लेकर मरण करता रहा है । उसके पश्चात् एक एक अधिक बढ़ाते हुए उस जीवने सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र को अपना जन्मक्षेत्र बना लिया । मने जितना काल लगता है उतने काल को क्षेत्र परिवर्तन कहते हैं ।

ऐस क्षेत्र—परि त्तन इस जीव न अनन्त किय हैं । सम्पूर्ण लोक क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अनेक अवगाहना शरण करके नहीं उपन्न हुआ हो । अर्थात् अनन्त बार प्रत्येक क्षेत्र में जन्म मरण कर चुका है ।

काल परिवर्तन

त्तकालत्तणकालसमएसु जीवो अणतसो चैव ।

जाणा मदो य मन्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥ ( भग आ )

अर्थ— सर्पिणी और अबसर्पिणी के जितने समय हैं उन प्रत्येक में यह जीव अनन्त बार भूतकाल में जन्म मरण कर चुका है ।

उत्तमपि अत्रमपि पणि-समयावलिगामु शिखरसमामु ।

जाता मया य उहा भमखण्डे कालमसारे ॥ १७७८ ॥ भग आ )

अर्थ—यह जात्र उत्सर्पिणी और अत्रसर्पिणी के म पूरा समय का गणना में अनेक भव शरण करके उहा शर जात्र मरण कर चुका है। उम जात्र मसार कर्तव्य है।

भा १५—इस जात्र न उत्सर्पिणी के प्रथम समय में जात्र मालया जा अथवा आयु के ज्ञेय इन पर मरण किया। फिर उसी जीव न उत्सर्पिणी के उत्तर समय में जात्र मालया और स्वसाय आयु के समाप्त होने पर मरण किया। जात्र पुत्र य उत्सर्पिणी के तासुर समय में उपलब्ध हया और अपना आयु के ज्ञेय होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। मा क्रम में उस जात्र न म पूरा उत्सर्पिणी के समस्त जीवा म यशक्रम जात्र म शरण किए और आयु को समाप्त होने पर मरता रहा। मा प्रसार अत्रमापणा के प्रथम समय में उत्सर्पिणी के अन्तिम समय पर जात्र म शरण करके स्व आयु के समाप्त होने पर मरण करता रहा। म प्रसारानंतर जात्र म कह गए हैं। म य म क्रम भग करके जात्र म शरण करके जात्र मालया नम नहीं होता है। निम्न प्रकार जात्र म का क्रम निम्नलाया गया मरण का क्रम भी उसी प्रकार निम्नतर (अंतर राहत) समानता चाँहि। न जात्र म और मरणा में जितना काल लगता है उम जात्र म परावृत्त कहते हैं।

### क्षेत्र-पारवर्तन

आत्मा क प्रशान्तपक्षेत्र म आत्मा क प्रशान्त का समरण क्षेत्रपरिवर्तन हे।

अष्टपदस मुत्त रण इमा ससेमु मगपदसेमु ।

तत्तपि व अत्ररणा उन्वत्तपरत्तेश कुण्ठि ॥ १७७९ ॥ (भग आ )

प्रदशाष्टकमत्यस्य शपपु दुरुत भवा ।

उत्त नपरावृत्त मनसाप्पव तत्त्वा ॥ १८४८ ॥ (गीता भग आ )

अर्थ—रुचकाकार जा आत्मा के म ग र आत्मा प्रशान्त है उनको क्षेत्रपर शप सब प्रशान्त म यह जात्र उन्नत आत्मा परावृत्त करता रहता है। आत्मा म (उन्नत रूप जात्र म) जात्र प्रसार जात्र म उन्नत होने रहते हैं उमा प्रकार गोमनाकार आत्मा

प्रदेशों के अनिर्दिष्ट आमा क सब प्रदेश ऊपर नीचे ऊपर नीचे हुआ करते हैं अर्थात् उनमें स्पन्दन ( चलनामक ) क्रिया होती रहती है ।

### भाव ममार

लोगागाम एमा अमखगुण्डा हवति जावदिया ।

तावन्तियाणि हु अज्भवमाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८ ॥ ( भग आ )

अ ५—लोक के असख्यात प्रदेशों को अमख्यात स गुणित करने पर जितनी मख्या होती है उतन एक जीव के अभ्यवसाय स्थान होते हैं ।

भावस्थानान्तरापयेव दहवान् स प्रवधते ।

कर्केटुको यथानित्य वर्णान् स्वीकुरुते बहून् ॥

अज्भवमाणाणाणतराणि जीवा विकुञ्चह इपो हु ।

शिञ्च पि जहा मरडो गिण्हन्ति णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥ ( भग आ )

अथ—शरट ( गगट कर्केटिया ) नम अनेक रंग वर्णना रहता है जैसे ही नम संसारी जीव के अभ्यवसायों ( भावों ) में नित्यप्रति परिवर्तन ( परिवर्तन ) होता जाता है । इसका भाव परिवर्तन कहते हैं ।

### भाव परिवर्तन का विस्तार पूर्वक निरूपण

पचेत्तिय सक्षी पयात्तक मिध्याहन्ति किमी जाव ने अपन योग्य ज्ञाना रण कम प्रकृति की मबम तथा अन्त कोडा कोडी ( अन्त जाण कान्ति ) समर की स्थिति बाधा । नम जाव के उस स्थिति के योग्य कपाय अ यवसायस्थान ( आत्म परिणाम विशेष ) पनस्थानपतित ( अने न भागान्ति वृद्ध व हानिरूप ) असरयातलोक प्रमाण होते हैं । उन कपायाध्यवसाय स्थानों में जो सत्र जघपय कपायाध्यवसाय स्थान है उसक निमित्तभूत अनुभागाध्यवसायस्थान भा असरयातलोक प्रमाण होते हैं । इस प्रकार सत्र जघपय स्थिति तथा सत्र जघपय कपायाध्यवसायस्थान और सब जघ प ही अनुभागाध्यवसायस्थान को प्राप्त हुए जाव क उनक योग्य सब जघपय एक योगस्थान होता है । उसी स्थिति उसी कपायाध्यवसाय व उसी अनुभागाध्यवसायस्थान के लिए असरयातवृद्धियुक्त दुसरा योगस्थान होता है । तथा तृतीय अनुभ

आग्नि चारस्थान पतित हानि वृद्धिरूप असख्यातमागवृद्धि सख्यातभागवृद्धि सख्यातगुणवृद्धि असख्यातगुणवृद्धि तथा असख्यातभागहानि सख्यात भागहानि सख्यातगुणहानि असख्यातगुणहानिरूप ) अग्नी के असख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। जब अग्नी के असख्यात भाग प्रमाण सब योगस्थान एक बार होजाते हैं तब वही पूर्वोक्त स्थिति और वही पूर्वोक्त कषायाध्यवसायस्थान होता है और अनुभागाध्यवसाय स्थान का प्रथमस्थान बदलकर द्वितीयस्थान हो जाता है। इस तरह एक २ बार अग्नी के असख्यातभाग प्रमाण योगस्थान होजाने पर अनुभागाध्यवसायस्थान का एक २ स्थान बदलते बदलते जब असख्यात लोक प्रमित अनुभागाध्यवसायस्थान बदल जाते हैं तब स्थिति तो वही पूर्वोक्त रहती है और कषायाध्यवसाय का प्रथम स्थान बदलकर द्वितीय स्थान हो जाता है। तब द्वितीय स्थान के लिए पूर्वोक्त असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। अर्थात् एक एक अनुभागाध्यवसाय स्थान के निमित्त अग्नी का असख्यातभाग असख्यातभाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। और एक एक कषायाध्यवसायस्थान के निमित्त असख्यातलोकप्रमाण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं।

इस प्रकार पूर्व की भाँति एक एक बार सम्पूर्ण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानों के होने पर कषायाध्यवसाय स्थान का एक एक स्थान बदलते बदलते जब वे असख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान एक बार हो जाते हैं तब पूर्वोक्त मन्त्रजपय स्थिति में एक समय की वृद्धि होती है। तब क्रम से स्थिति में एक एक समय की वृद्धि होते २ ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तैत्तिरीय कोडाकोडी सागर की पूजा होता है। कषायाध्यवसायादि स्थानों का परिवर्तन पूर्व की तरह समझलेना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों की मूलप्रकृतियों व उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जान लेना चाहिए। उक्त सम्पूर्ण मूलोत्तर कर्म प्रकृतियों की जपस्थिति स लेकर उत्कृष्टस्थिति तक परिवर्तन क्रम में जितना काल लगता है उतने काल १ भाव परिवर्तन कहते हैं। वही कहा है —

मन्वा पयद्विठिदीत्रा अणुभागपदेसबधठायाशि ।

मिच्छन्तमिदेख य ममिदा पुख भावससारे ॥ ( भग आ नीका १७८१ )

अर्थ—मिथ्यात्व के बशीभूत हुए स जाव ने सम्पूर्ण कर्मों के प्रकृतिबन्ध प्रदेशाबन्ध अनुभागबन्ध आर स्थितिबन्ध के योग्य आत्मा के अ यज्ञसियों को धारण करके ससार में परिभ्रमण किया है इस भाव ससार कहते हैं। ऐसे भाव ससार भा स जीव ने अनन्त बार धारण किये हैं।

## भवमगार

एगविगतिगचउपचिन्तियाण जाओ हवति जोखीओ ।

मव्वाउ ताउ पत्तो अखँतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥ भग आ

अथ—नाम कम क गति जाति आनि अनेक भेद माने हैं । उसमें जाति कर्म के पाच भेद हैं । जाति कर्म के उच्य से एकेन्त्रिय आनि जीवो क जो आश्रय हैं यहा उनको योनि माना है । सचित्त अचित्तानि चौरामी लाख भेद जो आगम में अन्यत्र वणन किये गये हैं उनका यहा ग्रहण नहीं किया है । यहा पर एकेन्त्रियानि के आश्रयभूत जो वनाम्न प्याये हैं उनका योनि शब्द से ग्रहण किया गया है । पृथ्वी जल अग्नि और वायु कायिक जीवो मे से प्रत्येक के बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार चार भेद होते हैं उन त्रिकायिक जीवों क दो भेद हैं साधारण और प्रत्येक । इनमें से साधारण वनस्पति कायिक के वात्स्य सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार भेद होते हैं । प्रत्येक वनस्पतिकायिकनीच वादर ही होते हैं और उनके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं । इस प्रकार एकेन्त्रिय म्यावर जीवों के ईस भेद हुए । तथा त्रमकाय क द्वीन्त्रिय त्रीन्त्रिय चतुरिन्त्रिय और पचेन्त्रिय सङ्गी और पचेन्त्रिय असङ्गी ये पाच भेद होते हैं और इनमें प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त ऐम से दो भेद होन से नस भेद हुए । इस प्रकार सब मिल कर बत्तीस भेद हुए । इनमे नाम धारण करते रहने को भव परिवर्तन कहते हैं ।

दूसर आचार्यों के मत से भव परिवर्तन का स्वरूप निम्न प्रकार है -

शिरयादिजहणान्सु जाउदु उवारण्लियादु गोवेज्जा ।

मिच्छत्तससिदण दु भवद्विणी भजिन्ता बहुमो ॥ ( नीमा ङ्ग )

अथान—नरकगति मे नचय आयु दश हजार वष की है उस आयु को धारण करके किसी ने वहा नाम लिया और आयु पूरा होन पर ससार मे परिभ्रमण कर पुन पूर्णक आयु धारण कर उही नीच उमा नरक मे नामा और आयु की समाप्ति के अनन्तर समार में अन्य २ पर्यायों धारण करता रहा । पुन उमी आयु स उमी नरक में दश चार वष के जितने समय होते हैं उतनी बार जन्म धारण करके मरण करता रहा । उमक पञ्चान एक समय अधिक ग्राहचार वष की आयु धारण कर उमी नरक मे उत्पन्न हुआ और मरा । इसी प्रकार एक एक समय अधिक का आयु धारण करते और मरते हुए उस नीचने नरक मे तैतीस सागर की उच्छ्र आयुरिति समाप्त की । उसमें असरगत बार जन्म मरण हुए ।

तत्पश्चात् वह जाव सातव नरक से निकलकर त्रियंबगति में उलान्न होकर सबजघय अन्तमु ह्मत्त नी आयु का धारक हुआ और अन्तमु ह्मत्त क जितने समय होते हैं उतनी बार उसी पर्याय में पूर की भौति ज म मरण करता रहा । सके बाए एक एक समय अधिक की आयु धारण करते हुए पूर्वाक क्रमस उत्कृष्ट तीन पत्य की आयु समाप्त की ।

तन्मन्तर वहा स निकलकर वह जीव मनुष्यगति में आया आर वहाँ भी त्रियंबगति के समान सबजघय अन्तमु ह्मत्त का आयु का धारक मनुष्य हुआ । अन्तमु ह्मत्त के जितने समय होते हैं उतनी बार उतना आयु की मनुष्य पयाय धारण करके मरता रहा । तत्पश्चात् एक समय आरक क क्रमस उत्कृष्ट तीन पत्य की आयु समाप्त की ।

त पश्चात् वहाँ स निकलकर द्वत्रगति में उपन्न हुआ । वहा पर भी नरक के समान सबजघय आयु २५ हजार वर्ष की धारण करके २५ हजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार उसी पर्याय में ज म मरण करता रहा । उमके अनन्तर एक समय अधिक क क्रम से २५ स साग तर की आयु समाप्त की । क्योंकि तत्र वैयक तक ही मयाट्टिका गमन है । आग अहमिद्र भव नियम म सम्यग्गृहि होते हैं ।

स प्रकार भिव्याट्टि जीव सिध्यात्व क योग स नरक गति की जघय आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु तथा इमी प्रकार त्रियंब गति मनुष्यगति आर त्रत्रगति के उपारम नों प्रो वैयक तर बहुत बार पयाय धारण करते भयपरिवत्तन करता रहा है । अथात् स जाव ने सिध्यात्व क वश में आ र उक्त भव परिवत्तन अनन्त बार किये है ।

म ममार म इस जीव को सब से भय लगा रहता है किमी चगह भी सुख शान्ति नहीं मिलती ।

आगामाम्म वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।

हिसति एककमेक्क सज्वत्थ भय खु ममारो ॥ १७०२ ॥ ( भग आ )

अथ—जब यह जीव कम योग से पत्नी की पयाय म तम लेता है और आकाश में स्वच्छान्नुचि से चिन्तन करता है तब श्यन ( वाग ) आत्ति विरोधी पत्नी उसे सत ते हैं । तब जलचर चावः मे ज म धारण करता है तब छोटे मच्छों को महाम स्य पक्षण करते हैं । तब जलचर मृगान पशु होता है तब सिन् याघान दिवक पशुओं म भक्षण किया जाता है अथात् ससार में एक दूसरे की हिंसा करने में जीव तपर रहते हैं । ससार म मत्र भय लगा हुआ है । कही पर भा सुख व शान्ति नहीं निखाई देती है ।

मयउ वाटपरद्धा विलत्ति याउण अजगरस्स मुह ।

मरणत्ति मएणमाणो मच्चुम्म मुव जह अनीदि ॥ १७०३ ॥ ( भग आ )

अथ— यात्र ( शिकारी ) के भय से भगा हुआ शराक ( खरगोश ) अन्तरिक्ष में उड़ने के लिए समझकर उसको शरण ( रक्षा का उपाय ) मानकर उनमें चैतन्य प्रवेश करता है जैसे ही यह जीव काल के मुहूर्त में प्रविष्ट होता है ।

ता य यह है कि यह जीव सस्यार में जिसको शरण समझता है वही इसका प्रातक होता है । प्रत्येक जीव काल के मुख के निकट निवास करता है । अन्नभक्षण करने ही उसके मुख में पहुँच जाता है । अतः धर्म ही इस जीव का शरण है इस भव और परभव में मुख और शक्ति का अनुयायी है । किन्तु अज्ञानी प्राणी मोहनीयकर्म के उपाय से धर्म से विमुख होकर क्षुधा व्यापित रूपी याधों से पीड़ित हुआ उनसे उचन के लिए भयानक दुःख के दैनन्दिने सस्यार रूप भुजंग ( कालनाग ) के मुख में प्रवेश करता है ।

समार म नतना भा—चौरासी लाख योनिवा है उनमें यह जात्र अन्न तत्रार जन्म ले चुका है ।

य समार म यह जीव नीचकर गण्य पर चक्रवर्ती नागयण प्रातनारायण पंचानुत्तर विमानवासी देव, लोकान्तिक देव लोहपाल शक्रादि मानस्य तत्रा शक्र का पट्ट महिषा नहीं हुआ । उनके अतिरिक्त सब पर्यायें यह जीव अनन्तवार धारण कर चुका है ।

जच्चधवहिरमूत्रा झादो तिसिओ वणो व एयाई ।

भमइ सुचिरपि जीवो नम्मवणो गहसिद्धिपहा ॥ १७८८ ॥ ( भग आ )

अत्र— सस्यार म यह जीव कभी जन्म से अन्धा बहारा व गूगा होकर जमा था । अनन्तवार भूल व प्यास से पीड़ित हुआ था । जैसे ही मित्रानगर—मानस्यार का परभ्रष्ट ( मागभूला ) पथिक अकेला घने जंगल में इधर उधर भ्रमण करता है जैसे ही जीव अज्ञानशाल सस्यार मानस्यार सभ्रहारी स भव वन में असहाय भ्रमण कर रहा है । और भी कहा है —

‘ कलुषचरितैर्नष्टज्ञान सुसंचितकर्मभि

करणविकल कर्मोद्धतो मवाणवपातत ।

सुचिरमवशो दुस्वार्तोय निमीलितलोचनो—

भ्रमति रूपसो नष्टराण्य शुभेतरकर्मकृत् ॥’

अ — यह अज्ञाना ज व मित्रानगर या चरणो स बहुत रमों का सचय करके उनके फल स्वरूप कभी नेत्रहीन हुआ कभी कानों की श्रवण-शक्ति से रहित हुआ कभी वचन—चरण करने का शक्ति से परकल हुआ कभी बौना लला लगदा टूटा हुआ कभी वचन मोलन की शक्ति पई तो दुस्वर्त मिला तिस्य । — रमों को आप्रय हया । कभी इन्द्रियो की पूषता पई तो मूर्य—विवेकरहित हुआ ।

“याधि से पीड़ित होकर आत्संध्याना बनारहा। कभी व्यसर्ना में फसकर अनेक पापक्रियाओं में मग्न रहा। कभी इष्टपदार्थों के बियोग से आतुर होकर शोक मन्त्रिं बिताये। कभी अपने से अधिक विभूतिवाले मनुष्यों को देखकर मात्स्वय भाव धारण कर भयानक कर्मों का सचय किया। कभी अभिमानवशा अधिक गुणवानों से विद्व व कर ज्ञानावरणनिकर्मों का सचय करता रहा। कभी संसार के भोग बिलास की लालसा के बरीभूत हुआ अथ नीवो की धनान् प्रियवस्तुओं के ठगने में निपुण रहा। इस प्रकार चिरकाल तक न्त्रियों के विषय में परतन्त्र हुआ यह जीव अशुभ कार्य करके इस संसार में अशरणा दु ख पीड़ित और म्नीन होकर एकाकी भ्रमण करता है।

विसयामिमारागाद कुजोशिशोमि सुददुक्खददग्वील ।

अपण्णाणत्तु बधरिन् क्मायददपड्डयावध ॥ १७६१ ॥

बहुजम्मसहस्मविमालवत्तसिं मोवेगमहिचवल ।

संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥ १७६२ ॥ ( भग था )

अथ—कर्म के परतन्त्र हुआ यह जीव संसार रूपी चक्र पर चढ़ा हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। इस संसार चक्र के विषया मिलाया रूपी मजबूत आर हैं। नरकान्त्रि कुयोनि जिसके नेमि ( पूठि ) है। सुख दु ख रूप जि पके टड कील लगी है। अज्ञानावस्था रूप तु वे से जो धारण किया गया है। तिस संसार चक्र पर कषायरूप लोहे की पट्टी चढ़ी हुई है। अनेक जन्म रूप विराल माग पर भ्रमण करता है। मोहरूपी वेग स यह अयन्त चचल दिखाई दता है। एस संसाररूपी चक्र पर चढ़ हुए इस जीव का निकल भागना अयन्त कठिन है। सत्प गति क प्रभाव से जब स आत्मा के सत्यज्ञान का उन्प्य होकर मोहाधिकार दूर होता है तब इस संसार रूप चक्र न वेग मन्द हो जाता है और जीव उससे प्रथक् होजान की शक्ति प्राप्त करलेता है। ऐसे अवसर पर रत्नत्रय का आराधन यदि वह करले तो सदा के लिए उससे प्रथक होकर मोक्ष के आविनश्वर पन् को प्राप्त कर लेता है।

ममार के छह भेद

किं केष कस्म क्त्य व केवच्चि कदिविधो य भावा य ।

छहि अशिमोगदारे हि सचे भावाणुगतन्वा ॥ १५ ॥ ( मूला द्वा अ )

अथ—१ संसार उस कहते हैं ? २ यह किन भावों से होता है ? ३ किसके होता है ? ४ कहा है ? ५ कितने काल की स्थिति वाला है ? और कितने प्रकार का है ? इन छह अनुयोगद्वारों की अपेक्षा संसार के छह भेद होजाते हैं। केवल संसार का स्वरूप बखान करने

के लिए ही ये ब्रह्म अनुयोग द्वार नहीं किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन करने के लिए ब्रह्म अनुयोगद्वारा समझने चाहिए। पदार्थों की व्याख्या करने के उपायों को अनुयो (द्वार) कहते हैं। न अनुयोगद्वारों द्वारा 'याचना करने से पदार्थों का बिराट विवेचन हो जाता है।

१ प्रश्न—संसार किसे कहते हैं ?

उत्तर—नरक तिर्यक् देव और मनुष्य इन चारों गतियों में जीव के भ्रमण करने को संसार कहते हैं।

२ प्रश्न—किन भावों से संसार होता है ?

उत्तर—श्रौचशामिक ज्ञायिक ज्ञायोपशामिक औचिक और पारिणामिक भावों से संसार होता है। अर्थात् ससारी जीवके ये पाचों भाव पाये जाते हैं।

३—प्रश्न संसार किसके होता है।

उत्तर—अष्ट कर्मों से घिरे हुए नरक तिर्यक्, देव और मनुष्य के होता है।

४ प्रश्न—यह संसार कहा रहता है ?

उत्तर—मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग में संसार पाया जाता है। अर्थात् संसार के आधार मिथ्यावादि परिणाम हैं। जहाँ ये होते हैं वहाँ संसार होता है। अथवा संसार का आधार तिर्यक् लोक है।

५ प्रश्न—संसार का काल कितना है ?

उत्तर—इसका काल अनानि अनन्त और अनानि सान्त है। अभय की अपेक्षा संसार अनादि अनन्त है तथा भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है।

६ प्रश्न—संसार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—सामान्य रूप से चतुर्गति में भ्रमण रूप संसार एक प्रकार का है। भव्यजीव और अभयजीव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अनादि अनन्त अनादि-सान्त और सादि-सान्त इस प्रकार संसार के तीन भेद होते हैं। क्षेत्र त्रय्य काल और भाव की अपेक्षा से संसार के चार भेद हैं। तथा उक्त भेदों में भव भेद मिला देने पर संसार पाच प्रकार का है और उक्त गायाम वर्णित ब्रह्म अनुयोग द्वारों की अपेक्षा से संसार के ब्रह्म भेद हैं।

संसार में दुःख ही दुःख

तत्त्व जरामरश्मय दुःखस्य पियविष्णोः गनीहख्यय ।

अप्यिय सजोग पि य रोगमहावेद्व्याभो य ॥ १६ ॥ ( मूला द्वा अ )

अथ—एक प्रकार के ससार में जन्म से उपपन्न होने वाला कार्यात्मक ( कार्य-जाय ) वाचनिक ( वचन-जाय ) मानसिक ( मन में उपपन्न ) दुःख तथा प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उपपन्न होने वाला दुःख महा भयानक होता है। तथा अप्रिय अनिष्ट वस्तु के संयोग जन्म महद्दुःख होता है। इनको तथा अरिष्ट रोगों और रासा आस जमन कुम्भ राजयत्ना आदि व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं को यह जाव निरन्तर अनुभव करता रहता है। तथा

जायतो य परतो जलथलवयरसु तिरियिखिरसेसु ।

माणुसे देवच दुक्खमहस्मिण्णि पप्पोदि ॥ १७ ॥ ( मूला द्वा अ )

अथ—यह जीव ससार में निरन्तर जन्म मरण करता हुआ तथैवगात में जलचर थलचर और खेचर ( पक्षी ) बनकर अनन्त दुःख भोगता है। तथा नरकगति में वचन के अगोचर भाषण दुःखों को भोगता है। यदि किसी पुण्य के योग से मनुष्यगति प्राप्त होता है तो जहां पर तृष्णा-रश मिश्रण के निमित्त से अनक सताप और इष्ट वियोग अप्रिय संयोग आदि से उपपन्न अनेक दुःखों का अनुभव करता है। यदि पुण्य के निमित्त से भी देवगति में जन्म लिया तो जहां पर भी उसे सुख नहीं। उच्च श्रेणी के धारक देवों को देखकर निरत्य श्रुता है। मिथ्यामान संयोग से तृष्णा पिशाची ब्रह्म पर भासना पीड़ा नहीं छोड़ता। मोहकर्म की बलवत्ता से उसी को सुख का साधन समझता है और द्वा मास पू माला के मुक्ती पर अपने को स्वर्ग से च्युत हुआ समझ कर महान मानसिक पीड़ा को भोगता है। ब्रह्म पर वह रो रोकर समय बिताना है और पुन एकेन्द्रियानि जीवों में जन्म लेकर अनन्त दुःख का अनुभव करता है।

स जीव न ससार में भ्रमण करते हुए सबे सुख का कभी अनुभव नहीं किया। जब कभी कुछ जित सुख का अनुभव किया तो वह तथैव सुख है। सच्चा सुख नहीं सुखाभास सुख की कल्पना मात्र। और वह काल्पनिक सुख भी यहां मिलनेवाले अनन्त दुःख के समान गण्य है—न क चरांवर है। यही कहा भी है—

जे भोगा खलु कई दत्ता माणुमिसया य अणुभुत्ता ।

दुक्ख अणत्तखुत्तो खिणिए तिरिएसु जोखीसु ॥ १८ ॥ ( मूला द्वा अ )

अथ—जन्म कभी लाभान्तराय व भोगोपभोगान्तराय तथा सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतिक योग से देवपर्याय और मनु । शायं सुख भाग की सामग्री भी मिली किन्तु नरक आर तथैव योनि में अनन्त बार वार दुःख प्राप्त किया। उस दुःख के आगे वह सुख समुत्तम एक वृत्त के समान भी नहीं।

## मासारिक सुख के माथ ट ख

मजागविष्णुजोगा लाहालाह सुह च दुक्ख व ।

मनारे अणुभूटा माण्य च तहावमाण्य व ॥ १६ ॥ ( मूला द्वा अ )

अथ ससार म इम जीव को पुण्य योग स ष्ट वस्तुओं का समागम प्राप्त हुआ तो साथ ही में पाप प्रकृति के उदय से ऊर्धी प्र पत्थों के वियोग से महादु ख का अनुभव भी करना पडा । जहा लाभान्तरायकम के ज्ञयोपशम से मनोबाद्धित वस्तुओं का लाभ हुआ तो उमक साय हा लाभान्तरायकम के उण्य म नना अनाम भी हुआ अत्रात् उन अभीष्ट पत्थों का असहयोग हुआ । सातवेदनीय कम के उण्य म सुग प्राप्त हुआ । बाया तरायकम व उण्य म उनका सुखानुभव न पर मका अथवा तत्काल असातवेदनीय कम का उदय होने पर उण्य के साधना का सम्भव हुआ और दुःख का अनुभव करने के लए बाध्य होना पडा । यथा कीर्ति कम के उण्य से व अय पुण्य प्रकृति के सहयोग से सम्मर में आर सम्मानान्ति की कृति हर्नो तगाताय अयशार्ति व अय पाप प्रकृति के उण्य से अपमानान्ति के प्राण पातक कर्षों को भोगना पडा । ता पय य है कि ससार म यह जीव कम रूप मगारा ने हाय का सकट बना हुआ सदा परतन्त्रता के असीम दु खों का अनुभव कर रहा । अस कही मन्ना सुख नही मितता । स तत्र का अनुभव कर भयों को ससार भ्रमण से उमुक्त होने का उपाय करना चाहिए और ससार म कही सुख मिलन की लालसा छोडादनी चाहिए ।

## लोकानुप्रेक्षा

एगविहो खलु लोओ दुविहो ति विहो तहा बहुविहो वा ।

दवेहि पञ्जएहि य चिंतिज्जो लोयस भाव ॥ २१ ॥ ( मूला० द्वा अ० )

अथ—(१)सामान्य रूप से लोक एक प्रकार है—जिसमें जीवादि पदाय दिखाई दे उसे लोक कहते हैं । (२) ऊच लोक और अवोलोक के भेद से लोक दो प्रकार का है । (३) उचलोक अवोलोक और वियक् लोक के भेद से लोक तीन प्रकार का है । अथवा उत्पादय आर धोय के भेद से लोक तीन प्रकार का है । (४) चारगति के भेद से लोक चार प्रकार का है । (५) जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आराशास्तिकाय के भेद से लोक पाँच प्रकार का है । (६) उक्त पाँच अस्तिकाय और एक काल इन छह द्रव्यों के भेद से लोक छह प्रकार का है । (७) जीव अजीव आक्षय वध सबर निजर और मोक्ष इन सात तत्त्वों की अपेक्षा से लोक सात प्रकार का है । (८) ज्ञानावरणान्ति आठ तत्त्वों की अपेक्षा से लोक आठ प्रकार का है ।

इस प्रकार लोक की रचना के दृश्यों और पर्यायों का विचार करने से लोक अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। उसके स्वरूप के अभ्यास करने को लोकानुपेक्षा कहते हैं।

### लोक का स्वरूप

लोको अकिङ्कितो खलु अखादखिदयो सहावखिपययो ।

जीवाजीवेर्हि ब्रह्मो खिषो तालुकस्वसटायो ॥ २२ ॥ (मू. डा. अ.)

अर्थ—यह लोक अकिङ्कित है। अर्थात् ईश्वर आदि किसी का बनाया हुआ नहीं है। अनादि (भाविरहित) और अनिबन्ध (अन्तरहित) है। न तो इसकी किसी ने सृष्टि (रचना) की है और न इसका कोई मलय (नारा) हो कर सकता है। यह स्वभाव से निष्पन्न है। अर्थात् घटानि की तरह इसकी परमाणुओं के रूयोग से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा यह जीव जन्मों और अजीव जन्मों से भरा हुआ है। अर्थात् यह मायामयी असत्यभूत कल्पनामात्र नहीं, जैसाकि वेदान्ती इसे माया रूप (मिथ्या) मानते हैं यह नित्य है। जैसा कि बौद्ध मत वाले सब पदार्थों को क्षणिक (क्षण विनश्वर) मानते हैं, वैसा नहीं है किन्तु शाश्वत है। और इस प्रकार के इस लोक का आकार ताड़ के वृक्ष समान है। अर्थात् जैसे ताड़का वृक्ष जड़ में चौड़ा, मध्य में सफा और ऊपर में चौड़ा होता है, उसी प्रकार यह लोक अधोभाग में सात राज् प्रमाण चौड़ा है मध्य में सफा होकर एक राज् मात्र चौड़ा रह गया है और फिर ऊपर ऊपर लोक में ऋषी स्वर्ग के पास आकर पाच राज्प्रमाण चौड़ा और फिर और ऊंचा जाकर अन्तमें एक राज् प्रमाण मात्र रह गया है।

त्रिलोकसार में इस लोक का आकार डढ़ खड़ी मृत्ग क समान कहा है।

उन्मिपदलोककन्मुखद्वयमचयसणिसहो हवेलोगो ।

अधुदया मुखसमो चोदसरज्जुदयो सच्यो ॥६॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—खड़ी रखी हुई डढ़ मृत्ग (आधा) मृदग के ऊपर एक मृत्ग) समान आकृति वाला यह लोक है। मृदग बीच में पोली होना है किन्तु यह लोक उस की तरह पोला (खाली) नहीं है मध्य में भरा हुआ है। खड़ी की हुई अधमृदग के समान अधोलोक और खड़ी हुई एकमृत्ग के आकार समान ऊर्ध्वलोक है। दोनों मिलाकर सब लोक चौंहा राज् ऊँचा जानना।

भावार्थ—आकारा के बहुमध्य भाग में ३४३ तीनसौ तेतालीस घनाकार राज् प्रमाण यह लोक स्थित है। यह किसी के आधार पर नहीं है। पर के मध्यभाग में जैसे ढीका होता है उसी प्रकार आकारा के मध्य भाग में लोक अवस्थित है। ढीकें के जो ऊपर

के क्षेत्र का आश्रय होता है किन्तु यह लोक आश्रय रहित है। इसके चारों ओर तीन वातवलय घनोदधिवातवलय घनवातवलय, तनुवातवलय हैं। इन तीनों वातवलय (वायुमण्डल) से यह लोक वेष्टित है। इस लोक के अधोभाग में तथालोक के नीचे दोनों पारव भागों में एक राजू पर्यन्त तीनों वातवलयों की मोटाई बीस बीस हजार योजन है। यहां से (नीचे से एक राजू के) ऊपर सातवीं नरक धृष्वी के निकट घनोदधि की सात घन वातवलय की पाँच और तनुवातवलय की चार योजन मोटाई रह गई है। अर्थात् बीस हजार योजन से घट कर एकदम क्रमसे सात पाँच और चार योजन की मोटाई रह गई है। यहाँ से वातवलय का मोटाई घटते २ तिर्यकुलोक तक क्रमसे पाँच, चार और तीन योजन की मोटाई रह गई है। फिर यहाँ से क्रमसे बढ़ते बढ़ते ब्रह्मलोक के निकट तीनों वातवलयों का परिमाण क्रमशः सात पाँच और चार योजन का हो गया है। तथा यहां से क्रम से घटते घटते उध्वलोक में तिर्यकुलोक के समान पाँच चार और तीन योजन मोटाई रह गई है। लोक के उपरम भाग में तीनों वातवलय का प्रमाण दो कोश एक कोश और एक कोश में चारसौ पच्चीस धनुष कम मोटाई का प्रमाण है। अर्थात् घनोदधिवातवलय दो कोश प्रमाण घनवातवलय एक कोश प्रमाण और तनुवातवलय पन्द्रहसौ पच्चीस धनुष प्रमाण मोटे हैं।

इस प्रकार के तीन वातवलय का आधार पर लोक स्थित है। लोक को चार ओरों से घनोदधिवातवलय (जल मिश्रित मोटी वायु) वेष्टित किये हुए है। यह वायु स लोक के चारों ओर समरक्त अवस्थित है। अतः इसी वायु के आश्रय पर लोक अवलम्बित है ऐसा जानना। जैसे किसी पत्थर के चारों ओर स समाने शक्ति स एकका लगता रहे तो वह पत्थर बीच में ही स्थिर रहता है इसी प्रकार लोक के चारों तरफ समान शक्ति वाली वायु एकका द रही है अतः यह मध्य में जहाँ का तहाँ अवस्थित हो रहा है। घनोदधि वायु के आधार पर लोक है। यह घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आश्रय पर है। यह वायु भी मोटी है लेकिन उस में जलका भाग नहीं है। और यह घनवातवलय तनुवातवलय का आश्रित है। सूक्ष्म वायु को तनुवात कहते हैं। तनुवातवलय आकाश के आश्रित है। और आकाश अमृत् होन से किसी के आधार पर नहीं है। यह स्वप्रातप्त है अपने आपक आधार है।

घनोदधिवात का रंग गोमूत्र का रंग समान है घनवात का रंग मृग नाम का अन्न का समान द्रव्य है और तनुवात का रंग अन्न का प्रकार का माना गया है।

अब मतों में इस लोक के लक्षण में भिन्न भिन्न अन्न का मायनाए हैं। कोई तो कहते हैं कि इस सप्तर में मन्त्र जल ही जल था। ईश्वर को सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस - १ - म एक अण्डा जल में उत्पन्न हुआ और वह बहुत बड़ा हो गया। उसके दो विभाग (स्वह) हुए। एक नीचे के विभाग स पृथ्वी बना और ऊपर के स्वह से आकाश की रचना हुई। उन दोनों के मध्य में मनुष्य लोक स्वर्ग लोक और वाताल लोक का निर्माण हुआ।

कोई मानते हैं कि विष्णु इस जगत् की रचना करता है तथा स का पालन करता है और रुद्र ( महादेव ) इसका प्रलय ( संहार नाश ) करता है । स प्रकार इमका उत्पत्ति मृत्यु आर प्रलय होता रहता है ।

योग ईश्वर की आध्यात्मिक ज्ञानशाक्त आर पथत्वशाक्त इनतीनों शक्तियों से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं । वे कहते हैं की जीवों क शुभशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर जगत् की रचना करता है ।

सायब्य मानते हैं कि सत्त्व रज और तम ये तीन धर्म प्रकृति म रहते हैं । इन तीनों की जब तक समन्वयस्था रहती है तब तक प्रकृति अपन स्वरूप मे ही रहती है आर जब इन धर्मों म विषमता होन लगता है तब जगत् का निमाण आरम्भ होता है । उनका सृष्टिका क्रम निम्न प्रकार करत है ।

प्रकृतेर्महास्ततो हकारस्तस्माद्गण्डशक ।

तस्मान्पि पाडशकान् पञ्चभ्य पञ्चभूतानि ॥ ( सायब्यतत्त्व कौमुदी )

मार्ग—प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व हैं । सत्त्व रज और तम इनकी साम्यावस्था को प्रकृत या प्रधान कहते हैं । और जो चतन है उस पुरुष कहते हैं । यह चतन कवल अपन स्वरूप का अनुभव मात्र करता है । बाह्य पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से होता है और वह बुद्धि प्रकृत का मर्म है । क्योंकि प्रकृति क स वादि गुणों म जब विषमता उपन्न होती है तब प्रकृति स मूल ( बुद्धि ) को उत्पत्ति होती है । बुद्धि स अकार उपन्न होता है । अहकार मे सोलह तत्त्व उभ्र हाते हैं पाँच ज्ञानेन्द्रिया ( स्पृशण रसन प्राण चक्षु और श्रोत्र ) पाँच कर्मिया ( हाथ पाव आर गुण और उपर ) ( जननेन्द्रिया ) पाँच तन्मात्र स्थान्द्रिया क विषय ( स्पर्श रस गन्ध वण और शब्द और एक मन ) तथा चतस्रमात्र ( इंद्रिया के विषय ) से पाँच भूत ( पृथिवी जल अग्नि वायु और अकार ) उत्पन्न होते हैं । यह सृष्टी प्रक्रिया है ।

इन पचीन तत्त्वों में प्रकृति आर पुरुष य दो तत्त्व निय हैं । आर शेष तेईस तत्त्व प्रकृति से जन्म लेते हैं । और प्रलय काल में प्रकृत स तत्त्व क्रमम उपन्न हुए ह उसी क्रम स लीन हो जाते हैं । अगत्त पचभूत तो पचतन्मात्र में लीन हो जाते हैं । पचतन्मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रिया व पाँच कर्मेन्द्रियों और मन य सोलह तत्त्व अहकार में लीन हो जाते हैं और अहकार महान् ( बुद्धि ) म लीन होजाता है और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है । इस प्रकार प्रलय काल म प्रकृति और पुरुष य दो हा तत्त्व शेष रह जाते हैं ।

उक्त रीति के अनक मत प्रचलित हैं । उन सबका वरण करने से प्रथ के विमुक्त होने का भय है अत विशेष नहीं लिखते हैं । किन्तु यह ध्यान रखना कि उक्त चनेतर सब कल्पनाएँ युक्त स अमगत और बुद्धि से अप्राप्य हैं ।

रम संसार में पहले जेल चल ही जल था ऐसा तो मानते हैं उनको मोचना चाहिए कि सबसे पहले जल ही जल था, और कुछ भी नहीं था प्राची आवाश भी नहीं था तो जल किस पर उतरा हुआ था ? क्योंकि जल बिना आधार क उठरने में असमय है। उसके लिए कोई पृथ्वी था अथ कोई आश्रय मानना ही पडगा।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर (ब्रह्मा) की उद्गा स जल म एक अंडा उपपन्न हुआ और इसी कारण इस जगत् को लोग ब्रह्माण्ड कहन लग। इसमें यह शका उद्गा होती है कि उस अण्डे का उपादान (निस्तन्मय या पन्थ नेवह उपपन्न हुआ है वह) क्या है और वह कहाँ पर स्थित था ? तथा उम अण्ड को बनानेवाला ईश्वर किम स्थान पर निवास करता था ? उसके शरीर था या नहीं ?

शरीर ग्ररण किये बिना तो मूत्तन्मय उत्पन्न नहीं किये जा सकने ? क्याकि मूत्तन्मय की उत्पत्ति मूत्तन्मय से ही होती है। अमूत्त स मूत्तन्मय की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

प्रत्येक पन्थ की उत्पत्ति म उपादान कारण और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। जो कारण कायरूप परिणामन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे पड का उपादान कारण मिट्टी है क्योंकि मिट्टी पडे के रूप में परिणत हुई है। जो काय की उत्पत्ति में प्रयत्न करता है या महायक होता है उस निमित्त कारण कहते हैं। जैसे कुम्हार घडे के बनाने में प्रयत्न करता है अत यह पडे म निमित्त कारण माना जाता है। उसी प्रकार यदि ईश्वर उपादान-निमित्त कारण है तो जात्वा उपादान कारण अथ होना चाहिए। जगत् का उपादान कारण ईश्वर तो ही नहीं सकता क्योंकि वह अमूत्त है तथा अचेतन व चेतन रूप जगत् का उपादान कारण भी वैसाही चेतन व अचेतन रूप होना चाहिए।

प्रत्येक काय का उत्पत्ति म ज्ञान इच्छा और प्रयत्न म आवश्यकता होती है। ईश्वर म ज्ञान तो माना जा सकता है किन्तु उमम इच्छा और प्रयत्न का सद्भाव मानना किसी भा तरह युक्त सगत नहीं है। ईश्वर के यदि इच्छा का सद्भाव माना जाय तो प्रभ उपरिष्ठत होता है कि वह ईश्वर की उद्गा नित्य है या अनित्य ? यदि वह नित्य है तो उसका साथ कभी कारणों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि उस अनित्य माना जाय तो बतलाना होगा कि उस उद्गा की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

जगत् में कोई भी इच्छा बिना कम के नहीं होती। यदि ईश्वर के इच्छा मानें तो उस सकर्मा मानना होगा। पर ईश्वर को सकर्मा मानना तो बिल्कुल युक्त विरुद्ध है। क्योंकि तब हममें और ईश्वर में कोई भेद ही न रहेगा इस तरह जब ईश्वर क किसी भी युक्ति से इच्छा सिद्ध नहीं हो सकती तब उसके प्रयत्न भी वैस माना जा सकता है ?

जो लोग (आश्व) प्रकृति (प्रधान) से जगत् की रचना मानते हैं उनका मत है कि प्रकृति तब तब है तो उससे बुद्धि (ज्ञान) पैदा क्यों हो सकता है? क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) तो चेतन आत्मा का धर्म है।

मत्स्य रत्न और तम की समानावस्था को प्रकृति कहते हैं। तम-वाग्नि गुणों में विषमता उत्पन्न करने वाला कौन है? परन्तु तत्त्व तो तो उत्पन्न करने में असमर्थ माना गया है। वह तो अपने स्वभाव में अनुभव करता है वाग्नि के कार्य में वह अकिञ्चित्कर है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय को साक्ष्यों ने प्रकृति के कार्य स्वीकार किया है किन्तु उनका कारण प्रकृति नहीं हो सकती। क्योंकि प्रकृति का ही एक स्वरूप आश्व्यावस्था है। उसमें जब विषमता उत्पन्न होता है तभी जगत् का प्रलय स्वीकार किया गया है। हम पूछते हैं कि उस विषम (विषम अवस्था) को उत्पन्न करने वाला कौन है?

य प्रकार जगत् की सृष्टि माननेवाले जितने भी जगत-मत हैं वे जगत्-युक्तियाँ स निराकृत होती हैं—सर्वात्म्य हैं। जो जगत् की रचना क समान लोक क आश्वय क विषय में अनभिमत ह वे भी युक्ति संगत नहीं। जगत्—

कुछ लोग इस प्रश्न को गाय क सीमा पर नहीं उड़ मानते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि गाय क साग पर नहीं किन्तु रत्न के हीट पर यह प्रश्न उठरी हुई है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह कहते हैं कि यह साग प्रश्न शेषनाग के साथ पर उठरी हुई है। पर न म म किसी का भी कहना हीक नहीं है क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह गाय कलुषा और शेष नाग कहीं पर उठर हुए हैं? यदि इनका भी कोई आधार स्वीकार किया जाय तो फिर उस आधार क विषय में भी प्रश्न उपस्थित होगे और इस तरह अनवरत आतायगी। अतः वैनावाग्या ने जो इस सार लोक को तीन प्रकार की गाय क आधार पर माना है वही बुद्धि प्राण और युक्ति संगत है।

### लोक के विभाग

स लोक क तीन विभाग हैं—अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक सात राजू प्रमाण उचा है। मने अधोभाग में चौड़ाई सात राजू प्रमाण है। मुन घटते अधोलोक क ऊपर के अन्तमभाग—नरक की प्रथम पृथ्वी में जाकर सफ चौड़ाई एक राजू प्रमाण रह गई है। इसका क्षेत्रफल (लम्बा चौड़ाई) अठारह राजू प्रमाण है।

स अधोलोक क (नरक में सातवीं पृथ्वी में) नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र में केवल निगोनिया नीबो का निवास है। उस एक राजू प्रमाण क्षेत्र में सटाठ मन्गोनिया जीव भय पड़ है। स अधोलोक क सात छह राजू प्रमाण क्षेत्र में सात नरक पृथिवियों हैं।

## नरक की पृथिवियों का वर्णन

प्रथम पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटा है। इसका तीन भाग हैं—१ खरभाग २ पकभाग ३ अर्बहुलभाग। उनमें १ खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसमें एक एक हजार योजन की मोटा सोलह भूमिया हैं। उन नाम ये हैं—

१ चित्रा २ वज्रा ३ वैश्या ४ लोहता ५ कामसार कल्प ६ गान्गा ७ प्रमला ८ योनिरमा ९ अजना १० अजन मूलना ११ अङ्का १२ स्फटिका १३ चन्दना १४ सत्रथका १५ वकुला १६ शैला।

न सोलह भूमिया में से आग्नि की चित्रा और अन्त की शल नाम की भूमि को छोड़ कर प्राणी की चौदह भूमियों में रत्नप और असुरकुमार देवों के अनिष्टिक स्वयं यत्न देवा और भवनप्राणा देवा र आश्रम स्थान बने हुए हैं। उनमें ये देव निवास करते हैं। तबू १२ असुरस्थान द्वीप समुद्रों को छोड़कर शेष द्वीप समुद्रों के बीच क भूभाग में भवनवासी और यन्त्र देवों के उक्त निवास स्थान बन हुए हैं। अज्ञान जम्बूद्वीप और लवणममुत्तान असुरस्थान द्वीप समुद्रों के नाच क भाग में उक्त देवों के निवास स्थान नहीं बन हैं किन्तु उक्त असुरस्थान द्वीप समुद्रों के आग क अधोभाग में उक्त निवासस्थान बन हैं।

दूसरे पकभाग चारसा हजार योजन का मोटा है। उसमें रत्नप नाम के यन्त्र देवों के आर असुरकुमार नामक भवनवासी देवों के निवास स्थान बन हुए हैं।

तिसरा अर्बहुलभाग है उसमें प्रथम नरक है। उक्त तीनों भाग रत्नप नामक प्रथम नरक के हैं। न तापों भागों के मध्य कोई गोल ( रक्त या लाल ) अन्तराल ) नहीं है। उस किसी पर्वत क किसी अपेक्षा से अर्बहुलभाग किय जाते हैं जैसे रत्नपमा पृथ्वी के य तान स्थल हैं।

दूसरी शतरप्रभा पृथ्वी बत्तीसहजार योजन तिसरी वालुनाप्रभा अर्बहुल हत्तर योजन चौथी पकप्रभा चौबीस हजार योजन पाच । प्रथमप्रभा नाम हत्तर योजन छठी तम प्रभा सोलह हजार योजन आर सातवीं महातम प्रभा आठ हजार योजन मोटी है।

नरक की सात प्रथिवियों में उक्त रत्नपमा आग्नि नाम भूमि क प्रथम ( प्रभा ) क महाचय के कारण निष्पन्न हुए हैं। इनके रूढ नाम तो ये हैं—१ घमा २ शा, ३ मगा ४ अचना ५ आरष्टा ६ मघवी आर ७ माघवा।

४ मातो प्रथिव्या लोह क अत (तीनों छोर) तक चली गई हैं। लोक म कल ८ परा ( पृथिवियों ) हैं। सात ती ये नरक भरा

और आग्नी षडधरा (सिद्धशिला) है। धरा उसीको कहते हैं जो पूर्व पाश्चिम लोक के अन्त को प्राप्त हो। स्वर्ग विमानो का धरा सीलिय नहीं कहा है कि वे लोकान्त तक अखंड रूप नहीं है।

य स तो भूमिया एक दूसरी स अमर्यादा योजन के अन्तर पर हैं। न भूमियों के चारों ओर उक्त तीनों प्रकार की वायु का वेष्टन है अर्थात् इन भूमियों में पतलाधवातवनय धनरातवनय और तनुवातवनय चारों तरफ से वेष्ट हुये हैं। इन भूमियों में प्रथम पृथ्वी के अन्तर्हल भाग और द्वितीय ति पाच पृथ्वीयो में एक एक हजार योजन ऊपर नीचे का भूभाग छोड़कर सातवीं पृथ्वी के ऊपर और नीचे बहुत भूभाग छोड़कर मध्य भाग में पत्तलों क अनुक्रम से नरक बिल हैं। शेष भूमिभाग में एकैत्रिय जीवो का ही निवास है।

### नारकियों क शरीर की उँचाई

प्रथम नरक क नारकी का शरीर मात्र धनुष तीन हाथ और छह अंगुल ऊँचा है। दूसरे अर्थात् नरक में द्वा द्वैषा होता चला गया है। अर्थात् दूसरे नरक के नारकी का शरीर मात्र पञ्च धनुष बारह अंगुल (आग हाथ) ऊँचा है। तीसरे नरक क नारकी का शरीर मात्र एकतीस धनुष ऊँचा है। चौथे नरक के नारकी का शरीर मात्र चारमात्र धनुष ऊँचा है। पाँचवें नरक के नारकी का शरीर एक सौ पचीस धनुष ऊँचा छठ नरक के नारकी का आठसौ धनुष ऊँचा और सातवें नरक के नारकी का शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा है।

न सात प्रश्रितियों में कूल उनचाम पत्तल (प्रसार-खन) हैं। जैसा हवेली या महल में खन होते हैं वैसे ही इन पृथ्वीयो में पत्तल हैं। पहली पृथ्वी (अन्तर्हल भाग) में तरह आर द्वितीयति प्रश्रिती में क्रमसे ग्यारह तब सात पाँच तीन और एक पत्तल हैं।

उक्त सात प्रश्रितियों क उनचाम पत्तलों में कूल नारकियों के चोरासी लाख बिल हैं। अर्थात् पत्तली भूमि में तीस लाख दूसरी में पचीस लाख तीसरी में पन्द्रह लाख चौथी में दस लाख पाँचवीं में तान लाख छठी में पाच कम एक लाख और सातवीं में केवल पाँच बिल हैं।

### नरक मठ और गर्मी

नरक की प्रथम भूमि रत्नप्रभा में लेकर चार भूमियों क और पाँचवीं पृथ्वी के चार भागों में से तीन भाग (ऊपर के दोलाख) नरक के सब बिल अग्नि से भी अधिक उष्ण हैं। इन पृथ्वीयो में अतनी उष्णता है कि मेरु पर्वत के समान लोहे या ताँबे का गोला ऊपर से गिराया जावे तो माग में ही पिघल कर पानी सा होकर बह जावे तथा पाँचवीं पृथ्वी के चतुर्थ भाग से लेकर अन्त तक (सातवीं भूमि तक) उसी प्रकार शीत का पराश्रया है।

### नारकिया क बला की स्थिति का प्रकार

नरक का पृथिवियों के पटलों में तीन प्रकार का बल है—इन्द्र अणीबद्ध और प्रकीर्ण। जैसे एक हवेली में कई खन (मजिद) हाते हैं वैसे ही नरक भूमियों में कई पटल हैं। प्रत्येक खन में जैसे बाघों को ठा हो वैसे प्रत्येक पटल के बीच में इन्द्र नामका बिल है और उसकी चारों दिशाओं व विंशतिदिशाओं में कोठों की पाक्तियाँ हैं। वैसे प्रत्येक पटल में दिशाओं व विंशतिदिशाओं में अणीबद्ध बिल हैं, एवं प्रत्येक खन में जैसे इधर उधर दिशा विंशतिदिशा के बाघ बाघों में कोठ हा वैसे विंशतिदिशा विंशतिदिशा के बीच में कमरदित बल हैं उ ई प्रकीर्णक बिल कहते हैं। हवेली के खन पृथ्वी के ऊपर भाग में रहते हैं वैसे नरक रचना में है वस्तु एक के नीचे एक पटल होते हैं और उन पटलों के अधोभाग में जैसे यहा भूमि गूहा हाते हैं वैसे नरक बल है। महल में चढन के लिए साढियाँ और त्वाज आदि होते हैं वैसे नरक के बिलों में नही होते हैं।

प्रथम नरक के प्रथम पटल के मध्य भाग में एक बिल है। ऐसे ही सम्पूर्ण पटलों में एक एक इन्द्रक बिल होता है। प्रथम पटल की चारों दिशाओं में चार पाक्तियाँ हैं उन हर एक पाक्तियाँ में उनचास आर ऐसे हा चारों विंशतिदिशाओं में चार पाक्तियाँ हैं उन प्रत्येक पाक्तियों में अठनासास अठनीस बिल हैं इन्द्र अणीबद्ध बिल कहते हैं। ये बिल प्रातपटल एक एक कम होते चल गये हैं। इसलिए सब के अन्तिम सतरी भूमि के उनचासवें पटल की विंशतिदिशा में अणीबद्ध बिल का सना अभाव है। चारों दिशाओं में भी एक एक ही बिल है। और मध्य में एक बिल है। स प्रकार सातवें नरक में काल राघ हो चल है।

अणीबद्ध और इन्द्रक बिलों का सरया का सम्पूर्ण जिलों की सरया में घगन भर गतना सरया आती है उन प्रकीर्णक बिल हैं। जैसे प्रथम पृथ्वी में चारों चार चारसा भीम अणीबद्ध बिल और तरह बिल न गतना को तीस ल व म घगन पर उननीस लाख पचानवस हज़ार पाँच ना सरसठ की एक बिलों को सरया आती है।

जहाँ समान हानि या वृद्धि हाता है उनको जाड़ लान के लिए जिलोंकेसार में करण सूत्र इस प्रकार है—**गृहभूमिजोगदले पदगुण्यद पदधय हादि अगत मुच्य आर भूमि चाग (जाड़) करक आवा र और उमे पद (गच्छ) स गुणा कर तब सब स्थानों का जाड़ हाती है।**

भावार्थ—जहाँ स्थानों का जाड़ दना हा । स्थानों को पद या गच्छ कहते हैं। स्थान स्थान प्राप्त जितन प्रमाण स हानि या वृद्धि हाता है उसे चय रहते हैं। आर आदि या अन्त के जहाँ स्थानों में से जो आवक प्रमाणवाला स्थान है उस नाम कहते हैं और जो अल्प प्रमाणवाला स्थान है उस मुक्त कहते हैं। जैसे प्रथम नरक के तेरह पल के जितों ही सयथा का प्रमाण निकालना है तो यहाँ

प को सरया तेरह ह और प्रा... न के श्रेणिवद्ध जमाना म निशा आ। वि शा क । ली म प्र क फलता म ग । जस-प्रथम पटल की निशा की प्रथम प्राक म उनचाम उनवास आर विनिशा की प्रथम पक्ति म अडवालीस अडवालीस बिल हैं। नीचे के चमे पटल म निशा की प्रातप्राक म अडवालीस अडवालीस और विनिशा की प्रत्येक पक्ति म सैता म सैताल म लिल है। की प्राग प्रात पटल की निशा म विनिशा की पक्ति म प्रा... अडवालीस चल गया है। अन प्रथम पटल का निशा की कि म उत्तचाम और विनिशा की पक्ति म अडवालीस श्रेणिवद्ध बिल का च नवन होन ई निशा म विनिशा क प्रथम चार प्रत म वानवे ती चौगुना प्रत पर प्रथम पटल के स दुग श्रेणिवद्ध बिल का प्रमाण वानवा अटसी हाता है। य... प्रा... प्र... पटल म निशा म सीसीस और विनिशा म अडवालीस श्रेणिवद्ध बिल हैं नही चानन पर निहतर हुए। नही चार । प्रा... प्रा... के प्रमाण स गुन करने पर दोसा वानव हुए। नतन अट पटल मे आणिवद्ध बिल है। उदयान पर गुनव है। प्रात पटल अ उ आठ म गवद्ध पटल चत है अन चयन प्रमाण च आठ है। मु भूमनाग मे अ अनुमार गुनव ती म वानवे और भूम तीन मी अडासा का योग ६) सा अडमी का... आवा करने पर तीन मी चालास... न ही पत्र तरह स गुणा करने पर चार हजार चारसी गस प्रथम नरक म त ह पटला क सम्पूर्ण श्रेणिवद्ध बिलो का प्रमाण हात है। नमे तरह अडक बिलो का प्रमाण जाँडने पर चार... चार... तीनों हात है। सी प्रकार द्वितीयानि नरक भूमि के श्रेणिवद्ध बिलो का प्रमाण निकाल लेना चाहए।

समस्त भूमि का श्रेणिवद्ध बिलो का प्रमाण भी उक्त प्रकार म निकाल लेना चाहि। यहा पर मुख्यतां समस्त भूमि सम्बन्धा श्रेणिवद्ध बिल चार हैं। तम भूमि प्रथम भूमि क प्रथम पटल के श्रेणिवद्ध बिल वानवा अटसी हैं। नका योग तीनसौ वानव के आधे एक सा उदयानवे को चय प्रमाण नचास म गुणा करने पर नौ हजार छह सौ वानव सम्पूर्ण नरक भूमियो क श्रेणिवद्ध बिल होते हैं।

नरक भूमियो क एक बिल का विस्तार सरयात-सरयात योतन श्रेणिवद्ध बिल म निशा असख्यात योजन और प्रकीणक बिलका विस्तार सरयात या असरयात योजन है। अर्थात् कोई प्रकीणक बिल सरयात योजन म है आग कोई असख्यात योजन का है।

प्रथम पटल का इन्द्रक बिल मनुष्य क्षेत्र (पैवालीम लाख योतन) प्रमाण आर पटल का... सात नरक का उतथावर्ष बिल जम्बू द्वीप (पटलाखयोजन) प्रमाण है। मध्य के पटलों के बिल नीचे नीचे क्रमश हीन प्रमाण बाने हैं। सका विशेष वखन त्रिलोकसारसे जानना।

### नरक में जग कौन लेता है ?

नरक के बिल कुत्त तिल्ली शूकर आदि के अत्यन्त सड हुए कवच से भी अत्याधिक दुग्धमय हैं। उनमें वे जीव उत्पन्न होते हैं जिन्होंने बहुत आराम म परिष्क क उपाजनादि म रौन परिष्क म करक नरकयुक्त सचय किया है।

### नारका के उपपद स्थानों का आकार व जन्म का दृश्य

जब मन्त्र का उक्त मन्त्र गान बना हो तब उन नारक के बिलों में ऊपर की ओर ऊट आदि के मुख समान आकार वाले ( भांगर म भांगर मरुत मुखवाने ) उपागत स्थान हैं उनमें नारकी जन्म लेती है। प्रथम उक्त में उनकी पर्याप्ति पूरा हो जाती है। उसके पश्चात् वे उन उपागत स्थानों में झूटकर नीचे नरक बिलों के भूमितल पर नीचे नीचा गम्य रहने में उन पर गिरते हैं और वहाँ में उड़ल कर फिर उनहीं पर गिरते हैं। घमा प्रथमो क नारकी पक्षी पक्षी से सोलह का भाग तब पर जितनी सख्या आवे उतने योजन ( सात योजन मवासीय ) तब उड़लते हैं। वशात् भूमि में तब क्रमशः उने उड़लते हैं अर्थात् जिन भूमि में नारकियों की जातने धनुष ऊचाई है उनमें ही योजन प्रमाण वे ऊपर उड़लते हैं।

### नारकियों का दृश्य

पुराने नारकी नवीन नारकियों को देखकर अत्यन्त क्रोध प्रकट उद्घाटन करने लग आने हैं और उन्हें मारते हैं। शत्रु पर गिरने में उनके शत्रु पर जाते हैं तो चोटने हैं उनपर अत्यन्त खारा तल सींचा है।

नवीन नारकियों का प्रयास पूरा होने पर तुअर्वात्तन उपागत में उनमें वे अपना पूर्व जन्म का धर्म सम्बन्ध जानकर तथा अपना प्रक्रिया द्वारा हिंस्र तथा शस्त्रादि का आश्रय ग्रहण कर पुराने नारकियों को मारते हैं तथा पुराने नारकी उन्हें मारते हैं। नारकियों का अग्र-विक्रम्यता भी अत्यन्त अपने शरीर को हिंस्रकर्मिण्ड यत्न शूलर धूक का गिद्ध आत्मिकिमी एक प्राणीरूप अथवा रत्न भाल शूली मुद्र आदि आत्म शस्त्रादि रूप बनाकर नारकों के नरक रत्न म प्रकृत होते हैं।

यहां पर ताल कीमा आकृति वाले भयानक पक्ष हैं तथा दुःख देने वाले सैकड़ों यत्र क समान गुणए है। अग्नि से तबी हुई लोहे या मूर्ति क समान वहा आदि की मारते हैं। तथा वहाँ अग्नि प्रकृत है जो छुरी आम फरमा आदि क समान अति तादृश पत्रों ( पत्तों ) स सयुक्त है।

यहां अतिनाश जल वाली वैतरणी नामक नदी है और अति तब्य घृणात्मक कर्मों स सयुक्त महावाभत्स हव है जो करोड़ों कीड़ा में भर हुए हैं। नारकी जीव अग्नि क भय से उठने हुए शक्ति क विरम वतगा तबी म कूट पक्षत हैं तो उसके स्वारे जल स उनके क्षत विलत हुए शरीर गम्य हो जाते हैं। वहाँ में वे शक्ति के अग्र आम रत्न बन का द्राय में उडे वेगसे दोड़कर जाते हैं तो वहाँ पवन म गिर हुए अग्नि छुरी माले आदि सरीखे तोड़ए पत्तों स उनके शरीरों क खड खड हा जाते हैं आग वे चोत्र दुःख पाते हैं।

तम लाहे के समान चल म भरी हुई बुझो म नारकियों को बालकर जैसे हाथी में अन्न पकाने ई जैसे पकाते हैं। जैसे कबाहों में तपे हुए नैल में अन्ना तलने हैं जैसे नारकियों को कटाहों में छाककर तलते हैं। "यानि अनेक प्रकार के दुखा की सामग्री बहाँ पाई जाती है।

वह की भूमि का स्पर्श तपहुए लोहे के समान है। वह भूमि सूई मरीचा पैना हरी घास से "याग है। हजारों विच्छुओं के आटने म चसी वन्ना यहा होती है उमस भी अधिक वेदना नरक की भूमि के स्पर्श मात्र स होती है। उन नारकियों के बदर नत्र और मस्तक आदि क रागा स तथा क्षुधा तथा भयाद् से तीव्रवेदना निरन्तर दुष्प्रा करती है।

दुष्कुर ( कुत्ता ) अन्ना आनि निकृज्जीनों का दुग धमय विष्ट स भी अयन्त दुग धमय प्रथम नरक की मिट्टी है। अय त भख नारकिय का वर मिट्टा उहुन हाडी खाने को मिलती है। दूसरे तानर आनि नरकों की मिट्टी और भी अधिक २ दुग धमय है।

पल नरक क प्रथम पटल की मृत्तिका ( मिट्टी ) जिसका भक्षण वहाँ के नारकी करते हैं वह यानि इस मनुष्य काक में बाज की जाय ता वह मृत्तिका अ ती दुग धम स आध २ कोश क जीवों को मारन म समथ होसकती है। ऐस नीचे नीचे के प्रत्येक पटल की अनुक्रम से उस मिट्टी म आध आध काश अविक्त प्रध्वा म स्थितजीवों का मारन की शक्ति होता है। अर्थात् दूसर पटल की मिट्टी में दुग धम से एककोशक क जावा को म रन की शक्ति है। तीसर पटल की मृत्तिका म छद् कोशक के और चौथ पटल की मृत्तिका म दो कोशक के जीवा का घात करन का सामर्थ्य है। २। प्रथम सातों नरक की मृत्तिका म साढ़ चोबान कोशक को घृ मार के जावा का सहार करने का शक्ति होता है।

आकाश स न नारकियों क शरीर के टुकड़ २ होजाते हैं, किंतु व अराल ( आयु पूण हुए पवन ) मृत्यु का प्राप्त नहीं होते हैं। उनक शरीर क हजारों खन् हान रर भो व शर ( चातु ) के समान त काल मिल जाते ह।

निनक नीधरर प्रकृति की सत्ता होती है। अर्थात् जो नरक स निकलकर ताथकर होन वाले हैं उन जीवों के नरकायु के छद् मास शष रहन पर नरक म द्र उनक उपसग का निवारण करते हैं। ( २सां प्रकार जो जीव स्वग स चय कर तीर्थकर होने वाले होते हैं उन के छद् मास पूर अ य "वा" । भात माला नहीं मुरभता है। )

नारकियों की आयु अनपवच्य ( अकाल मृत्युरहित ) हाता ह। उनका मुख्यमान आयु किसी निमित्त से नहीं घटती है। जितनी आयु है उसका पूर भाग पवन मृत्यु नहीं होती है। पवन स चस मय पटल उष्ट होकर आकाश में विलीन हो जाते हैं जैसे ही नारकी जीवों के शरीर भा आयु क पूण हान पर विलय को प्राप्त हो जते हैं। मनुष्य २ त्रियवा के मृतक शरीर क समान भूमिपर पड़े नहीं रहते हैं।

नारक जीवों को चार प्रकार के दुःख होते हैं—क्षेत्रज-य-१ शरीरज-य-२ मनोजन्म व ४ असुरदेवज-य ।

१ क्षेत्रजन्य—नरक भूमि के अतितीक्ष्ण शस्त्र कठोरस्पर्श विष स भक्ति कटु रस सवे ह्यु कुल बिल्ली आदि के मृतक कलेबर स अत्यधिक दुर्गंध जिसके अस्व नोचलिय गये हैं ऐम पक्षी के समान महाबीभ्रम रूप कूटशास्त्रमली बैतरणी नदी वेताल सम भयानक पवत गुफ्य आदि स वचनानीत क्षेत्रज-य दुःख नारक जीवों के होता है ।

२ शरीरजन्य—शरीर स अनेक प्रकार के भयानक उन्मशलरोग मस्तक मे तीव्र पीड़ा शरीर के प्रण ( पाव ) आदि की ताप बेचना होती है । यह शरीर न-य दुःख है ।

३ मनो ज-य—चारों ओर के भय स निरन्तर आकुल परिणामों के कारण जो मतत आत्तध्यान और रौद्रध्यान से उत्पन्न होत वाला अतिशय दुःख नारक नावा की होता रहता है वह मनोज य दुःख है ।

४ असुरकुमारदेव न-य—तासर नरक तक अम्बावरीयानि जाति क असुरकुमारदेव नारक जीवों को परस्पर झड़ते हैं । उनको पूव वर का स्मरण निलाने ह्यु णक दूसर को मारने का उगाय वनला कर दुःख देते हैं ।

### नारकियों की आयु

अब नारक जीवों की पटल पटल प्रति जघन्य व उत्कृष्ट आयु को लिखते हैं—

प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल मे नारक जीवों की जघन्य आयु ११ हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बै हजार वर्ष की होती है । दूसर पटल मे जघन्य आयु समयाधिक नि है हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु तिने लाख वर्ष की है । तीसरे पटल में जघन्य आयु समयाधिक निबै लाख वर्ष और उत्कृष्ट आयु असंख्यात काटि वर्ष पू है । ( सत्तर लाख इत्पन हजार कोटि को पूव कहते है । ) चौथे पटल में जघन्य आयु तीसरे पटल की उत्कृष्ट आयु स समयाधिक प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु १० सागर का दशवें भाग प्रमाण है । इस प्रकार सबत्र ऊपर की उत्कृष्ट आयु तीसरे पटलकी जघन्य आयु समझनी चाहिए । पाँचव जठ आदि पटल स अनुक्रम स १० सागर के दशवें भाग तीन सागर के दशवें भाग, चारसागर के दशवें भाग पाँच सागर के दशव भाग छह साग के दशव भाग सात सागर के दशवें भाग आठ सागर के दशवें भाग नौ सागर के दशव भाग प्रमाण और एक सागर प्रमाण आयु समझना चाहिए ।

अथात् प्रथम नरक यो के नारकों की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है । दूसरी पृथ्वी में तीन सागर तीसरी में सात सागर चौथी में दशसागर पाँचवी में सत्रह सागर छठी में बाईस सागर और सातवी में तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है । पूर्व पूव

पृथ्वी की जो बलुछ आयु है वह समयाधिक उत्तर उत्तर पृथ्वी की जघन्य आयु जाननी चाहिए ।

प्रथम नरक भूमि के अन्तिम पटल में नारक जीवाँ या उच्चाई सात अनुप तीन हाय और छह अगुल प्रमाण है तथा द्वितीय या द्वितीय भूमि में नारको के शरीरकी उच्चाई दूना दूनी होती गई है । सातव नरक में पाँचसौ अनुप या उँचाई है ।

प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम पटल में नारक जीवाँ के शरीर की उँचाई तीन हाथ प्रमाण है । प्रत्येक पटल के नारकियों की शरीर की उँचाई आयु अर्थात् निकालन के लिए करण सूत्र कहते हैं —

**आत्मात्र तविससे ऊण्यद्वाहिटमिह हाणिवच”**

अथ अर्थात् के प्रमाण में स अन्त प्रमाण घटान पर जो शेष रहे उसमें एक सम गच्छ का भाग देने पर जो लब्ध शेष उतना शेष के पटल पटल प्रात बढ़ने का प्रमाण होता है । यहाँ प्रकृत में प्रथम नरक के प्रथम पटल में तीन हाय का उत्सव उँचाई ) है सो तो अर्थात् जानना और प्रथम नरक के अन्तिम पटल का उत्सव सात धनुष तीन हाथ और छह अगुल प्रमाण है सो अन्त जानना । इस अन्त में स अर्थात् तीन हाय घटाने में सात धनुष और छह अगुल रहे । यहाँ तरह पटल हैं सो गच्छ का प्रमाण तरह में स एक घटाने पर बारह रहे उसका भाग सात अनुप के अठारह हाथ में टन पर तो ता हाय दु आर शेष चार हाथ रहे । उनके अर्थात् अगुल हुए और पू छह अगुल थे उनको इनमें मिलान पर एक सौ दो अगुल में शरह का भाग टन पर आठ ल व आयु सौ ८ अगुल हुए । शेष छह रहे उनमें बारह का भाग देने में आधा अगुल और आठ अगुल । स प्रकार प्रात पटल में हाय साठ आठ अगुल अन्त में प्रमाण जानना चाहिए । इस प्रमाण को प्रथम पटल के उत्सव तीन हाथ प्रमाण में जोड़ने पर दूसरे पटल के नारक जीवाँ के शरीर का पाँच हाय साठ आठ अगुल प्रमाण उत्सव होता है । ( चार हाय का एक अनुप और चौबारा अगुल का एक हाय होता है । ) उक्त प्रकार चय ( तीन हाय साठ आठ अगुल ) पूरे पटल के उत्सव में मिलान में उत्तर उत्तर पटल के उत्सव का प्रमाण होता है । उक्त क्रमस तीसरे पटल के नारक के शरीर का उत्सव एक धनुष तीन हाथ सत्रह अगुल होता है । इस प्रकार प्रथम नरक के सब पटलों में समझ लेना चाहिए ।

द्वितीय पृथ्वी के विषय में भी सब पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सव देवता आत्मा और विवर्जित पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सव है उक्त में अन्त में अर्थात् का अन्त में स घटना चाहिए । यहाँ पर पूरे पृथ्वी के अन्त पटल को अर्थात् देहा है इसलिए विवर्जित पृथ्वी में अन्त पटल का प्रमाण है उसमें एक आधिक गच्छ कर उसमें स एक का घटाने पर ता प्रमाण हुआ उसका भाग वृत्त पर जो लब्ध आता है वह चय होता है । जिस द्वितीय पृथ्वी के विषय में अर्थात् तो सात धनुष तीन हाथ छह अगुल और अन्त पटल में स अनुप दो हाथ

बारह अंगुल है। यही आग्नि को अन्त में स घटाने पर सात चतुष्प तीन हाथ ब्रह्म अंगुल रहें। उन में द्वितीय पृथ्वी के पटल प्रमाण ग्यारह का भाग तीन च धनुष आग्नि के हस्ताग्नि करलने पर दो हाथ बीस अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवा भाग प्रमाण चय आया। सा प्रकार तृतीयार्थि पृथ्वा में भा चय का प्रमाण सावन करना चाहिए।

यहाँ प्रथम पृथ्वा के अन्त पटल के सात चतुष्प तीन हाथ ब्रह्म अंगुली उ मय में चय का प्रमाण दो हाथ बीस अंगुल और दो अंगुल के ग्यारहवाँ भाग को मिलाने पर द्वितीय पृथ्वा के प्रथम पटल का आग्नि धनुष दो हाथ दो अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवाँ भाग प्रमाण उत्सथ होता है। सा प्रकार द्वितीयार्थि पटल का उ मय लाने के लिए पूर्व पटल के प्रमाण में चय का प्रमाण जोड़ने जाना चाहिए। द्वितीय पृथ्वी के उत्सथ प्रमाण के अनुक्रम में तृतीयार्थि पृथ्वा के उ मय का प्रमाण सावन करना चाहिए।

### नारक जीवा का अवधिज्ञान का क्षेत्र

रत्नप्रभा प्रजा के नारकों का अवधिज्ञान का क्षेत्र चारकोश प्रमाण है। शक्राग्नि शेष छह पृथ्वी च नारका के अवधिज्ञान का क्षेत्र क्रममें प्रति पृथ्वा आग्नि कोश हान होता गया है। अज्ञान सात तान तीन तान दो तान और एक कोश क्षेत्र प्रमाण अग्निज्ञान क्रममें द्वितीयार्थि पृथ्वा के नारकों का जाता है।

### नारक में निकले हुए जीवाँ के उत्पत्ति का नियम

नारक में निकले हुए जीवाँ मनुष्य व तित्थ च गान्त में ही उत्पन्न होते हैं। तत्र आग्नि तत्र गान्त में तम नहीं लेते हैं। मनुष्य और तित्थ का म भाग कमभूमिक संज्ञा पयात्रक गभजों में ही उत्पन्न होते हैं। सप्तम पृथ्वा के निकले हुए जीवाँ कमभूमिक संज्ञा पयात्रक गभज तित्थ ही लेते हैं मनुष्य नहीं होते। तित्थ का म भी हिंसक तित्थ क्रम पशु ही होते हैं।

नारक में निकले हुए जीवाँ नारायण बलभक्त चक्रवर्ती नहीं होते हैं। चतुर्थाग्नि प्रजा से निकले हुए जीवाँ तीर्थकर नहीं होते हैं। त्रिचर्ची आग्नि प्रजा से निकले हुए चरमशरारा नहीं होते। ब्रह्मा आग्नि प्रजा में निकले हुए मरुत सयमी नहीं होते। तथा सातवाँ पृथ्वा में निकले हुए सासातान पामश्र (तामर गुणभान वर्ती) असयत व देशसयत नहीं होते हैं।

### नारक में गमन करने वाले जीवाँ का नियम

असङ्गी पञ्चेन्द्रिय और सरोमुर ( गिगन द्विपकली आग्नि ) प्रजा और भद्र आग्नि पृथ्वी मय सिद्ध मानुषी आग्नि और

मनुष्य नका प्रथमानि प्रथ्वी मे निरन्तर उत्पत्ति आठ बार म तेकर नो बार तक जानना चाहिए। अर्थात् अमञ्जी मर कर प्रथम नरक मे जाकर उहाँ म निकल मञ्जी हो मरकर फिर यहा ही अमञ्जा हो मरकर फिर प्रथम नरक जावे तब एक बार होता है। ऐसे अमञ्जी अधिक स अधिक आठ बार प्रथम नरक मे जाना है। नरक म निकला हुआ अमञ्जा नहीं होता है अत मध्यम क सञ्जापयाय का अ तर होता है। मरीमृपानि मे एक अ तर न प्रणय रचना। मरीमृप दुमरे नरक जाकर वना म मरामृप हा फिर दुमरे नरक म जावे। ऐसे निरन्तर मान बार ना सकता है। ऐव हा पनी निरन्तर तीमर न रु म छ्द बार ना सकता है। सप चौथे नरक मे पाँच बार ना सकता है। मिह पाँचवें नरक मे चार बार ना सकता है। सा छठ नरक म तीन बार निरन्तर ज म ल सकता है। तथा मध्य म मनुष्य क अतर कर सातवें नरक मे निरन्तर दोबार उपन्न हा सकते हैं। उनम स मध्य मानव नरक जाकर उहाँ म निकल कर गभच तियच होता है। मरकर फिर मत्स्य होकर सातवें नरक म जाता है। क्योकि यहाँ नरक म निकला हुआ ममूहा नही हाता है और मध्य मममूजन है मल्लिग यहा एक अन्तर कहागया है। सी प्रकार मनुष्य म भी एक अ तर जानना चाहिए। क्योकि सातवें नरक म निकला जीव मनुष्य नहीं होता है मल्लिग बीच म एक अन्तर कहा है। स प्रकार नोबार उत्पत्ति का नियम कहा है।

उहाँ जीवा क उपन्न हान स भा नियम जान लेना चाहिए। अमञ्जा जाव प्रथम प्रथ्वी म हा उत्पन्न हो सकता है द्वितीयादि प्रथ्वी म उ पन्न नहीं हो सकता। मरीमृप दुमरे प्रथ्वी पय त च म ल सकता है तृतीयादि प्रथ्वी मे ज म वारण नहीं कर सकता। पक्षी तृतीय प्रथ्वी तक उत्पन्न हो सकता है आग जम नहीं लेता। सप चतुथ प्रथ्वी पयन्त च म ल सकता है आग नहीं ना सकता। सिंह पाचवी तक म्जी छठी तक और पुरुष एव मत्स्य सातवीं प्रथ्वी पयन्त उत्पन्न हो सकते है।

### नरक प्रथ्वी म जीवापत्ति का अन्तर

प्रथम प्रथ्वी मे कोई जाव उपन्न न हो ता उ कृष्ट चाबीम मुह्ता पयन्त उ पन्न नहीं होता है और न मरता है। चौबीस मुह्ता क पश्चात् कोई न कोई अवश्य ज म लेता है अथवा काई अवश्य मरता है। एम ही द्वितीय प्रथ्वी मे सात दिन का तृतीय प्रथ्वी मे एक पक्ष का चतुथ प्रथ्वी म एक मास का पाँचवी मे नो मास का छठा म चार मास का और सातवी प्रथ्वी मे छह मास का जम मरख का अन्तर है।

### भवनवासियों क आवास

रत्नप्रभा प्रथ्वी क खर भाग व पट्ट भाग मे भवनवासा क यत्न नवों क भवन बने हुए हैं। उनमें स भवनवासी सबो का सक्षेप स वसान करने हैं—

असह्यात द्वीप समुहों के घातने के बाद शेष असह्यात द्वीप समुहों के नीचे भवनवासी और व्यन्तर देवों के भवन बने हुए हैं। भवनवासी देवों के सात करोड़ अक्षर स्यात् भवन हैं तथा एक एक भवन में एक एक चैत्यालय है इसलिये जितने भवन हैं, उतने ही चैत्यालय हैं।

### भवनवासी देवों के भेद

भवनवासी देवों के दश भेद हैं—१—असुर कुमार २ नागकुमार ३ विद्युत्कुमार ४ सुपणकुमार, ५ अप्रिकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार ८ उन्धिकुमार ९ द्वीपकुमार और त्रिकुमार। उक्त प्रत्येक भेद में दो इन्द्र हैं।

असुर कुमार में चमर और वैरोचन नागकुमार में भूतानन्द और धरणात्म विद्युत्कुमार में घोष और महाघोष, सुपणकुमार में वेणु और वेणुधारी अप्रिकुमार में अप्रिशिखी और अप्रिवाहन वातकुमार में वेल्म्ब और प्रमजन स्तनितकुमार में हरिषेण और हरिकान्त उन्धिकुमार में जलप्रभ और जलकान्त द्वीपकुमार में पूण और वशिष्ठ त्रिकुमार में अमितगति और अमितवाहन इस प्रकार प्रत्येक भेद में दो दो देव रहे गये हैं।

### इन्द्रा में परस्पर ईर्ष्या

चमरेन्द्र तो सौम इन्द्र (शक्र) के साथ और भूतानन्द इन्द्र वेणुन्द्र के साथ तथा वैरोचन ईशानइन्द्र के साथ और धरणात्म वेणुधारीइन्द्र के साथ स्वाभाविक ईर्ष्या करते हैं। अर्थात् दो दो इन्द्रों में स प्रथम प्रथम इन्द्र सौचर्मादियुगलों के प्रथम इन्द्र के साथ तथा द्वितीय द्वितीयस्वर्ग के इन्द्र के साथ स्वभावतः ईर्ष्याभाव रखते हैं।

### भवनवासी देवा के चिह्न

असुरान्ति देवों के मुकुट में कमरे चूडामणि मय, मूर्तिक गण्ड कलश घोड़ा वज्र मगर (मच्छ) हस्ती और सिंह के चिह्न गये जाते हैं। तथा चैत्यवृत्त और ध्वजा भी उनके चिह्न हैं। अत्र यथा समस्त आग्नि दश प्रकार के चैत्यवृत्त भी इनके चिह्न हैं। इन वृत्तों के मूल में प्रतिनिशा में (हर एक निशा) में पाँच पाँच प्रतिमाग हैं जिनकी प्रेरणा पुना करते हैं। इन प्रतिमाओं (चैत्य) के सम्बन्ध से इनको चैत्यवृत्त कहते हैं।

### भवनवासी देवों के भवनों की विशेषताएँ

भवनवासी देवों के भवन मगधिन एवं पुष्पो से वामित रत्नमय भूमि से भूषित हैं उनकी दीवारों भी रत्नों की होती हैं और नित्य

प्रकाश युक्त हैं। वे सम्पूर्ण स्थितियों को सुलभ देनेवाले चतुराणि पत्तियों में प्राप्त होते हैं और उनमें निवास करने वाले असुरकमारानि देव अग्निमा महिमाश्चानि अष्ट ऋद्धि क धारक होते हैं तथा वे नाना प्रकार के मणिनिर्मित मिलमिलाने हुए सुकुल रत्न अगण हार आदि अलंकारों से दशोपमायमान व अलङ्कृत होते हैं। वे अपनी पूर्व-सन्नि तपस्या के फल का भोग करने हैं। उनके भवन भूमिगत (तहखान) के समान हैं। वे रत्नप्रभा प्रकाश व स्वरभाग और एकभाग में हैं। उन भवनों की चौड़ाई व लम्बाई जघन्य तो संख्यात योऽ योजन और उत्कृष्ट असंख्यात का योजन प्रमाण है। ये भवन चौकोर होते हैं। उनकी ऊँचाई तीन से योजन प्रमाण है। प्रत्येक भवन के मध्य भाग में सी योजन उच्चा के पथत है। उसके ऊपर चैत्यालय बने हुए हैं।

### व्यतरानि देवों के आवास स्थान

त्रिंशत् भूमि के नीचे एक हजार योजन जाकर यन्त्र देवों के आवास बने हुए हैं। दो हजार योजन जाकर अल्प ऋद्धि धारक भवन प्रमिया के भवन हैं। तथा त्रियालौस हजार योजन जाकर महर्द्धि धारक भवनवासियों के भवन हैं और एक लक्ष योजन पर मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासियों के भवन हैं। भवनवासियों के आस-पड़ोस में गणेशों के भवन पञ्चभाग में हैं।

### देवों में इन्द्र व प्रतीक का क्रम

योनिष व यन्त्र देवों में त्रयाश्रिण और लोकपाल नहीं होते हैं अथवा भवनवासियों और माल स्वर्गों के विमानवासियों में तो १० सामानिक ३ त्रयाश्रिण ४ परिषत् ५ आमरत्न लोकपाल ७ अनीक ८ प्रकीर्णक ९ आभिर्हाय और १० किल्बिषिक यन्त्र प्रकार के भवन प्रत्येक के साऽ होते हैं। किन्तु योनिष और यन्त्रों में त्रयाश्रिण और लोकपाल ये नहीं भवते हैं। शेष आठ भवते ही होते हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर नवप्रै वैयक नव अस्तुश्रिण और पञ्चानुस्तर विमानों में यन्त्र भेद नहीं होते। वे सब अहमित्त होते हैं। अपने भवन में उनमें हीनाधिक्य नहीं होता है। देवों के साऽ एक प्रतीक होता है वह युवराज के समान माना गया है। भवनवासियों के प्रत्येक भवन में दो योनिष और दो प्रतीक होते हैं। अथवा भवनवासियों के बीच योनिष और बीच प्रतीक तथा यन्त्रों में मोलह योनिष और मोलह प्रतीक होते हैं। शेष योनिष देवों में एक योनिष और एक प्रतीक तथा वैमानिक मोलह स्वर्गों में बारह योनिष व बारह ही प्रतीक होते हैं।

### इन्द्रों का सभा सेना व स्वागनाएँ

प्रत्येक योनिष के तीन नान परिषत् (सभा) होती हैं—ऊत माल और बाह्य परिषत्। अन्त परिषत् का समित कहते हैं मध्य पारषत् का चतुर्था बाह्य परिषत् को जनु म नाम से कहते हैं। ऐम ही म पूण देवों की सभाओं के नाम हैं।

प्रत्येक इन्द्र के सात सात अनाक (सनाक) होते हैं। अरुण कुमार के १ सप्त (भंस) पातक (घोडा) ३ रथ ४ हाथ ५ पाद ६ गध्व और ७ नतकी ये सात प्रकार की सनाक हैं। उन सात प्रकार का सनाक एक सत्सर के दूबो दूना होती चला गई है। अमर कुमार के अनीक के प्रथम भंग में भैंसा ग। नागकुमार के प्रथम भंग में नाव या सप्त सुपग कुमार के गहड़ द्वीप कुमार के हाथी उन्धिकुमार के मगर विष्णुकुमार ५ ऊट या गेडा स्तनित कुमार के मुर विक्रमा के सिंह अक्रिमा के शिपिका (पालकी) और वातकुमार के अरुण य प्रथम भंग में हैं। शेष छह भंग अमर कुमार देवों के समान हैं।

अमर कुमार के ११ के रूपत हजार त्वाङ्गनाए हैं उनमें से सोलह हजार चलनभिका (अतिप्रिय द्वागना) पाँच महा त्रिवियों और पाँच कम चालीस हजार परिवार त्रिवियाँ हैं। नागकुमार के एक पचास हजार त्रिवियाँ हैं। सुपग कुमार इन्द्र के चवालीस हजार त्रिवियाँ हैं। शेष द्वीप कुमारादि सात भवों में बलीम बलीम हजार त्रिवियाँ हैं उनमें से १ हजार ना चलनभिका हैं पाँच पाँच महादेवा हैं और शेष सामान्य त्वागना हैं।

अमरकुमार नागकुमार सुपगकुमार इन तीन भों के ११ के महादेवों की ११ प्राकृतियों को एक एक महादेवों का ठाठ हत्तार मूल शरीर सहित विक्रिया कर सकता है और शेष सात भवों के ११ के महादेवों को छह छह हजार मूलशरीर सहित विक्रिया करती है। अज्ञान त्रिवियों के तीन रूप शरण कर सकता है।

चमर ३१ त्वाङ्गनाओं की आयु है। य प्रमाण वैरोचनद्र की त्वाङ्गनाओं की आयु तीन पत्य प्रमाण तथा नाग के त्वाङ्गनाओं की आयु पत्य त्वाङ्गनाओं प्रमाण गरुड त्वाङ्गनाओं की आयु तीन पत्य पूर्व प्रमाण और शेष त्वाङ्गनाओं के देवियों की आयु तीन पत्य प्रमाण है।

### अमुगदि द्वाक श्वामाँख्वाम तथा आहार का क्रम

अमर कुमार ज्ञात के त्वाङ्गनाओं के एक पत्य गतन पर एक बार श्वामाँ ख्वाम होता है। एक हजार वर्ष बीतन पर एक बार आहार होता है। नागकुमार सुपगकुमार व द्वीपकुमार के सात व सुहृत्त बीतन पर श्वामाँ ख्वाम आग मात वागहृत्त बीतन पर आहार होता है। अक्रिमा विष्णुकुमार के बारह सुहृत्त बीतन पर श्वामाँ ख्वाम आग मात वागहृत्त बीतन पर आहार होता है। अवशेष विक्रिमा अक्रिमा और वातकुमार के सात सात सुहृत्त बीतन पर श्वामाँ ख्वाम आग मात वागहृत्त बीतन पर आहार होता है।

### द्वाक शरीर का उत्सेध

अमर कुमार देवा के शरीर का उत्सेध (ऊचाई) पचीस धनुष प्रमाण और शेष त्वाङ्गनाओं का शरीर उत्सेध दश धनुष प्रमाण है। अन्यतर देवों के शरीर का उत्सेध दश धनुष और त्रिवियों के सात धनुष प्रमाण है।

### व्यन्तर देव

व्यन्तर देवों के किन्नर किम्पुरुष महोरग गंधव यक्ष राक्षस भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं। राक्षस के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवों के आवास स्वर धूपवी भाग के एक हजार योजन नीचे जाकर बने हुए हैं।

### व्यन्तरों के शरीर का वर्ण

किन्नरों का प्रियगुफल समान बण है। किम्पुरुषों का धवल बण है। महोरगों का काला (श्याम) वर्ण है। गन्धर्वों का स्वर्ण समान बण है। यक्ष राक्षस और भूत इन तीनों का श्याम बण है। पिशाचों का काला बण है। इन देवों के शरीर अगर बन्दनादि के लोप व आभूषणों से सज्जित हैं।

### व्यन्तरों के चैत्यवृक्ष

उन चैत्यवृक्षों का अनुक्रम स अशोक चम्पक नागकेसर तुषक वट कन्तक, तुलसी और कदम्ब ये चैत्यवृक्ष हैं। उनके मूल में पत्थकामनवाली प्रतिमाएँ एक एक निशा में चार चार बिराजमान हैं। वे प्रतिमाएँ चार तोरण द्वारों से संयुक्त हैं और जो भवन में चैत्यवृक्ष हैं उनका जम्बूद्वीप क वरुण में जम्बू वृक्ष के परिकर का जो प्रमाण कहेंगे उससे अथ प्रमाण समझना चाहिए।

### चैत्यवृक्षों में इन्द्र, प्रतीन्द्र, देवागना व सेना

उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरों के प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। इनमें प्रत्येक इन्द्र के दो दो वक्त्राभिका (अतिप्रिय) देविया होती हैं। ये प्रत्येक देवी एक एक हजार देवागना से संयुक्त होती हैं। एक एक इन्द्र सम्बन्धी दो दो गणिका महत्तरी होती हैं। जिस प्रकार यहाँ पर वेश्या होती हैं उसी प्रकार वहाँ पर जो देवागना होती हैं उन्हें गणिका कहते हैं और उन में जो प्रधान होती हैं उन्हें महत्तरी कहते हैं।

चैत्यवृक्षों में हर एक इन्द्र के सात सात प्रकार की सनाएँ और प्रत्येक सेना के सात सात कक्ष (सेना) और होते हैं। सात प्रकार के नाम हाथी घोड़े प्याद रथ गंधव, नक्त का और वृषभ ये हैं। इन सेनाओं में एक महत्तर (प्रधान) होता है। उनके अनुक्रम से ५ मुख्य सुभाष ३ विमान ४ मरुदेव ५ श्रीगामा नामश्री और विशाल ये सात नाम हैं।

### न्यन्तरा क इन्द्रो क नगर

अजनक वज्रधातुक सुवर्ण मन शिलक वज्र रत्न दिङ्गलुक आर हरिताल इन आठ द्वीपो म कमल किन्नरादि इन्द्रों के नगर बन हुए हैं। प्रथम न के उत्तर में और द्वितीय इन्द्र के दक्षिण म नगर हैं। प्रत्येक इन्द्र के पाच पाच नगर हैं। एक मध्य में और चार चारों दिशाओ म हाते हैं। म य मे चो नगर हैं वह इन्द्र क नाम पर हैं और पूव दक्षिण पश्चिम एव उत्तर मे चो नगर हैं उनके नाम इन्द्र के नाम क आग क्रम म प्रथ कान्त आद्यत्त और मध्य य लगात्ता पर हा जाते है। जैल किन्नरों के पाच नगर उत्तर दिशा में हैं। उनमें जो बाच म है उमका नाम किन्नरपुर है। उसको पूव दिशा में किन्नरप्रथ नगर है दक्षिण दिशा मे किन्नरकान्त नगर है पश्चिम दिशा में किन्नराद्यत्त नामक नगर और उत्तर दिशा मे किन्नरमध्य नामक नगर है। सी प्रकार सब नगर इन्द्रों के नाम स होते हैं। इन्द्रों के ये सब नगर एक लक्ष योजन विस्तार वाले हैं और समतल भूमि पर हैं। न तो पर्वताि ऊचे प्रदेश पर है और न भूमि के नीचे हैं। उन नगरों के बागे और प्राकार (कोठ) हैं। उनका ऊर्चाई मादे सैतीम योजन चौड़ाई साठ चार योजन आर मोर्चाई दार्दी योजन है। इन कोठा क द्वार (द्वारजा) हैं उनकी ऊर्चाई साढ बासन् योजन और चौडाई सत्रा षकतीम योजन है। द्वारजा पर पचन्तर योजन प्रमाण ऊँचा सुन्तर प्राप्ता है। उस प्राप्ता के अन्धन्तरभाग में सुरमा नामकी मभा है। वह साठ चारह योजन लम्बा सत्रा षह योजन चौडी और नष योजन रुचा है। उसका अवगाढ (मूल नीच) एक कोश प्रमाण है। सा प्रकार सत्रा षो क नगर प्राप्ता कि को रचना च प्रमाण जानना चाहिए।

रत्नप्रभा प्रची क नगर भाग म भूता क चान्द हज़ार भवन हैं आर पत्रप्रभा म रातमा क सोलह हज़ार भवन हैं। न्यन्तर देवों को जो गणिका महत्तरी है उमके नगर अपन च्च सम्बन्धी प्रा म ई आर अपन च्चपुरों क दोनों पाच भागों में हैं। उनकी लत्रा व चौडाई तैरासी लाख योजन प्रमाण है। शप चो यन्तर ह् उनक नगर अनेक द्वीप व समुद्रा म पाये जाते हैं।

### वाण्यन्यन्तरा क भेद, आवाममथ्यान और उनका आयु

उक्त भन्ता क आतारक्त यन्तर त्रया म चो वाण्ययन्तर ह् उनक स्थान प्र षो क ऊपर है। १ नीचोपपाद २ दिग्वासी ३ अन्तरानवासी ४ कूष्माण्ड ५ उपन्न ६ अनुपन्न ७ प्रमाणक ८ गगच ९ महागगच १० मुजग ११ प्रीतिक और १२ आकाशोत्पन्न य उनक नाम हैं। पृथ्वी स एक हाथ ऊपर क्षेत्र म तो योग्यपात् वाण्ययन्तर हैं। उनक ऊपर दशहजार हाथ ऊचे क्षेत्र में दिग्वासी वाण्यन्यन्तर त्व हैं। उनक ऊपर दशहजार हाथ उच क्षेत्र म अन्तरनिवासी देव हैं। उनक ऊपर दशहजार हाथ उच क्षेत्र में कूष्माण्ड हैं। उनके ऊपर बीस हजार हाथ उच क्षेत्र म उत्पन्न वाण्ययन्तर हैं। त्नी प्रकार अनुत्पन्नानि म बीस बीस हजार हाथ का अन्तराल समझना चाहिए।

नीचोपपान् देवों की आयु दशहजार वर्ष निवासी देवों की बीसहजार अन्तरनिवासी की तीस हजार कूष्माण्ड देवों की चालीस हजार उत्पन्न देवों की पचास हजार अनुत्पन्न देवों की साठ हजार प्रमाणिक देवों की सत्तर हजार गन्ध देवों की अस्सी हजार महागन्ध देवों की चारसी हजार भुजंग देवों का पल्य के आठव भाग प्रमाण प्रीतिक देवों की पल्य के चौथे भाग प्रमाण और आकाशोत्पन्न देवों की आधे पल्य प्रमाण आयु है।

### यन्त्राग क निलय

यन्त्राग क निवास स्थानों क तीन नाम हैं—भजनपुर आवास और भजन। उनमें स द्वीप समुद्रों में भवनपुर पाये जाते हैं नलाशय (मगोवर आदि) वृत्त पर्वत आदि में आवास और चित्रा प्रवा क नीचे भवन पाये जाते हैं। जो पृथ्वी स ऊचे स्थान में निवास स्थान हैं—उन्हें आवास कहते हैं जो पृथ्वी क नाग हैं—उन्हें भवन और जो पृथ्वी क समतल प्रदेश पर हैं—उन्हें भवनपुर कहते हैं। इस तान प्रकार क निलय हैं।

### यन्त्रों क रहन क क्षेत्र

चित्रा और पञ्चा प्रवा क मध्य मध्य म लेकर चित्तना मरुपर्वत की ऊ चाई है वहा तक और तिबकलोक का जितना विस्तार है वहाँ तक विस्तृत क्षेत्र में यन्त्रों क यथायोग्य भवनपुर या भवन या आवास हैं और उनमें वे निवास करते हैं।

चित्तना ही यन्त्राग क ना भजनही है तथा चित्तना ही क भवन और भवनपुर हैं। कई एक क भवन पुर और आवास तीनों ही हैं।

असुरकुमार क सिद्धा अ य कई एक भवनवासी देवों क भवन भवनपुर या आवास तीन निलय पाये जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी क नीचे खगभाग और पृथ्वी क ऊपर पर्वतानि पर और समतल भूमि पर यन्त्रों और भवनवासियों क स्थान पाये जाते हैं। जो उत्कृष्ट भवन हैं वे तो बारह हजार तीन सौ योजन ऊचे हैं। तथा जितनी भवनों की ऊ चाई है उमक तीसरे भाग प्रमाण ऊपर कू पाये जाते हैं और इन कूर्णों पर जिन सन्निह हैं। उत्कृष्ट भवनों के चारों ओर आठ योजन ऊचा वेनी पाई जाती है तथा नगरी भवनों क पृथ्वीम अनुप ऊची वेनी होती है जैसे बाग बगीचे के चारों ओर दीवार होती है उसी प्रकार वेनी हाता है।

गाल आदि आकाशवाली नो पुर हैं उनका क्रमसे उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन प्रमाण है और जघन्य विस्तार एक योजन

प्रमाण है। तथा गोल आदि आकार वाले तो आवास ह नका उ म्प्र विस्तार बारह हजार योमी योजन है और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन आवासाण के कोट द्वारा नृयशाला इत्यादि पाय जाते हैं।

यत्तरो के आहार कुछ अधिक पाँच दिन बीतने पर होता है और अन्नवास कुछ अधिक पाँच मुहुत्त जाने पर होता है।

## मध्यलोक

इस चित्रा प्रथ्वी के एक हजार योजन नीचे से लेकर मेरु पर्वत की चूलिका तक मध्यलोक माना गया है। मध्यलोक की ऊँचाई मरु प्रमाण है। इसका आशय यह है कि एक हजार योजन का उसका अवगाह है और एक हजार योजन कम एक लक्ष योजन प्रमाण यह चित्रा प्रथा के समतल म उँचा है तथा चालाम यानन प्रमाण उमकी चूलिका है।

म मध्यलोक में ही ज्योतिष देवा के विमान हैं। इस चित्राप्रथ्वा के समतल भूभाग से सातसौ निच योजन से ज्योतिष देवा का निवास क्षेत्र प्राप्त होता है और नवसौ योजन पर उनका क्षेत्र समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ तम योजन प्रमाण ऊँचे (मोटे) आकाश क्षेत्र में ज्योतिष देवों के निवास (विमान) हैं। इसलिए नका वयान भी इसी मध्यलोक में आगे करगे।

यहाँ पर नित्यक लोक का मन्वित्तर निरूपण करते हैं।

## जबुद्धीष का वर्णन

स लोक म नित्यक असत्यात द्वाप व समुत्त हैं। उन सब के मध्य में एक लक्ष योजन के विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) वाल नम्बुद्धीष है। उसके ठीक मध्य भाग में मेरुगिरि है। उसकी उत्तिष्ण निशा से लेकर १ भरत २ हैमवत ३ हरि ४ विदेह ५ रम्यक ६ हैरण्यवत और ७ मेरावत ये सात वष (क्षेत्र) हैं। इन क्षेत्रों (देशों) की मन्धि पर अर्थात् एक क्षेत्र के अनन्तर एक एक पर्वत है जिन्हें कुलाचल कहते हैं। मेरु कुलाचल उँह हैं—१ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषच ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी। भरत और हैमवत क्षेत्र के मध्य में (मन्धि पर) हिमवान् कुलाचल है। हैमवत और हरिक्षेत्र के बीच में महाहिमवान् कुलाचल है। हरिक्षेत्र और विद्हक्षेत्र की मन्धिपर निषचाचल है। इसी प्रकार सात क्षेत्रों की मन्धिपर उँह कुलाचल हैं। क्षेत्रों का विभाग करने से इनको वषधर पर्वत भी कहते हैं।

### कुलाचला का विभाग और रण

हिमवान् आन्ति उहा कुला ल मूल स लरुग उपर तर समान चाडा बाल हैं। जम म ल भवनात् ३० नीवार नीच स लकर उपर तक समान चाडी होती है स ही य उहा पवत नीच मध्य मे और ऊपर समान चाड हैं। अय पवतों की तरह हानाचक विस्तार बाल नहीं है। उनक पार भाग (पम 18) विविध माणयो स िाचर हैं। उनक दोना तरफ क मिर समुन् को स्पा करते ह। अ यान जम्बूद्वीप क कुलाचला क दोनों तरफ क त लरुग समुन् को कूते हैं तथा धातकीषड क कुलाचलों क एक और क त लरुग समुन् को आर मरी और क त कालो षि मो कूते हैं आर पुमरा क कुलाचलों क एक और क त तो मालोचि को आर दुमरी और क मानुषोत्तर पवत ो कूते हैं।

न पवता क रण क्रमश ह्म (सुग) अजुन (गान्) तपनीय (तपाह आ म्नाग) ह्य (नालमाण) रजत (चान्) आर सुवण क समान हैं। अ यानाहम यान सोन क समान महाहिमवान चान् क समान ननषव तपेह मोन क समान नील वैदूर्यमणि के समान रुक्मी चान् क समान आर शिखरी सोन के समान पीतवण हैं। म्मिवान एकमा योनन चा महाहिमवान न्मोयाजन निषव चारसौ योजन नालारमा योचन रुक्मी न्ना योजन आर शिखरी एकमा योजन ऊचा हे। न पवता की जितना ऊचाई हे उमक चतुथ भाग (चा 1) अत्रगाह (भूमि क अन्त) हे।

### कुलाचला पर मगवर

उक्त छह कुलाचला क ऊपर कम स पद्य महापद्य तिगात्र कसरी म्गपुण्डरीक आर पुण्डरीक ये ह्म (सरोवर) हैं। इनका व्यास (चोडा) आयाम (लम्बा) और अवगाह (गहराई) अपने पवत की उचाई स क्रमश पाँचगुणा षशगुणा और षशभाग प्रमाण है। अर्थात् पद्यहह का व्यास (चोडाई) पाँचसौयोजन आयाम (लम्बाई) एक हजार योजन और अवगाह (गहराई) षश योजन प्रमाण है। महापद्य ह्म की चौड़ाई एक हजार योजन लम्बाई दो हजार योजन व गहराई बीसयोजन प्रमाण है। तिगात्र ह्म की चौड़ाई दोहजार योजन लम्बाई चारहजार योजन और गहराई चालीम योजन प्रमाण है। न्सी प्रकार अपने ० पवत की ऊचाई से ह्म की चौड़ाई पाचगुनी लम्बाई षशगुनी और गहराई षश भाग प्रमाण समझना चाहिए।

### मगवरों क मध्य कमल और उन पर मपरिवार द्रविषा

उन ह्मों के मध्य म कमल है ह्म का गहराह क षशव भाग प्रमाण उनर कमला की ऊचाड व चौड़ाई है। वे कमल १ त्रामय हे। ननस्पति फाय नहीं है। अर्थात् पद्यहह क कमल को उचा व चोडाह एक योनन महापद्य के कमल की न्ने योजन तिगात्र ह्म

के कमल की चारयोजन। इसी प्रकार आगे क हने क कमलों की ऊर्चाई व चौड़ाई क्रमशः चार नो और एक योजन प्रमाण है। ये कमल अपनी सुगन्ध से दशों िशाओं को सुगन्धित करते हैं। इनकी नाल वैद्वयमणि की बनी हुई है। उसकी उर्चाई बियालीस कोश प्रमाण है। जिसमें १० चालीस कोश प्रमाण नाल तो जल के भीतर रहती है और नलतल से उपर दोकोश ऊंची है। तथा एक कोशमोटी है। इसके अन्दरका मणाल तीनकोश का मोटा रूपमय श्वेतवण है। कमल के व्यारहृत्तर नल (पाखुडिया) हैं। कमल की जितनी उर्चाई व चौड़ाई है उसके अद्ध भाग प्रमाण नाल नल क उपर निकली हुई है। कमल की कर्णिका की चौड़ाई कमल की उर्चाई व चौड़ाई से आधी है और प्रत्येक नल की चौड़ाई उसक चतुध भाग प्रमाण है। जस पद्महृत्तर २ कमल की उर्चाई व चौड़ाई एक योजन प्रमाण अत उसकी नाल उसस अध (नोकोश) प्रमाण जल क उपर निकली है। उम कर्णिका की चौड़ाई नो कोश प्रमाण और उसका प्रत्येक पत्र एक २ कोश प्रमाण चौड़ा है। एस ही अय हने म समझलना चाहिए।

पद्महृत्तर के कमल की काणिका पर श्रीदेवी का रत्नमय प्रामाण है जो शग्दूर्यणिमा के चन्मा की बुति को लजान वाला है। उसकी लम्बाई एक कोश चौड़ा आवे कोश आर उर्चा २ पान कोश प्रमाण है। एन प्रकार पद्महृत्तर का वणन कया वसाही महापद्मान् १४ ह उतरा प्रमाण य मयव समझ लेना चाहिए।

पद्महृत्तर क कमल की कर्णिका पर जस श्रीदेवी निवास करती है एम शय हर्वा क कमल की कर्णिका पर कमल एा बुति कीर्षि बुद्धि और लक्ष्मी देवी निवास करती हैं। इनकी आयु एक पय प्रमाण है। तय एक एक कमल के परिवार रूप एक लाख चालीस हजार एकसौ पन्ह कमल उमो हृद में स्थित हैं।

पद्महृत्तर सम्बन्धी कमला पर आन्वी वा परिवार स्थित है एम निरयते हैं।

मूल कमल क अनिकोण िक्षिण और नञ्चत्य िशा म नो कमल हैं उनपर श्रीदेवी के आदि य चन् और जनु परिवर व पारिषदव निवास करते हैं। आन्विय (आभ्यन्तर) परिवर के पारिषद देव बत्तीस हजार हैं। चन् (मय) परिवर के पारिषददेव चालीस हजार और चतु (बाह्य) परिवर के पारिषददेव अडतालीस हजार हैं। एक एक पारिषद देव के निवास के लिए एक एक कमल पर प्रसात् बन हैं। सात प्रकार की सना के देवों के निवास करने क लिए मूल कमल में पञ्चिमिशा में सात कमलों पर प्रामाण है तय सामानिक देवों क कमल उत्तर िशा क नोनों कोनों में चार हजार है। और इन कमलों के अ यन्तर मूल कमल की तरफ एक एक िशा ने चार चान्जार अ गरजको क कमलों पर मान्तर (प्रामाण) हैं। प्रतीहार महत्तरा के एक सौ आठ कमल उन अ गरजको के कमलों के अ यन्तर मूल कमल क निरन्त िशा व विन्शिा में स्थित हैं।

य सब परिवार कमल भी मणिमय है। जलतल से ऊंचे नहीं हैं। तथा परिवार-कमल की ऊंचाई चौड़ाई आवि मूल कमल से अचप्रमाण जाननी चाहिए। अधान श्रापों के प्रामाण्य की जितनी ऊँचाई बाड़ाई आनि बतलाई गई है उससे आची परिवार-कमलों की है। श्री हो य वृत्ति य तीन तो माघम इन्द्र की देवियाँ हैं। आर कीर्ति बुद्धि व लक्ष्मी य तीन इशान इन्द्र की देवियाँ हैं।

### हटा से नटिया का उद्गम

उन हटा से गंगा मिथु रोहित रोहितास्या हारन हरिसाना सीता सीताना नारा नरगता मरणकूला रूपकूला रक्ता आर रक्तोत्त य चोदह महानटिया निकली है। इनमें से नौ नटियों के सात यगलों में पूव की ( गंगा रोहित हरित सीता नारी सुवर्णकूला रक्ता ) य सात नटिया पूजाशा का ओर मुग्ग करके तथा शेष नटियों पश्चिम दिशा की ओर मुग्ग करके क्षेत्रों के बीच में पवन पवता का प्रवर्तिका कर समुद्र में मिलता ।

उक्तानटिया के सातों तट पुत्राग नगकेसर सपारा अशाक तमाल कूला ( कला ) ताम्बूली बड़ी तलायची लवंग मालती आणक क उन आर लताश्री म सुशाभित ।

आणक के पद हट से गंगा मिथु आर शा ताभ्या य तीन नाटया आर अतके पुण्डरीक हट से रक्ता रक्तोत्त आर सुवर्णकूला य तीन नाटया निकली है। शेष चार हटा से नौ नाटया निकली है। भरत व परवत से नाभागार नटी है इसलिए इन नटियों में बहन बाला गंगा मिथु आर रक्ता रक्तोत्त इन चारों नाटियों को छोड़कर शेष नटिया नत्र के मय में पवन नाभागारि को आवायोजन छोड़कर समुद्र में मिलती है। जिन्हें नत्र में मरुपर्वत है उस यत्ना नाभागार कहा है। हमयत्न हरिहरमयक आर हरण्ययत्न से नाभागार विश्वमान हो हैं। नाटया नत्र में निकल कर नाभागारि के मध्यय साधी आकर आर योजन से समुद्र कर नाभागारि की अच प्रवर्तिका करके समुद्र में जा मिलती है।

### गंगा नटों के निवार्य और गमनाति

पदा हट के पूजाशा में ब्रह्म द्वार है उससे गगानटी निकलकर हिमवान पर्वत के ऊपर पर्वतशा की ओर पाँचमा योजन तक हिमवान पर्वत पर स्थित तो गंगा कूट है उसमें आधा योजन पहले मुडग है। वहाँ रुकचिए दिशा की तरफ पाचसौ तेईस योजन आर कुञ्ज आधक आध कोरी जाकर पर्वत के तट पर पहुँचा है। पर्वत पर गंगा नटों का व्याम सर्वा ब्रह्म योजन प्रमाण है। जिस तट में गंगा नटों नीचे गिरती है तत्पत्र मणिनिमित्त नौ कोश लक्ष्मी व उच्च प्रणाली है। उस प्रणाली के मुख्य कान जीभ आर नत्र के आकार तो सिंह के समान है तथा मोह मन्त्र आदि का आसार गाक समान है इसलिए मुख्यरूप में प्रणाली को वृषभाकार कहते हैं। उसमें गंगा

नया हिमवान परत म पक्वाम योजन का रूपांतर कादला क आकार होकर (कमरा चाड़ा बदती हुई) शशयोजन का चाड़ा को लिये हुए भरत क्षेत्र म निम्नान परत क मूल म नया योजन गहर आग साठ योजन वो गोल कुण्ड म गिरी है।

उम कुण्ड क बाच म नल म रूप आधा योजन रूपा आठ योजन चौड़ा गोल द्वीप है। उम द्वीप क मध्य म वज्रमय शशयोजन उचा एक पवत है। उमका याम (चाड़ा) प्रथी पर चार योजन मध्य म नो योजन और अग्रभाग म एक योजन प्रमाण है। उम परत पर श्री नटी का मन्दिर है। जो नीचे तीन हजार धनुष मध्य म नो हजार धनुष आग ऊपर मे एक हजार धनुष प्रमाण चौड़ा है और नो हजार धनुष उचा है। उमका अध्वतर नयास साठ सात मा उतप समाग है। उम मन्दिर के द्वार की चौड़ाई चालीस धनुष और उचा अम्मा धनुष है। उम द्वार क उज्रमय नो कपाट है।

उक्त मन्दिर क मस्तक पर एक पार्श्व कमल है। उमकी कर्णिका पर सिंहासन है। उस पर जग महित जिनबिम्ब है। उस को अभिषेक करने क लिए ही माना उक्त मस्तक पर गंगा का अवतरण हुआ है। अतः जिनबिम्ब के मस्तक पर गंगा नदी गिरती है।

कुंड म निकल क गंगानदी सीधी दक्षिण दिशा म तारु विजयाध पवत की दक्षप्रपात नामा गुफा में प्रवेश करती है। वहाँ यह आठ योजन चौड़ा होगई है आग गुफा के उत्तर द्वार मे बाहर निकली है। उक्त गुफा के पूव पश्चिम दिशा की नीवार के निकल दो कुण्ड हैं उनमे नो योजन चौड़ी निम्नतला और निम्नतला नाम की नो नदियाँ निकली हैं और नोनों सीधी चलकर गंगानदी में जा मिली हैं। गुफा का उ गुफा क द्वार की उचाई तो आठ आ योजन की है चौड़ाई बारह योजन की है और लम्बाई पचास योजन (विजयाध समान) है।

उक्त गुफा म निकल कर गंगानदी दक्षिण भरत क अधभाग पय त माधी दक्षिण की तरफ गड है और वहाँ स मुडकर पू दिशा में आग बहकर मागध नामक द्वार म होकर लक्षण समुद्र म मिली है।

### मि उ नटी का निकास आर गमनादि

गंगा सा नम प्रकार उगा गया है उमा क समान मधु नटी का वणन समझना चाहिए। केवल उतना अन्तर है कि सिन्धु नो पत्तमहत् के पश्चिम द्वार म निकल कर पश्चिम का आग उतर मि कुट्ट क पवत मुडकर पवत के निकल आकर कुंड में गिरी है। वहाँ म निकल कर विजयाध पवत म तमिस्रा नामक गुफा म प्रवेशकर वहाँ म निकल कर द्वीप क कोट के प्रभास नामक द्वार से पश्चिम समुद्र म मिलता है।

### शेष नदियों का बखान

रोहित नदी महापद्महृद् के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी महाहिमवान् पर्वत के तट पर्यन्त सोलह सौ पाँच योजन उन्नीसव भाग तक जाकर हैमवत क्षेत्र के कुछ में पडी है। वहाँ से निकलकर सीधी नाभिगिरि क आधे योजन पहले से मुडकर पूव दिशा के सम्मुख होकर पूव समुन् में गिरी है। रोहितास्या नदी पद्महृद् क उत्तर द्वार से निकलकर सीधी हिमवान् क तट तक दोसौ ब्रह्मचर योजन और ब्रह्म उन्नीसव भाग ( २७६-६ १६ ) तक आकर हैमवत क्षेत्र में कुछ में पडी है। और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरी क निकट आधे योजन की दूरी से मुडकर पश्चिम की ओर बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। हरित नदी तिगिब्रह्मद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी निषध पर्वत क तट तक चवहत्तर सौ इक्कीस योजन एक उन्नीसवें भाग तक जाकर हरि क्षेत्र क कुछ में गिरी है। वहाँ से निकल पूव की भौति नाभिगिरी क समीपतक जाकर वहाँ से मुडकर पूव दिशा की ओर बहकर पूव समुद्र में जा मिली है। हरिकान्ता नदी महापद्म हृद् क उत्तर द्वार से निकल सीधी महाहिमवान् क तटतक सोलह सौ पाचयोजन और पाँच उन्नीसव भाग ( १६ ५-५/१६ ) पर्यन्त जाकर हर्मि क्षेत्र के कुछ में गिरी है वहाँ से निकल कर सीधी पूव चत् नाभिगिरि क निकट जाकर आर वहा से पश्चिम दिशा की ओर बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश कर गई है। मोता नदी केसरी हृद् क दक्षिण द्वार से निकलकर सीधी नील पर्वत के तट पर्यन्त चौहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक क उन्नीसव भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुछ में गिरी है। आर वहाँ से निकल कर सीधी मरु गिरि के निकट तक जाकर उससे आधे योजन की दूरी से मुडकर पूव दिशा के सम्मुख होकर बहती हुई पूव समुद्र में जाकर मिली है। सीतोना नदी तिगिब्रह्मद के उत्तरद्वार से निकल कर सीधी निषधचल क तट पर्यन्त चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक क उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुछ में गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधा पूवचल मेरुगिरि के निकट तक जाकर और उससे आधे योजन दूर से मुडकर पश्चिम की ओर बहकर पश्चिम समुद्र में मिली है। नारी नदी महापुडरीक हृद् क दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी रुक्मी पर्वत के तट तक सोलह सौ पचास योजन पाँच उन्नीसव भाग ( १६ ५-५ १६ ) पर्यन्त जाकर रुक्मि क्षेत्र के कुछ में गिरी है और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पूव की ओर बहती हुई पूव समुन् में प्रवेश कर गई है। नरकान्ता नदी केसरीहृद् के उत्तर द्वार से निकल सीधी नील पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इक्कीस योजन आर एक क उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर रुक्मि क्षेत्र के कुछ में गिरी है। और वहाँ से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पश्चिम दिशा की तरफ बहती हुई पश्चिम में जा मिली है। स्वणकुला नदी पुण्डरीक हृद् के दक्षिण द्वार से निकल सीधा गिम्बर पर्वत के तट तक दोसौ ब्रह्मचर योजन ब्रह्म उन्नीसवें भाग ( २७६-६ १६ ) पर्यन्त जाकर हैरत्यवत क्षेत्र के कुछ में गिरी है। और हा से निकल सीधी नाभिगिरि के उरली ओर तक जाकर और वहाँ से पर्वत के सम्मुख मुडकर बहती हुई पूव समुद्र में प्रवेश कर गई है। स्वणकुला नदी महापुण्डरीक हृद् के उत्तर द्वार से निकल कर रुक्मी पर्वत के तट तक सोलह सौ पाँच योजन एवं उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर हैरत्यवत क्षेत्र के कुछ में गिरी है। तथा वहा से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट जाकर उसके उरली तरफ से मुडकर

पश्चिम दिशा में रहती हुई पश्चिम समुद्र में मिली। यही पर्वत ने ऊपर नदी के गमन करने का प्रमाण जम्बूद्वीप की अपेक्षा से कहा है। अन्यत्र चान्तीन्लड व पुष्कराण में उनकी अपेक्षा में यथासंभव प्रमाण जानना चाहिए।

गंगा तथा सिन्धु का जैसा बहान कर आया है वैसा ही बहान रक्ता व रक्तोदा का भी समझना चाहिए। केवल इतना विशेष है कि यहाँ पुण्डरीक हृत् आर शिरगरी पर्वत समझना। प्रणाली आदि का सब बहान समान जानना। रोष नदियों प्रणाली कुंहाड़ि के व्यासादि का प्रमाण भरत गेगवन सम्बन्धी नदियों में अनुक्रम से विदेह सम्बन्धी नदियों तक दूना दूना समझना।

### नदियों का विस्तार

गंगा सिन्धु आर रक्ता रक्तोदा इनकी चाहाई का प्रमाण हृद में निकलते समय सवाइह योजन है और समुद्र में प्रवेश करते समय सत्रगुना होगया है। अन्य सब विदेह पर्वत नदियों का क्रम में दूना दूना प्रमाण होता चलागया है। जैसे गंगा नदी का समुद्र में प्रवेश करत समय विस्तार (चाहाई) मात्र बासठ योजन है। समस्त नदियों की गहराई अपने २ चौहाई के प्रमाण से पचासवें भाग है। जैसे गंगा नदी का गहराई आवकेश प्रमाण है इसी प्रकार अन्य नदियों का समझना चाहिए।

नदियों का इन लत क हृत्-श्राग समुद्र में प्रवेश करने के जम्बू द्वीपान्तिक कोट क द्वार कुंड से निकलने के द्वार तथा अन्यत्र उन पर तोरण और उपर निर्मायम्ब माहत तन्कुर्मा र्या के मान्तर (प्रामाद) है।

उन तोरणों का विस्तार (चाहाई) अपनी नदियों क विस्तार प्रमाण है। तथा व्यास स डडी ऊँचाई है। चंस गंगानदी के निगम द्वार के तोरण की चाहाई का प्रमाण सवाइह योजन आर ऊँचाई का प्रमाण नवयोजन तथा तीन के आठव भाग प्रमाण है और सर्वत्र तोरण का अषवाह (भूमि में गहराई-नीच) आध योजन प्रमाण है।

गंगा और सिन्धु दोनों नदियाँ चौबह चौबह हजार नदियों के परिवारवाली हैं। इनके आगे की नदियाँ प्रतिक्षेत्र में अनुक्रम से विदेह क्षेत्र पर्वत दूनी दूनी होती चली गई हैं। विबह क्षेत्र क उत्तर में प्रतिक्षेत्र में आधी आधी होनी होती गई हैं।

### भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

जम्बूद्वीप के एकसौ नव्वे भाग प्रमाण अर्थात् पाँचसौ लक्षीस योजन और छह के लक्षीसवें भाग प्रमाण भरत क्षेत्र के विस्तार का प्रमाण है। क्रमसे इसस दुगुने दुगुने पर्वत क्षेत्रादि विदेह पर्वत हैं।

आबाध—भरत क्षेत्र से दूना हिमवान् पर्वत हिमवान् स दूना इमबत क्षेत्र उससे दूना महाहिमवान् पर्वत, महाहिमवान् से दूना हरिक्षेत्र हरिक्षेत्र से दूना निषच पर्वत, तथा निषच से दूना विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्र के विस्तार ( चौड़ाई ) का प्रमाण तैत्तिरीय हज़ार ब्रह्मसौ चौरासी योजन और एक योजन की उन्नीस कला मं से चार कला प्रमाण है। इसके बीच में सीता व सीतावा नदी का प्रवाह है। इसलिये विदेह की चौड़ाई म से नदी की चौड़ाई को घटाने पर शेष का जो आधा प्रमाण रहता है वही बत्तीस विदेह क्षेत्र, सोलह हजार गिरी, बारह बिर्जगा नदी देवारणस्या वन इनकी लम्बाई प्रमाण है। विदेह का विष्कभ ( चौड़ाई ) प्रमाण ३३६०४-४,१६ में से पाँचसौ योजन नदी का व्यास घटान पर ३३१०४-४ (६ योजन रहे। इस का आधा करने पर सोलह हजार पाचसौ बाबवे योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण लम्बाई का प्रमाण होता है।

### विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु का स्वरूप

मरु पर्वत गोलाकार है और वह विन्धु क्षेत्र के मध्य में स्थित है। उसका ऊँचाई निम्नानवे हज़ार योजन प्रमाण है। मूलमें भूमिपर न्नाहजार योजन चौड़ा और ऊपर एक हज़ार योजन चौड़ा है। और उसकी ऊपर ऊपर कटनियाँ हैं उन पर चार वन सुरोभित हैं।

भूमि पर भू-शालवन है जो मरु के मूल में भूमि पर चारों तरफ है। उससे पाचसौ योजन ऊपर जाकर एक कटनी मेरु के चहुँ ओर है उस पर नन्दनवन है। उहाँ में साठ आसठ हज़ार योजन ऊपर जाकर कटनी है और उसपर सामनसवन है। वहाँ से छत्तीस हज़ार योजन ऊपर जाकर एक कटनी है और उस पर पाण्डुक वन है। इनमें मन्दार आश्र चम्पा चन्दन घनस्यार कवली नारियल सुपारी इत्यादि के सुन्दर वृक्ष सुरोभित हैं। इन में व अथयत रमणीय हो रहे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु की ऊँचाई आदि का वर्णन किया।

### अथ चार मेरु पर्वत

धानकीखण्ड और पुष्कराश सम्बन्धी विजय अचल मन्दर और त्रिशुन्माली इन चारों मेरु पर्वतों के शृङ्खली पर अश्रुशाल वन हैं। वहाँ से पाचसौ योजन ऊपर जाकर नन्दनवन है। वहाँ से पचपन हज़ार पाचसौ योजन ऊपर सामनसवन है। तथा वहाँ से अठ्ठाईस हज़ार योजन ऊपर जाकर पाण्डुकवन है। इस प्रकार ये चारों मेरु चौरासी हज़ार योजन ऊँचे हैं। उक्त पाँचों मेरु की नीचे एक हज़ार योजन प्रमाण है।

प्रत्येक मरु के प्रत्येक वन की प्रत्येक दिशा में एक एक चैत्यालय है। इस तरह एक एक मरु के प्रति सोलह चैत्यालय सुरोभित हैं। इन चैत्यालयों का वर्णन जम्बूद्वीप का वर्णन करते समय करा।

सुशान मरु ४ चारों गजन्तों के मध्य चारों निशाओं में भद्रशाल वन हैं जो पूर्व पश्चिम दिशा में तो बाइस हजार याजन चौड़ा है और दक्षिण उत्तर में दार्द्रीसौ योजन चौड़ा है। भद्रशालादि वन के बाह्य आर आभ्यन्तर दोनों पार्ष्वों में वेदी है। जैसे बाग के चारों आर कगुरे रहित नीवार होती है वैसे ही बनी है। वह बनी एक योजन ऊँची आधे योजन चौड़ी और पाब योजन नीब में है और सुबण मय है। तथा बड़े घंट और झोरी २ घटिकाआर में अलकृत सुर २ तोरगों में सयुक्त बहुत द्वार वाली है।

### सुमर पर्वत की चौड़ाई का क्रम

मेरु की भूमि तल में लेकर नन्दनवन तक क्रमशः चौड़ाई घटती गई है। यहाँ पर सबत्र चारों तरफ पाँचसौ योजन चौड़ी कटनी कूटी है उम म नन्दनवन है। यहाँ दोनों तरफ की कटनी का एक हजार योजन प्रमाण मेरु की चौड़ाई घटी है इसलिए ग्यारह हजार योजन की ऊ चार्ड तक मेरु समान चौड़ा चलागया है। वहा तक चौड़ाई म कमी नहीं हुई है। उसके बाद पुन क्रमशः घटता हुआ चलागया है। मका गणित त्रैलोक्यमाग ग्रन्थ से जानना।

मरु नीच में लेकर एकमठ चार योजन की ऊ चार्ड पयत तो अनक बणवाले नाना प्रकार क रत्ना में सशोभित है और उमके उपर केवल मवग मन्त्रवण म युक्त है।

नन्दनवन सोमसुरन और पाण्डुरवन इन तीनों म चार चार भवन हैं उनक अधिपति सौवर्म इन्द्र के सोम वम वरुण और कुवर नामक चार लोकपाल ह। यपूर्वादि निशा में रहने ह और प्रत्येक लोकपाल के साठे तीन करोड साठ तीन करोड गिरिकन्या (व्यतरी) न्वागनाग पाई जाती हैं। इनमें म सोम और यम की आयु दार्द्रीसौ पत्य प्रमाण है तथा वरुण और कुवेर की आयु कुड कम तीनपत्य प्रमाण है। सोमक लालवण यम का श्यामवण वरुण का काचनवण और कुवर का खेतवण है। और ये अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित रहते हैं। इन चोकपाला क स्वग में निवास करन के विमान हैं और यहाँ मरु के उपर भी उनक भवन पावे जाते हैं।

नन्दन वन के उक्त चारों भवनों क दोनों पार्श्वों में दो दो कूट बने हैं। सब कूट आठ हैं। प्रत्येक निशा व दिदिशा में चार चार मन्दर वापिकण्ड हैं जो मणिमय तोरग और रत्नमय सोपा (सीडियों) से मुशोभित हैं। तथा दस मयूर आदि यंत्रों से युक्त हैं। ये पचास योजन लम्बी पचोम योजन चौड़ी और द्वा योजन गहरी हैं। इनके मध्य में मौचम और पेशान के प्रासाद बने हुए हैं। स्वग में सुवर्मा मभा में चैमे इन्द्र अपन परिवार सहित बंठता है जिस ही यहाँ पर तब आता है तब यहाँ भी मया लगाकर बैठता है।

### मेरु पर स्थित शिलार्यों का वर्णन

मेरु पर पाण्डुक मन् में इशानाक्षरों के लक्ष्मी चारों दिशाओं में क्रम से १ सुवर्ण समान वर्णवाली पाण्डुकशिला, २ रूप्य ( चाँदी ) समान वर्णवाली पाण्डुकशिला, ३ त्रैलोक्य सुवर्ण समान वर्णवाली रक्ता शिला और ४ लोहित वर्णवाली रक्तकम्बला शिला वर्णवाली हैं।

ये पाण्डुकशिला क्रमन भरतनेत्र पश्चिमदिश में ऐरावत और पूर्वदिश में क्षेत्र में उपर्युक्त तीनों के जन्मभिक्षे से सम्बन्ध रखती हैं। तत्र तत्र कर्ताश्रमों का पाण्डुकशिला पर पश्चिमदिश में तीनों का पाण्डुकशिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीनों का रक्तशिला पर और पूर्वदिश में क्षेत्र के तीनों का रक्तकम्बला पर जन्मभिक्षे किया जाता है। ये शिला क्रमन पूर पश्चिम दिशि और उत्तर दिशि तक लम्बी हैं। ये सब अक्षरोंवाली हैं। सब योनि लम्बी हैं। बीच में पंचान योनि चौड़ी व आठ योनि मोटी हैं। इन शिलार्यों का ऊपर तीन गोल सिंहासन हैं—बीच में श्रीमद् वाग्भिये त्रिनेत्रदेव का सिंहासन है उसकी दिशि शिषा में साधम त्र का भगवान् का आसन है। उत्तर दिशि में ऐरावत का भगवान् है। उन आसनों की ऊँचाई पाँचमी चतुर्षु बीच चौड़ाई पाचसौचतुषु ऊपर चौड़ाई आठ सौ चतुषु प्रमाण है। और ये आसनों की दिशा कस्मिन् है।

पाण्डुकमन् क मध्य मरु की शिला है जो वैद्वयमण्डिमी है। उसकी ऊँचाई चालीस योनि है। नीचे चौड़ाई बारह योनि और ऊपर चौड़ाई चार योनि प्रमाण है।

पश्चिम दिशि कूट पाण्डुकशिला ये सब जगत्प्रकार की मणियों से निर्मित वन शिखरों और तोरण से संयुक्त हैं अर्थात् पश्चिम दिशि क चतुर्षु और वन हैं नन्क बर्दिश हैं और वेना क तोरण से अलङ्कृत द्वार पाये जाते हैं।

### जम्बूद्वीप का वर्णन

मरु के उत्तर (नाल पश्चिम के पास दिशि की ओर जाती हुई सीता नदी के पूर तट व मेरु पर्वत से ईशान दिशि में) में ७-सप्त कुन्दास की भोग भूमि है उमम त्रैलोक्य की स्थली है। जैसे यहाँ वृक्ष के थावला होता है वैसे ही जम्बूद्वीप के चारों ओर गोलाकार स्थली समभन्ना। यह मूल में पाचसौ योनि चौड़ी है अर्थात् दो कोश प्रमाण मोटी है। मध्य में आठ योनि चौड़ी हैं गोलाकार और सुवर्णमयी हैं। उस स्थली के बीच में एक पीठ है। उसकी ऊँचाई आठ योनि है। चौड़ाई बाह्य योनि और ऊपर चार योनि है। उसस्थली के ऊपर के भाग में बाह्य ही और अक्षर सुवर्ण के बल्य समान आये योनि चौड़ी एक योनि के सोलहवें भाग प्रमाण चौड़ी नानारत्नों से व्याप्त

बारह अम्बुजवेदिका है। अर्थात् स्थली के ऊपर पहला वेदी को बन्दू, दूसरी बेनी है आर दूसरी को बेने हुए तीसरी है और तीसरी को बेने हुए चौथी। इस प्रकार एक दूसरी को वेदित किये हुए बारह वेदियाँ हैं। बारह वेदियाँ चार चार द्वारों से संयुक्त हैं। बाह्य और आन्तरिक वेदी के बीच में अन्तराल है। अतः बारह वेदियों के बीच में ग्यारह अन्तराल समझने। उनमें से चौथे अन्तराल में एक मूल जम्बू वृक्ष है आर चार जम्बू वृक्ष अन्य हैं। तथा अन्य अन्तरालों में यथा सभ्य जम्बू वृक्ष हैं। सब मिलकर एक लाख बालीस हजार एकसौ बीस जम्बू वृक्ष हैं।

भाषा—उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य जम्बूवृक्ष की स्थली (गङ्गा) है जो तलभाग में पाँचसौ योजन लम्बी चौड़ी है, जिसकी परिधि गोलाई चौड़ाई से कुछ अधिक तिगुनी है और क्रमशः बाहरकी तरफ से घटती २ मध्य में बारह योजन मोटी और अन्त में दो कोशा मोटी है और वह एक सुवर्ण की पञ्चदश वेदी से वेदित है उसके मध्य भाग में नानारत्नों से निर्मापित एक पीठ (पीढ़ा चौड़ी) है जो आठ योजन लम्बा और चार योजन चौड़ा और चार योजन ही लम्बा है। उसको चारों ओर से बारह पद्मवेदिएँ बेटे हुए हैं। वह वेदिका पर दूसरी को बेटे हुए है। मूल पीठ के ऊपर एक दूसरा मण्डिमय उपपीठ है जो एक योजन लम्बा चौड़ा और दोकोशा ऊँचा है। उस उपपीठ के मध्यभाग में सुदर्शन नाम का जम्बूवृक्ष है।

जिसकी जब आधे योजन भूमि में है पीठ की भूमि से ऊपर उसका स्तम्भ दो योजन ऊँचा है और वह मरकतमणि निर्मित है उस स्तम्भ के ऊपर वज्रमय आठ २ योजन लम्बी और पाँच २ योजन चौड़ी चार शाखाएँ (दालियाँ) हैं। अनेक प्रकार के फलों से निर्मित उसके उपशारदाएँ (झोली २ दालियाँ) हैं। प्रवाल (मूंगे) के समान बण बाले उसके फूल हैं। तथा मृत्तक के समान उसके फल पाये जाते हैं। यह जम्बू वृक्ष पृथ्वीकाय है अन्त्यस्तिकाय नहीं है। जामुन के वृक्ष का सा आकार है। इसलिए इसे जम्बू वृक्ष कहते हैं। यह जम्बू वृक्ष दश योजन ऊँचा है मध्य में छह योजन और ऊपर में चार योजन चौड़ा है। यह मण्डलाकार है।

इस सुदर्शन नामक मूल वृक्ष की उत्तर दिशा वाली (नोल पत्र की ओर) शाखा पर श्री जिनचैत्यालय है। और बाकी तीन शाखाओं पर शारदाओं पर शारदा अना २ यज्ञ (यत्तर देवों) के भवन हैं। इस मूल वृक्ष के अतिरिक्त तितने परिवार वृक्ष हैं उनपर आदर व अनादर के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

मेरु पर्वत के दक्षिण में दो कुक्ष नाम की भोग भूमि है उसमें मनोज्ञ रजतमय शाल्मली वृक्षों की स्थली है। उसमें शाल्मली वृक्ष सत्तर अक्षुब्ध हैं। इसका समस्त वृक्ष जम्बूवृक्ष के समान समझना चाहिए। इतना विशेष है कि उनके दक्षिण दिशा की शाखा पर जिनचैत्यालय है। शेष तीन शाखाओं पर गरुड कुमार के स्वामी वेणु और वेणुचारी देव के मन्दिर (भवन) हैं। और शाल्मली के परिवार वृक्षों पर इन्हीं देवों के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

[ ]

## विदेह क्षेत्र

मह पवत क पूव निशा आर आरम आगा म विदेह क्षेत्र ह। पूर आगा क विदेह क्षेत्र का पूरा दह आर आरम निशा क विदेह क्षेत्र को पश्चिम विदेह कहते हैं। पूव विदेह क्षेत्र क मध्य भाग म सीता नदी आर पश्चिम विदेह क्षेत्र क मध्य भाग म सीतोदा नदी बहती है। स प्रकार न दोनों नदियों क अलग अलग क्षेत्र म चार विभाग हो गये। एक एक विभाग म साठ आठ विदेह देश हैं। क्योंकि पूव आर पश्चिम म भन्नाल का बनी है। उनके आग आर पवत ह उमक आग विभङ्गा नन्ना—दस प्रकार चार बलाग पवत आर तीन विभङ्गा नन्ना ह आर आत म द्वापरण्य व भूताण्य का बोलका है। इस तरह भन्नाल की बनी चार आर तान विभङ्गा नन्ना एक भूताण्य या द्वापरण्य की बनी— स नव हुए। न न। क चार आठ दश एक विभाग के हए। सा प्रना उ य तान विभागा म भा आठ आठ देश हैं। चारों विभागों क मिलाकर विदेह म बन्नी बन्नीम दश क्षेत्र हैं।

विदेह क्षेत्र म सात प्रकार क काल बण क मय ह आर बारह प्रकार क घत वण क आर नामर मय ह। एम य उन्नाम प्रकार क मय वषाकाल म सात सात तान तक बषा करत ह। अथान बहा पर ज्योशाल म एम साततीम। न तक ग्रिण होती है।

विदेह म दुर्भिक्ष नहीं होता। १ आतग्राह २ अनाग्राह ३ मूषक ४ त्रिहो ५ सूबा ६ स्वराष्ट्र आर ७ परराष्ट्र इस प्रकार की ईति नहीं होता है। महाभारी आदि प्राण—समूह क नाशक रोग मचना नहीं होत। जिनन्द्र दब क सिवा अन्य देव कुद्व और जिन लिङ्ग क मबा अन्य लिंगी (कुलिंगी) और अनोक्त मत क आतंगिकत अन्य मत (कुमत) बहो नहीं होता है। तथा वह देश सवण कबली तीर्थकगवि शालाका पुरुष और ऋद्धि चारक मुनिया क विहार म पावत्र रहत है।

विदेह क बन्नीम दशों म मध्यक दश म ताथकर चक्रवर्ती अचबका नारायण आर प्रतिनारायण एक एक हा तब उल्लूक रूपसे पाच मम्बन्नी विदेह दशों मे एकसा माठ होते हैं। और तथन्य रूप स सीता व सीतोदा नदी क दक्षिण और उत्तर तट में एक एक होते हैं। इस तरह एक मेरु की अपत्ता चार आर पाँच मह पवता की अपत्ता बीस होते हैं। अथान बीम तीर्थकर बीसचकी आदि तो सवा बने रहते हैं। तथा उल्लूक रूप म पाँच भरत और पाँच पेशवत क्षेत्र क दश आर एकसा माठ विदेह देश क मिलाकर कुल एकसौ सत्तर तीर्थ करादि होते हैं।

विदेह क्षेत्र मम्बन्नी बत्तास दशों क मध्य पूव पश्चिम तक लम्बा विजयाद पवत है। चक्रवर्ती द्वारा विजय योग्य देश को अच (आचे) करने वाल पवत का यहाँ विजया नाम म कहा है। भरत क्षेत्र में जैसे गंगा सिन्धु और पेशवत क्षेत्र में जैसे रत्ता रत्तोका नदियाँ

विजयाच की गुफा म से होकर निकला ह बस ही प्रत्येक दश क नक्षत्रग 1 व भाग मे गंगा सिन्धु और उत्तर विभाग मे रक्ता रक्तोदा नदी है। इस प्रकार प्रत्येक विदेह देश के छह खंड गण्य ।

विजयाच शैल रजत ( चोनी ) मय ह । उन का ऊचा पंचाम याजन प्रमाण है। भूमि तल से लेकर दश योजन की ऊँचाई तक उमकी चौड़ाई बराबर पंचाम योजन की है। व 1 पर दश दश योजन की उत्तर व दक्षिण मे दो कटनियाँ छुटी हैं। अत मध्य में तीस योजन की चौड़ाई रह गई है और उतनी चौड़ाई समान रूप म दश योजन की ऊँचाई तक चली गई है। तथा वहाँ पर दश-दश योजन की उत्तर दक्षिण मे दो कटनियाँ और छुी है इसलिए म य भाग म उसकी चौड़ाई दश योजन प्रमाण रह गई है और उतनी चौड़ाई पाँच योजन तक बराबर चली गई है। तो प्रथम कटनी उत्तर नक्षत्रग म छुटी है उस पर दो विद्याचर श्रेणियाँ हैं — उत्तर श्रेणी व दक्षिण श्रेणी। उन दोनों श्रेणिया म विद्याचरों क पंचपन पंचपन नगर है। नम्बूद्रीप क दोना द्वीग पर जो भरत तथा ऐरावत द्वीप हैं उनके विजयाच सम्बन्धी नक्षत्र श्रेणी तथा उत्तर श्रेणी मे क्रमस पचास व साठ नगर हैं।

विजयाच की दूसरी कटनी ( श्रेणी ) पर मोघम सम्बन्धी आभियोग्य जाति के देवों के मण्डि-निर्मित विचित्र नगर हैं और 1 नयाच क शिखर पर सिद्धायतनाद नक्षत्र है। उनम दो 3 रा भूनामक द्वीप है उसपर विजयाचकुमारपति देव का निवास है।

विजयाच पवत पर उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणिया मण्ड सा दश रत्नमय नगर हैं। उनमे (१) साधित (२) कुल और (३) जाति न तीन विद्याओं से युक्त विद्याचर गणनाम करते हैं। जमनी मय माधना करते हैं उस विद्या को साधित विद्या कहते हैं। जो पित कुल क्रम से चली आई है उस कुल विद्या कहते ह और जो मातृपक्ष ( जाति ) में चली आई है उसे जाति विद्या कहते हैं। विद्याचर इज्या वार्ता दक्षि स्वाध्याय सयम और तप न षट्कम का आचरण करन वाले होते हैं। पूष्यपुरुषों की पूजा करने को इज्या कहते है। अस्मिन्नि कृषि आदि छह जीवन क उपाय को वार्ता कहते हैं। नल वन को दक्षि शास्त्रों क पठन पाठनादि को स्वाध्याय अविरति के स्वाग करने को सयम और अनशानान्ति को तपश्चरण कहते हैं। व विद्या को साधना विशेष करते हैं इसलिए उन्हें विद्याचर कहते हैं। उनकी अन्य सब क्रियाएँ भरतादि क मनुष्यवन हैं।

### वृषभाचल पर्वता का वखन

विजयाच पवत क द्वारा किये गये छह खंडों मे कुलाचल विजयाच और दोनों नदियों के मध्य वर्ती म्लेच्छ खण्ड के बहुमध्य भाग मे एक एक देश मे एक एक वृषभाचल है। अर्थात् विजयाच और दो दो नदियों के द्वारा प्रत्येक विदेह देश के छह छह खण्ड हुए। है। उन में पाच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक आर्य खण्ड है। पाँच म्लेच्छ खण्डों में से उत्तर के दो नदियों के मध्य वर्ती खण्ड में वृषभाचल है

वह प्रत्येक देश में एक एक है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच विदेशों में एकसौसाठ और पाँच भरत और पाच ऐरावत सम्बन्धी द्वा एसे सब मिलाकर एकसौ सत्तर बुधभाषण हैं। वे सब सुवर्ण वर्ण के हैं और मणिमय हैं। सब सौ योजन ऊँचे पृथ्वी पर सौ योजन चौड़े और ऊपर पचास योजन चौड़े हैं। उन पर भूतकाल सम्बन्धी चक्रवर्तियों के नाम हैं। जितने चक्रवर्ती उष उम क्षेत्र के होते हैं वे सब अपना नाम उस पर अङ्कित करते हैं।

### राजधानियों का वर्णन

उपसमुद्र (खाड़ी) के निकट आद्यखण्ड (दक्षिण भाग में) है। उनमेंसेमा जेमपुरी आदि नाम की एक एक राजधानी नगरी है। वसमें चक्रवर्ती निवास करता है। वह बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी है। अर्धई द्वीप सम्बन्धी सब मिलकर एकसौ सत्तर राजधानियाँ हैं। उनके द्वारों पर रत्नमय कपास हैं। प्रत्येक नगरी के एक एक हजार बड़े द्वार और पाँचसौ २ छोटे द्वार हैं। स्वर्णमय कोट हैं। नगर के अन्दर बारह हजार धीधियाँ (गलियाँ) हैं और एक एक हजार चौड़े बाजार हैं। नगर के बाहर तीनसौ साठ बाग-बगीचे हैं। नगर के मध्य श्री मणिनेन्द्रदेव के मन्दिर है और चक्रवर्ती के महल व अन्य समृद्ध जनों के प्रासाद हैं। वे सब रत्नमय सुराभित दो रहे हैं।

### नाभगिर का वन

रिपर भागभूमि क्षमवत हरि रम्यक और हेरक्ष्यवत हैं। उनके मध्य मगोनाकार नाभगिरि हैं। वे एक-एक हजार योजन ऊँचे और तन ही नीचे म लकर ऊपर तक चौड़े हैं। खड़किय गये डोल क समान उनका आकार है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी कुल बीस नाभगिरि हैं। वे श्वतःशुभ्र क हैं और उनके शिखर पर सौवर्ण और ऐशान इन्द्र क अनुचर देव निवास करते हैं।

### कूर्तों का वन

दिनवान् दुलाबल पर ग्यारह महाहिमवान् के ऊपर आठ निषध पर नव नील पर नव रक्ष्मी पर आठ शिखरी पर गण्ड तथा त्रिजया पर नव नव कूर्त हैं। वे सब नीचे म अधिक चौड़े आर ऊपर क्रमशः थोड़े थोड़े चौड़े हैं। इनमें से जो पूव दिशा में कूर्त हैं उन पर जिन मन्दिर हैं और शेष कूर्त पर वन और दाबया निवास करती हैं। ये गोल और रत्नमय हैं और अपन २ पवत की ऊचाई के चौथे भाग प्रमाण ऊँचे हैं। उनकी भूमिपर चौड़ाई ऊचाई के समान है और ऊपर में चौड़ाई नीचे से बारी रह गई है। समूह पवतों के मूल में नीचे तथा ऊपर शिखर पर और हृदों के चारों ओर वन लड हैं। उनकी लम्बाई पवतों के समान है और चौड़ाई आधे योजन प्रमाण है। उनके चारों तरफ बेथी (क गुरेखित कोट) की चौड़ाई पाचसौ धनुष आर ऊचाई दो कोरा है।

## कालचक्र का परिवर्तन

त्रिवेद चित्र में सबदा चतुर्थकाल की प्रवृत्ति रहता है। इसमें हरि रम्यक हेरण्यवत उत्तरकुरु और देवकुरु ये भोग भूमियाँ हैं। कबल भरत आर मेरावत म कालचक्र का परिवर्तन होता है। अतः उसका अनुक्रम का प्रातःपान्न करत है —

## उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल आर उनके छह २ भद्र

अष्टादश द्वीप सम्बन्धी पात्र भगत आर पात्र रावत चक्रा म उत्सर्पिणी आर अवसर्पिणी ये दो काल चक्र परिवर्तन करते हैं। निसकाल में जीवों की शरीर की ऊँचाई आयु शरीरवत आदि की क्रम से वृद्धि होती है उमे उ सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें इनकी क्रम से हानि होती है उमे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इन दोनों के छह २ भद्र हैं। १ सुषमासुषमा २ सुषमा, ३ सुषमादुषमा ४ दुषमासुषमा, ५ दुषमा और दुषमा दुषमा (अति दुषमा) य अवसर्पिणी काल के भद्र हैं। एक अपरिणत क्रम को लिय हुए उत्सर्पिणी काल है। उममें १ दुषमादुषमा २ दुषमा ३ दुषमासुषमा ४ सुषमादुषमा ५ सुषमा आर सुषमासुषमा ऐसा क्रम होता है।

बोसकोडाकोडी ( गीसकोटि कोट ) सागर का एक कल्पकाल होता है। उमम से दशकोटि कोटि सागर का अवसर्पिणी काल और दशकोटि कोटि सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है। एक जो छह भद्र रहे गये हैं उनमें सुषमासुषमा काल चार कोटि कोटि सागर का, सुषमा तीन कोटि कोटि सागर का सुषमा दुषमा दो कोटि कोटि सागर का दुषमा सुषमा बियाला म हजार वर्ष कम एक कोटि कोटि सागर का तथा दुषमा इक्कीस हजार वर्ष का और दुषमादुषमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

## काल का अपने जीवों का आयु

उन में मे सुषमा सुषमा नामक प्रथम काल सम्बन्धी जीवों की आयु प्रा म में तीन पात्र की होती है और अत मे जो पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारम्भ म छह हजार अनुष की आर अत में चार हजार अनुष की होती है। प्रारम्भ म अष्टभक्तार (तीन निन वीतन पर एक बार भोजन) करने वाले तथा अत म पत्र भक्तार (दो निन वीतन पर एक बार भोजन) करने वाले होते हैं। और उदय होते हुए मृग व सोन क समान बणवाले होते हैं।

सुषमा नामक द्वितीय काल सम्बन्धी जीवों की आयु प्रा म में जो पल्य आर अत म एक पल्य का होती है। शरीर की ऊँचाई प्रा म म चार हजार अनुष आर अत में दो हजार अनुष की होना है। तथा प्रारम्भ में उष्ट्र भक्तार (दो निन में वीतने पर एक बार

भोजन) करने वाले और अत में चतुथ भक्षणहार एक दिन बीतने पर एक बार ( भोजन ) रने वाले होते हैं। चन्द्र व शंख के समान उनका वय होता है।

सुषम दु षम नामक तृतीय काल में जीवों की आयु आन्नि में एक पन्च की और अत में एक पूव कोटि की होती है। शरीर की ऊचाई प्रारभ में दो हजार धनुष की और अन्त में पाँचसौ धनुष की होती है। प्रारभ में एक दिन बीतने पर ( दूसरे दिन ) आहार करते हैं और अन्त में नित्य आहार करने वाले होते हैं। ये जीव हरित नील कमल के समान वय वाले होते हैं।

दु षम षम नाम चतुथ काल के आन्नि में पूव कोटि की आयु और अन्त में एकसौ बीस वष की होती है। प्रारभ में नित्य आहार करने वाले और अत में दो बार भोजन आदि करने वाले होते हैं। शरीर की ऊचाई प्रारभ में पाँचसौ धनुष और अत में सात हाथ प्रमाण होती है तथा पाँचों त्रण के शरीर वाले होते हैं।

दु षम नामक पचम काल में जीवों की आयु प्रारभ में एकसौ बीस वष और अत में बीस वष की होती है। प्रारभ में शरीर की ऊचाई सात हाथ और अत में दो हा ५ प्रमाण होती है। कान्ति तीन रुसे पाँचोंवण के मिश्रित वण वाले होते हैं।

दु षम दु षम नामक छठे काल के आदि में बीस वष की आयु और अन्त में पन्ध्र वष की आयु होती है। प्रारभ में दो हाथ प्रमाण शरीर की ऊचाई होती है और अत में एक हाथ रह जाती है। वे जीव धुण क समान श्याम वर्ण युक्त होते हैं। और वे बारंबार आहार करने वाले होते हैं।

प्रथम काल के जीव बदरी फल ( छोटे बेर ) बराबर दूसरे काल के जीव अक्षफल बराबर तीसरे काल के जीव आँवले बराबर कल्प वृक्षों में प्राप्त नित्य आहार करते हैं। वे मन्त्र कवामी होने ह और मलमूत्राणि नीहार से रहित होते हैं। अर्थात् उनके मलमूत्राणि नहीं होते हैं।

### कल्प वृक्षों के भेद

भोगभूमि में दश प्रकार क कल्प वृक्ष होते हैं। १ त्र्याङ्ग कल्पवृक्ष में सब प्रकार के वाद्वि ( बाजे ) प्राप्त होते हैं। २ पात्राङ्ग से सब प्रकार के पात्र ( भाजन-वस्तु ) मिलते हैं। ३ भूषणाङ्ग में अनेक प्रकार के भूषण उपलब्ध होते हैं। ४ गनाङ्ग से पीने की सब वस्तुएँ, ५ आङ्गनाङ्ग से सब प्रकार के आहार ६ पुष्पाङ्ग से सब प्रकार के पुष्प ज्योतिरङ्ग से प्रकारा ८ एङ्ग से सब प्रकार के मकान-महल, ९ वस्त्राङ्ग से वस्त्र और १ दीपाङ्ग से दीपक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कल्प वृक्षों के दश भेद हैं।

### भोगभूमि का स्वरूप

प्रण के समान मणिमय भोगभूमि है। वह चार अंगुल प्रमाण ऊँचे उत्तम रस और गन्ध युक्त कोमल तृणों से सुरोमित है और दुग्ध या मधुरस या तल अथवा मधु समान रस या घृत से परिपूषण भावही और द्रव ( मरोवर ) से व्याप्त है।

यहाँ पर माता के गर्भ से एक साथ स्त्री पुरुष का युगल ( जोड़ा ) उत्पन्न होता है। वे युगल कालक जन्म दिन से लेकर सातदिन तक अपना अंगुठा चूसते हैं। फिर सात दिन म भूमि पर रगते हैं—पेट के बल चलते हैं। फिर सात दिन म लहखटाते चलने लगते हैं। तन्तर मात त्नि म सिरगति से चलने लगते हैं। उसके बाद सातदिन में कला गुण का प्रहण करते हैं। पुन सातदिन में यौवन अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। पश्चान सातदिन में परस्पर का दर्शन व प्रहण करते हैं। इस प्रकार उनचास दिनों में परिपूषण प्राप्त करलेते हैं।

य युगल स्पति होते हैं। इनक वज्रपभनाराच सहनन होता है और समचतुरस्रस्थान होता है। वे मन्द कषाय वाले होते हैं अत आश नाम के धारक होते हैं। इनको पचेन्द्रियों के विषयों से अरुचि नहीं होती है। इनकी अनपवय आयु होती है। अर्थात् इनकी अवकाल मृत्यु नहीं होता है। आयु के पूरण होने पर पुरुष तो धीक स और स्त्री ज भाई स मृत्यु को प्राप्त होती हैं। इनका श्रुतक शरीर शरद् काल क मय समान बिलान होजाता है उनके शरीर का अश मात्र भी पड़ा नहीं रहता। ये मरकर देव पर्याय प्राप्त करते हैं। इनम जो मिथ्या गृष्टि होते हैं वे तो भजनवासी यत्तर या ज्योतिष त्व होते हैं और जो सभ्यगृष्टि होते हैं व सौधम और पशान स्वग म जन्म लेते हैं अन्यत्र जन्म नही लेते हैं। म प्रसन्न प्रथम काल की आन्ति म उत्कृष्ट भोग भूमि होती है। क्रम से घटन घटत त्रितिय काल के प्रारंभ में मध्यम भोग भूमि होती है। आर उसम भी कमश घटत घटत तृतीय काल के प्रारंभ में जघन्य भोग भूमि होती है। इस प्रकार घटने का क्रम चलते हुए तृतीय काल के अत म कुलकर उपन्न होते हैं आर फिर मम-भूमि का समय आता है।

### कर्म भूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरों की उत्पत्ति

तत्र तृतीय काल पत्य क आठव भाग प्रमाण शेष रहजाता है तब कुलकर उत्पन्न होते हैं। वे चौन्ह होते हैं—१ प्रतिभृति, सम्मति ३ जेनकर ४ जेनधर ५ सीमकर ६ सीमव ७ विमलवाहन ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी १० अभिचर ११ चन्नाम १२ मरुहव, १३ प्रसन्नात आर १४ नाथि। न्हीं चौहदव नाथि कुलकर के पुत्र प्रथम तीथकर श्री आन्दिदेव हुए। तो पहले पात्र दान के पुण्य से मनुष्य आयु का उच करने हैं और पश्चान ज्ञायिक सम्यदशन प्राप्त करने हैं वे ही जीव आकर कुलकर होते हैं। वे त्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकृ रूप से त्रियान्ति कुल की प्रवृत्ति तब तक नहीं होती तथापि भावी का भूत म उपचार करके इन्हें त्रिय कुल में उत्पन्नका हुए कहा

जाता है। अथवा भाव में क्षयित्व उनम विद्यमान या अत त्रिय कुलोत्पन्न कहा है। उन कुलरुगों में स कई तो जातिस्मरण ज्ञानवान् होते हैं और कईको अबधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रथम कुलकर की आयु पत्य के दशवें भाग प्रमाण होती है और आगे आगे क कुलकरों की आयु २५ तथा गुणी होन है। अर्थात् प्रथम कुलकर की पत्य के दशवें भाग दूसरे की पत्य के सोब भाग तीसरे की पत्य क हजार ५ भाग स क्रममें घन्ते २ अन्तिम कुलकर नाभि महाराज की आयु पूर्वकोति षष प्रमाण रह गई है।

एक कुलकर के मरन के पश्चात् जितना काल बीतन पर दूसरा कुलकर उपन्न होता है उसका कुलकरा का अन्तराल कहते हैं। चाण्ड कुलकरों के तेरह अन्तराल होते हैं। उनमें स प्रथम अन्तराल पत्य क अस्सी ५ भाग प्रमाण है। प्रथम कुलकर की मृत्यु होन क बाद पत्य क अस्साव भाग बीतन पर दूसरा कुलकर हुआ है। उसा प्रकार बाह अन्तराल २५ ५ गुण भागद्वार स भाजित पत्य प्रमाण जानन बाह्य।

आदि क पाच कुलकर अपराधियों को हा ऐसा वचन बोल कर गण्यन्ते है। हा का अर्थ है-हाय यह बुरा किया। उनके बाद क पाच कुलकर हामा बोलकर गण्यन्ते हैं। अर्थात्-हाय बुरा किया मत करो। वे अपराधियों को ऐसा कहते हैं। इनके पश्चात् उपभवेव सहित पाच कुलकरों न हामाधिक का गण्यन्ते विधान नियत किया। उस का अर्थ है-नाय बुरा किया मत करो धिककार है तुम्ह।

बधुष्मान और यशस्वी के शरीर का वण श्याम या तम प्रसनाजत और चन्दम कुलकर के शरीर का वण बवल आर शेष कुलकरा क वर्ण सुवण समान थे।

### कुलकरा का काय

ज्योतिष्य जाति के कल्पवृक्षों क मन्व होजान में मृत्यु और चन्द्रमा निखाई देने लगे। उनको देखकर प्रजा भयभीत हुई। प्रथम कुलकर ने प्रजा को ममभय क उमका भय दूर किया। दूसरे कुलकर ने ताराओं के नशान से उपभहुष प्रजा के भय को दूर किया। सिंह आदि जन्तुओं से क रता आने लगी। तब तीसरे कलकर ने उनमें बचने का उपाय बतलाकर जनता को निभय किया। सिहादि प्राणी आनि क स्वभाव बाने होगय तब चौथे कुलकर ने उनको दण्ड देने का उपाय निबलाकर लोगों को भयरहित किया। कल्पवृक्ष अल्पफल देने लगे तब प्रजा में परस्पर कल होने लगा। पाँच कुलकर ने मीमा वाचव कर उनक भगड़े दूर किये। जब कल्पवृक्ष अत्यन्त मन्व होने लगे तब प्रजाम उस मयात्न में भी भगडा होन लगा तो छठे कुलकर न विशेष विह्वान द्वारा सीमा को दड करके भगडा मिटाया। सातवें कुलकर ने चोन् आनि की सवारी नियत की। आठव ने बालक का जन्म होन क पश्चात् भा कुञ्ज कालतक तब उम+ माना पिता जीवत रहने लगे और बालक का

मुख रखकर भय करने लगते तब उनके भय का निवारण किया। बालक क उत्पन्न होने क बहुत समय पश्चात् तक जब माता पिता जीवित रहने लगे तो उन्हें नन्वमें कुलकर न बालक को आशीर्वादानि नना सिखलाया। बालक की उत्पत्ति होने के पश्चात् और भी अधिक काल तक माता-पिता जीने लग तब त्शरें कुलकर न उनको बालक को चन्मा निम्नाना आदि कलि-कोडाएँ सिखलाई। बालक के जन्म के बाद माता-पिता बहुत अधिक काल तक नीरित रहने लगे तो प्रजाको भय न म्भ हुआ उसका निवारण ग्यारहें कुलकर ने किया। बारहें कुलकर न जब जलवृष्टि से ननी नलाशय आनि हुए नो उनम तिरने क उपाय व नाना आदि का विधान बतलाया। जब नरायु सहित बालक उत्पन्न होने लगे तब तेरहें कुलकरने जरायु का छन्द करना सिखलाया। अत्र नाल महित बालक ब म्भ होने लगे तो चौदहव कुलकर - नाल छेदन करना सिखलाया और इन्द्र वनुष विधुत ( विचली ) आनि होने लगे तब उनक म्बन से उत्पन्न ह्, प्रजा के भय को मिटाया तथा फलों के आकारादि का ज्ञान और भोजन-विधि का ज्ञान कराया। द्मक पश्चान कमभूमि न प्रशापन हुई।

### तिरेमठशलाका पुरुष

श्री आनि ब्रह्मा ऋषभ न्ब ताथकर न नगर ग्राम पत्तनानि की रचना का ज्ञान ताकिक कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र और आस मधि कृषि आनि नीयन न उगाय आर न्यामून धम की स्थापना की।

चौबीस तीथकर बारह षकवर्ती नव नारायण नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे तिरेशठ शलाका पुरुष चौथेकाल में उत्पन्न होते हैं।

### ताथकर क शरीरों की ऊँचाई व आयु का प्रमाण

आठि तीथकर के शरीर की ऊँचाई पाँचसौ वनुष की होती है। द्वितीय तीथकर ने लेकर आठ तीथकरों के शरीर की ऊँचाई पचास पचास वनुष कम होती गई है। तथा दशमें तीथकर से लेकर पाँच तीथकरों नीश नश वनुष कम और पन्द्रहवें से लेकर आठ तीथकरों की पाँच पाँच वनुष कम शरीर की ऊँचाई है। पारवनाथ के नव हाथ और वचमान के सात हाथ शरीर की ऊँचाई है।

प्रथम तीथकर की आयु चौरासी लाख पूव दूसरे की बहत्तर लाख पूव तीसरे की साठ लाख पूव चौथे तीथकर से लेकर पाँच तीथकरों की न्शदश लाख पूव कम, नव की दौलाल् पूव दशवें की एक लाख पूव बर्ष की आयु है। ग्यारहें से लेकर ऋम से चौरासीलाख बहत्तरलाख साठलाख तीसलाख त्सलाख एकलाख पिचपानवे हजार, चौरासी हजार पचपनहजार तीसहजार, दसहजार एकहजार, एकसौ, और अन्तिम तीथकर की बहत्तर वष की आयु होती है।

### तीर्थकरों के अन्तराल

प्रथम तीर्थकर के पश्चात् अगले तीर्थकर जितने काल क वात् होते हैं उते अन्तराल कहते हैं। ऐसे अन्तराल चौबीस तीर्थकरों के तेईस होते हैं। प्रथम अन्तराल पचास कोटि सागर तीन वष आठ महीन और एक पक्ष प्रमाण है। इतने काल के बीतने पर ऋषभदेव तीर्थ कर के पश्चात् अजितनाथ तीर्थकर हुए। इसके वात् दूसरे से लेकर चौथे अन्तराल का काल कम से तीस लाख कोटि सागर दशालाख कोटि सागर नवलाख कोटि सागर है। उस के बाद पाँचवें अन्तर से लेकर पाच अन्तरालों में क्रम से प्रत्येक अन्तराल ष्ठावें ष्ठावें भाग प्रमाण है। अर्थात् क्रमसे निचे हजार कोटि नवहजार कोटि नवमी कोटि निचेकोटि और नवकोटि साग प्रमाण अन्तराल है। उसके अनन्तर दशवें अन्तराल एकसौ सागर और द्विचासठ लाख ङ् बीस हजार वष हीन एक कोटि सागर प्रमाण है। उसके वात् ग्यारहव आदि अन्तराल क्रमश चौवन सागर तीस सागर नव सागर चार सागर प्रमाण है। पन्हत्ता अन्तराल पाँच पंच हीन तान सागर प्रमाण है। सोलहवें अन्तराल आषे पल्य का है। मत्रहवें हजार कोटि वष हीन चौगई पल्य प्रमाण है। उसके वात् अगर्हव आदि अन्तराल हजार कोटि वष चौवन लाख उप ब्रह्म लाख वष पाँचलाख वष तियासी हजार मानमो पचास वष प्रमाण है। आर आन्नम तैम्सा अन्तराल तीन वष आठ महीन व एक पक्ष हीन नौमी पचास वष का है। अर्थात् दोसा द्वियालीस उप तीन मास और एक पक्ष प्रमाण अन्तराल है। ये सब अन्तराल एक क मोक्ष काल स लेकर दूसरे के मोन काल तकके हैं जन्मान् ही अपेक्षास नहीं हैं। अर्थात् ऋषभ देव के मोक्ष गमन स अजित नाथ क मोक्षगमन तक मध्य काल प्रथम अन्तराल है। त्सी प्रकार सब अन्तरालों स समझ लेना चाहण।

न अन्तरालों स अपनी अपनी आयु क काल को घटान पर पूव तीर्थकर स आगे क तीर्थकर स अन्तराल होता है। जैसे प्रथम अन्तराल स अजित नाथ की आयु को घटा दन स प्रथम जिनन् क मोन जाने और द्वितीय ताथकर क जन्म लेने क बीच का अन्तरकाल निकलता है। ऐसे ही अन्य का भी जान लेना चाहण।

श्री महावीर जिनन् का तीर्थकाल इक्कास हजार वष प्रमाण दुपम और तना ही दुपम दुपम है। यह सब मिलाकर त्रियालीस हजार वष प्रमाण है।

तीसर काल क तीन वष आठ महीने और एक पन गेप रहने पर प्रथम तीर्थकर मोक्ष गये और चौथे काल के उतने ही ( तीन वष आठ मास और एक पक्ष ) बाकी रहन पर श्रीमहावीर भगवान सिद्ध हुए।

### जिनथम का उच्छेद काल

पुष्पन्त आर शीतलनाथ के अन्तराल में पाव पल्य शीतल नाथ और त्रयोनाथ के अन्तराल में आषा पल्य श्रयोनाथ और



स्वयंभूरमण नामक द्वीप क मध्य में चाग और मानुषोत्तर पवत क समान स्वयंप्रभ पवत हे त्समे उसके दो भाग होगये हैं ।  
उन म स स्वयंभूरमण द्वीप के अधिमभाग मे त ग स्वयंभूरमण समुद्र में दु पमकाल की मीमदा प्रवृत्ति रहती है ।

कुमुदुय भोग भूमि जो समुद्र में है वहाँ तीसरे काल के समान प्रवृत्ति है ।

### कुभोग भूमि कहाँ कहाँ है ?

लवण समुद्र के अर्धान्तर आठ त्रिशाखा मे आठ और उनके मध्य में आठ तथा हिमवान् और शिखरी एवं भरत और मेगावत क दोनों विनयाच के अन्तिम तटों पर आठ इन प्रकार चौबीस द्वीपस्थ कुभोग भूमियाँ हैं । तथा लवण समुद्र के बाह्यतट पर एक प्रकार चौबीस कुभोग भूमियाँ लवण समुद्र सम्बन्धी हैं । और कालोत्पत्ति में भी लवण समुद्र समान अद्भुतालीस कुभोग भूमियाँ हैं । ये कुभोग भूमियाँ द्वीपों पर हैं ।

तो त्रिशा सम्बन्धी द्वीप हैं वे जम्बुद्वीप की वेत्ति स पाँचसा योजन दूरपर समुद्र मे स्थित हैं । विदिशाओं और अन्तर ( मध्य ) क तो द्वीप हैं वे वेत्तिक मे मान्ते पाचमी योजन दूर पर अवस्थित हैं । और जो पवतों के अन्तिम तट पर अवस्थित हैं वे बहुसी योजन दूर पर हैं । त्रिशाओं के द्वीप मा योजन चाट त्रिशाओं क पचाम योजन और शलान्त द्वीप पच्चीस योजन चौडे हैं । पूब दिशा सम्बन्धी द्वीपवर्ती कुभोग भूमि मे मनुष्य एव गगनवाले पश्चिम मे पूडुवाले उत्तर मे गृगे और दक्षिण में सीगवाले हैं । विदिशाओं में स्वर्गगोश क ममान कान पूडी के समान कान अन्तर्न के नस्त्र समान कान और लम्बे कान वाले हैं । अन्तर्गाल ( त्रिशाविदिशा के मध्य ) वर्ती द्वीपों म अश्व सिंह कुत्त जैसे गूफर, यात्र कक भूक ( उद् ) और कपि क समान मुखवाले मनुष्य हैं । शिखरी पवत के दोनों तटों पर मध आर विनली क समान मुखवाल मनुष्य हैं । हिमवान पवत के दोनों अन्तिम तटोंपर मत्स्य ( मच्छ ) मुख और काल मुख हैं । उत्तर नयाच क दोनों अन्त तटों पर हस्ति ममान आँ आश ( नर ) समान मुखवाले हैं । और दक्षिण विजयाच के आखिरी तटों पर गोमुग्ग मेधमुखवाल मनुष्य हैं । उनमे तो एक टागवाले हैं वे गुफाओं मे निवास करते हैं और अतिमिष्ट मृत्तिका का आहार करते हैं । शेष सब पुष्प व फल का आहार करते हैं आर वृत्तों पर निग्राम करते हैं । सब कुभोग भूमि के मनुष्यों की आयु एकपत्य प्रमाण होती है ।

### वभागभूमियो में जन्म लेने वाले जीव

तो नीच जिन लिंग ( मुनि भय ) धारण करके मायाचार करते हैं । ज्योतिष मात्र वैशक आग्नि से आहारपरि रूप आजीविक करतें हे रूपया रमा आग्नि धन चाहते हैं ऋद्धि यग सातारूप गोरव मे समुक्त हे आहार भय मैथुन और परिग्रह सम्बन्धी संज्ञा ( बाधा )

रखते हैं गृहस्थों के परम्पर विवाह सम्बन्ध ना मल मिलाने हैं सम्बन्धान की विराधना करते हैं अपने धृतादि म लगे हुए दोषों की गुरु के निष्कृत आलोचना नहीं करते हैं अन्य जीवों को शोष लगाते हैं या जो मिथ्यादृष्टि पचार्थानि आदि तप करते हैं मौन रहित भोजन करते हैं व कभोग भूमि में ज म लते हैं । इसी प्रकार जो गृहस्थ गान दन क अयोग्य अवस्था (सूतकादि अवस्था) में गान देते हैं तथा कुषात्रों को दान नते हैं वे भी उक्त कुभोग भूमि में जन्म लते हैं ।

### धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीप की रचना

जम्बूद्वीप से चतुर्गुण विस्तार वाला (चारलाख योजन) धातकी खंड है। उममें जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। और उतनी ही रचना पुष्करार्ध द्वीप म है। नव दोनों द्वीपों के मध्य में उत्तर दक्षिण तक लम्बे दो दो इष्वाकार पर्वत हैं जो सुबण्णमय हैं। पूव पश्चिम में एक हजार योजन चाड हैं और चारसा योजन ऊंचे हैं आर उत्तर दक्षिण में अपने अपने द्वीपसमान कमसे चार लाख आर सोलह लाख योजन प्रमाण लम्बे हैं। एक एक क्षेत्राद की रचनारूप वसती के चारक हैं।

धातकी खंड आर पुष्करार्ध म दो दो मेरु हैं। बारह र कुलाचल और चौदह र क्षेत्र आदि हैं। अ गान् पर्वत व क्षेत्राद्वि संख्या म जम्बूद्वीप से दुगुण २ हैं। विस्तार में कमस दुगुण २ और अठगुण २ हैं। और ऊंचाई और गहराई आदि में जम्बूद्वीप के कुलाचल हृदयानि क समान ही हैं। धातकी खंड आर पुष्करार्ध क क्षेत्र और कुलाचलों का आकार पहिये क अरद्धि और अरकाष्ट के आकार के समान हैं। अरद्धि क आकार के समान क्षेत्र हैं आर अरकाष्ट क आकार के समान कुलाचल है। धातकी खंड में पृथिवी कायिक रत्नमय धातकी वृक्ष हैं आर पुष्कर हैं। उनका वणन जम्बूद्वीप विगत जम्बूवृक्ष क समान जानना चाहिए।

### लवण समुद्र क पाताल

जम्बूद्वीप की चारों ओर वो बाण्का स पिचयानवे हजार योजन दूर लगण समुद्र म चार चार दिशाओं में चार महापाताल हैं। उनक तल व पश्चि भाग वज्रमय हैं। प्रत्येक एक लाख योजन के गहर हैं आर मध्य भाग में उतने ही ( एक लाख योजन प्रमाण ) चौड़े तथा मूल में सुख भाग में दशहजार योजन चौड़े हैं। पूव दिशा में पाताल पश्चिम में बडबासुख उत्तर में यूपकेसर और दक्षिण में कलंबुक नामक महापाताल हैं। नतेमें से प्रत्येक क नीचे क तृतीय भाग म वायु भरा है। मध्य के तृतीय भाग में वायु और जल है और ऊपर के तृतीय भाग म कबल जल है। रत्नप्रभा प्र णी के खरभाग में भवनशसी देवों के भवन हैं। वहाँ पर ब्रातकुमार देव आर उनकी देवागनार्थ कीडा करती हैं। उम्स वायु में नोभ ऊन्न होना है। उस शुच वायु के निमित्त से पातालों के वायु और जलका निष्कसन व प्रवेश होता है।

उसके निम्न से जल वृद्धि होती है। तथा पाताल में वायु के वेग का शमन होजाने पर जल क्षान्ति होती है। अर्थात् जल समान स्थिति में आजाता है। आगे पातालों में एक दूसरे का आंतर दो लाख सप्ताहस हजार सात सौ योजन और कुल अधिक तीन कोश प्रमाण है।

उन महापातालों के मध्य में चारों विदिराओं में चार क्षुद्रपाताल हैं। उनकी गहराई द्वा २ हजार बाजन है तथा मध्य में इतने ही चौड़े हैं। और मूल आर ऊपर मुल में एक एक हजार योजन चौड़े हैं। महापातालों की तरह उनके नीचे के तृतीय भाग में वायु है, मध्य के त्रिभाग में वायु और जल है तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

उक्त आठों विराह व त्रिविराह म स्थित पातालों के अन्तरालों में एक हजार क्षुद्रपाताल हैं। वे प्रत्येक एक एक हजार योजन के गहरे और मध्य में इतने ही चौड़े हैं तथा मूलतल में व ऊपर मुल में पाँच पाँच सौ योजन चौड़े हैं। उनके भी पूव की तरह तीन भाग हैं। पहले ( नीच ) क त्रिभाग में वायु मध्य के त्रिभाग में वायु आर जल तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

भाषा—लक्षण समुद्र का जल समभूमि से ग्यारह हजार योजन ऊँचा है और पृथ्विमा को वह सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। कारण यह कि पातालों के मध्य त्रिभाग में नीचे पवन और ऊपर जल है। सो कृष्णपक्ष में प्रतिदिन पवन की जगह जल होता जाता है और शुक्ल पक्ष में जल की जगह पवन होजाता है। इसलिए शुक्लपक्ष में जल अधिक ऊँचा होता २ पृथ्विमा के दिन सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। और कृष्णपक्ष में घन्टा घन्टा अभावस्था के दिन अपनी समान स्थिति में आजाता है। अर्थात् समतल भूमि से ग्यारह हजार योजन ऊँचा रहता है। यह नामकी स्वाभाविक स्थिति है। इसका विशेष बखान त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना।

### अथ द्वीप व समुद्र

इस मध्य लोक में असत्यात द्वीप समुद्र हैं। उनकी संख्या आठारह उद्धार सागर प्रमाण है। ( नरा उद्धार फल्य का एक उद्धार सागर होता है ) उन अष्ट उद्धार सागर प्रमित द्वाय समुद्रों में १ जम्बूद्वीप २ पातकी खड, ३ पुष्करद्वीप ४ ब्राह्मिण, ५ क्षीरवर ६ प्लतवर ७ जाद्रवर ( मधुवर ) ८ नदीरवर ९ अरुणवर १ अरुणाभास ११ कुडलवर, १२ शंखवर १३ कचकवर १४ मुजगवर १५ कुरागवर १६ कौं वर आदि अमंख्यात द्वीप हैं।

जम्बूद्वीप का चारों तरफ से लक्षण समुद्र बंदे हुए हैं। पातकी खड को कालोद समुद्र बंदे हुए हैं, पुष्कर द्वीप को पुष्कर समुद्र बंदे हुए हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर द्वीप व समुद्र एक एक ओर बंदे हुए हैं। आगे के सब समुद्रों के नाम पूर्व-पूर्ववर्ती द्वीपों के समान हैं। जैसे पुष्कर द्वीप पुष्कर समुद्र ब्राह्मिण द्वीप ब्राह्मिण समुद्र इत्यादि।

जम्बूद्वीप एकलाव्य याजन प्रमाण चौड़ा है और गोल है। उसमें आग द्वीप व समुद्र दून-चौड़े और पूव-पूव को घेरे हुए तथा गोल आकार के चारक हैं।

### समुद्रों के जल का रसास्वात्

लवण समुद्र वाहण चौरसागर घृतवर ये चार समुद्र अपने-नामके अनुरूप स्वाद वाले हैं। लवण समुद्र में जल लवणसा करे वाला है, वाहणसमुद्र में मन्त्रिण के समान स्वाद वाला जल है चौरसागर में दुग्धसमान रसवाला जल है और घृतवर्ष में घृतसमान रस का चारक जल है। कालोद पुष्कर और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों में जल के समान स्वादवाला जल है। इनके अतिरिक्त मन्वृण समुद्रों का जल का स्वाद इष्य (स्व-साठ) के रस के समान है।

लवणसमुद्र कालान्मसुद्र तथा अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर मन्वृण जीव पाये जाते हैं। क्योंकि ये तीनों समुद्र कम भूमि मन्वृषी हैं। शेष समस्त समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं क्योंकि वे भोगभूमि मन्वृषी हैं और भोगभूमि में जलचर जीव नहीं होते हैं।

पुष्कर द्वीप के मध्य (गन्धाचीच) जलयाकार गोल मानुषोत्तर पर्वत है। उसके भीतर भीतर अर्धात्न दार्द्र द्वीप और दो समुद्रों में ही मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत को लाचकर बाह्य ज्ञान की मनुष्य में सामर्थ्य नहीं है।

मानुषोत्तर पर्वत के पर आर स्वयंभूरमण द्वीप के मध्य में स्थित स्वयंप्रभ पर्वत के भीतर अर्धात्न आधे स्वयंभूरमण द्वीप तक भोगभूमियाँ तिर्यक् हैं। जैसे पुष्कर द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है तथा कुण्डलवर द्वीप के बाचों बीच कुण्डलगिरि और रचकवर द्वीप के मध्य में रुचकगिरि है वैसे ही स्वयंभूरमणद्वीप के बीचोंबीच जलयाकार स्वयंप्रभगिरि है। उससे स्वयंभूरमणद्वीप के दो विभाग होगये हैं। उसके पहले विभाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में कमभूमि है। इतना विग्रह जानना।

### ज्योतिष देवों का बखन

चित्रा पृथ्वी के प्रारम्भ से मरु की चूलिका के अन्तिम भाग तक मध्यलोक माना गया है। मेरुपर्वत की अत्रगाहना (भूमि के अन्दर-नीच) एक इजार योजना है। वहीं से चित्रा पृथ्वी का प्रारम्भ माना है और उस ही मोर्गाई एक इजार योजना (मेरु पर्वत की नीच प्रमाण) है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर के सम भूमि भाग से सातसौ निम्बे योजना ऊँचे से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारम्भ होता है और नौसौ योजना की ऊँचाई पर समाप्त होता है। अर्धात्न एकसौ दश योजना मोटे क्षेत्र में ज्योतिष देवों का निवास है। जैसा कि राजवार्तिक में कहा है—

### ज्योतिष देवों के विमान

खवदुत्तर सचसया दसमीदी चदुतिगच दुगचदुक्क ।

तारारविसिसिरिक्वा बुहभग्गवगुरुअ गिरारसयी ॥ १ ॥

अ १—स सम भूमिभाग से सातसौ निम्बे योजन ऊपर जाकर ताराओं का संचार है। उसक ऊपर २१ योजन जाकर सूर्य का संचार है। उससे अस्मी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का भ्रमण क्षेत्र है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर नक्षत्र हैं। उसके तीन योजन ऊपर जाकर बुध विचरण करता है। उसक ऊपर तीन योजन जाकर शुक्र का संचार होता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर बृहस्पति भ्रमण करता है। उसक चार योजन ऊपर मंगल का संचार क्षेत्र है। उसके ऊपर चार योजन जाकर शनिश्चर भ्रमण करता है।

त्रिलोकसार म उक्त कथन स भिन्नता प्रतीत होती है वह निम्न प्रकार है—

खवदुत्तरमचमण २१मयी चदुदुग च तियचउक्क ।

तारिणमिमिग्गिक्खबुहा सुक्कगुरु गारमग्गणी ॥ ३३२ ॥

अर्थ—समतल भूमिभाग म सातसौ निम्बे योजन ऊपर जाकर तारा हैं। उससे दश योजन ऊपर जाकर सूर्य का भ्रमण है। उससे अस्मी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का संचार है। उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं। उससे चार योजन ऊपर जाकर बुध है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल है तथा उससे तीन योजन ऊपर जाकर मन्दगति ( शनिश्चर ) है।

राजवार्तिक में नक्षत्रादि चार को तीन तीन योजन क अन्तर और मंगल शनि को चार २ योजन के अन्तर पर कहा है। और त्रिलोक सार में नक्षत्र तथा बुध को चार चार योजन के अन्तर पर और शुक्र गुरु मंगल और शनि को तीन २ योजन के अन्तर पर लिखलाया है।

अठारसी प्रहों म सं उक्त कथन स अवाशष्ट प्रहों क विमान बुध और शनिश्चर क बीच अन्तराल म है।

### विमानों के आकार और वर्ण

सम्पूर्ण ज्योतिष देवों के विमान आष गोल क आकार हैं। अर्थात् गोल क बीच में से बराबर दो तुकड़ करने पर एक आषे

गोल का चौड़ा भाग ऊपर और सफ़ा भाग नीचे रखन पर वैसा आकार होता है वैसा आकार 'योतिष विमानों का है। उनमें देवों के नगर और जिन मन्दिर बन हुए हैं।

ज्योतिष ऋषों के चन्मा तो २ द्र है और सूर्य प्रतीक है। च मा का विमान २६/६१ योजन अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से छपन भाग प्रमाण लम्बा चौड़ा है। तथा २८/६१ योजन मोटा है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से अठईस भाग प्रमाण उसकी मोटाई है। विमान का आधे गोले के समान आकार है। और उसको बहन करने ( उठाने ) वाले सोलह हजार देव हैं। निर्मल मृणाल के समान अ कमण्डि में वह निर्मित हैं।

सूर्य का विमान तपे हुए सुवर्ण के समान कृत्तिका लोहितान मणि से निर्मित है। उसकी चौड़ाई लम्बाई ४८/६१ योजन है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भाग में से अठतालीस भाग प्रमाण सूर्य विमान लम्बा चौड़ा है। और २४/६१ योजन प्रमाण उसकी मोटाई है। अर्थात् एक योजन के एकसठ भागों में से चौबीस भाग प्रमाण मोटा है। उसके वाहक ( उठानेवाले ) देव सोलह हजार हैं।

राहु का विमान अथन समान कृष्णवर्ण की अग्नि मणि से निर्मित है। उसकी लम्बाई चौड़ाई एक योजन प्रमाण है। और मोटाई टाईसौ घनुष प्रमाण है। उसके वाहक देव चार हजार हैं।

शुक्र का विमान रत्नमय है। एक कोश लम्बा चौड़ा है। उसके तथा आग के सब विमानों के वाहक देव चार चार हजार हैं।

मुक्ता के समान श्वेतवर्ण अथक नामक मणि से बना हुआ ब्रह्मरूपि का विमान है। वह कुछ कम एक कोश लम्बा चौड़ा है।

सुवर्णमय पीतवर्ण बुध का विमान है और आचकोश लम्बा चौड़ा है।

मंगल का विमान तपे हुए मोने के समान लोहितमणि का बना हुआ है तथा शनिश्चर का तप्त सुवर्णमय है। इन दोनों की लम्बाई चौड़ाई आचाकोश प्रमाण है।

केतु का विमान प्लवण की मणि से निर्मित है तथा कुछ कम एक योजन प्रमाण लम्बा चौड़ा है।

तारा आदि के विमान कम से कम पाव कोश लम्बे चौड़े हैं।

ब्रह्म मास बीतन पर चन्मा के नीचे राहु और सूर्य के नीचे केतु आता है। उनसे चन्मा और सूर्य के विमान टक जाते हैं। इसलिए चन्द्र और सूर्य हमको दिखाई नहीं देते। इसीको ग्रहण कहते हैं। चन्द्र-विमान और राहु-विमान का तथा सूर्य और केतु-विमान का परस्पर स्पर्श कभी नहीं होता।

राहु का विमान चन्द्र-विमान पे और केतु का विमान सूर्य-विमान से चार प्रमाणासुल (दो हजार ध्वजहारंगुल अर्थात् पीने चौरासी हाथ) नीचे रहता है।

जो ज्योतिष विमान (ताराआदि) भ्रमण क्षेत्र में परिभ्रमण करते हैं वे भी परस्पर कभी नहीं मिलते। उनमें कमसे कम एक कोरा क मातर्वं भाग प्रमाण (सवा दो फलांग स कुञ्ज अधिक) अन्तर अचरय रहता है। उनका संयोग कभी होता ही नहीं है।

### ज्योतिष विमानों की गति

अर्द्ध द्वीप और दो समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान निरन्तर भ्रमण करते हैं। मानुषोत्तर पक्ष के बाहर रहने वाले असंख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान स्थिर हैं। वे गमन नहीं करते हैं अपने स्थान पर अवस्थित रहते हैं।

मानुषोत्तर पक्ष के आन्ध्रन्तर भाग में ६५३४ (षष्ठ्यान्वे हजार पाचसी चौतीस) तारे ध्रुव स्थिर हैं। वे अपने स्थान को नहीं छोड़ते हैं। वे नम प्रकार हैं—जम्बूद्वीप में ३६ लक्षण समुद्र में १३६ घातकी लंब में ११० कालोद में ४११२० और पुष्करार्ध में ५३२३० हैं।

मानुषोत्तर शल के आन्ध्रन्तर भाग के ज्योतिष देवों के विमान मेघपवत से स्यारहसौ इक्कीस बोजन दूर पर मेघ की प्रविष्टिणा करते हैं। पक्ष में स्यारहसौ इक्कीस बोजन तक कोई ज्योतिष देव-विमान नहीं पाये जाते हैं। तथा पूर्व चन्द्र और प्रहण के सिवा सब ज्योतिष विमान पक्ष भाग पर गमन करते हैं और नक्षत्र एवं तार अपनी एक परिधि में भ्रमण करते हैं मिथ शिख मार्ग पर भ्रमण नहीं करते।

### सूर्य व चन्द्रमा की सख्या

जम्बूद्वीप में सूर्य और चन्द्रमा दो दो हैं लवण समुद्र में चार चार हैं। घातकी लम्ब में बारह २ कालोद में चिवालीस २ और पुष्करार्ध द्वीप में बहत्तर ० हैं। उत्तर पुष्करार्ध में भी बहत्तर २ हैं। सब मिलाकर पुष्कर द्वीप में एक सौ चालीस हैं। इसके आगे के द्वीप समुद्रों में दून दून होते चले गये हैं। जैसे पुष्कर द्वीप से दूने २०० सूर्य चन्द्र पुष्कर समुद्र में हैं और पुष्कर समुद्र से दूने ५०६ सूर्य चन्द्र वाकण द्वीप में हैं और इससे दूने ११५२ वाकण समुद्र में हैं। इसी प्रकार दूने दूने द्वीप समुद्रों में सूर्य और चन्द्रमा समक नेन चाहिए।

चन्द्रमा की सोलह कला ( भाग ) हैं। उनमें से कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि में एक एक कला स्वाम होती है। इसी को लोग 'पटना' कहते हैं। और शुक्ल पक्ष में पुनः एक एक दिन में एक एक कला स्वैतवश होती जाती है। इसीलिए अमावस्या में सम्पूर्ण स्वाम हाजाने में चन्द्रमा नहीं दिखाई देता और पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है।

"मत्र आराधयन्तु" है कि चन्द्रविमान के नीचे राहु का विमान गमन करता है। उस राहु का भ्रमण सदा ऐसा ही होता है कि जिससे चन्द्रमा की एक एक कला ( भाग ) कृष्ण पक्ष में तो आच्छादित होती जाती है और शुक्ल पक्ष में एक एक कला प्रतिदिन प्रकट होती जाती है।

एक एक चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध रखने वाले चन्द्र अथवा नक्षत्र अथवा चन्द्र और तारे बिनासठ हजार नवसौ पितृहृत्तर कोटि कोटि ( ६६१,०००,०००,०००,००० ) हैं। राहु केतु मंगल, बुध, बृहस्पति शुक्र शनैश्चर आदि ग्रहों के नाम हैं। अश्विनी भरणी कृत्तिका रोहिणी आदि अथवा नक्षत्र हैं।

प्रत्येक द्वीप या समुद्र सम्बन्धी जो ज्योतिष-विमान हैं उनमें से आठ पार्व ( पल्लव ) भाग में हैं और आठ दूसरे पारव भाग में हैं।

### चन्द्रमा का चार क्षेत्र और क्षितिज

दो दो सूय का दो दो चन्द्रमा का चार क्षेत्र ( गमन करने का अक्षय प्रदेश ) एक है। उसका परिमाण ११० व ४८ ६१ बोजन है। इतने ज्ञान में गणितों निर्धारित हैं उनका प्रमाण आगे कहेंगे। उनमें एक सूय और एक चन्द्रमा गमन करता है। उसीमें दूसरा सूय भी गमन करता है। इसलिये दो २ सूय और दो २ चन्द्रमा का एक चार क्षेत्र है।

उक्त चार-क्षेत्र में चन्द्रमा की गणितों १५ और सूय की १८४ हैं। उनमें से एक एक गली में एक एक दिन दो सूय और दो चन्द्रमा गमन करते हैं।

जो ११० व ४८/६१ बोजन चार क्षेत्र कहा गया है उसमें से जम्बूद्वीप सम्बन्धी सूय-चन्द्र का एक सौ अस्सी बोजन प्रमाण चार-क्षेत्र तो जम्बूद्वीप के भीतर आगवा है और शेष चार-क्षेत्र सबल समुद्र में है। जम्बूद्वीप के सिवा समस्त द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिषों का चार क्षेत्र अपने २ द्वीप समुद्र में ही है।

सब से अग्रगति से गमन करने वाला चन्द्रमा है। उससे शीघ्रगामी सूय है। सूय से शीघ्रगामी बृह, बृह से नक्षत्र और नक्षत्र से तार अति शीघ्र गमन करते हैं।

### ज्योतिषियों की आयु

चन्द्रमा की आयु एक लाख २५ अधिक एक पत्न्य प्रमाण है। सूर्य की आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पत्न्य की है। शुक्र की आयु एक सौ वर्ष अधिक एक पत्न्य और बुधस्य की आयु एक पाँच प्रमाण है। बुध मंगल और शनिश्चर की आयु आधे पत्न्य प्रमाण है। तारा और नक्षत्र की उत्कृष्ट आयु पाव पत्न्य और जघन्य पत्न्य के आठवें भाग प्रमाण है।

### ज्योतिष देवों की देवांगनाएँ

सूर्य और चन्द्रमा दोनों के चार २ पट्ट देवांगनाएँ हैं। और यह प्रत्येक पट्ट देवांगना त्रिक्रिया द्वारा चार चार हजार शरीर धारण करने वाली होती हैं। प्रत्येक पट्ट देवांगना के चार चार हजार परिवार देवियाँ होती हैं।

ज्योतिष देवांगनाओं की आयु अपने पति देव से आधी होती है। इनमें सबसे हीन-पुण्य देव के भी कमसे कम बत्तीस देवांगनाएँ होती हैं।

### ज्योतिष देवों में उपपाद

भवनबासी यत्र और योतिष देवों में वे जो ब्रह्म जन्म लेते हैं जिन्होंने जिनमाग से विपरीत धर्म का आचरण किया हो या निम्न किया हो या अग्नि में जल कर मर हो पानी में डूब कर मरे हों वृक्ष पर्वत मकान आदि के से नीचे गिरकर मरे हों अथवा परतत्रता से बचनानि के निमित्त स परिषद् उपसग सहन द्वारा निजरा कर मृत्यु प्राप्त की हो, अथवा पचाग्नि आदि द्वारा कुतपस्या की हो या सन्नेष चारित्र या आराधन किया हो।

स प्रकार मध्य लोक में वरुण मरुण हुआ अब ऊर्ध्व लोक का स्वरूप कहते हैं।

### ऊर्ध्वलोक

#### उर्ध्वलोक का विस्तार

सुम्नान मेरु की चूलिका से ऊपर सिद्ध क्षेत्र पयन्त ऊर्ध्वलोक है। उसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। उसमें से डेढ़ राजू प्रमाण क्षेत्र में साधम गेशान युगल के विमान हैं। उसके ऊपर डढ़ राजू पयन्त सानकुमार-माहेद युगल के विमान हैं। उसके ऊपर आधे

आवे राजू के अन्तर पर ब्रह्म युगल है। इस प्रकार ब्रह्म राजू प्रमाण आकाश में सोलह स्वग हैं। उनके ऊपर सिद्ध क्षेत्र के चारह योजन नीच तक क्रममे नवप्रैवेयक नव अनुदिश और पंच अनुत्तरविमान हैं।

### स्वर्गों में इन्द्र-क्रम

सौवर्ग-पैशान और सानलुमार-माहेन इन दो युगलों में चार इन्द्र हैं। ब्रह्म त्रयोत्तर लातव कपिष्ठ शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन चार युगलों में चार इन्द्र हैं। तथा आनत प्राणत और आरण अच्युत इन दो युगलों में चार इन्द्र हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गों में चारह इन्द्र हैं।

इन सोलह स्वर्गों की कल्प कहते हैं। क्योंकि इनमें ३२ सामानिक आदि भद्रों की कल्पना होती है। इनके ऊपर नवप्रैवेयक आदि की कल्पातीत रहते हैं। क्योंकि उनमें इन शक्त मंत्र प्रमाणों से ही कल्पना की कल्पना है।

### नवप्रैवेयकादि का वर्णन

ऊक्त आठ स्वग-युगलों के ऊपर नवप्रैवेयक हैं। उनमें अधोप्रैवेयक मध्यप्रैवेयक और उपरिमप्रैवेयक ऐसे तीन भाग हैं और उन तीनों भागों में तीन तीन प्रैवेयक पटल हैं। उनके ऊपर नव अनुदिश विमान हैं। १ अर्चि २ अर्चिमालिनी ३ वैर, ४ वैरोचन, ये चार अनुदिश विमान पूर्वादि चारों दिशा में तथा १ सोम २ सोमरूप ३ अक और ४ स्फटिक ये चार विमान आग्नेयादि विदिशा में स्थित हैं और इनके मध्य में ६ आदित्य इन्द्रक विमान हैं।

इनके ऊपर १ विजय २ वैजयत ३ जयन और ४ अपराजित ये चार अनुत्तर विमान पूर्वादि चारों दिशाओं में हैं और ५ वा सरो-सिद्धि नामक इन्द्रक विमान उनके मध्य में है।

### प्रतर मर्यादा

सौवर्गानि स्वर्गानि तरसठ प्रतर ह। जैसे महल प्रासाद आदि में खण्ड ( मंजिल ) होते हैं वैसे ही स्वर्गों में प्रतर ( खण्ड पटल ) हैं। एक प्रतर में एक इन्द्रक विमान मध्य में होता है। सौवर्गयुगल में इन्तीस प्रतर हैं। सानलुमार युगल में सात, ब्रह्मयुगल में चार लातवयुगल में दो शुक्रयुगल में एक शतार युगल में एक आनत प्राणत आरण अच्युत इन चार स्वर्गों में ब्रह्म प्रतर हैं। प्रैवेयक म नव प्रतर तथा अनुदिश में एक और पंचानुत्तर में एक प्रतर है। इस प्रकार सब तिरसठ प्रतर हैं।

## विमानों की स्थिति

मद की बुलिच से ऊपर एक वासाय क अन्तर पर सौधर्म युगल का शत्रु नामक पक्षी इन्द्र विमान है। जो इन्द्र क नाम है। प्रतर का भी वही नाम समझना चाहिए। इसी शत्रु विमान की सौध में ऊपर जाने के सब इन्द्र विमान हैं। सौधर्म युगल के शत्रु नामक इन्द्र विमान मे विमल नामक दूसरा प्रतर (पत्तल) अर्धस्वभाव बोजन के अन्तराल पर है। इसी प्रकार प्रत्येक पत्तल के अर्धस्वभाव २ बोजन का अन्तराल है। अर्थात् एक पत्तल के बाद अर्धस्वभाव बोजन प्रमाणा जगह खाली पडी है उसके बाद दूसरा पत्तल है।

प्रथम इन्द्र के चारों दिशाओं में चार विमान भेजिवा हैं। और विदिशा में पुष्पकोर्यक (विष्णु रूप कृष्णों के समान कभरहित) विमान हैं। एक एक भेखि (पत्ति) में वासठ वासठ विमान हैं। उन्हें भेखिबद्ध विमान कहते हैं। प्रति पत्तल एक एक विमान चलाता गया है; इसलिये सौधर्म युगल के अन्तिम भ्रम नामक पत्तल में कपीस भेखिबद्ध विमान हैं। वेद राजू में सौधर्म युगल सम्बन्धी इकतीस पत्तल हैं। प्रत्येक पत्तल सम्बन्धी उत्तर दिशा के भखिबद्ध विमान तथा वायव्य ईरान विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में तो उत्तर-इन्द्र ईरान की आकाश चकती है और तीन दिशा सम्बन्धी भेखिबद्ध विमानों में (इन्द्र विमानों में) तथा आग्नेय वैष्णव विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में दक्षिण इन्द्र सौधर्म का शासन है। जिन विमानों में सौधर्म इन्द्र की आकाश चकती है उनके समूह को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं और जिन विमानों में ऐरान इन्द्र का शासन है उन के समूह को ऐरान स्वर्ग कहते हैं।

उसके पश्चात् अर्धस्वभाव बोजन का अन्तराल है। उसके बाद सानकुमार माहेन्द्र स्वर्ग युगल का प्रथम पत्तल है। वहाँ से अर्धस्वभाव बोजन का अंतराल दोबकर दूसरा पत्तल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। उन पत्तलों के मध्य में इन्द्र क आदि विमान पूर्वोक्त प्रकार हैं। उत्तर भेखिबद्ध विमान और ऐरान कोश क आग्नेय कोश (विदिशा) के प्रकीर्णक विमानों में उत्तर इन्द्र माहेन्द्र का आधिपत्य है तथा बाकी के सब विमानों पर दक्षिणोत्तर सानकुमार का अनुशासन है। इसी अपेक्षा से उसके द्वारा शासित विमानों के समूह को सानकुमार का स्वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार उत्तर के सब स्वर्ग पत्तलों में भी समझ लेना चाहिए।

मध्योत्तर, सन्तत-दक्षिण, शुक्र-महाशुक्र, रातार-सहस्रार इन आठ स्वर्गों में चार इन्द्र हैं। वहाँ इन्द्र की अपेक्षा से नाम भेद नहीं है किन्तु बसती की अपेक्षा से भेद है। जैसे वहाँ पर भी वेश का एक अधिपति होता है, किन्तु नगरों के मिला २ नाम होते हैं इसी प्रकार वहाँ पर जानना चाहिए।

आनत-प्रायत आरक्ष-अच्युत इन चार स्वर्गों में चार इन्द्र हैं उनमें से आनत और आरक्ष तो दक्षिण इन्द्र हैं और प्रायत और अच्युत उत्तर इन्द्र हैं। वहाँ पूर्वोक्त प्रकार इन्द्र के भेद से स्वर्गों का भेद जानना चाहिए।

प्रत्येक पटल में एक एक भेषजविद्य विमान पटता गया है इसलिए अन्तिम भेषजके सब में ऊपरके पटल में प्रत्येक विमान में दो दो विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात बोजन का अन्तराल जोड़कर अनुदिश विमान का पटल है। उसके मध्य में एक इन्द्र विमान है और चारों दिशाओं में चार और विदिशाओं में चार इस प्रकार नव विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात बोजन का अन्तराल जोड़कर पंचमनुचर विमान हैं।

पाँच अनुचर विमानों के ऊपर कागड़ बोजन का अक्षराला जोड़कर सिद्ध-बोज है। इस प्रकार ऊपरकोक रचना है। जिस प्रकार प्रत्येक पटल के ऊपर व अचोभाग में अन्तराल है, उसी प्रकार प्रत्येक विमान के उर्ध्वभाग व अधोभाग और तिर्यग्भाग में अन्तराल है। एक विमान दूसरे विमान से खरा जुदा है। समान भाग में एक इन्द्र की सीध में रहने वाले विमानों का एक पटल माना गया है। नरक भूमियों के समान विमान एक दूसरे से जुड़े हुए नहीं है, इसलिए उनको पृथ्वी नहीं कहा है। लोकान्त तक पहुँचने वाले भूभाग को पृथ्वी कहते हैं। इसलिए सात नरक भूमियाँ और एक ईश्वर प्राग्भार नामक सिद्धिराला ये आठ पृथ्वियाँ मानी गई हैं।

### प्रकीर्णक विमानों की संख्या, विस्तार और बाहुल्य

सोचर्म स्वर्ग में बचीसलास, परान में अठारहस लाख, सानकुमार में बारहलास, माहेन्द्र में आठलास, महा-मन्धोचर युगल में चार लाख, सान्तव-वसिष्ठ युगल में पचास हजार, शुक्र-महायुक्त युगल में चालीस हजार, साता-सहस्रार में बड़ हजार विमान हैं। तथा आनता वि चार स्वर्गों में समुदाय रूप सात सौविमान हैं। अधोभेषजके तीन पटलों में एक सौ न्यारह विमान मध्यम भेषजके तीन पटलों में एकसौ सात तथा उपरिभेषजके तीन पटलों में इन्सानवे विमान हैं। एवं अनुदिश में नव और अनुचर में पाँच विमान हैं। इनमें से अपने ९ स्वर्गों के इन्द्रक और पंक्तिवद्ध विमानों की संख्या को घटाने पर प्रकीर्णक विमानों की संख्या निकल जाती है।

प्रथम अष्टु इन्द्रक विमान का विस्तार मनुष्य लोक समान पेटालोस लाख बोजन प्रमाण है और सब से अन्तिम सर्वाप सिद्धि विमान का विस्तार जम्बू द्वीप समान एक लाख बोजन प्रमाण है। शेष मध्यवर्ती द्वीतीयादि इन्द्रक विमानों का विस्तार क्रमशः अल्प २ प्रमाण है।

अक्षिणवद्ध विमानों का विस्तार (अर्थात् चौड़ाई) असंख्यात बोजन प्रमाण है और प्रकीर्णक विमानों का विस्तार संख्यात बोजन का असंख्यात बोजन है। कई एक प्रकीर्णक संख्यात बोजन विस्तार वाले हैं और कई एक असंख्यात बोजन विस्तार वाले हैं। अन्ततः कल्प विमानों के पाँचवें भाग प्रमाण विमान तो संख्यात बोजन विस्तारवाले हैं और शेष विमान असंख्यात बोजन विस्तार वाले हैं। तथा अधोभेषजके में तीन विमान मध्य भेषजके में अठारह और उपरिभेषजके में सत्रह विमान पंचमनुचरों में एक विमान संख्यात बोजन

विस्तार वाला है। शेष सब असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अर्थात् संख्यात योजन विस्तार वाले विमानों से बौधुने असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

सौचर्मार्थि जह युगलों के जह स्थान आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान तथा तीन तीन आबौत्रैवैकदि का एक एक स्थान और अनुदिशा व अनुत्तर का एक स्थान गेमे ग्यारह स्थान हुए। उनमें सं आदि के स्थान (सौचर्म-ऐशान युगल) में ग्यारह सी इक्कीस योजन बाहुल्य (मोटाई) के धारक विमान हैं और शेष वरा स्थानों में निन्धेनवे निन्धेनवे योजन प्रमाथ बाहुल्य प्रतिस्थान कम होता चला गया है। प्रथम स्थान में ११२१ दूसरे से लेकर अन्ततक क्रमसे १०२२ ६२३ ८२४ ७२५ ६०६ ५२७ ४२८ ३२९ २३०, १३१ इस प्रकार विमानों का बाहुल्य (मोटाई) है।

### विमानों का रंग

सौचर्म-ऐशान के विमान पाँच वर्णों के हैं। सानकुमार-माहेन्द्र छम्प बर्य रहित चार वर्णों के हैं। जह्मादि चार स्वर्गों में नीलवण के भी विमान नहीं हैं शेषतीन वर्ण के हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों में लाल रंग के भी नहीं है शेष दो वर्ण के ही विमान पाये जाते हैं। आनत से लेकर अनुत्तर तक के ल शुक्लवण के ही विमान हैं।

### इन्द्र का निवास करने का विमान और उसका नाम

सौचर्म युगल के अन्तिम इकतीसव पटल म इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा सम्बन्धी अठारहव अष्टिबद्ध विमान में तो भोचर्म इन्द्र निवास करता है और उत्तर दिशा के अष्टिबद्ध के विमानों के अठारहवें विमान में ईशान इन्द्र निवास करता है। सानकुमार युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहव अष्टिबद्ध विमान म सानकुमार इन्द्र और उत्तर दिशा सम्बन्धी सोलहवें विमान में माह = इन्द्र निवास करता है। अज्ञ युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी चौदहवें अष्टिबद्ध विमान में जह इन्द्र निवास करता है। लान्तवयुगल के उत्तर दिशा सम्बन्धी बारहवें अष्टिबद्ध विमान में लान्तव इन्द्रका निवास है। शुक्र युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी दशवें अष्टिबद्ध विमान में शुक्र इन्द्र का निवास है। रातार युगल के अन्तिम पटल के उत्तर दिशा सम्बन्धी आठवें अष्टिबद्ध विमान में शिखर इन्द्र का निवास है। आनत युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी छठ अष्टिबद्ध विमान में आनत इन्द्र का निवास है और उत्तर दिशा के विमान म अच्युत इन्द्र का निवास है।

जिस विमान में इन्द्र का निवास है, उस विमान का नाम स्वर्ग का नाम पर है। जैसे सौचर्म इन्द्र जिस विमान में निवास करता है उसका नाम सौचर्म है। इसी प्रकार सबत्र समभन्ता चाहिए।

## इन्नों के नगर

सौषमाणि चार स्वर्ग। क चार स्थान ब्रह्म युगलादि चार युगलों के चार स्थान आनतादि चारस्वर्गों का एक स्थान इन नवस्थानों में अपनी २ द्वागनाओं सहित इन्नों के नगर हैं। उनमें से सौषम में चौपसी हजार योजन प्रमाण पेशान में अस्सी हजार सानत्कुमार में बहत्तर हजार, माहन् में सत्तर हजार ब्रह्मयुगल में साठ हजार, लान्तव युगल में पचास हजार शुक्र युगल में चालीस हजार शतार युगल में तीस हजार आनतादि चार स्वर्गों में बीस बीस हजार योजन प्रमाण विस्तार के चारक चोकोर रमणीय नगर हैं। इन नगरों के चारों ओर बहुत ऊँच २ सुन्दर प्राकार (कोट) हैं और उनके चारों दिशाओं में चार चार गोपुर (गर्वाज) हैं।

ऐसे पाँच पाँच कोट प्रत्येक नगर के हैं। एक कोट में दूसरे कोट के बीच का अन्तराल तेरह लाख योजन से लेकर चौपसी लाख योजन तक का है। पाँच कोटों के चार अन्तराल होते हैं। उनमें से पहले अन्तराल में सेना के अभ्युत्त और अग्रजक देव रहते हैं। दूसरे में तीन ताति के पारिदूष देव रहते हैं। तीसरे में सामानिक देव निवास करते हैं। तथा चौथे अन्तराल में अश्वानिपर चढ़ने वाले देव आभियोग्य देव और क्लिष्यजाति के देव अपने २ योग्य भवनों में रहते हैं। उक्त पाँचवें कोट में आषेलाख योजन की दूरी पर नन्दनवन है। वहाँ के वन आनन्द देव वाले हैं इसलिए उन्हें सामान्यरूप से नन्दनवन रहते हैं। वैसे तो उनकी नाम पृथक् पृथक् हैं। उन वनों में चम्पक, आम्र अशोकदि मृन्तर व सुगन्धमय अति मुद्दावने वृक्ष हैं। पद्म हस्त के समान ह (सरोवर) हैं और प्रत्येक वन में एक एक चतुष्टय वृक्ष हैं। सौषमाणि स्वर्गों में चारों वनों में चार चतुष्टय हैं। प्रत्येक चतुष्टय जम्बूवृक्ष के समान प्रमाण वाला है। प्रत्येक चतुष्टय के चारों पार्श्वभागों में एक एक पत्न्य नामन जिन्-प्रतिमा विराजमान है।

उन वनखंडों से कई योजन दूर पर पूवादि दिशाओं में लोकरपालों के नगर हैं जो साठ बारह लाख योजन विस्तार वाले हैं। उनमें ममीप अग्नि कोणदि चारों दिशिदिशाओं में गणिका महत्तरियों के लाख लाख योजन के लंबे चौड़े नगर बने हैं। (वेश्याओं के समान जो बेचानाए होती हैं उन्हें गणिका कहते हैं। और उनमें जो प्रचान देवागनाए होती हैं उन्हें गणिका-महत्तरी कहते हैं।)

## महादिवियाँ और उनकी विक्रिया परिवारादि का वर्णन—

ममूण इन्नों के आठ आठ महादिवियाँ होती हैं। सौषमादि छह युगलों के छहस्थान और आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान पस सात स्थानों में एक एक महादिवी का परिचय देवियाँ महादिवी सहित आची आची होती हैं। अर्थात् क्रमसे सोलह हजार आठ हजार चार हजार दोहजार एक हजार पाचसौ आर द्वादसा होती हैं। आठ २ महादिवियों में स प्रत्येक महादिवी के मूल शरीर सहित सोलह मील

हजार वैकल्पिक शरीर होते हैं। तथा उन सगरी स्थानों में से शेष छहस्थानों में दून दून वैकल्पिक शरीर होते हैं। अर्थात् प्रथम सौवर्ग युगल स्थान की महादेवी अपने मूल शरीर सहित सोलह हजार वैकल्पिक शरीर बनाती है। सानत्कुमार युगल की महादेवी बत्तीस हजार वैकल्पिक शरीर धारण करती है। इसी प्रकार आगे आगे के स्थानों की महादेविका दूने २ वैकल्पिक शरीर बनाती हैं। इस तरह अन्त के आनतापि स्थान की महादेविका चोबोन्न हजार वैकल्पिक शरीर बनाती है।

दुर्बियों के परिहार में जो दुर्बियाँ इन्द्र की वल्लभा (प्यारी) होती हैं उन्हें वल्लभिका कहते हैं। उक्त सात स्थानों में अर्थात् छह युगलों के ब्रह्म और आनतापि का एक स्थान इस प्रकार सातस्थानों में कमसे बत्तीस हजार आठ हजार दो हजार पाचसौ अर्धसौ सत्तासी आठ आठ में तिगसठ वल्लभिकाएँ होती हैं।

### इन्द्र के आस्थान-मण्डप का स्वरूप

अमरावती नामक इन्द्र का पुर है। उसके मध्य इन्द्र के निवास करने के मन्दिर से ईशान विदिशा में सुवर्मा नामक आस्थान मण्डप अर्थात् समास्थान है। वह सौ योजन लम्बा पचास योजन चौड़ा और पिचहत्तर योजन ऊँचा है। उसके पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा में तीन द्वार हैं। उनमें से प्रत्येक द्वार की चाँदाई तो आठ योजन और ऊँचाई सोलह योजन है। उस आस्थान के मध्य भाग में इन्द्र का सिंहासन है। उसके सिंहासन के सामने आठ महादेवियों के आठ आसन हैं। उन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्वादि दिशाओं में १ सोम, २ यम ३ वरुण और ४ कुबेर इन चार लोकरूपालों के चार आसन हैं। तथा इन्द्र के आसन से आग्नेय दक्षिण और नैऋत्य दिशा में तीन प्रकार के परिवर्णों के क्रमसे चारह हजार चौदह हजार सोलह हजार आसन हैं। तथा त्रयस्त्रिंशत् देवों के तैत्तीस आसन भी नैऋत्य दिशा में ही हैं। पश्चिम दिशा में सेनाध्यक्षों के सात आसन हैं। वायव्य और ईशान दिशा में सामानिक देवों के आसन हैं। सौवर्ग के बौरासी हजार सामानिक देवों के आसनों में से विद्यालोस हजार तो वायव्य दिशा में और विद्यालोस हजार ही ईशान दिशा में हैं। अ गरुडक देवों के आसन चारों दिशाओं में हैं। और वे प्रत्येक दिशा में बौरासी हजार हैं। ये आसन सुवर्मा सभा सम्बन्धी हैं।

### मानस्तम्भ और करएहक

उस आस्थान-मण्डप के सामने पीठ सहित एक मानस्तम्भ है जो एक योजन चौड़ा व बत्तीस योजन ऊँचा है। उसके सोलह धाराएँ हैं प्रत्येक धारा एक कोरा क विस्तार ( लंबाई ) की धारक हैं। यहाँ मानस्तम्भ बागद कोने वाला गोला है।

उस मानस्तम्भ में रत्ननिर्मित साकले हैं। उनमें रत्नमय करएहक ( पिटारे ) हैं। वे चौलाई कोरा प्रमाय चौड़े और एक

कोरा प्रमाण सम्बन्ध है। उनमें तीर्थकर देवों क पहनने योग्य आभरण भरे रहते हैं। इन्द्र इनमें से आभरण निकालकर तीर्थकरों के शिप पधुंवाता है। जघीस बोजन ऊषा मानस्तम्भ है। उसमें ऊपर से सया जह बोजन नीचे तक और नीचे पीने जह बोजन की ऊँचाई तक करवाह नहीं पाये जाते हैं मध्य में चौबीस बोजन की ऊँचाई में करवाह पाये जाते हैं

सौचम स्वर्ग में जो मानस्तम्भ पर करवाह हैं, उनमें भरत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थकरों के आभरण हैं। ईरान स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करवाह हैं उनमें पेरशत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थकरों के आभरण हैं। सानसुमार स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करवाह हैं उनमें पूर्ववह सम्बन्धी तीर्थकरों के आभरण हैं। माहेन्द्र स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करवाह हैं उनमें पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थकरों के आभरण हैं। मानस्तम्भों पर तीर्थकरों के आभरण पाये जाते हैं, इसलिय वे देवों से पूज्य हैं।

### इन्द्र का उत्पत्ति-गृह

उक्त मानस्तम्भ के निकट बाठ बोजन चौड़ा लम्बा और उतना ही ऊँचा उपपाव गृह है। उसमें दो रत्नमयी उपपावरायका बनी हैं। वहाँ इन्द्र का जन्म स्थान है। इसके समीप अनेक शिल्पों से अलंकृत परमोत्कृष्ट जिन मन्दिर हैं।

### कल्पवातिनी देवांगनाओं के उत्पत्ति-स्वान

स्वर्गों की सब देवांगनाएँ सौचम और पेरशत इन दो स्वर्गों में ही जन्म लेती हैं। ऊपर देवियों का जन्म नहीं होता है। दक्षिण दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ तो सौचम स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं और उत्तर दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ पेरशत स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं। जिन विमानों में देवगन्धी हैं, केवल देवांगनाएँ ही पाई जाती हैं ऐसे विमान 'सौचम स्वर्ग' में चार काल हैं। उनमें जब देवियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तब जिस देव की जो निबोगिनी होती है उस देवी को वह देव वहाँ आकर अपने २ स्वर्ग स्थान में ले जाता है। जो सौचम स्वर्ग में जघीस काल और पेरशत में चौबीसकाल विमान ऐसे हैं जो देवों और देवियों से सम्बन्ध हैं। उनमें देव भी उत्पन्न होते हैं और देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

### देवों का प्रकीर्ण

सौचम और पेरशत स्वर्ग में कब से प्रकीर्ण ( कर्म-सेवन ) होता है। एक दोनों स्वर्गों के देव-देवांगना मनुष्य जैसे कर्म सेवन करते हैं, जैसे कर्म सेवन करते हैं। ऊपर के दो स्वर्ग ( सानसुमार-माहेन्द्र ) के देव-देवांगना मस्पर राक्षस का स्वर्ग करके कर्म सेवन

की अभिलाषा का पूरा करते हैं। उनके शरीर स्पष्ट करने मात्र से उत्पत्ति होती है। अर्थात् चार स्वर्गों में देव-देवाङ्गना एक दूसरे का रूप देखकर काम-रुति का अनुभव करते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों के में देव देवाङ्गनाएँ एक दूसरे का शब्द सुनकर उत्पत्ति हो जाते हैं। तथा इनके ऊपर आनतादि चार स्वर्गों के देव देवाङ्गनाएँ मन में संकल्प करके उत्पत्ति का अनुभव करते हैं। इनके ऊपर प्रवेयक आदि में अहमिन्द्र हैं उनके प्रवीचर नहीं होता है। वे काम-सेवन की भावना से रहित हैं।

### वैमानिक देवों की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान

अधोदिशा म ( नीचे के क्षेत्र में ) विक्रिया करके देव जितने क्षेत्र तक जा सकते हैं अवधि-ज्ञान द्वारा उतने ही क्षेत्र में स्थित पदार्थों को जान सकते हैं। देवों के नीचे गमन करने की शक्ति और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानने की शक्ति ये दोनों समान होती है। इसलिए इन दोनों का एक साथ बखन करते हैं। सौधर्मादि नौ स्वर्गों के देवों की विक्रियाशक्ति व अवधिज्ञानशक्ति प्रथम नरक पृथ्वी पयन्त है। सानकुमारानि नौ स्वर्गों में दूसरी पृथ्वी पयन्त है। अर्थात् चार स्वर्गों में तीसरी पृथ्वी पयन्त है। शुक्रादि चार स्वर्गों में चौथी पृथ्वी पयन्त है। आनतादि चार स्वर्गों में पाँचवी पयन्त है। नवप्रवेयकों में छठी पृथ्वी पयन्त है। अनुदिश व अनुत्तर निवासियों की सातवीं पृथ्वी पयन्त है। सम्पूर्ण देवों का ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी अवधिज्ञान अपने २ स्वर्ग के ध्रुवदण्ड पयन्त ही होता है। इससे ऊपर के क्षेत्र को अवधि ज्ञान से नहीं जान सकते हैं। नव अनुदिशावासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे के बाह्य तनुवातवलय पयन्त ( कुञ्ज का चौवट गग्न ) क्षेत्र को अवधि ज्ञान द्वारा जानते हैं। अन्तर विमानवासी सम्पूर्ण लोभनाली नौ जानते हैं। सम्पूर्ण विमानवासी देव अवधिज्ञान से अमर्यात कोटि कोटि योजन प्रमाण क्षेत्र को जानते हैं। इतना विशेष है कि ऊपर ऊपर के देवों का ज्ञान अधिक २ होता है। और नीचे २ के देवों का हीन होता है। अमर्यात कोटि कोटि योजन क्षेत्र सामान्य रूप से कहा गया है।

अवधि ज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण यहाँ प्रकरण पाकर संक्षेप से लिख दिया है। अवधिज्ञान के विषय भूत द्रव्य काल और भावना स्वरूप ज्ञानाचार में अवधिज्ञान के बखन में विशद रूप से लिख आये हैं। इसलिए यहाँ नहीं लिखा गया है। विशेष जानने की अभिलाषा हो तो वहाँ से जान लें।

### सौधर्मादि देवों के ज म व मरुत का विरहकाल।

जितने काल पयन्त किसी का वहाँ जन्म न हो उस जन्म का अन्तर और जितने काल पयन्त वहाँ पर किसी का मरण न हो उस मरण का अन्तर कहते हैं। उक्त रूप से सौधम और ऐशान दोनों स्वर्गों में सात दिन हैं। आगे के सानकुमारानि दो स्वर्गों में पन्द्रह

दिन महादि चार स्वर्गों में एक मास शुक्रादि चार स्वर्गों में दो मास आनतादि चार स्वर्गों में चार मास प्रवेयक आदि में एककृष्ण जन्म व मरण का अन्तर ( विरह ) ब्रह्मास है ।

### इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल

इन्द्र और इन्द्र की पट्टदेवी और लोकपाल इनका विरहकाल ब्रह्मास है । सामानिक त्रायस्त्रिंशत् पारिषद् और अगस्त्य इन का उत्कृष्ट विरहकाल चार मास है ।

### आभियाग्यादि अथम देव कैसे क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं ?

जो मनुष्य विगेष काम वासना से वासित होकर स्त्रीगमनादि काम चेष्टाएँ करते हैं कल्प परिणाम युक्त रहते हैं वे स्वोपाजित अथ शुभ काम के अनुसार उत्कृष्ट व उत्कृष्ट ऐशान स्वर्ग तक उपभोग होते हैं वहा पर भी कल्प जाति के ही देव होते हैं । जो मनुष्य गानादि संगीत से आजीविका करते हैं नान्य आदि के परिणाम से जिनका चित्त अनुरजित रहता है वे कैलिविक परिणामवाले प्राणी स्वोपाजित अन्य शुभ काम के अनुसार जन्तवस्वर्ग तक जन्म लेते हैं किन्तु वहाँ पर भी वे किल्बिक जाति के देवे ही होते हैं । जो मनुष्य पापक्रिया करते हैं तथा सेवक वृत्ति नस बाणि धारण कर अपने हाथ में नाई आदि की नीच क्रियाएँ करते हैं आभियोग्य भावना से भावित हैं वे अच्युत स्वर्ग पर न उतर पाते हैं । आर वहाँ पर भी वे आभियोग्य जाति के ही देव होते हैं । ये सब अपने अपने स्वर्ग सम्बन्धी जन्म आयु को पाते हैं ।

### घातायुष्क की आयु

दुर्बों की आयु हम पहले लिख आये हैं । कबल यहा पर घातायुष्क की आयु का विवेचन करते हैं ।

किसी जीव ने पूर्वभवं में अधिक आयु का बंध किया था वह पश्चात् परिणामों की विशेषता वरा उसे घटाकर अल्प कर देता है तो उस जीव को घातायुष्क कहते हैं । आयु का घात दो प्रकार का होता है एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात । बध्यमान आयु का घटना तो अपवर्तनघात है और उदीयमान ( मुख्यमान ) आयु का घात करना कदलीघात है । यहाँ पर कदलीघात की संभावना ही नहीं होसकती क्योंकि अनपवत्य आयु है । इसलिए यहाँ पर अपवर्तनघात ही का ग्रहण किया है । पूर्वोक्त प्रकार घातायुष्क सम्बन्धित हो तो उस जीव के सहस्रार स्वर्ग पत्यन्त पूर्वोक्त आयु से आधे सागर अधिक आयु होती है । घातायुष्क की जन्म आयु आधा सागर है यह सौवर्ग युगल की अपेक्षा से है । आगे आगे की घातायुष्क की जन्म आयु पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट आयु प्रमाण है ।

### भवनविक देवों में घातायुष्क सम्पन्दष्टि और मिथ्याष्टि की आयु

घातायुष्क यदि सम्पन्दष्टि हो तो उसकी आयु भवनबासी में आधा सागर और व्यन्तर योतिष में आधा पल्य आयु अपनी २ उल्कृष्ट आयु म अधिक होती है। यदि घातायुष्क मिथ्याष्टि हो तो उसकी सबत्र भवनासी व्यन्तर ज्योतिष और त्रैमानिक देवों में अपनी अपनी उल्कृष्ट आयु के प्रमाण स पल्य के अमख्यातत्रं भाग अधिक आयु होती है।

### लौकिक देवा का स्वरूप अवस्थान, आयु आदि का वचन

समस्त लौकिक देव परस्पर में हीनाधिस्ता से रहित अर्थात् समान वभव के धारक व विषयों से विरक्त होते हैं। देवों में अष्टि ममान होते हैं। इसलिए उन्हें दे पि कहते हैं। उनका चित्त निरन्तर अनियानि अनुप्रेता ( भाता ) के चिन्तन में रत रहता है। वे सम्पूर्ण इन्द्राण के पूज्य होते हैं चौदह पूर्वों के ज्ञाता होने हैं तीरकरों का नक्षत्रमण मल्याण ( तर वयाण ) क समय प्रति मोक्ष करने आते हैं। लौकिक देवों आयु आठसागर प्रमाण हाती है। इतना शय है कि आग्रष्ट जाति क लौकिक देवों की आयु नवसागर प्रमाण होती है। वे स आतविशुद्ध सम्प न्गन के गार्फ हात हैं। एक मनुष्य भय धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

व ब्रह्मनो ( पंचवेस्वग ) क अन्त में निवास करत है। इसवि उन्हें लौकिक कहते हैं। सारस्वत आदित्य वहि अरुण गर्तिय बुधिन अयावाध और अरिष्ट ये आठ क्रमश पूर्वोत्तराणि त्रिशाओं म निवास करते हैं।

अत्य त तीव्र अचकार रूप समुत् समान गोलकांग एक नम स्क्व ( अचकार का समूह ) अरुण समुद्र से उत्पन्न हुआ है। वह मूल न असव्यात योचन प्रमाण विस्तार ( लगाई नोवाई ) वाला है और ऊपर म क्रमसे बढ़ता हुआ मध्य भाग व अन्त भाग में सख्यात योचन मोटा होकर कुक्कुट कुण्ड क समान ब्रह्म युगल क अरिष्ट इन्क विमान के अघोभाग से अवस्थित हुआ है। उसकी आठ अचकार पक्तियों उपर की ओर उठकर अरिष्ट विमान के चारों तरफ हो 17 हैं। वहा पर उनक चारों त्रिशाओं में षे दो त्रिभाग हो गये हैं। और वे त्रिषं लोके के अन्त तक फन गई हैं। अमान आठ अचकार पक्तियों की मोल पक्तियाँ होगई हैं। उन सोचह अचकार पक्तियों के अंतरालों में सारस्वादि त्रे नि म करत हैं। पूरुत्तर कोण ( इशान ) त्रिशा में सारस्वत विमान पूरुत्तर त्रिशा में आनित्य विमान पूरुत्तर त्रिशा ( आग्नेय ) दिशा म वहि विमान दानण म अरुण विमान दानण पत्रिय ( नैऋत ) त्रिशा में गन्तिय विमान पश्चिम दिशा में बुधिन विमान पश्चिम उत्तर ( वायव्य ) दिशा में अयावाध विमान और उत्तर में आग्रष्ट विमान हैं। इन आठ अदों के अंतराल ( मध्यप्रदेश ) में अन्याम-सूर्याम आदि आठ नात क लौकिक देव हैं। वे इस प्रकार है—

गारुड-आन्वित्य क मध्य म अन्याभ-सूर्याभ चान क देवों के विमान आन्वित्य और बह्नि के मध्य में चन्दाभ-सत्याभ के विमान बह्नि आर अरुण के मध्य म श्रेयस्कर क्षेमकर क विमान अरण और गन्तोय के मध्य में वृषभेष्ट क्षमचर के विमान, गदतोय और तुषित के मध्य म तिमाणर न निगतरक्षित तुषित और अयात्राघ के मध्य म आत्मरक्षित-सवरक्षित अन्यावाघ और अरिष्ट के अन्तराल में मरुत-बमु अरिष्ट और सारस्वत क अन्तराल में अरु-विश्व जाति क लौकतिक देवों के विमान हैं ।

गारुड सातसा सात आन्वित्य सातसा सात बह्नि सातहजार सात, अरुण सातहजार सात गदतोय नवहजार नव तुषित नवहजार नव अयात्राघ ग्यारहहजार ग्यारह अरिष्ट ग्यारहहजार ग्यारह हैं ।

अन्याभ षड सातहजार सात सूर्याभ देव नवहजार नव चन्द्राभदेव ग्यारहहजार ग्यारह सत्याभ तेरहहजार तेरह, श्रेयस्कर पन्धहजार पन्ध क्षेमकर मरुहहजार सत्रह इम प्ररु आगे दो हचार दो प्रत्येक देवों में बढ़ाने जान चाहिए ।

### कल्पवृक्षिनी देवियों की आयु का प्रमाण

सौषम-पेशान युगल म देवागनाओं की जघन्य आयु कुञ्ज आबक पल्य प्रमाण है । प्रथम स्वर्ग म उक्कष्ट पाँच पल्य प्रमाण है । ऊपर के प्रत्येक स्वर्ग में जघन्य आयु पूव पूव स्वर्गयुगल की उक्कष्ट आयु के प्रमाण है । तथा उक्कष्ट आयु पेशान स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पयन्त ग्यारह स्वर्गों में दो णो पल्य आर आनतादि चार स्वर्गों म सात सात पल्य बढ़ती गई है । प्रथम स्वर्ग में पाँच पल्य दूसरे में सात पल्य तीसरे में नव पल्य, चौथे में ग्यारह पल्य पाँचवें म तेरह पल्य ञ्छे में पन्ध पल्य सातवें में सत्रह पल्य आठवें में लबीस पल्य नवें में इक्कीस पल्य दशवें में तेईस ग्यारहवें में पच्चीस, बारहवें में सत्ताईस, तेरहवें में चौतीस, चौहदवें में इकतालीस, पन्धहवें में अठतालीस और सोलहव स्वर्ग में पचपन पल्य प्रमाण उक्कष्ट आयु होती है ।

दवा क उञ्जवाम और आहार के विषय में पूव लिख आये हैं । जितने सागर की देवों की आयु होती है उतने पक्ष बीतने पर वे उञ्जवास लेते हैं । न म उतने ही सागर बीतने पर उनके आहार की इच्छा होती है । जैसे सौषम युगल के देवों की आयु दो सागर की होती है । उन देवों के णो पक्ष के अन्तर पर उञ्जवास होता है और दो हजार वर्ष के अन्तर पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है । इसी प्रकार सब देवों में समक लेना चाहिए ।

### गुह्यस्थान की प्रपेक्षा देवगति में जन्म

असयत ब दशमयत मनुष्य और तिर्यच अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग पयन्त जन्म लेते हैं । द्रव्य से जिन क्षिण के चारक

(द्रव्य लिंगी मुनि) का भाव स पहले चौथे या पाँचव गुण स्थान में है तथा निरतिचार चरित्र का पालन करते हैं व मरकर अन्तिम प्रवेयक पयत जन्म लेते हैं उमकें उम नही जासकते। सम्यग्दृष्टि भाव-मुनि अर्थात् द्रव्य और भाव से मुनि बम का आचरण करनेवाले मुनि सर्वायसिद्धि पर्यन्त बन्म धारण करते हैं। भोगभूमिज सम्यग्दृष्टि सौधर्मदिक मे उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। पंचामि आनि तपश्चरण करनेवाले तापसी उत्कृष्ट रूप से भवनत्रिक में जन्म धारण करते हैं। चरक एकदंडी त्रिद्वंद्वी सन्ध्यासी आधिक सं आधिक ब्रह्म स्वग तक जन्म लेते हैं। कर्जी आदि का आहार करनेवाले आनीवक साधु अधिक मे अधिक अच्युत स्वग तक उत्पन्न होते हैं।

अनुविश व अनुत्तर विमान स चयकर नारायण तथा प्रतिनारायण नही होते हैं।

सौधम स्वग का इन्द्र उसकी राक्षी नामा महादेवी उसके सोम आदि चार लोकपाल और सानकुमार आदि ऋषिय इन्द्र सब लौकान्तिक देव और सब सर्वायसिद्धि के देव ये सब चयकर मनुष्य भव धारण कर निबम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

मनुष्यगति नियचगति और भवनत्रिक से निकलकर जीव सीधे तिरेसठ शलाका के पुष्य नही होते हैं। (चौबीस नीरकर बाग्रह ब्रह्मवर्षी नव नारायण नव प्रतिनारायण और नव बलभू नको शलाका-पुरुष कहते हैं)

### द्वों के जन्म का वृत्तान्त।

वैम उन्ध्याबल पर मूय उन्ति होता है वैम उपाय शय्यापर अतमुहत्त में इह पर्याप्ति पूण करके मनोर मुगधमय मुख रूप स्वरावाल पवित्र शरीर का धारक देव उत्पन्न होता है। जन्म के समय वहाँ आन रूप बाजे बजते हैं जय जयकार आदि स्तुति रूप शब्द होता है उन सबस अपन को देव पर्याय मिली जानकर तथा वहाँ उपलब्ध हुए वैभव (ऐश्वर्य) व अपने देवागनादि परिवार को देखकर भवप्रत्यय अवचिज्ञान से पूर जन्म के वृत्तान्त को जानकर वह स्व बम की प्रशंसा करता है कि बम के आचरण से मैं मेने दिव्य मुन्न सामग्री स परिपूण स्वग को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार बम की स्तुति करके वह निमल सुगन्धमय जल स परिपूण ह्म में स्नान करता है। उसके बाद अन्य देव उसका पट्टाभिक करते हैं और विनय वस्त्राभूषण पहनाते हैं। सम्यक्प्रि देव तो स्वयमव देवाविदेव जिनेन् का अभियेक और पूजन करता है और मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों से संबोधित हुआ जिनेन् भगवान की पूजन करता है। वहाँ के सब देव सुख रूप मयुद्र म मन्न होत हुए व्यतीत काल को नही जानते हैं। तीथकरों का महापूजा और उनके गर्भान्च कल्याणकों म कल्पवासी देव आते हैं। और ब्रह्मान्द्र देव अपन स्थान में ही सात पैंड तीथकरों की ाग्गा म चलकर अन्तमय मुकुट क धारक अपन मस्तक पर अ जुलि लगाकर अति विनीत भाव स नमस्कार करते हैं।

## देवान् की विभूति किन्को प्राप्त होती है ?

जिन जीवों ने अनेक प्रकार के तपश्चरणा से आत्मा को विभूषित किया है सम्बन्धरान से जिनकी आत्मा पवित्र है और सम्बन्धरान से जिन की आत्मा में उज्वल प्रकाश हो गया है जो शील से मोक्ष हैं उनही को स्वर्ग-मुक्ति-शक्ती की प्राप्ति होती है।

### ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृष्ठी

तीन भुवन के मस्तक पर आरूढ़ ईषत्-प्राग्भार नामकी आठवीं बरा (पृष्ठी) है। उसकी चौड़ाई एकमात्र, लम्बाई सात गज आर मोटाई आठयोजन प्रमाण है। वह लोक के अन्ततक चली गई है। उस अष्टम बरा के मध्य में रूप्यमय उत्तान (ऊपर से चौड़ी नीचे से सक्की) श्वेत छत्र के आकर गोल सिद्धशिला है। जिसका व्यास (लम्बाई चौड़ाई) पैतालीस लाख योजन प्रमाण—मनुष्य लोक के बराबर—है। उसकी मोटाई मध्य में आठ योजन प्रमाण है और चारों ओर से कम कमसे षटती चली गई है। उस सिद्धशिला के ऊपर में जो तनुवात है उसके अन्त भाग में सम्बन्धरानि आठ गुणों से भूषित आनन्द से परिपूर्ण एत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। इस लोक में जिस पुरुषपुंगव के सत्यज्ञान उत्पन्न होजाता है वहनु का यथार्थ स्वरूप जिसके हृदय पदलपर प्रतिबिम्बित हो जाता है उसकी आत्मा में अद्वितीय सन्तोषमृतपानजनित अनुपम आह्लाद उत्पन्न होता है तब जो बराबर त्रिलोकवर्ती पदार्थों का साक्षात् अवलोकन करते रहते हैं जो अनन्त सुखादि के स्वामी हैं उनक आह्लाद का क्या ठिकाना ? चक्रवर्ती के मुख से भोगभूमिज मनुष्य का मुख अनन्त गुणा है। उससे अनन्तगुणा मुख बरयोद्ग के मानागया है। बरयोद्ग से अनन्तगुणा दवेन्द्र के है। उससे अनन्तगुणा अहिमिन्द्र के होता है। अतीत अनागत वचमान सम्बन्धी उन सब सुखों को एकत्र किया जावे तो उससे भी अनन्त गुणा मुख सिद्धों के क्षय होता है। वह कथन भी बिल्कुल ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य सब संसारिक सुख आकूलतामय हैं, पराश्रित (इन्द्रियजन्य) हैं और सिद्धों का मुख निराकुल और आत्मोत्थ है। उस मुख का ठाक ठीक कथन करन की वचन में शक्ति नहीं है वह वचनातीत है।

इस प्रकार लोक के आकर का आर उसक मध्यवर्ती क्षेत्रादि का तथा उनम निवास करनवाले जीवों के कर्मानुसार प्राप्त अवस्थाओं का चिन्तन करन से आत्मा में धर्माचरणा की कृति विशेष जागृत होती है। लोक में जिन प्राणियों ने धर्मपालन कथा व परभव म स्वर्गादि सम्बन्धी विषय सुखों का अनुभव करत हुए निराकुल सिद्धावस्था को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने। तथा जिन्होंने धर्माचरणा की उपेक्षा की, सिद्धात्मा का सेवन किया, विषयसेवन में ही सुख समग्र, हिसाद पापों में ही मग्न रहे, उनको नरकादि के हृदयधाराक दुःख उद्यमे पड़े, अनन्त काल के लिए उस निगोद पर्याय की वेदना के पात्र बनना पड़ा जहां से कि निकलकर बाहर त्रस पर्याय में आना भी अति कठिन है। इत्यादि विचारों का लाभ लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से होता है। अर्थात् लोक के स्वरूप का विचिन्तन अभ्यास करन से लोक

में कहीं कहीं कितना दुःख है और कहीं कहीं कितना सुख है तथा नित्य निराकुल सुख कहीं है—यह सब समझ में आजाता है जिससे कि धर्म से प्रेम व पाप में भय उत्पन्न होता है और जीव का सुचारु होता है। इसलिए लोकानुप्रज्ञा को चार-चार भागों और अपने को कल्याण मार्ग में लगा रखो।

## अशुचि ( अशुभ ) अनुप्रेक्षा

खिरणसु असुहमेय तमेव विरिणसु बधराहादी ।

मणुणसु रोगसागाादय तु दिवि माखस असुह ॥ ३ ॥ ( मूला द्य० )

अथ—नरकों में सज्जा और सत्रप्रकार दुःख हा होता है। वहाँ पर लेशमात्र भी ( सुख ) नहीं है। तियको म बच बन्धन रोग आदि जन्य दुःख प्राप्त होता है। मनुष्यों में रोग-शोकादि क निर्मित से निरन्तर संक्लेश उत्पन्न होता है तथा देवों में मानसिक दुःख सताप आत्मा से नित्य ज्ञाता है।

और भा कहा है—

असुहा अत्था कामा य न ति दहो थ सव्वमणुपाखम् ।

एआ च न सुभा खवार सव्व साक्खायरा धम्मो ॥ १८१३ ॥ ( भ० ध० )

अथ—अर्थ ( धन ) और काम ( विषयाभिलाषा ) अशुभ है। मनुष्यों का शरीर अशुभ है। संसार में सब जीवों को सुख देने वाला एक धर्म ही शुभ है। अर्थात् अथ कामादि सब आत्मा को अशुचि-अपवित्र करने वाले हैं। आत्मा को पवित्र करने वाला व सदा का अनुभव करने वाला संसार में यदि कोई है तो वह एक धर्म ही है।

धन के लोभ से यह प्राणी राजदण्डादि भावी दुःख को परवाह न करके चोरी करता है। उत्तम कुल के अयोग्य अन्याय मार्ग पर गमन कर जनता में निन्दनीय होता है। परलोक में नरकादि के दुःखों को भोगता है अतः धन मुक्ति का शत्रु सब अनर्थों का मूल कारण और महाभय का जनक है।

विषय महाअपवित्र वदृष्टिगण शरीर से उत्पन्न होते हैं और वह शरीर रूपी कुटी ( मोंपडो ) अस्थि ( हड्डो ) रूपी पत्तों से बनी है । नसाजाल रूपी त्वचा ( चक्कल ) से बंधी है । मांसरूपी मिट्टी से लोपी पोती गई है और अपवित्र रक्त बर्षी मल मूत्रादि से मरी है और म्लानि उपपन्न करने वाली है । जिस प्रकार लकड़ो का कोयला जलानि से धोना पर भी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार यह देह पवित्र और सुगन्धित जलादि पदार्थों से निरन्तर धोने रहने पर भी कभी पवित्र नहीं होती । बल्कि यह उन पवित्र और सुगन्धित जलादि को अपवित्र और दुर्गन्धमय बना देती है । क्या मल ( विष्टा ) से भरा हुआ घटा जलादि के द्वारा धोने पर कहीं पवित्र हो सकता है ? यदि नहीं तो क्या महा अपवित्र कृचिरादि से भरा हुआ यह शरीर जलानि से पवित्र हो सकता है ? सवथा पवित्र तो एक रत्नत्रय रूप बर्म ही है जिसका मलौ अति आचरण करने से जल्लौषधि मलौषधि आदि अनक ऋद्धियाँ मुनि को उत्पन्न होती हैं । जिनसे मुनि के शरीर के स्वेद मल मूत्रादि अपवित्र पणाय औषधि रूप हो जाते हैं और उनके स्पर्श का प्राप्त हुई वायु भी जीवों के भयानक और आसाम्य रोगों का कारण भर में बर्ष करती है । अतः बर्म ही परमपवित्र है, जो अपवित्र पदार्थों में पवित्रता और आद्भुत शक्ति उत्पन्न करता है ।

ह मुन ! बर्म में पवित्रता इसलिए है । यह परम पवित्र शुद्ध आत्मा में उत्पन्न होता है और यह शरीर अपवित्र इसलिए है कि इसका उपादान कारण भी अपवित्र है ।

वहां कहा है—

कथिका शुद्धितं शुद्ध कथिकाभूतपूरक ।

वर्चोवीज कथ दहां विशुद्धयति कदाचन ॥ १०३४ ( सं भ आ )

अर्थ—गेहूँ के आटे से बना हुआ भूतपूरक ( चक्कर ) शुद्ध है क्योंकि उसका कारण गेहूँ का आटादि शुद्ध है । रक्त और वीर्य से उत्पन्न हुआ शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है ? क्योंकि उसका उपादान कारण अशुद्ध है ।

शरीर की उत्पत्ति का क्रम —

कलसगद दसरत्त अच्छदि कलसीकद च दसरत्त ।

थिरभूद दसरत्त अच्छवि गम्भमि त वीय ॥ १००७ ॥

ततो माम बुबुदभूद मग्नाद पुणो । व घणभूत ।

जायदि मासेषु तदो मसप्पेमी य मासेषु ॥ १ ०८ ॥

मासेषु पच पुलगा तथा इ ति इ पुषो वि मासेषु ।

अ गाधि उवगाधि य खरस्त जायति गन्धम्मि ॥ १० ९ ॥

मासम्मि सचमे तम्म होदि चम्मणहरोमशिप्यती ।

फदखमडुममासे खचमे दसमे य शिग्गमख ॥ १०१० ॥ ( अ आ )

अथ—माता के उदर के भीतर गर्भाशय ( बच्चेवानी ) में पहुँचा हुआ माता का रज और पिता का वीर्य दश दिन पर्यन्त कलल पर्याय में रहते हैं । अर्थात् अग्नि के संयोग से पिघले हुए ताबे और चाँदो के समान रहते हैं । तथा दशदिन पर्यन्त क्लृप्त ( मिश्रित मलान ) अवस्था में रहते हैं । पश्चात् अग्नि पर्यन्त दृढ अवस्था में रहते हैं । इस प्रकार एक मासक में रजोवीर्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं ।

इसके अनन्तर दूसरे मास में उसकी बुलबुले की सी अवस्था होती है । तीसरे मास में वह कठिन ( ठोस ) हो जाता है । इसके बाद वह चतुर्थ मास में मास की पेशी ( खली ) के आकार होता है । पाँचवें मास में उस मासपेशी से पाँच अङ्गुल निकलते हैं । नीचे के दो अङ्गुल से दो पाँच बीच के दो अङ्गुल से दो हाथ और ऊपर के अङ्गुल से मस्तक का प्रारंभ होता है । उक्त अवस्थाओं की अङ्गुलवृद्धि रहती है । तदन्तर छठे मास में हाथ पाँच नितम्ब ( चूल्हा ) ज्ञानी पीठ और मस्तक इन आठ अङ्गुल निर्माण होता है तथा अर्ध, क्षण नाक कपोल ओष्ठ अङ्गुलि आदि अङ्गुलियों की रचना होती है । सातवें मास में गर्भ के अवयवों पर चर्म और रोम की उत्पत्ति होती है और हाथ पावों का नख उत्पन्न होते हैं । आठवें मास में उस गर्भ में हलन चलनक्रिया होने लगती है । नववें या दसवें मास में गर्भस्थ-बालक उदर से बाहर निकलता है । अर्थात् कभी नवव या कभी दशवें मास में जन्म होता है ।

जिनसे यह शरीर बना है उन पृथिवी पदार्थों का नाम मात्र उच्चारण करने से आगम में भोजन-अन्तराय बताया है । फिरसे शरीर से प्रेम करना क्या उचित है ? इस शरीर में सिवाय अशुचि पदार्थों के अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पवित्र हो ।

शरीर के स्वरूप का बहान प्रथम किरण मे पृष्ठ ७४ पर कर आये हैं। इस महा अपवित्र पदार्थों से भरे हुए शरीर में जो राग करेगा उसे पुन गभ में निवास करना पडेगा। गभ म नीच की कमी नशा होती है ? सुनिए —

असुह बिलबिल ग भ वममाया उत्थि पडल पच्छरखां ।

मादुइ सेभलालान्य पु तिन्वासुह पिबदि ॥ ३३ ॥ ( मू ङ )

अथ—मूत्र वद्वष्टा कफ पित्त रुचिरादि मे घृणित माता के उन्तर मे निवास करता हुआ प्राणी जरारु से आवृत ( ढका हुआ ) रहता है। वहाँ पर माता के द्वारा भक्षणकिये हुए भोजन से बना हुआ जो कफ और नार मिश्रित रस है जिसमें भयानक दुग्ध च होती है, उस पीता है। गभ में यह जीव जब ऐसे महा अपवित्र आहार का ग्रहण करता है तब मोचना चाहिग कि जिस शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण ही अशुचि है जिसके प्रारंभ का आहार भी अपवित्र है तथा ससार मे जितन घृणाकारक पदार्थ हैं वे जिसमें सदा भरे रहते हैं उसमें अनुराग की कौनसी वस्तु है ? इसमें जो जीव का अनुराग होता है उसका अज्ञान और मोह के सिवा कोई कारण वृष्टि-गोचर नहीं होता। क्या कोई बुद्धिमान विद्या रुचिरादि से भरे पात्र को शुचि समझेगा और उससे प्रेम करेगा ? जीव को अन्धा बनाने वाले इस मोह को चिक्कार हो।

### शुद्धि के भेद

शुचिपना ( शुद्धि ) दो प्रकार का माना गया है—१ लौकिक और २ लोकोत्तर। लौकिक शुचिता का आरंभकषम में विस्तृत बहान किया जावेगा क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं। मुनियों के लोकोत्तर शुचिता मानी गई है। लेकिन नाम निक्षेप मात्र यहाँ भी लौकिक शुद्धि का निरूपण कर देते हैं।

### लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप

लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की मानी गई है—१ कालशुद्धि २ अग्निशुद्धि ३ भरमशुद्धि ४ सूक्तिकाशुद्धि ५ गोमयशुद्धि ६ जल शुद्धि ७ पवनशुद्धि और ८ ज्ञानशुद्धि। श्री राजवार्तिक में पवन शुद्धि के वजाय निर्विचिकित्सा शुद्धि मानी है। ये आठों शुद्धियां शरीर को शुद्ध करने में असमर्थ हैं।

१ कालशुद्धि—रजस्वला स्त्री तीन रात्रि बीतने पर शुद्ध होती है। मृतक की शुद्धि दश दिन में और पातक-शुद्धि बारह दिन में मानी गई है। इत्यादि

- ० अग्निशुद्धि—शुद्धादि से स्पश किये हुए घातु-निर्मित पात्र अग्नि में तपाने पर शुद्ध माने गये हैं।  
 ३ भस्मशुद्धि—भोजन के उच्छिष्ट वचन भस्म से भाजने पर शुद्ध होते हैं।  
 ४ शृत्तिकशुद्धि—मलमूत्रादि के हाथों को तथा उच्छिष्टादि क वचनों को शृत्तिका से धोने पर पवित्र माने गये हैं।  
 ५ गोमयशुद्धि—भूमि को गोमय ( गोबर ) से छीपने पर उसकी शुद्धि होती है।  
 ६ जलशुद्धि—वस्त्रादि की शुद्धि जल से धोने पर होती है तथा कर्मादि शरीर के लग जान पर या अस्वस्थर्य पदार्थों का स्पश होन से जलस्नान करन पर शुद्धि मानी गई है।  
 ७ पवनशुद्धि—भूमि पाषाण काष्ठ-कपाट आदि की शुद्धि पवन माना गद् है।  
 ८ ज्ञानशुद्धि—ज्ञान द्वारा शुद्धि को ज्ञान शुद्धि कहते हैं। कालाध्ययनादि ज्ञान को विनय कर ज्ञान की स्थापना भी ज्ञान शुद्धि है।  
 इस प्रकार लौकिक शुद्धि का संक्षेप से वर्णन किया। मुनिमाग में लोकोत्तर शुद्धि काय-कारिणी है अतः अब उसका वर्णन करते हैं—

### लोकोत्तर शुद्धि के आठ भेद और उनका स्वरूप

- श्री भट्टकलकदेव न तत्त्वाध्यायनवार्तिक में लोकोत्तर शुद्धि आठ प्रकार की कही है—१ भावशुद्धि २ कायशुद्धि ३ विनयशुद्धि ४ ईर्यापथशुद्धि ५ भित्तिशुद्धि ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि ७ शयनासन शुद्धि ८ वाक्यशुद्धि।  
 १ भावशुद्धि—कर्मों के लक्ष्योपशम से मोक्षमाग में रुचि उत्पन्न होने से तथा रागादि क अभाव से जो आत्म-विशुद्धि होती है वह भावशुद्धि है।  
 २ कायशुद्धि—निरामरण संस्कार रहित, अ गविकार से शुभ यथाजानरूप को वाग्ग करने वाली प्रकुलित वदन जो शरीर की परम शांत वृत्ति है वह कायशुद्धि है।  
 ३ विनयशुद्धि—परमभट्टारक श्री अरिहंत देव में पूज्य गुरुओं में तम ज्ञानादि गुणों में उगायोग्य भक्ति का होना गुरु के अनुकूल सदा प्रवृत्त करना आगम का पठन पाठन करना तथा मनन करन क पश्चात् तय क्षेत्र कर्त्तार के अनुसार आगमानुकूल वपदरा करना आचार्य की अनुमति के अनुसार प्रवृत्ति करना विनय शुद्धि मानी गई है।

४ ईर्ष्यापयशुद्धि—नाना प्रकार के जीवों के स्थानों व उत्पत्ति के स्थानों को जानकर जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित चार हाथ भूमि को अपने नेत्रों में पूरा सावधानताया शोधते हुए चलना न तो बहुत शीघ्र चलना न बहुत विलम्ब करते हुए चलना संभ्रान्तचित्त होकर न चलना इधर उधर दिशाओं का अवलोकन करते हुए न चलना किन्तु सम्मुख भाग पर दृष्टि रखते हुए—कोये हुए रत्न को बूढ़ने वाले मनुष्य के समान उपयोग पूरा दृष्टि सं मार्गस्थ जीवों को बचाते हुए—गमन करना ईर्ष्यापयशुद्धि कही जाती है ।

५ भिक्षाशुद्धि—जिसने लौकिक और लोकोत्तर प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त कर लिया है पिच्छिका से शरीर के ऊपर के और नीचे के भाग का प्रमाजन कर लिया है जो आचार शास्त्रोक्त कर्म और देश को जान कर उसमें प्रवृत्ति करने में कुशल ( प्रवीण ) है जिसको आहारादि पदार्थों की प्राप्ति में ह्य और अप्राप्ति में विषाद नहीं होता है जिमका चित्त मान से संतुष्ट और अपमान से ऊँठित नहीं होता है जो लोक-निध कुलों में गोचरी नहीं करता है जो दीन व अन्यायशाला का तथा विवाह याग सम्बन्धी घरों का भोजन ग्रहण नहीं करता है भोजन के अलाभ में जिस के चित्त पर लेश मात्र दीनता प्रकट नहीं होती आचार शास्त्रोक्त निर्दाय व निरन्तराय प्राप्तुक्त आहार से ही वैयाशुत्यादि करने के लिए अपने शरीर का रक्षण करता है सरस नीरस आहार में तथा लाभ व अलाभ में जो समान वृत्ति वाला है, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित युवति के द्वारा दिये हुए पास को चरन में ही जैसे गाय लगी रहती है और उस युवति के सौन्दर्य वस्त्राभूषण और हाव भाव के अवलोकन करने में निरस्तुक्त होती है उसी प्रकार मुनीवर भिक्षा(भोजन)परोसने वाले मनुष्यों के सुन्दर ललित रूप वेष भूषा विलासादि के तथा उनके द्वारा की गई अन्न पान की योजना के अवलोकन करने में निरस्तुक्त हुआ यथाप्राप्त निरवध सरस नीरस आहार को ग्रहण करता है उसे मुनि के भिक्षा शुद्धि मानी गई है ।

६ प्रतिष्ठापनशुद्धि—शरीर के मलमूत्र कफ नख रोगादि का गेम जन्म गहत एकत्र त स्थान में निक्षेपण करना जिससे कि किसी जन्तु को बाधा न हो और मनुष्यों को ग्लानि हो इसे प्रतिष्ठापन शुद्धि कहते हैं ।

७ शयनासनशुद्धि—जिसस्थान पर स्त्री छुद्र-मनुष्य चोर मद्यपायी खटीक जुधारी आदि पापी मनुष्यों का निवास हो, जहा शृङ्गार रस का पोषण होता हो सुन्दर ललित वेषवती वैश्यादि का तथा नर्तक गौ महिषी आदि तिर्यकों का गमनागमन होता हो, तथा गीत नृत्य गान्त्रादि का प्रचार हो रहा हो ऐसे स्थानों का परित्याग कर, जन्तु बाधा रहित अकृत्रिम पत्रत की मुक्त वृक्ष कोटरादि में तथा सूने घरों में अपने उद श से रहित ( खाली ) किये गये या खाली कराये गये स्थानों में शयनासन ( सोने बैठने ) को शयनासन-शुद्धि कहते हैं ।

८ शाक्यशुद्धि—जिनसे धृतिवीक्यािकादि जीवों के आरम्भ में प्रेरणा न हो, जिनम दूसर जीवों को पीडाजनक कट्ट सं म  
पु. कि ४

कठोर असुहावने बचनों का प्रयोग न हो जो व्रत शील के पोषण करने वाले हों इस प्रकार के हित मित और भ्रिय वाक्यों के उच्चारण करने को वाक्यशास्त्र कहते हैं ।

## आसवानुप्रेक्षा

दुःख भय-मोक्ष-पडने संसार-महणसाधे परमघोरे ।

जतु जतु शिमज्जदि कम्मासवहेदुय मच्च ॥ ३७ ॥ ( म० वा )

अर्थ—दुःख भय रूपी मत्त्व जिसमें भरे हैं—येसे महाभयानक संसार—समुद्र में जो ये सब संसारी प्राणी डूबते हैं उसका मूल कारण आस्रव है ।

भाषा—जिसकी आत्मा में राग-द्वेष मोह का निवास है उसके निरंतर आस्रव होता रहता है । जिस भाव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे भाषा-आस्रव कहते हैं और कर्मों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं । आगम में मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कथायानि को आस्रव कहा है वे सब राग द्वेष के ही परिणाम हैं । इनके निमित्त से आत्मा में निरंतर कर्मों का आगम होता रहता है । जैसे समुद्र में पड़े हुए जहाज के पैरों में छेद होजाने पर उसमें निरंतर जल भरता रहता है उसी प्रकार संसार समुद्र में पड़े हुए इस आत्मा के अन्तर भी राग द्वेष या मिथ्यात्वानि रूप छेद ( आस्रव ) हो रहे हैं उनके द्वारा निरंतर कर्म आते रहते हैं । उनके निमित्त को पाकर आत्मा के साथ लगे हुए कर्माणु-वगणा ऋणुदल कर्म रूप बन जाते हैं ।

कर्म बनन की योग्यता रखने वाले सूक्ष्म और बाहर पुद्गल परमाणुओं से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है । जो शरीर का हिलना चलना बचनों वा उच्चारण तथा मन में भले बुरे विचार निरंतर होते हैं उनसे आत्मा के प्रदेशों में क्रिया होती है और उससे वे कर्म-परमाणु संचिते हैं तथा आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं । जैसे अग्नि से तपा हुआ गोला जल के मध्य पड़ा हुआ चारों ओर से जल को स्वीचता है उसी प्रकार मन वचन काय की क्रिया से संतप्त आत्मा चारों ओर से कर्म परमाणुओं को प्रतिक्षेपण ग्रहण करता रहता है । ये आगत कर्म परमाणु तब तक कुछ भी धिगाड नहीं कर सकते जब तक कि आत्मा में मिथ्यात्व अविरति आदि का सङ्गव न हो । जैसे सूखे घड़े पर लगी हुई रज चिकनाई के बिना उस पर नहीं ठहरती है—वायु के लगते ही दूर हो जाती है । अतः यह सिद्ध है कि ये मिथ्यात्व, अविरत आदि ही मम-शत्रुओं को उत्पन्न करने वाला है । यही महाशत्रु है । आस्रव से बचने के लिए इनको अपनी आत्मा से हटाना चाहिए । इनका स्वरूप मन्त्रेप में इस प्रकार है—

वीतराग सवक अर्हत भगवान् के द्वारा जो ब्रह्म पदार्थ व तंत्रों का स्वरूप बखान किया गया है उसका संशय विषयव और अनभ्यवसाय रहित अज्ञान न करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य स्तेय ( चोरी ), अन्न ( मैथुन ) और परिग्रह इनका त्याग न करना अचिररति ( असंशय ) है। प्रशस्त क्रियाओं के आचरण करने में उदासीनता रखने को प्रमाद कहते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये चारों राग द्वेष की सन्तान हैं। द्वेष से क्रोध-मान उत्पन्न होते हैं और राग से माया-लोभ की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञानी जीव अपने हित अहित के विचार से पराङ्मुख हुआ अहित करने वाले शरीर, इन्द्रिय-विषय भावि में तो अनुराग करता है और हितकर अहिंसा, सत्य, कामा आदि बम के आचरण से विरक्त रहता है—उन्से द्वेष करता है। आत्मा के शत्रु जो विषय कषाय हैं उनको सुख देने वाले समझ अपनाता है। आत्मा के मित्र सम्यक्त्व संयमादि को दुःस्व ( शत्रु ) समझ उनसे दूर भागता है।

दुःख भव मनुष्य भव पाकर चर्माचरण की तो उपेक्षा करता है और विषयादि की अभिलाषा करता है। यह विवेकहीन कुठल्य उस अचिवेकी मनुष्य के समान है जो रत्न द्वीप में जाकर रत्नों का तो त्याग करता है और काष्ठ का मार ग्रहण करता है। अथवा उस पुष्प के समान है जो पूव पुण्य के योग से सुन्दर उपवन में पहुँच कर भी असृत फल को छोड़कर विष फल का भक्षण करता है। यह नर भव पूव पुण्य क उदय से मिला है। इसे पाकर नीच को चाहिए कि वह इसे असृतमय बम के पान करने ल गावे। विषयादि रूप विष का पान करके तो पहले ही इसने अनन्त काल पय त वचनातीत दुःख पाये हैं। इसलिए उनका त्याग करना ही इसके लिए हितकर है। जिस दुष्ट बोग पाप जनक मन बचन कषय की क्रिया से अशुभांशुव होता है वही जीव का शत्रु है, क्योंकि वही कर्म शत्रुओं का जनक है। अत यहा शुभ अशुभ आशुव का विशेष स्वरूप समझते हैं। अनुकम्पा ( दया ) और शुद्धोपबोग पुण्य-कर्म के आशुव द्वार हैं तथा इनसे विपरीत परिग्राम पापाशुव के द्वार हैं। योग द्वार आये हुए कर्मों में पुस्व ( शुभ ) रूप परिणामन के उत्पन्न होने को पुण्य कहते हैं, और अशुभ रूप परिणामन के उत्पन्न होने को पाप कहते हैं।

### अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप

अनुकम्पा ( कृपा ) तीन प्रकार की है—१ चर्मानुकम्पा २ मिश्रानुकम्पा और ३ सर्वानुकम्पा। उनमें से चर्मानुकम्पा का स्वरूप इस प्रकार है—

वर्त्मिक पुरुषों पर भक्ति रूप परिग्राम होने को चर्मानुकम्पा कहते हैं। उस चर्मानुकम्पा से प्रेरित हुआ विवेकी मनुष्य स्वराकि को न विषाकर संशय में तत्पर रहने वाले संकामीजनों के योग्य अन्न-पान, औषध, वसती, उपकरण्यादि संयम के साधक पदार्थों का दान करता है। उनपर आये हुए उपसर्गों का निवारण करता है। 'आज्ञा दीजिए, मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ' इत्यादि मजुर बचनों का उच्चारण करता

हुआ उनकी सेवा में तत्पर रहता है। जिनको माग में भ्रम उत्पन्न हो गया है उन्हें सन्माग का उपदेश देता है। सबमियों का संबंध पाकर आनन्द में विभोर होजाता है और भाग्य को सराहता है कि मैं बड़ा पुण्यवान हूँ जो ऐसे सत्पुरुषों का योग मिला है। सभा में उनके गुणों की महिमा गाता है। जो उन सत्पुरुषों के गुणों का कीतन करते हैं उनकी अनुमोदना करता है। उनका प्रतिक्षण स्मरण करता है ऐसे महाभाग का सत्समागम मुझे कब मिलेगा इस प्रकार उनके सम्मिलन की उत्कण्ठा रखता है। इत्यादि प्रकार से महापुरुषों की गुण-शक्ति में हृष प्रकट करने सं महान् पुण्य का आनन्द होता है।

जिन्होंने असयम का त्याग किया है मान-अपमान लाभ-अलाभ तृण-कषण में समानबुद्धि करती है इन्द्रिय और मन को ध्वन वश करलिया है तोषकषाय और विषयों का त्याग किया है शरीर को नरवर धन वैभवं को जगभगुर और दिव्य भोगों को रोग समझकर वैराग्य भावना में अपने को रगलिया है ससार समुद्र से भयभाव होकर जो शक्ति में अल्पनिद्रा लेते और आत्मा की सुख साधना में सतत सचेत रहते हैं जो उत्तम कृपा आदि दश धर्मों में ऐसे मग्न रहते हैं मानो साक्षात् उत्तम समाधि धम ही शरीर धारण कर दर्शन दे रहे हों—ऐसे महात्माओं पर एक प्रकार से अनुकम्पा करने को धर्मानुकम्पा कहते हैं।

२ मिश्रानुकम्पा—महान् अनन्ध के मूल हिंसा आदि महापातकों का एक देश त्याग कर जो अणुजसी बने हैं तथा सन्तोषासुत के स्वाद का अनुभव करते हैं तथा वैराग्य भावना से जिनका अन्त करण श्रोत प्रोत है, जो दिग्घत देशासुत और अनन्धव्यवहारासुत इन तीन गुणधर्मों का आचरण कर आत्मा के गुणों का विकास कर रहे हैं जिनके सेवन से महादोष प्रादुर्भूत होते हैं ऐसे भोग व उपभोग के पदार्थों का जितने त्याग किया है जो पाप कृत्यों से हरकर नित्यप्रति यथाकाल स्वरूपदेश व किंचित्त्वश्रादि परिग्रह के सिवा अन्य सब पापकृत्यों का तथा परिग्रहादि का त्यागकर सामायिक करते हैं पर्वदिवनों में सब आरभ का त्यागकर जो उपवास कर धमध्यान में समय जितते हैं जो अतिथि के आतिथ्य में आदर पूजक मन की परिष्कित जगाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं—ऐसे संयतासंयत (देशासुतो) पर अनुकम्पा करने को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

जो प्राणियों पर दया तो करते हैं किन्तु दया का यथाय रूप नहीं समझते हैं जिनागम से बहिभूत अन्य पाखण्डी गुरुओं की सेवा करते हैं कोमल और कष्टदायक कायकेशरा करते हैं उन पर अनुकम्पा करना भी मिश्रानुकम्पा है। क्योंकि गृहस्थों की धम में प्रवृत्ति एक देशरूप है। उनको लौकिक व्यवहार और धम व्यवहार धम का आचरण करना पड़ता है। जिस व्यवहार से सम्यक्त्व की हानि न होती हो ऐसी क्रिया करने में उसे दोष नहीं होता है। इसलिए वह अन्यधम के दयालु व दुसा आदि जनों पर और स्वधर्मी गृहस्थादि पर अनुकम्पा करता है। दोनों पर अनुकम्पा करने के कारण उसकी अनुकम्पा को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि जो स्वभावतः कोमलचित्त होकर दयासे आदृष्ट होकर सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करते हैं उस दया को सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिससे प्रेरित हुआ वह जीव अन्य प्राणियों के दुःख को अपने दुःख समान मानता हुआ उनको सुख पहुँचाने के लिए प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर सतत प्रयत्नशील रहता है। सत्य उपदेश देता है ऐसी सर्वानुकम्पा भी पुण्यात्मक का कारण होती है।

### शुद्धोपयोग के भेद

शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धपरिणाम-दोषप्रकार का है। मुनि का शुद्ध परिणाम और गृहस्थ का शुद्धपरिणाम।

मुनि का शुद्धोपयोग-निमल मनो का चारण्य निर्दोषशील का पालन स्वाध्यायतत्परता और ध्यानादि में लबलीनता ये सब शुद्धोपयोग हैं। उनके आचरण से निज आत्मा का कल्याण और अन्यजीवों का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला मुनि अपने धर्म को क्लृप्त करता है।

सिद्ध, अहृत, आभाव, उपायाय जिन-प्रतिमा सच जिनधर्म-इन पर भक्ति रखना विषय से वैराग्य, गुणों पर प्रेम, गुरु आदि का विनय, इन्द्रिय व प्राणिसंयम, प्रमाद का त्याग कर स्वच्छ्यों में सावधानता क्षमा, मावव आज्ञा न-तोष आदि गुणों का चारण्य आहारादि चार सङ्गाओं पर विजय, तीन शल्य और तीन गन्ध का त्याग, उपसर्ग और परिषदों पर विजय, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की शुद्धि सदा सचम धर्मध्यान इत्यादि गुणों को चारण्य कर निन्दन की भक्ति का उपदेश निराङ्किततादि आठ गुण, तपस्याद्वारा कर्मसंघ करने की उत्कृष्ट भावना पाषण्डमिति और तीनगुणित आदि मुनियों का शुद्ध उपयोग है। यहाँ पर शुद्धोपयोग से निमल परिणाम का ग्रहण है जो शुद्धोपयोग और शुद्धोपयोग रूप होता है।

गृहस्थ का शुद्धोपयोग-जो व्रत चारण्य किया है उसका पालन करने की उत्कृष्ट रखना एक क्षण मात्र भी व्रतभंग को अनिष्ट व अकल्याण-कारक समझना। सदा मुनि-समागम की अभिलाषा रखना श्रद्धापूर्वक यथाविधि मुनि को आहारादि दान करना विषय भोगों के सेवन को रोगप्रतीकार का कारण समझते हुए उनका त्याग करने में सामर्थ्य न होने पर भी उनकी निन्दा करना और गृहवास त्याग करने की भावना करते रहना धर्म का अवण कर अज्ञानन्द से उल्लासित होना भक्ति से गद्गद हो पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना, बन्धना प्रणाम करना पूजा करना अन्यजनों को भी धर्म में लगाना उनको स्थिर करना उनके अज्ञानवश व प्रमाद कृत दोषों का उपगृहण करना (ढकना) साधकिक पुद्गलों पर अतिप्रेम-वात्सल्य रखना जिनेन्द्र के भर्षों का उपकार करना जिनशास्त्रों का उच्चारण प्रकाशन पठन एवं पाठन करना जिनधर्म की प्रभावना करना आदि गृहस्थों के शुद्ध उपयोग हैं अर्थात् निर्मल शुभ परिणाम हैं।

उक्त अनुकम्पा और शुद्धोपयोग के विपरीत परिणामों से अग्रभ कर्मों का आत्मक होता है।

## मवर-भावना

तन्हा कम्भासवकारखाणि मन्वाशि ताशि रु षेज्जो ।

ईदिय-कसाय-सएखा-गारव रागादि आदीशि ॥५८॥ ( मूला ३४ )

अथ-इन्द्रिय कषाय संज्ञा गारव और रागादि इनस कर्मां का आस्व होता है। इन कारणों से निरंतर आत्मा में कर्मों का आगमन होता है इसलिए इन सम्पूर्ण कर्मांश्व के कारणों को रोकना चाहिए।

भावाथ-इन्द्रिया दुर्दांत अरव के समान हैं, ये आत्मा को विषय रूप उत्पन्न (कुमाग) में लेजाकर नरकादि दुर्गति रूपी महागर्त (अगाध खड्ड) में पटकती हैं। अर्थात् आत्मा पचेन्द्रियों के विषय भोग में लम्पट होकर महान् पाप कर्मों का बंध करके उनका फल भोगने के लिए नरक निगोदादि दुर्गति में जाता है। वहाँ उसे मनसे भी अचिन्त्य दुःख भोगने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनको रोकने के लिए अपने बरा में रखने के लिए ज्ञान और वैराग्य ये दो कारण हैं। जिस प्रकार दुर्दान्त अरव को अपने बरा में रखने के लिए सत्रार के हाथ में लगाम होती है उसीसे वह अरव को अनुचित माग से रोक कर उचित संपथ पर ले आता है उसी प्रकार विषय की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को समाग में लाने वाला विवेक-ज्ञान और विषय-वैराग्य हैं। क्योंकि विवेक ज्ञान और विषय-वैराग्य से अत करण की प्रवृत्ति विषयों में दृढती है। उसकी चञ्चलता दूर होकर एकाग्रता होती है। उसी मनकी एकाग्रता से इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह होता है। जिस प्रकार बिना, मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य में जहरीले सर्पों को बरा में करने का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य से जिसका मन बरा में नहीं हुआ है एकाग्र नहीं हुआ है वह विषय-विषय के आस्वन्न करने में बपल इन्द्रियों को अपने बरा में नहीं कर सकता है।

कषाय कर्मों के मूल कारण हैं। उन्हीं से स्थिति और अनुभाग (आत्मा को सुख दुःखादि देने की शक्ति) बंध होता है। अतः कषयों को रोकने पर सब कर्म-आस्व रुक जाते हैं। अर्थात् योग द्वारा आये हुए कर्म भी कषाय के अभाव में एक समय तक ठहर कर अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। अधिक समय तक आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तथा एक समय तक भी आत्मा का भला बुरा नहीं कर सकते हैं। अतः कषाय ही आस्व का द्वार है। जिस प्रकार समुद्र में पड़ी हुई नाव के छिद्र बन्द करने पर उसमें जल नहीं भरता है वह जल में नहीं डूबती है उसी प्रकार कर्मों के द्वारभूत कषयों के रोक देने पर आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता है, और आत्मा संसार समुद्र में नहीं डूबती है। अतएव यह है कि कषायों के रोकने पर मूल से सब आस्व रुक जाते हैं। कषयि योगादि के द्वारा आस्व होता है तथापि उससे आत्मा की कुण्ड धानि नहीं होती।

### प्रसन्नप्रकथन

४ विकथा, ४ कथाय ५ इन्द्रिया १ निद्रा और १ स्नेह इन षड्वह्र षड्मादों से जीवों के निरन्तर कर्मों का आभव होता रहता है। इनका निरोध अप्रमाद अवस्था से होता है। जैसे रणांगण में शत्रुओं के शस्त्र प्रहार को शूरवीर पुरुष ढाल से रोकते हैं वैसे ही कर्मों को पराजित करने के लिए उनसे युद्ध करने वाला शान्त घीर वीर मुनि नवीन कर्म शत्रुओं का आगमन अप्रमाद ( स्वाध्याय ध्यानादि ) रूपी ढाल के द्वारा रोकता है।

स्वाध्याय और ध्यान में एकप्रता रूप अप्रमाद ( सावधानी ) से विकथा-प्रमाद-जन्म कर्मों का आगमन रुक जाता है। क्योंकि सत्य भाषा असत्कृपाभाषा, स्वाध्याय और ध्यान में चित्त की एकप्रता ये विकथा-प्रमाद के प्रतिप्रती हैं।

ज्ञाना मादव आर्जव और शौच ( सातोष ) कथाय प्रमाद के शत्रु हैं।

ज्ञान का सचदा अभ्यास करना राग द्वेष उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर एकान्त प्रदेश में रहना, ज्ञान बल से मन को निज स्वरूप में एकप्र करना इन्द्रियों के विषयों का स्मरण न करना विषयों की प्राप्ति होने पर उनमें आदर न करना ये सब प्रमाद के विनाशक हैं।

### इन्द्रिय क विषयों से विरक्ति

प्रश्न—मुनि इन्द्रियों के विषय प्राप्त होने पर उनमें किस प्रकार अनादर करते हैं ?

उत्तर—मुनि राग भाव से सुन्दर स्त्री के अवयवों पर दृष्टि नहीं डालते हैं। अकस्मात् दृष्टि पड़ जाने पर राग भाव उत्पन्न नहीं करते और दृष्टि को लीच लेते हैं। द्वेष के वश होकर अशुभ रूप को नहीं देखते और अशुभ रूप दिखालाई देने पर उससे द्वेष नहीं करते हैं। इस प्रकार मुनि नेत्रेन्द्रिय को अपने वश में करते हैं।

उत्तम गायन व कर्णमधुर संगीत की ध्वनि तथा युवती महिलाओं के कोकिल कण्ठ से निकले मधुर मञ्जुल स्वर सुनने की मुनि अभिलाषा नहीं करते हैं और अचानक सुनाई देने पर उनमें आसक्त नहीं होते हैं। तथा अनेक अनुसूत्रवने कर्करा कठोर शब्दों को सुनकर क्रोधित नहीं होते, इस प्रकार कर्णेन्द्रिय पर कृत्रमा काच रहते हैं।

जो मुनि चन्दन कपूर, केसर, चम्पक, गुलाब आदि की मनमोहक सुहावनी गन्ध को सूंघने की उत्कण्ठा नहीं करते तथा अचानक

सुगन्ध प्राणगोचर हो जाने पर वित्त में अनुराग नहीं करते हैं तथा अत्यन्त अधिग्रह दुग्ध का सम्बन्ध होने पर ग्लानि व द्वेष नहीं करते हैं वे मुनीश्वर प्रायोजिन्द्रय के विजयी होते हैं ।

जो अतिमधुर सुखादु भोजन के रसास्वादन में लोलुप नहीं होते हैं तथा वैबयोग से विशिष्ट स्वादिष्ट रसिले भोजन के प्राप्त होने पर उसका आसक्त भाव से आस्वादन नहीं करते हैं तथा असुहावने कटु अस्वातु भोजन के रस में द्वेष भाव नहीं करते ऐसे मुनि रसनेन्द्रिय को स्वाधीन करते हैं ।

सुन्दर फोमल शय्या रूपवती स्त्री तथा अय सुखस्पर्शा मन का आकषण करते हैं । किन्तु जो मुनि बिरक्त भावना से आविष्ट होकर उनके सेवन की अभिलाषा तो दूर रही, उनका स्मरण तक नहीं करते हैं तथा स्वाभाविक सुन्दर स्पर्शा का संयोग होने पर उसके सेवन में अनुरक्त नहीं होते हैं शीतस्पर्शा या उष्णस्पर्शा वाली भूमि पर्वतशिला अधवा कठोर पृष्ठादि का स्पर्शा होने पर मनमें स्नेह नहीं करते वे ही स्पर्शनेन्द्रिय के विजयी होते हैं ।

जो अनुराग अवमौढर्य रसपरित्याग करते हैं, ससार से भयभीत रहते हैं रत्नत्रय में अनुराग रखते और अपने दुष्कृत्यों का स्मरण कर उन पर पश्चात्ताप करते हैं वे मुनिराज सदा आलस्य का त्याग कर निद्रा को जीतते हैं ।

स्नेह का नाश करने के लिये मुनि ऐसा चिन्तन करते हैं कि बहुगुण आदि सब अस्थिर हैं स्वाय परायण हैं, अपने प्रयोजन की पूर्ति पथन साथ देने वाले हैं । उनके निमित्त आरम्भान्ति पापकर्म करन की चिन्ता होती है जो जरकवि कुगति में लेजाने वाली है । येही बहुगुण धर्म में बिबन्धाध उपस्थित करते हैं सदा आत्मा को विपरीत मार्ग में लगाने वाले हैं इत्यादि । इस प्रकार अप्रमाद रूप ढाल हाथ में लेकर मुनि प्रमाद शत्रु का मुकुबला करता है । जिस प्रकार किले के द्वार बन्द कर देने पर बाहर से शत्रु का प्रवेश रुक जाता है उसी प्रकार अप्रमाद के किनाड़ जुड़ देने से आत्मा में कमशत्रु का प्रवेश रुक जाता है । जैसे-कोट खाई आदि से सुरक्षित नगर में शत्रु सेना प्रविष्ट नहीं होसकती वैसे ही मनोगुप्ति बचन गुप्ति और कायगुप्ति से सुरक्षित आत्मा में कम-शत्रुओं का प्रवेश बन्द हो जाता है ।

इसलिए उक्त प्रकार से आसक्त के कारण मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद और कषाय के विपरीत सम्यक्त्व, सयम स्वाध्याय ध्यान और क्षमा मानव आज्ञाक सन्तोष का अभ्यास करके कर्मों के आसक्त का निरोध करने में सतत उद्यत रहो ।

## निर्जरानुप्रेक्षा

रुद्रासवस्स एव तवसा नुचस्म शिञ्जरा होदि ।

दुविहा य सावि भक्षिया देसादो सब्बदो वेव ॥ ३४ ॥ (मूला ४०)

अ५—जिसने कर्मागमन द्वार को ढक दिया है एव जो तपस्या से युक्त है, उसके कर्मों की निजरा होती है। वह दो प्रकार की है—१ एकदेशनिजरा और २ सबनिजरा।

भावार्थ—आत्मा के साथ सम्बद्ध कम परमाणुओं के आत्मा से पृथक् होजाने को अर्थात् उन कम परमाणुओं में आत्मा को परतत्र करने की शक्ति के नष्ट होजाने को निर्जरा कहते हैं।

### निर्जरा के भेद और उनका स्वरूप

पुण्वकदकम्मसदथ तु खिज्जरा मा पुणो हवेदुविहा।

पढमा विवागजादा विदिया अबिवागजाया ष ॥ १-८७ ॥ ( भग-३० )

अ५—पुनःकाल में किये हुए कर्मों का जीव क प्रदेशों से पृथक् होना निजरा है। उसके दो भेद हैं—१ सविपाक निजरा और २ अविपाक निजरा।

सम्पूर्ण ससारी जीवों के बाहे वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि सबके उदय में आये हुए कर्मों की सुख दुःखान्ति रूप फल देकर जो निजरा होती है उस एकदेश निजरा कहते हैं। उसीका नाम सविपाक निजरा है। और जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए कर्मों की निजरा होती है अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निजरा होती है उसको अविपाक निजरा कहते हैं। सत्ता विशेष विवेचन पहले कर णाये हैं।

आम्नादि फल ने तरह न पकते हैं। एक तो समय पर पकते हैं और दूसरे कच्चे फल तोड़कर पाल में पकाये जाते हैं इसी प्रकार निजरा भी दो तरह की होती है। कर्मों की स्थिति पूरा हो जाने पर अपना सुख दुःखान्ति फल (रस) देकर शुष्क हुए कम स्वयं ऋण्यजाते हैं—आत्मा से अलग हो जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है। उस निजरा से आत्माका कुञ्ज भी हित नहीं होता क्योंकि वह नवीन कम को उत्पन्न करके परत्वात् होती है। दूसरी अविपाक निजरा है। जो संवर पूर्वक तपस्या से कर्मों का गन्ध सुखाकर स्थिति पूरी हुए बिना ही कर्मों की निजरा होती है वही आत्मा का हित करने वाली है। इसीसे शनैः शनैः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सवर रहित निजरा से नवीन कर्मों का बन्ध (सम्बन्ध) होता है जैसे नौका के जल प्रवेस करने के छत्र को न बन्द करने से नौका में निरन्तर जल आता रहता है वैसे ही बिना कर्माक्षय का निरोध किये निरन्तर कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। और जब तपस्वरूपी

अग्नि में सुवर्ण रूपी आत्मा को ज्ञानरूपी सुहागा ढालकर वारिज रूपी भस्त्रा (धोकनी) स घमा जाता है तब कषायदि रूप कीट कालिमा नष्ट होती जाती है और सुवर्ण रूपी आत्मा शुद्ध होती जाती है। इस प्रकार होते-होते सम्पूर्ण कर्मों की जब निजरा हो जाती है; तब यह आत्मा जमजरा मरखारोगशोकादि बन्धन स विमुक्त होकर अनन्त आनन्द को पाता है। इसलिए इस निजरा की निरन्तर आराधना करो जिसस ससार के सब दु:खों से मुक्त पाकर अविनाशी सुख के अधिकारी बनो।

## धर्मानुप्रेक्षा

सम्बजगत्स हिदकरो धम्मो तित्थकरेहिं अक्खादो ।

धरखा त पडिबराखा विसुद्धमखसा जगे मखुथा ॥ ६० ॥ (मूला अ )

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् का हितकारक धर्म है ऐसा तीर्थकरों ने कहा है। जिन मनुष्यों ने विषुद्ध अन्ध करण मे उस उत्तमज्ञमादि रूप धर्म को धारण किया है जगत् मे वे महात्मा धर्म हैं कृतार्थ हैं।

## धर्म का स्वरूप

ससार की दु:ख परम्परा स हटाकर जो निराकुल सुख शान्ति देने वाला है उसे धर्म कहते हैं। धर्म नाम वस्तु के स्वभाव का है। जिस वस्तु का जो वास्तविक स्वभाव होता है वही उसके लिए हितकारी है। जब वस्तु में किसी अन्ध पदार्थ का मेल होता है तब वह विकृत और मलीन होजाती है। जैसे पारे क साथ गन्धक का योग होने पर कजला हो जाती है जो पारे के रङ्ग-रूप आदि गुण की विकृत अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव राग द्वेष रहित निराकुल अवस्था है। उसके कर्म के संयोग ने विकृत बनाकर राग द्वेष रूप बना दिया है। इस विकृतावस्था को दूर करने के उपाय को भी धर्म कहते हैं उस उपाय रूप धर्म का नाम वारिज है। जैसे पारे के साथ गन्धक का संयोग होने पर कजली बनती है। पारे की उस विकृत अवस्था को दूर कर पुन शुद्ध अवस्था में लाने के लिए रासायनिक विधि से अग्नि में तपा कर उस भे गन्धक से अलग कर लिया जाता है। तब पारा अपनी शुद्ध अवस्था का प्राप्त होजाता है। उसी प्रकार कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुई रागद्वेषादि रूप मलीन अवस्था को दूर करने के लिए विवेक ज्ञान रूप रासायनिक विधि से वारिज रूपी अग्नि द्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाता है। इसलिए उस शुद्धि के उपाय भूत वारिज को भी आगम में धर्म कहा है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को तथा वस्तु को शुद्ध करने वाले-एसक शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कराने वाले उपायों को भी धर्म कहा है। अत आगम में धर्म के चार लक्षण बताये हैं :-

“धम्मो वत्थुसहायो स्वमादिभावो य दमविहो धम्मो ।  
चारिच खलु धम्मो जावाण्ण रक्खवो धम्मो ॥”

अर्थान्—१ वस्तु का स्वभाव धर्म है । २ उत्तमज्ञानि दशलक्षण धर्म है । ३ महाव्रतादि तेरह प्रकार का मुनि-चारित्र और अणुव्रतादि गृहस्थ चारित्र धर्म है । ४ जीवों की रक्षा करना धर्म है । इनमें से पहला धम का मुख्य लक्षण जो वस्तु का स्वभाव है उसी को ( आत्मा के स्वभाव को ) स्पष्ट करने के लिए ज्ञानादि को धर्म कहा है । क्योंकि ज्ञान मार्गव आज्ञा सब शौचादि आत्मा के स्वभाव है । इसलिए इनका वस्तु-स्वभाव रूप धम के मुख्य लक्षण में समावेश होजाता है और जो तीसरा और चौथा धम का लक्षण है, दोनों वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति के उपाय हैं । क्योंकि चारित्र का पालन करने से तथा स्वध्या और परध्या का आचरण करने से आत्मा की वाचहारिक शुद्धि होती है और धीरे ० आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है ।

सका आशय यह है कि जिन जिन उपायों से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की ओर मुक्तता है, तथा जिनका आचरण-धारण व पालन करने से आत्मा में एकवेश व सर्ववेश निराकृता की प्राप्ति होती है उन्हें ही धम समझना चाहिए ।

दश लक्षण धर्म

उत्तम स्वामा

यह शरीर मल का षडा है । आत्मा का शत्रु है । आत्मा में जितने भी क्रोधादि वा राग द्वेषादि शत्रु उत्पन्न होते हैं व इसी के निमित्त से उत्पन्न होते हैं । देखो जब तुम तप की साधना के लिए परगृह में आहार के लिए पात्रो प्रतिष्ठापनासमिति ( मल मूत्र त्याग ) के लिए जाओ आगम की आज्ञा के अनुसार प्रामाण्य के लिए मार्ग में ईर्ष्या समिति का पालन करते हुए चलो, उपदेश देते होओ ध्यान निमग्न होओ या अन्य किसी स्थिति में होओ किसी भी समय कोई भी दुष्ट जीव अपने अशुभ क्रम के प्रेरित हुआ तुम्हें दुर्वचन कहे कि यह अज्ञानी पशु है, धर्मो है पाखण्डी है भूत है इत्यादि मन में शोभ उत्पन्न करने वाले मर्म मेरी कठोर निष्ठुर वचन बोले तुम्हारी जन समाज के सम्मुख हसी करे, अपमान और भनादर करे तुम्हें पीटने लगे और प्राणघात का भवसर भी आवे तो भी उस समय तुमको विचारना चाहिए कि ये दुर्वचनादि क्या पदार्थ हैं और ये दुर्वचन किसे कह रहा है ? ये वचन तो पुद्गल हैं इसने क्रोधादि के बरा होकर अपनी आत्मा का घात करके कलुषित परिणामों से तथा अपने तालु औष्ठ आदि के न्यापार से ये वचन उत्पन्न किये हैं । इनका मेरी आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध ? कोई सम्बन्ध नहीं है । मेरी आत्मा अमूर्त है और ये पुद्गल हैं । जैसे आकारा में जलती हुई अग्नि आकारा का कुछ भी बिगाड

नहीं करसकती क्योंकि वह अमृत है उसी प्रकार मेरी अमृत आत्मा का ये कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। आत्मा तो दूर रहा ये तुर्वचन मेरे इस शरीर का भी कुछ बिगाड़ नहीं करसकते। फिर रोष करना किन्ती मूर्खता है ? इसने जो तुवचन कहे या गाबी दी है वह किम को दी है ? इस शरीर को ही तो दी है। मुझ तो इसन दत्ता ही नहीं। इसकी चर्म कण्डू मुझे देख नहीं सकती और यदि देख लेती तो यह कभी तुवचन नहीं बोलता। इस शरीर को देखकर इसन गाली दी है और यह मेरा नहीं है— स प्रकार चिन्तन करो।

यदि कोई मारने लगे तो सोचो कि यह किसको मारता है ? मुझ को तो नहीं मार रहा है। मैं तो अजर अमर हूँ। स शरीर को मारता है इससे मेरा क्या सम्बन्ध ? यह शरीर तो ऊर्म-कृत है मेरा इसमें क्या है ? इस प्रकार विचार करो। यदि तुम उसपर क्रोध करोगे तुम्हारा ही अहित है। क्रोधी मनुष्य प्रथम अपने आत्मा की हिंसा करता है अपने शुद्ध स्वभाव का घातकर द्वेष उत्पन्न करता है अपने ज्ञान गुण का विनाश कर अज्ञानी बनता है। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो शान्ति स्वभाव है। यदि तुमने अपने शान्त स्वभाव का नाश कर क्रोध किया तो तुम्हारा जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। कहीं जल में अग्नि लगते नहीं सुना और नहीं देखा। जिनेन्द्र समान रूप क धारक बनकर यदि तुम क्रोध करागे तो मुनिपद की अवहेलना होगी। तुम्हारे निमित्त स जिनधम कलङ्कित होगा। शूर वीर युधि की क्षमा ही दाल है। तुवचनार्थि के प्रहार को क्षमा रूपी दाल पर होलन स शत्रु स्वयं हार जावेगा और तुम्हारी अवजय होगी। यदि तुम उसे वास्तव में पराजित करना चाहते हो तो उसका क्रोध शान्त होजान पर तुम्हारा अपराध न होने पर भी तुम उससे अनीत भाव से क्षमा मांगो और कहो कि मैं सज्जन। तुम मेरे अर्ध उपकारी हो। तुमने मुझे अपराध से सचेत किया। तुम्हारे चित्त को मेरे द्वारा बड़ा दुःख हुआ। मैं तुमसे इसकी क्षमा चाहता हूँ। यदि तुम्हारे म उसके प्रति किसी प्रकार के उपकार करने की शक्ति है तो उसका ऐसा उपकार करो कि उस उपकार के भार सं वह इतना दब जावे कि जन्म भर तुम्हारे गुण को न भूले। उसका अन्त करण अन्तर ही अन्तर तुम्हारे लिए धन्य धन्य की ध्वनि करता रहे। सस तुम्हारी महिमा की महक अदृश्य ससार में भी महकने लगेगी। जिसके पान क्षमा रूपी गन्ध है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जिसन क्रोध शत्रु को नीत लिया है वही वीर पुरुष क्षमा को धारण कर सकता है। कायर मनुष्य इसे धारण नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा बाह्य तुच्छ निमित्तों क संयोग से विकारवान् होती है वह क्रोध शत्रु से लोहा नहीं ले सकता है। उसको परास्त करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है इसीलिए कहा है क्षमा वीरस्य भूषणम् क्षमा वीर पुरुष का भूषण है।

क्षमा तभी मानी जाती है जब कि अपराधी के प्रति मन में विकार भाव उत्पन्न न हो। किसी बलवान और समर्थ पुरुष के ऊपर उल्टे अस्मत्त्व मनुष्य का वश न चलने पर वह मन ही मन में क्रोध को दबाये रहता है और ऊपर से क्षमा भाव दिखाता है तो वह क्षमा नहीं है। क्योंकि उसके अन्त करण में क्रोध की अग्नि दहक रही है। यदि उसके हृदय में इतनी निमलता हो कि उसमें प्रति-

क्रिया ( बन्ना लेने ) के भाव न हों और परोक्ष में भी वह उसकी बचनादि द्वारा निन्दा न कर प्रशंसा करे तो उस असमय व्यक्ति के भी क्षमा कही जा सकती है किन्तु जो समर्थ है और असमय के ऊपर क्रोध न कर उसके प्रति उदार भाव प्रदर्शित करने के लिए उस अशक्त व्यक्ति पर उपकार करने का अवसर दृढ़ता है तथा अवसर मिलते ही उसका उपकार करके प्रसन्न होता है वह क्षमा रत्नावलीय है ।

प्रश्न—क्षमादि के साथ जो उत्तम शब्द लगा है उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—क्ष्याति सासारिक लाभ पूजा सत्कार आदि की अभिलाषा न रखकर क्षमादि का धारण करना धर्म माना गया है । इस बात को सूचित करने के निमित्त उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इस क्षमा के धारण से ब्रत और शील की रक्षा होती है । क्षमा धारण करने वाले के कोई शत्रु नहीं होता । उसके स्वतः सब मित्र बन जाते हैं । इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दुःख का विनाश होता है । समस्त प्राणी उसका आदर सम्मान करते हैं । उस को अलक्ष्य वस्तु का लाभ और मसारा में क्ष्याति होती है । उनके सिवा और भी अनेक गुण उत्पन्न होते हैं । और क्रोध करता है उसके निकट बन्धु भा शत्रु बन जाते हैं । माता पिता भी क्रोधी पुत्र का संयोग अनिष्ट कारक समझते हैं । धर्मपत्नी भी क्रोधी पति का अनादर करती है । पुत्र उसकी अवहेलना करता है । मित्र सम्बन्ध तोड़ लेते हैं । विना कारण सारा संसार उसका शत्रु बन जाता है । उसके धर्म अधकर्म और मोक्ष चारों पुरुषा नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार क्रोध-जन्य त्रुषों का विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए ।

क्रोध के कारण उपस्थित होने पर आत्मा में विचारना चाहिए कि इसमें मेरा दोष है या नहीं ? यदि मेरा दोष है तो मेरा क्रोध करना निष्कारण है । इमन क्या मिथ्या कहा ? जो मेरे में त्रुष है उसका प्रकाशन किया । मैं अपराधी हूँ । मुझे अपने अपराध का दण्ड मिलना आवश्यक है । यदि अपना त्रुष न हो तो ऐसा विचार करे कि कोई मुझे बुरा भला कहे गालो गलोच व या निन्दा करे तो मेरी क्या हानि है ? मैं निर्दाय हूँ । मुझे क्या डर है ? इससे मेरी आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती । इसलिए मुझे क्षमा धारण करना चाहिए । यह अज्ञानी है और मैं ज्ञानवान् चरित्रवान् हूँ । यदि मैं भी इमके समान क्रोध करूँगा तो इसमें और मुझमें क्या अन्तर रहेगा ? मैंने वह जगत् पूव्य त्रुष धारण कर रखा है जिसकी बकवर्ती और देवेन्द्राणि भी पूजा करते हैं । अज्ञानी लोग तो मारने लगजाते हैं । इसने मुझे मारा तो नहीं । दुष्ट जीव मारने भी लग जावें तो सोचे कि इसने मुझे प्राणरहित तो नहीं किया । क्योंकि क्रोधी दुष्ट जीव तो प्राणों का घात तक करते हैं । पुरातन समय में सुकोशल पंच पाण्डव आदि मुनियों पर कितना भयानक उपसर्ग किया गया था । यदि प्राणों के घात का अवसर आजावे तो विचारे कि कि मेरा अहो भाग्य है कि सावधान अवस्था में मेरी मृत्यु का समय उपस्थित हुआ है । यह शरीर तो अवश्य क्षुद्रता अनेक रोगादि पीडित अवस्था में प्राण क्षुद्रते तो दुर्घ्यानि से मरना होता । यह तो मुझे बड़ा क्षाम हुआ जो सावधान और ज्ञानवैराग्य अवस्था में प्राणों का वियोग होता है । मैंने इसका कुछ भी अपराध नहीं है । यह तो निमित्त मात्र है । मैंने पूव जन्म में जैसा कर्म उपाजोन

किया उसका फल मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा। यह बेचारा क्या कर सकता है ? प्राण बियोग अवश्य होता उसमें यह निमित्त मात्र है। यह नहीं तो दूसरा निमित्त अवश्य मिलता। मुझे इस समय जमा धारण करना श्रेयस्कर है। सबसे बड़ा लाभ मुझे यह है कि मेरी आत्मा की निधि जो रत्नत्रय है, वह सुरक्षित है। शरीर तो मेरी वस्तु नहीं है। यह तो कम ने दिया था और वह अपनी दो हुँदै वस्तु लेता है। मेरी वस्तु तो मेरे पास है। उसको कोई छीन नहीं सकता। यदि मैंने इस समय अपनी आत्मा में क्रोध शत्रु को बुलाया तो वह दुष्ट मेरी चिर उपाजित रत्नत्रय निधि को लूट लेगा और मैं हीन हीन होकर अनन्त काल के लिए दरिद्री बन कर न जाने कौनसी गति में भटकता फिरूँगा। अत एव मुझे माता के समान सब वा सुल देने बाकी जमा धर ही धाराचन करना चाहिए।

### उत्तम मार्दव—

मान कषाय के अभाव से आत्मा में जो विनय (नम्र) भाव उत्पन्न होता है उसे मार्दव गुण कहते हैं। मान दो प्रकार का है— १ शुभ रूप २ अशुभ रूप। जिन कार्यों से आत्मा क्र पतन होता है समाज और राज्य में अपमान होता है उन नीच कार्यों को प्राणान्त कष्ट आने पर भी नहीं करना उसे शुभमान कहते हैं। इमी का नाम स्वाभिमान है। कहा भी है —

अपमानकर कर्म येन दूराभिपिध्यते ।

स उच्चैश्चैतसां मान परं स्वपरघातक ॥ ५६ ॥ (ज्ञान०)

ॐथ—उन्नत विपत्त वाले मनस्वी मानवों का वह मान प्रशस्त माना गया है जिस मान से अपमान जनक कृत्यों का दूर से ही त्याग किया जात है। मैंने उत्तम जाति में जन्म लिया है। प्रशंसनीय कुल और सब भद्र तिन जन्म को पाया है। क्या अचम व घमहीन मनुष्यों के योग्य कार्यों को करूँगा ? कल्पि नहीं। इस प्रकार के स्वाभिमान को प्रशस्त मान माना है। ऐसा मान तब तक उपादेय है जब तक शुद्ध उपयोग तथा आत्मध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो रही है। उस समय तो यह मान भी सबधा त्याज्य है। भाव यह है कि आत्मा की उन्नति के लिए तथा दूसरों को उन्नत मार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए मान पूर्वावस्था में उपादेय हो सकता है। किन्तु जो जाति कुल, ज्ञान शरीर, ऐश्वर्य, तपस्या आदि का अभिमान करता अराभ मान है—सबधा उस मान का त्याग करना चाहिए। श्री स्वामी समतभद्राचार्य ने कहा है—

ज्ञान पूर्वां कुल जातिं बलमृद्धिं तपो वपु ।

अष्टाचाभित्त्व मानित्त्व म्मधमाहुर्गतम्यथा ॥ १ ॥ (रत्न करक आ०)

मेरी जाति श्रेष्ठ है मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। तू नीच जाति व नीच कुल का है। मैं तुझसे श्रेष्ठ हूँ। मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है—मैं सबसे अधिक ज्ञानवान हूँ तुम सब मूख हो। मैं बड़ा भारी ऐश्वर्यवान हूँ। ये रंक मेरी बराबरी क्या करते हैं ? मैं जगत् में पूज्य हूँ। सब मेरा मान्य करते हैं। मेरे में इनका सामर्थ्य है कि इन सबको क्षण भर में पीस डालूँ। ये अशक्त मेरी शक्ति को नहीं जानते हैं। इनको मजा चरना दूंगा। मैं बड़ा भारी तपस्वी हूँ। मेरी तपस्या के प्रभाव को ये रंक क्या समझते हैं ? मेरा शरीर बड़ा सुन्दर है, ये सब कुरूप निम्न के पात्र हैं। त्याग प्रकार में कम के ज्ञापोपशम से प्राप्त हुए ज्ञान आनन्द-संसार कुल जाति बल अद्धि ( ऐश्वर्य ) तप और शरीर का अभिमान करना अशुभमान है। क्योंकि यह अभिमान आत्मा को नाचे गिराने वाला है—सका सम्बन्ध पुत्रल से है। इसका आशय कम के ज्ञापोपशम से प्राप्त तथा क्षणभंगुर है। अपनी ( आत्मा की ) वस्तु नहीं है दूसरे की ( कम की ) थोड़े काल के लिए धरोहर है। दूसरे की सम्पत्ति से अपने को धनवान समझना चाहा जैसे हास्य व निम्न का पात्र होता है वैसे ही उक्त जाति आदि वस्तुओं का निमित्त से अभिमान करने वाला हास्य वान का पात्र होता है।

शङ्का—जाति कुल पूजा ( आनन्द सम्मान ) शरीरान्ति के बल ऐश्वर्य ( वैभव ) और शरीर सौन्दर्य का अभिमान करना तो भ्रुत्चित है क्योंकि पुत्रल-जन्य है किन्तु ज्ञान और तपस्या ये दोनों तो आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आत्मा के हैं। और आत्म-गुण का अभिमान करना अप्रशस्त पुण्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—जाति आदि की तरह ज्ञान और तपस्या भी कम के ज्ञापोपशम से होते हैं इसलिए कमजन्य हैं। ज्ञानावरण के ज्ञापोपशम से जो ज्ञापोपशमिक मति भुत्तान्ति ज्ञान हाता है वही मन् ( गव ) को उत्पन्न करता है। कम के सन्ध्या लय ( अभाव ) से उत्पन्न होने वाला ता क्षिफ केवलज्ञान है। केवलज्ञान से गव नहीं होता क्योंकि वह आत्मजन्य है और सन्ध्या मान का नाश होने से उत्पन्न होता है। सके अतिरिक्त रोष मत्यादि चारों ज्ञान ज्ञापोपशमिक हैं। अर्थात् ज्ञान ज्ञाना के साथ कम का उत्पन्न रहता है इसलिए ये अभिमान उत्पन्न करते हैं।

सी प्रका वही अपूर्ण तपस्या अभिमान न पैदा करता है। जन्मके साथ मोहनीय कर्म का सम्बन्ध है। मोहनीय कम के उदय से ही गव उत्पन्न होता है इसलिए ज्ञापोपशमिक और अपूर्ण तपस्या ये आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। इसलिए अभिमान को पैदा करते हैं। किन्तु इनका गव न करने पर ही आत्मा उन्नत-माग पर लगा रहता है और अभिमान उत्पन्न होते ही उन्नत-माग से गिर जाता है। जैसे ऊपर उड़ती हुई गैंग अवश्य नीचे गिरती है।

हे आत्मन् ! तू जाति और कुल का क्या अभिमान करता है ? जाति और कुल तेरा स्वरूप नहीं है। अनन्त काल से ससार में

भ्रमण करते हुए तुने अनन्त बार ऐसी जाति और ऐसा कुल पाया है। परन्तु उससे तेरा क्या भला हुआ ? तेरा भला तो इसी में है कि ननका अभिमान त्याग कर मानव धर्म को अङ्गीकार कर। सकल जना उत्तम जन्म और उच्च कुल प्राप्त करना निष्कल है। मानव (चित्त) धारण करने वाला मनुष्य मक्का आगर-सम्मान पाता है। नम्रता शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। कोमल आत्मा में ही जिनधर्म फलता और फूलता है। मानी का आत्मा कठोर पापपूर्ण क समान होता है। उसमें चित्त धर्म का तथा उत्तम गुणों का अङ्कुर नहीं जमता। विनयवान शिष्य पर गुरु का विनीत पुत्र पर पिता का नम्र भृत्य पर स्वामी का स्वतः अनुराग होता है और वे गुरु स्वामा आदि अपने विनीत शिष्यादि की सदा उन्नति चाहते हैं और उन्हें सदा सुखा रखने में प्रयत्नशील रहते हैं।

जो तुने थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया है वह भी पराश्रित है। तीव्र वैशनीय कम के उच्च से शरीर के निर्बल होने पर वह लुप्तसा हो जाता है। कवलज्ञानी और पूरा अनुज्ञानी के ज्ञान सत्य के सामने तेरा यह अल्पज्ञान जुगनु के समान भी नहीं है। तू इस पर क्या इतरता है ? ज्ञान का फल तो चारित्र्य का आराधन और मोक्ष की प्राप्ति है। इस ज्ञान रूपी रत्न को तू अभिमान रूपी कीचड़ में क्यों फँक रहा है। पुण्य योग सत्य कुछ ज्ञान प्राप्त किया है तो नम्रता धारण कर अपनी आत्मा को सन्मार्ग में लगाने का प्रयत्न कर। यही तेरे ज्ञान प्राप्त करने का सुफल हो सकता है।

शरीरालि का बल भी लघु नश्वर है। शरीर में थोड़ा सी व्याधि के उत्पन्न होते ही यह विलीन हो जाता है। जो पहले बड़े बलवान पहलवान थे वे शरीरालि व्याधि के उत्पन्न होने पर अतिनिर्बल होते देखे गये हैं। यदि तुमने वीर्यांतराय कम के चयोपराम से शरीरालि की शक्ति पाई है तो उसको ज्ञानाभ्यास और तप के आचरण में लगाओ जिससे सन्त के लिए सुखी बन जाओ।

राज्यादि के वैभव का अभिमान करना भी मत्त अज्ञानता है। जो आज राज्य का अधिपति है कल वही प्राणों की भिक्षा मागता निर्वहण देता है। वह अपने प्राण बचाने में भी असमर्थ होकर इधर उधर छिपता फिरता है। जिस राज्य वैभव पर इतरता था वही उसके प्राणों का पातक और अतिनिन्दनीय पर्याय में जन्म लाने का कारण बन जाता है। कहा भी है—

कव मानो नाम ममारे जन्तुव्रजविदम्बके।

यत्र प्राणी नया भूत्वा विष्टामध्य कृमिमवेत् ॥ १ ॥ (ज्ञान०)

अ०—सम्पूर्ण जीवों की विदम्बता करनेवाले स मसार में मान किम वस्तु का किया जावे ? इस संसार में राजा भी विष्टा का कीड़ा बन जाता है। अर्थात् जो अभी गजा बना हुआ है उनी आवाय में मरकर विष्टा में कीड़ा उत्पन्न होता देखा जाता है। फिर अभिमान

किन्तु धान का किया जावे ?

जो वैभव इस भय में भी अनेक उपद्रव और पाप का जनक है और परभव में नीच गति का देने वाला है, उसका अभिमान नौन उद्धिमान करेगा ?

शरीर का सौन्दर्य इन्द्र धनुष के समान थोड़ी देर तक टिकने वाला है। जिसका शरीर कल्याणस्था में अत्यन्त मनोहर था, वेग्न आग्नि फोड़ा चुसी के हो जान से युवावस्था में वही भयानक दिखाई देने लगता है। यह रूप तो क्विरादि वृक्षित पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। जो युवती यौवनावस्था में अप्सरा को अप्सरा के समान समझती थी वह वृद्धावस्था में अपने को चुडेल के समान देखकर पश्चात्ताप करती है। अतः पूर्व कर्म के उदय से यदि तुमने सुन्दर और निरोग शरीर पाया है तो इससे पुण्योपाजन करना तथा तपस्वरक्षादि द्वारा कर्मों की निजरा कर उसको सफल बनाना चाहिए। जो उस रूप का अभिमान करता है वह अनेक दुष्कृत्यों में फँस कर अपना नारा करता है। इसलिए रूप का अभिमान आत्मा का अहित करने वाला जानकर उसका त्याग कर मानव धर्म धारण करो।

### उत्तम आर्जव

माया का त्याग करने से आज्ञाव गुण उत्पन्न होता है। आर्जव नाम मन वचन और कर्म की निष्कण्ट प्रवृत्ति का है। मायावी-कपटाचारी मन में कुञ्ज और विचारता है वचन से कुञ्ज और कहेता है और शरीर के द्वारा कुञ्ज और ही करता है। महात्मा और दुरात्मा की पहचान करन के लिए कहा है—

“मनस्ययद्भवस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्वि पापनाम्।  
मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम् ॥ १ ॥”

जिनकी मन वचन और कर्म की एकसी प्रवृत्ति है अर्थात् जैसा मन में सोचते विचारते हैं वैसा ही मुख से बोलते और वैसा ही शरीर से करते हैं उन्हें महात्मा कहते हैं। और जो मन में कुञ्ज रखते हैं मुख से कुञ्ज और कहते हैं और करते कुञ्ज और ही हैं उनको दुरात्मा ( दुजन ) कहते हैं।

मायाचार रुई से लपेटी हुई अग्नि के समान है। जो थोड़ी देर तक ही ज्वला रहकर बड़ी तेजी से बाहर प्रकट होता है। ज्वल-कण्ट से किया हुआ दुष्कृत्य ज्वला नहीं रहता। यह तो पानी में दबाये हुए मल के समान अवश्य सबके समक्ष प्रकट हो जाता है, माया चारी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता। उसका पद पद अपमान होता है। उसके परिणाम निरन्तर क्लृप्त रहते हैं और वह सदा

भय और शंका से व्याकुल रहता है। उसके हृदय में अनेक सकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। जिसस मतत अशुभ कर्मों का बन्धन होता है। निगोद उसकी भावी निवास भूमि होती है और इस भय में भी वह सदा दुःखी रहता है। जो ज्ञान मायाचार करके थोड़े देर तक अपने मनोरथ को मफल हुआ समझ कर हृष मानते हैं वे मूर्ख अमूर्ध मानव जन्म को पापरूपी मलवस्त्र (की वह) में फँकते हैं। माया के विषय में कहा है—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्णैर्बाममन्दिरम् ।

पापपङ्कमहागर्भो निकृति क्षीरिता बुधे ॥ १ ॥ शाना

अर्थात्—यह माया अनेक अज्ञानों की जन्म भूमि है। अर्थात् मायाचारी मनुष्य में अनेक खोटी २ बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं जिनसे वह अपना वृत्त का नाश करता है। वह अपयश का मन्दिर होता है। और पापरूपी कीचड़ का वह गहरा खड्डा होता है। अर्थात् उस की आत्मा में पाप ठसाठस भरजाता है। इसीलिए वह निगोद का पात्र होता है।

मायाचार नाम कुण्डलिता का है। जिसका आत्मा कुण्डलित है उसके अन्दर अति सरल जनधर्म कदापि निवास नहीं कर सकता जैसे टेढ़े म्यान के भीतर सोचा स्वप्न (खाहा) कभी नहीं जा सकता। जिसका मन आर्जव (सरलता) गुण से युक्त है वह प्रत्येक स्थान पर आनन्द पाना है। उसका आत्मा सदा प्रमत्त रहता है उसमें अनेक गुण स्वतः आकर निवास करते हैं और वह प्राणी मात्र का विश्वास पात्र होता है। इसीलिए उस भय और पर भय म दुःख देनेवाली माया (दल रूप) का त्याग कर आर्जव (सरलता) धम को अङ्गीकार करे।

### उत्तम शौच

लौभ का अर्थ याग करने से जो सन्तोष उत्पन्न होता है उस शौच कहते हैं। संसार में आत्मा का सबसे महान् शत्रु लोभ है। जिसका मन में निर्लभता उत्पन्न हो जाती है उसको लोग देवता के समान पूजते हैं उसपर विश्वास करते हैं, उसकी महिमा संसार में सुय के प्रकार का समान सबत्र फलती है और वह सब गुणों का आश्रय हो जाता है।

### लौभ का भेद और उनका स्वरूप

संसार में लोभ चार प्रकार का होता है—१ जीवित रहने का लोभ २ आरोग्य का लोभ ३ इन्द्रिय-विषय का लोभ और ४ भोगोपभोग का लोभ। ये चारों स्व और पर के भेद से दो दो प्रकार के हैं—

स्वजीवित लाभ और परजावित लोभ स्वआरोग्य लाभ या परआरोग्य लोभ । स्वइन्द्रियलोभ और परइन्द्रियलोभ ।  
त । स्व भोगोपभोग-लोभ और पर भोगोपभोग-लोभ

स्वजीवित व परजावितलाभ—स्वयं पुनः काल तत्र जीवित रहन के लिए तथा आभीय वधु पुत्रादि को जीवित रखने के लिए मनु य अनन्य प्रकार के अनुचित उपायों का अवलम्बन लेता है। अनन्य पदार्थों का भक्षण स्वयं करता और करता है। मिथ्या ग्री कुलिंगी चण्डा मुण्डी भवाना भैरु आदि की आराधना करता है। परजाल समान देर पातक करने में भी नहीं चूकता। अनेक प्रकार के कृत कपट करता है।

स्व पर आरोग्य लोभ—अपन को और पुत्र-स्त्री आदि को नीरोग करने के लिए साम-भन्जित मिश्रित अशुद्ध औषधियों का स्वयं मवा करता और पुत्रादि को भी करता है। उसका भयानक पदार्थों का अवेक ज्ञान नष्ट हो जाता है। रात्रि भोजन आदि पापाचार करता है और लोभन करता है। पर लोभ का भय लुप्त हो जाता है। क्या अमपूरा आचरण करने में यह या उसके अ-दुष्टस्त्री विर काल तक जीवित और नीरोग रह जाये ? यह उक्त अज्ञान और मोह का मानस्य है जो तम नर भव रामान कल्पवृक्ष को अनुचित लोभ के बश होकर भस्म के निमित्त चलता है। जीवित और आरोग्य के लिए जिन धमयुक्त उपायों का आश्रय लेना तो आवश्यक है। उसके विपरीत मांग का आश्रय लेता म भय और परभय का विनाश कर पर त । नरकादि मानस त्रेन वाला है। तन्मा समझकर इस अनुचित लोभ का त्याग करना चाहए।

स्व-इन्द्रिय विषय व पर-इन्द्रिय विषय का लोभ—इन्द्रिय विषय क बशी भूत हुए प्राणी सप्सर में दुरा । त्र ला म निरन्तर जल रहे हैं। विषय लाभ में अंधे होकर अपन प्राणा नष्ट हो अहुति कर रहे हैं। ग्लानि इन्द्रिय क बश हावा गी म गिर कर बंधवधा त अनक कष्टों को सहता है। रसना इन्द्रिय क बश मखला जल म सत म अना गता इन्द्रिय है। घ्राण इन्द्रिय क बश भ्रमर वमज म वन्द होकर मल्यु का शिकार हाता है। चक्षु इन्द्रिय क लोभ म पतङ्ग ( कीड़ ) गी म गिर कर अपनी आहुति देता है। श्रोत्र-इन्द्रिय के अधीन हुआ हिरन बहेलया के जाल में फसता है। ता पर्यं यह है कि एत एत इन्द्रिय के विषय के लोतुपी प्राणी अपन प्राणों से हा त धा घंटते हैं। तो फिर यह मानवपशु पावा इन्द्रियों के विषय का लालसा से ललचाकर किस मुग्ध की इच्छा रखता है ? यह समझ म नहीं आता। हे आमन ! इन इन्द्रियों की प्राप्ति पूवज म कृत क रोर तपस्या स हुई है। इसालए विषय-विषय का नष्टण करके इनका विनाश मत करा। अ यथा भवभव म इनक लिए तरमत रहोग अत्र निमोद में या नरक में सत्काल काल तत्र अचेत अवस्था म या धार सतापशाल अवस्था म पडे हुए अन त दु ख स योग ।

या ज्या ये त्रिया मद्र का चकटता को धारण करती हैं सो या मनुष्यों क कषाय रूप अग्नि अधिक प्रवृत्त होती जाती है। अतः ज्ञान और वराग्य भावना म कषाय आग्नि का शमन कर त्रियाँ पर विजय प्राप्त करो।

न हा त्रियों को लुप्त व हाकुओ की मना समझो क्योंकि ये तुम्हारे अन्तःकरण रूपी किले क भीतर सुगन्धित अव्येक रूप रत्न को लुटती है।

त्रिय विषयो से ठगे हुए मनुष्य को विषय-वृष्णा बढ़ जाता है सन्तोष नष्ट हो जाता है और त्रिवेक त्रिलोभ हो जाता है।

विषया को हाहाहल त्रिय म भी बहुत आँक समझो। इनम मद्र और सरसों का सा अन्तर है। कालकूट ( विष ) तो एक पचास का घातक है अतः सरसों के सदृश है और विषय अन्तर्भवाँ में आत्मा का विनाश करने वाला है अतः यह मद्र के समान है। इसलिए जो तुम्हें नम्र अपनी आत्मा का रक्षा करता है तो स सगति म रहकर त्रिवेक ज्ञान हा। परपदाध क वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करो। लोभ को सीमित कर शन शन सके अभाव करो। जब तक आत्मा में परपदाध का लोभ रहता है सन्तोष नहीं होता और सन्तोष के अभाव से मन बाहर भटकता फिरता है।

संसार में जितन भो अत्याचार अत्याय आदि महापातक होते हैं उनका मुख्य कारण लोभ है। सलिए विषयादि के लोभ का त्याग कर ज्ञानोपाजन का व शीलानि गुणो का लोभ करो जिससे तुम्हारे आत्मा मस मनुष्य ज म म भा आन्त का अनुभव करे और परमम में है "यानि विभूति का भोगने वाला था"।

### उत्तम मत्य

प्राणियों को पीडा उपभ्र करने वाले वचन न बोलना तथा म्व और पर के लिए हितकारक प्रिय और परिमित वचन का उच्चारण कर। हो सय है।

असत्पुरुषा के सामने मौन धारण करना हा श्रेष्ठ है। क्योंकि आचार्यों न प्रशस्त ( मज्जन ) पुरुषों के मध्य साधु ( उत्तम ) वचन बोलन को सत्य कहा है। सका आशय यह है कि यानि कृत य मे जब चित्त डूब जाता है-थक जाता है उस समय यदि उपदेशादि के लिए वचनोच्चारण करना पडता स बान का ध्यान रखना चाहिये कि मरा बोलना इस समय उपयुक्त है या नहीं? जन समाज कैसी प्रकृति वाला है। शान्तस्वभाव है या उग्रस्वभाव। शान्तस्वभाव जनसमूह मे वचनोच्चारण करना-उम का व्याख्यानादि करना स्वपर का कल्याण करने वाला होता है और उग्रस्वभाव जन समूह हा तो मान धारण करलेना अथवा अपने निज काय स्वाध्यायादि में लग जाना चाहिये। अ यथा सदुपदेश का भी उरुपयोग होजाता है और अशान्ति का यानाकरण उपपन्न हो जाता है।

आचार्यों न सत्य क रा भेद कहे हैं—१ नाममय २ रूपसत्य ३ स्थापनामय ४ प्रतीत्यसत्य ५ संवृत्तिसत्य ६ संयोजना सत्य ७ जनपद सत्य ८ वशमय ९ भाषसत्य १ आर समयमय । नका विशेष वर्णन रहल किया जा चुका है ।

उक्त सत्य के भेदों का जानवर उनके अनुकूल बचन का उच्चारण करना सत्य है ।

सत्य बचन बोलनवाला मनुष्य ससार म पूज्य मा जाता है । उसपर शत्रु भी विश्वास करता है । प्राणीमात्र बसक्य आश्रय लेते हैं । मनुष्य जीवन की उत्कृष्टता सत्य बचन से ही मानी गई है । इसलिए जो बचन बोलने की शक्ति इस मनुष्य भव में प्राप्त हुई है उसको कटु कठोर तथा अभय पहचो के उच्चारण करने योग्य निश्च बचन बोलकर मन खोवो । सत्य होने पर भी बचन से दूसरे का चित्त पीडित हो एसे बचन को भी आगम मे असत्य माना है । जो मनुष्य लोभादि के बरा असत्य बोलता है उससे उमका स्वार्थ भी बिगड जाता है और और उह लोक में निन्दा का पात्र होता है । उमका बहपन क्षणभर म मिट्टी मे मिल जाता है । उसकी प्रतिष्ठा चरणोंपर लौटती है । उसकी पूज्यता पैरा स टुकराई जाती है और वह मन क लिए भयानक जन्तु बन जाता है ।

अन्य दगुणों स दूसर मनुष्यों का उतना अकल्याण नहीं होता जितना कि असत्य बचन से होता है । इसी असत्य बचन से संसार में मिथ्या शास्त्रों का प्रचार हुआ है । तीनसा निरमठ पाखंड की प्रवृत्ति म असत्यबचन द्वारा ही हुई है जिसके कि जाल में फसे असंख्य प्राणी हिसादि बोग पापों का आचरण कर रहे हैं ।

नरमहार करनवाले संभाम म असत्य बचन से ही प्रारंभ होते हैं । यदि मनुष्य शांतचित्त होकर पूर्णपर हितार्थित का विचार कर बचन निकाला कर । प्रथम मधुर और स्वयं हितकरक बचन बोला कर तो यह मयलोह रग्य सम्मान बन जावे ।

असत्य बचन बोलने म तो आत्मा के स्वाभाविक भावों का उवान म बड़ी शक्ति लगानी पडती है आत्मा कुठित होता है और सत्य बचन उच्चारण करने में आत्मा को आह्वान होना है । उमका प्रभाव सब सुननवाले तारों पर स्वन विदित हो जाता है । असत्य भाषी स्व और पर की हिसा करता है । क्योंकि वह असत्य भाषण कर अपन माचे निराकुल मात्र नो हिंसा करता है और असत्य से सुनन वालों के चित्त में गहरी चोट लगती है । उनका मय्य विनीण हो जाता है । इसलिए असत्यभाषी आत्मघाती और परघाती मानागया है । इसलिए जब सत्य बचनमृत से अपनी व दूसर ही आत्मा को आनंद मिलता है और उसक लिए कुछ कर भी नहीं होता तो इस असूच्य अमृत का आस्वादन क्यों नहीं करते ? इस सत्य क आचार पर सब ममार के कार्य होने हैं इसलिए सत्य के आश्रित सारा ससार ठहरा है ऐसा कहाजाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है । सत्य ही जीवन का आचार है और संसार के सब कृत्यों का मुख्य साधन है । इसलिए बचन बोलते समय पूरा सावधानी रक्षना योग्य है ।

## उचम मयम

बदकाय के जीवों का रक्षण और पाँवों इन्द्रिय और मन का निग्रह करना संयम कहलाता है। लोभादि के बरा बिलष आर कषाय में बढकते हुए मन रूपी मातङ्ग ( हाथी ) को बश में करने के लिए यह संयम अ कुश के समान है। अथवा कुमार्ग में गमन करते हुए हान्त्रय रूपी घोड़ों के लगाम के समान है—क्योंकि मन और इन्द्रिय को रोकने का नाम संयम है। इसका पालन करने से इन्द्रिय और मन का प्रसार रुककर आत्मा में स्थिरता आती है।

## मयम के मेर और उनका स्वरूप

संयम दो प्रकार का है—१ उपेक्षा संयम और २ अपहृत-संयम।

( १ ) उपेक्षा-संयम—देश काल-विधि के ज्ञाता उत्कृष्ट शरीर वाले मनोयोग उचमयोग एव काययोग का निग्रह कर तीन गुप्ति क धारण करनेवाले महामुनि के जो गगन-द्वार का अभाव होता है उसे उपेक्षा-संयम कहते हैं।

( २ ) अपहृत-संयम—पाँच समिति का आचरण करने से अपहृत संयम होता है। ईया भाषा एषणा आदान-निक्षेप और असंग ये पाँच समिति हैं। इनका विवेचन पहले कर आये हैं वहाँ से जान लेना चाहिये।

उन इन्द्रियाँ पाच समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार होता है। अर्थात् दृषि-श्रवण-स्पर्श-पाच रसन और त्रसकाय के जीवों की रक्षा और इन्द्रियों का निग्रह होता है। इसी ही अपहृत संयम कहते हैं।

वह अपहृत संयम तीन प्रकार का है—१ उत्कृष्ट मध्यम और २ जघन्य। जिनके प्रायुक्त वसतिक और आहार ये दोनों ही गण माचन हैं तथा ज्ञान और चारित्र किया जिनके पराधीन है तथा बाह्य के जन्तुओं की रक्षा का उपनिपात (संयोग) होने पर वसतिक आदि का त्याग कर जन्तुओं की रक्षा करने वाले मुनि के उत्कृष्ट अपहृत संयम होता है। अर्थात् वसतिक आदि में जन्तुओं का संलग्न हो जाने पर उन जन्तुओं को न हटाकर जो मुनि स्वयं उस वसतिक आदि का त्याग कर देते हैं उनके उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। कोमल पिच्छिका से उन जन्तुओं प्रमाजन करनेवाले मुनि के मध्यम अपहृत संयत हाता है। अन्य पुस्तकादि उपकरणों की इच्छा रखने वाले मुनि के जघन्य अपहृत संयम है।

उस अपहृत संयम का प्रतिपालन करने के लिए अभावशुद्धि आदि आठ शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं उनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

## मयमा का निवाम

संयमी का निवास तीन प्रकार का होता है। १ स्थान २ आसन और ३ रासन।

( १ ) स्थान—दोनों पौत्रों को चार अंगुल के अंतर पर स्थापन कर ऊपर नीचा अथवा तिरछा मुख किये हुए जिसमें अपना भाव लगा रहे अपन बल व शीघ्र के अनुसार कमचय करने के निमित्त संक्लेश परिणाम रहित होकर जो खड़ा रहता है उसे स्थान मन्ते हैं।

( २ ) आसन—यदि खड़ा न रह सके और खड़ा रहने की प्रतिज्ञा न की हो तो पयक ( पालथी भाङकर बैठना ) आदि आसन लगाकर बैठ जाये उसे आसन कहते हैं।

( ३ ) शयन—यदि बहुत काल तक शयन आसन से स्वल्प ( परिश्रम से थकना ) हो जाये तो मुनि अपनी मुजा का तकिया बना कर एक पमवाड अंग सुकोठ कर अल्पकाल पयक त श्रम दूर करने के निमित्त शयन करे—इसको शयन कहते हैं।

माज्ञान मोक्ष के कारण भूत समय के पांच भद्र हैं—१ सामायिक २ छेदोपस्थान ३ परिहारविशुद्धि ४ सूक्ष्मसाम्पराय, ५ और यथास्थान चारित्र्य। इनका स्वरूप पल उद्धृत आये हैं।

#### उत्तम तप

कम मा चय करन के लिए बाह्य और आभ्यंतर रूप से जो तप जाता है उस तप कहते हैं। उसके दो भद्र हैं—१ बाह्य और आभ्यन्तर। इन दोनों के उद्भव हैं। उनका विशद विवेचन तप आराधना में कर आये हैं। अभावकारायोग वृक्षमूलयोग और पर्यायोग स प्रकार तीन योग को तप के अतगत ममभला चाण्डि। इनका वर्णन भी पूव कर आये है।

#### उत्तम त्याग

चतन व अचतन २ प्रकार के परिग्रह के त्याग मिया आदि चौदह प्रकार के परिग्रह के उत्सर्ग करने (छोड़ने) को त्याग कहते हैं।

#### उत्तम आकिञ्चन्य

मरा संसार म चोड़ नहीं है। यह शरीर भी मरा नहीं है अ य पुत्र स्त्री आदि मेरे कसे हो सकते हैं ? मैं बड़ा पर अकेला ही आया हँ आर अकेला ही जाऊगा। आत्मा के सम्यक् दशन ज्ञान और चाण्डि मेरे हैं। ये ही मेरे साथ परभव में जाने वाले हैं। इस प्रकार अचिन्तन भाव का चिन्तन करन म आकिञ्चन्य धम प्रकृत होता है।

#### उत्तम ब्रह्मचर्य

( १ ) ब्रह्म ( आत्मा ) म चया करन को ब्रह्मचय कहते हैं। यह निश्चय ब्रह्मचय है। सम्पूर्ण रित्रियों का त्याग

करना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। स्त्रीमात्र क साऽ रागद्वेष सम्बन्ध का त्याग करने से आत्मा अपने स्वरूप में रमण करती है इसलिए मुख्य ब्रह्मचर्य क माषन को भी ब्रह्मचर्य कहा है। इसका विगल विवेचन ब्रह्मचर्य महाव्रत में किया जा चुका है।

## बाधि दुलभ भावना

ह आत्मन्। बोधि ( सम्यक्त्व अथवा दीक्षा धारण करन की बुद्धि ) का मिलना अति दुलभ है। तुमन अनन्त काल तो निगोद में निवास। कया है। क्योंकि सम्पूर्ण ससार निगोद जावो स भरा हुआ है। जीउ का चिर निवासस्थान निगोद है। उससे निकल कर प्रयत्नोकायिक आनि पक्किय अवस्था प्राप्त करना भी अति बठिन है। उससे निकल कर ब्रह्मपयाय प्राप्त करना बाह्य के समुद्र में खोई हुई हीरे की कणी क समान दुष्प्राप्य है। त्रस में विकल्पान्य चीवों में जन्म हुआ तो किस काम का ? उससे निकलकर पचेन्द्रिय पर्याय मिलना दुष्कर है। पचेन्द्रिय म पशु पक्षी आदि तियचों म उत्पन्न हुए तो वहाँ पर हित अहित का विचार न होन से बोधि की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य होकर भी यन्नि नीच ज्ञानि नीच कुल म्लेच्छ क्षेत्रानि में जन्म हुआ तो वह मनुष्य जन्म भी निरथक है। तुम्हें सब योग मिलगया है। उत्तम कुल ज्ञानि निगोद शरीर जन्म-धम का शरण सत्पगति आनि आत्म-कल्याण का सब योग प्राप्त हुआ है। यदि अब भी बोधि की प्राप्ति नहीं की तो अधिक म अधिक पू कोण प्रयत्न सहित नो हजार सागर तक त्रस पर्याय में रहकर त्रभको पुन निगोद का शरण लेना पडगा।

यह बोधि संसार में सब म अठ है। देखो ! तीथकर प्रकृति का उन्म भी बोधि के प्राप्त हुए बिना नहीं होता है। तथा तीथकर जब बोधि दुलभ भावना का चिन्तन करते हैं तब ही लोकातिक देव आते हैं गर्भोदिक कल्याण में नहीं आते इसलिए स्पष्ट है कि बोधि संसार मे सर्वोच्छ है। अत इसको हाथ से मत जान दो।

मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है ?

ससारमिह अशाने जीवाण दुल्लह मखुसत्तम्।

उगसमिलामजागा लवणसमुद् जहा वेव ॥ ६५ ॥ ( मूला हा )

अथ—लवण समुद्र की पूव दिशा में युग जुला जुड़ा ) डाला और पश्चिम दिशा में डाली समिला ( जूडे की कील )। उस कीला का जूड क छत्र म आकर प्रविष्ट होना जैसे अति दुलभ है वैसे ही इम अनन्त ससार में बौरामी लाख योनियों के मध्य मनुष्य पर्याय का मिलना अ त दुलभ है।

भावाथ—मोहनाय कम रूपी पराधि के बरीभूत हुआ यह जीव सदगुरुओं के सदुपदेश को कानों में सुनकर भी हृदय में धारण नहीं करता है।। उसके ससार का अन्त साक्ष्य है वनी निकट भय का मन बोधि की दुलभता को समझकर बसका आराधन करता है,

वही मनुष्य प्रयाय की दृढकृता को समझता है। उमक चित्त में देश कुल निरोगता आयु तथा शारीरिक-सामर्थ्य का सदुपयोग करने की उत्कण्ठा प्राग्गत होती है। प्राग् हृण्णित्य जेन धम इ असला स्वरूप का रहस्य उसी के अन्त करण में मल्लकता है। सत्युषों के सत्संगरूप कल्पवृक्ष का लाभ वही जेता है। जिनागम के अमृत समान एक एक वचन को कणपुट द्वारा पान कर अपुव आनन्द का अनुभव करता है। इस नश्वर शरीर म अविनश्वर पद देने वाली बोधि की प्राप्ति करने में ही अपना कस्याण मानकर इसके पालन में निरत हो जाता है। क्योंकि र साग क सत्र पदाय आमा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। वे जब स्वरूप है और आत्मा को बधन में डालने वाले हैं। आत्मा के बधन को खोलने वाली एक बोधि है।

जिसको रत्नत्रय में अनुगाग होता है, सम्यग्दर्शन की जिम्को प्राप्ति होगई है वह जीव अष्टपुद्गल काल के अन्दर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखता है। लेकिन जब तक वह चारित्र का अनुष्ठान नहीं करेगा, उसको सिद्धस्थान प्राप्त होना दुर्लभ है। अतः चारित्र को पूष्य कहा है। चारित्र का धारक पूषा के योग्य माना है। अतः हे आत्मन् ! जो तुमको ऐसे सर्वोत्कृष्ट पूष्य पद तो प्राप्त करना है तो इस पूष्यता की शरण भूत चिन्तामणि रत्न क समान बोधि को यत्नि पाकर तुमन को निया तो अनन्त काल के लिए दरिद्री बन जाओगे और दारिद्र्य का अनुभव करने के लिए निगोत्रादि प्रयाय म जा पहुचोगे इमलिए पूष्य मात्रधानी से इमका पालन करो।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप बोधि तथा मुनि राज्ञा धारण करने की बुद्धि-रूप बोधि सप्सर में अति दुर्लभ है। ऐसा समझकर जीवान् तत्त्वों का यथाय बोध करके अद्धान करो तथा दीक्षा धारण करने के परिणाम को अति दुर्लभ समको। उसकी प्राप्ति होना सुलभ नहीं है। कम के ज्ञयोपशमादि स यदि वह प्राप्त हो जावे तो चिन्तामणिरत्न से अनन्त गुणा अष्ट समझकर उसे हाथ से मत जाने दो। जिन्होंने अचिन्त्यपद तथा सिद्धपन् प्राप्त किया है वह सब इसी बोधि का माहात्म्य है।

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का जीवन में उतारते रहने से आमा म हृद मस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से संकृत हुई आत्मा धम से कभी नहीं डिगती है। कर्मश कर्मों का ज्ञय करके निमल बन जाती है—बिभल (मोक्ष) पद को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है।



## अथ अनगार भावना अधिकार

द्वान्श भावनाओं का गणन बाद अब अनगार भावन अधिकार का प्रारंभ किया जाता है। यद्यपि स प्रकरण की बहुत सी बातों का वचन यथावसर पहले किया चुका है फिर भी उन पर विशेष प्रकाश डालना उहाँ आवश्यक जान रहना है। क्योंकि मुनिधर्म में लिग-शुद्धि प्राप्ति श शुद्धियों का प्रकरण बड़ महत्व का है। स समझ बिना किसी की मुनि धर्म में स्थिति नहीं हो सकती। मलिन मुनि पद को विशुद्ध बनाने का लिए आग कही जाने वाली शुद्धियों का तिरन्तर अभ्यास करना चाहिए और उनकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। अनगार-भावना का अर्थ अधिकार है।

लिग वत् च सुद्धा वमन्ति विहार च । भक्त्वखाद्य च ।

उज्झ्वलसुद्धौ य पुण्या वक्क च तव तथा भाषण ॥ ३ ॥

रत्नमण्यारमुत्त त्मविधिपत्त विणयअथमजुत्त ।

चा प इ क्तिउत्ता तम्म पणम्मति पावाइ ॥ ४ ॥ ( मू अ भा )

अ — च नाग चक्रवर्ती आनि महापुरुष भा जिनके चरणारविन्द की पूजा करके अपना अहोभाग्य मानते हैं—अपने को वृत्ताय समझते हैं—ऐस गणत्यागा वैराग्य का मूर्ति अनार के राग्य कत्त यो को अग पदों में विभाजित किया है।

( १ ) लिगशुद्धि ( २ ) व्रतशुद्धि ( ३ ) वमनिशुद्धि ( ४ ) उद्धारशुद्धि ( ५ ) भिक्षाशुद्धि ( ६ ) ज्ञानशुद्धि, ( ७ ) उज्झ्वलशुद्धि ( ८ ) क्यशुद्धि ( ९ ) तपशुद्धि ( १० ) ध्यानशुद्धि । ये अर्थ प्रकार के कत्तय का निरूपण करने वाले श अधिकार पद सब सुन्दर अर्च सिद्धान्त के अर्थ का तम मुनिनाता का प्रतिपादन करने वाले हैं। जो इनका भक्ति पूर्वक पठन पाठन करता है उसके पापमल का प्रक्षालन होता है।

### ( १ ) लिगशुद्धि अधिकार

चलचरलज विनाभण शाऊण माणुमत्तणममार ।

शिाञ्चणखकामभोगा धम्माम्म उवद्धिदमदाया ॥ ७ ॥ ( मू अ भा )

अर्थ—यह मान्य जीवन अधिगम्य विज्ञान ( विजली ) के चमत्कार के समान चित्तस्वर है। इसमें कुछ भी सार तत्त्व नहीं है।

प्रतिममय इसका नाश हो रहा है न जाने किस समय इसका सवधा क्षय जावे। अभीष्टे पदार्थ की कामना स्त्री भादि उपभोग सामग्री आत्मा को शकल करने वाली है ताम्बूल कुकुम पुष्पाणि के समान एक बार सेवन करने के पश्चात् सच्छिद्र हुई पुनः सेवन करने योग्य नहीं है। इस प्रकार काम भोग से विरक्त होकर निम्न य लिंग धारण करने की बुद्धि करो।

भाव ५—काम भोग की निःसारता और अवसेव्यता को समझकर इनमें विरक्त चित्त हुआ विवकी मनुष्य अपने चञ्चल और जिनश्वर जीवन को शीघ्र सफल बनाने को उत्सुक हुआ संसार से भयभीत होकर आचार्य के चरण की शरण ले और गहनकथठ हो प्रायना करे कि भू जन्म! तस समाप्त मागर मे उद्धार करने की कृपा करो। मुझे अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए शुद्ध-लिंग-विगम्बर मुनिवैष-की दीक्षा प्रदान करो।

इस प्रकार प्रायना करने पर आचार्य निम्नोक्त बातों का पूर्ण विचार करे। दीक्षा के योग्य जो व्यक्ति हो, उसके गुणों की परीक्षा करके पञ्चन दीक्षा है।

### दीक्षा-योग्य पात्र

( १ ) जिसने उत्तम वेश में जन्म लिया हो उसे ही दीक्षा दे क्योंकि वेश के संस्कार आत्मा में स्थायी रहते हैं और वेश के अनुकूल शरीर सस्थान आत्मपरिणाम सहनशीलता भादि होते हैं। इसलिये जन्म व निवास का वेश शुद्ध होना चाहिये।

( २ ) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीन उत्तम वंश ही मुनि दीक्षा के योग्य माने गये हैं। श्री जयसेनाचार्ये कृत प्रबचनसार की नीक में कहा है—

वय्येषु तीसु एषको काण्ठाखगो तबोसहो वयसा ।

सहो इ छारहिदो लिंगगहखे हवदि जोग्गो ॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णों में से ही कोई मुनि-दीक्षा का अधिकारी होता है। इनमें से भी वही योग्य माना गया है जिसका शरीरिक स्वास्थ्य अच्छा हो तप के योग्य जिनकी वय हो अर्थात् अतिवृद्ध और बालक न हो। जिसका मुख विकरहीन हो अर्थात् नाविकर शुद्धचतन्य परिणाम की शुद्धि को प्रकट करने वाला प्रफुल्लित मुख जिसका हो। अथवा जिसके मुख में वक्रतादि न हो। लोफ में जिसे किसी प्रकार के दुराचार भादि के कारण अपवाद न लगा हो। ऐसा कोचादि रहित चिनकगुण सहित हो मुनि दीक्षा के योग्य माना गया है।

( ३ ) मुखादि विकर न हो। हीनाग न हो, और अधिकांग भी न हो।

( ४ ) जिसने उच्च विद्वद् काव्य न किया हो । अन्यथा संव पर आपत्ति विपत्ति आने की सम्भावना रहती है ।

( ५ ) जिसने लोकाचार के विद्वद् आचारण न किया हो दुराचाराणि के कारण जिसका संसार में अपवाद न हो ।

भाव यह है कि यदि कोई दुराचारी चोर क्रूर परिणामी निर्यो पर उच्छिष्ट का भक्षण करने वाला अवार फिरने वाला असत व्यापार करने वाला निम्ननीय आजीविका करनेवाला परधन को हड़पनवाला श्रेणी हत्यारा जातिव्युत्त वणसंकर उन्मत्त अतिकोपी मानी मायाचारी राजा देरा जाति व कुल का अपराधी या ऐसे ही अन्य ग्नेषों से युक्त हो तो आचार्य उसे नीचा न दे ।

भगवती आराधना की ७० वीं गाथा की अपराजित सुरिकृत-विजयाटीका और पहिलत आशापरजी कृत मूलाराधना टीका न दोनों संस्कृत टीकाओं में बाह्य लिंग-शुद्धि अत्यावश्यक बताई गई है—

जिसका पुरुष चिन्ह मुनि दीक्षा के योग्य हो अथात् लिंग (पुरुषचिन्ह) का अग्रभाग चम स वका हो ( यदि चम रहित ( उचाडा ) हो तो नीचा के अयोग्य है ) अतिदीप व स्थूल न हो और जिसमें विकार भाव उत्पन्न न होता हो तथा अहकोप बने न हों । यदि इन ग्नेषों से युक्त हो तो वह व्यक्ति दिगम्बर दीक्षा के सधया अयोग्य होता है । जो आचार्य इन उक्त लिंग-ग्नेषों की ओर ध्यान न देकर दीक्षा दता है तथा उक्त दोषों में स किसी भी दोष सहित जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण कर । है वे दोनों जिनागम विरुद्ध आचरण करने वाले हैं और मुनि चम की जगत में निम्न कराने के कारण होते हैं ।

प्रवचनसार की टीका पर म आचार्य जयसेन लिखते हैं— यथायोग्यं सच्छुनाद्यपि सक आशय ऐसा समझना चाहिए कि सत् शूद्रादि मुनि-दीक्षा के योग्य न होने पर भी उनको आगम के अनुकूल मुल्लकादि दीक्षा दी जाती है । यथायोग्य पद से उक्त अर्थ ही ध्वनित होता है ।

“सी प्रकार प आशापरजी न सागम्घर्माद्युत में कहा—

शूद्रोऽप्युपन्कराचारवपु शुद्धयाऽस्तु तादृश ।

जात्या हीनाऽपि कालान्जिह्वी ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

अर्थ—वर्ण से हीन शूद्र का यदि रहन-सहन शुद्ध है वह मद्य मासादि का भक्षण नहीं करता है तथा स्नानादि से शरीर वस्त्रादि को पवित्र रखता है तो वह भी जिन धर्म के अवल्य करने का अधिकारी है। क्योंकि जातिसे हीन जीव भी कलादि जग्वि के आनेपर

आवक धम का पारग्य करने वाला होता है ।

सत शूट ऐल्लक दीक्षा के योग्य भी नहीं माना गया है क्योंकि जो उत्तम आर्य है वही ऐल्लक हो सकता है । शूट उत्तम आर्य न होने से ऐल्लक दीक्षा का अधिकारी नहीं होता है तब उसमें सुनि नीक्षा की योग्यता कैसे हो सकती है ? धर्मसम्बद्ध आचक्रापार के नवें अधिकार म २११ है—

पशुपान्यात् कृष शिल्पाद्रत्तन्ते तेषु केचन ।

शुश्रवन्ते त्रिवर्षी ये माण्डभूषाम्बरादिभि ॥ २३२ ॥

अथ—ब्राह्मण क्षत्रिय वर्य इन तीन वर्णों में कई तो पशुपालन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं कई कृषि से अपनी जीविका करते हैं और कई शिल्पविद्या से अपना भरणपोषण करते हैं । जो उक्त तीनों वर्णों के मनुष्यों की वर्तन भूषण और वस्त्रादि से सेवा करते हैं वे शूट हैं । शूटों के भन् इस प्रकार किये गये हैं—

शूटों के भेद

ते मच्छ द्रा असच्छ द्रा द्विधा शूद्रा प्रकीर्षिता ।

येषा मकृद्विग्राहोऽन्ति ते चाद्या परद्या परे ॥ २३२ ॥ धर्म आ

अथ—उन शूटों के सत शूट और अमत शूट से प्रकार दो भेद हैं । जिन शूटों के स्त्रियों का एक बार ही विवाह होता है वे मत शूट हैं और जिनके पुनर्विवाह ( विधवा विवाह-वरजा ) होता है उन्हें असत शूट कहते हैं । तथा—

सच्छ दा अपि स्वाधीना पराधीना अपि द्विधा ।

नामीनामा पराधाना स्वाधीना स्वापजीविन ॥ २३४ ॥ धर्म आ

अथ—सत शूटों के भी स्वाधीन और पराधीन के भेद से दो विकल्प हैं । जो दासी व दास हैं वे पराधीन सत शूट हैं और जो दास वृत्ति न करके अन्य प्रकार से स्वतन्त्र आजीविका करके अपना निर्वाह करते हैं वे स्वाधीन सत शूट हैं ।

निष्कष यह है कि सत शूट सुनिलिग नहीं वारण कर सकता । ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के पुत्र ही सुनिवीक्षा के अधिकारी माने गये हैं ।

उन प्रकार मुनि नीना के योग्य व्यक्ति की पूरी दान-बोन करके परचात् आच य मुनि-दीक्षा देवे। क्योंकि मुनि सिद्ध जगत् पुत्र है। इमालाग एकलाग अधिकाग लिंगशेष (पुरुषेन्द्रिय शेष) विकर युक्त मुख इत्यादि शरीर के दोषों से युक्त व्यक्ति को तथा दुष्टाचार के य हास अ यापमवी कोषी मानी मायावी लोभी राज समाज व देश विरोधी मनुष्य को मूलकर भी दीक्षा न दे। शान्त गम्भीर सुशील अ यमना मान्याङ्गित सरल चित्त परम बराग्यवान कुलीन मन्दकवायी विवेकी बिनत इत्यादि गुणों से युक्त मनुष्य को बहुत काल पर्यन्त मात्र म रग्य कर अलोभाति परीक्षा करके परचात् दीक्षा देवे। इसी म दीक्षा लेने वाले व देने वाले का और जगत् का हित है। अन्यथा सब सा अक-याण आर धम का अपचात् होने की समाचना रहती है और उसका कारण दीक्षा देने वाला आचाय बनता है। उसका शिष्यमोह या प्रमात् समा न व धम का नाशक सिद्ध होता है। अत दीक्षकाचाय को इस विषय में पूण सावधान रहना चाहिए।

(७) शीलसाचाय से यह भी यान मे रखना चाहि कि शोका का अभिलाषी व्यक्ति स्त्री पुत्र माता पिता आदि कुटुम्बियों म लडाए भगडा करके तत्र जाति य किसी से पौर पाषकर तो शोका नही ले रहा हे। क्योंकि वह गुरु बनकर अपने पूव बँर का बचला लेने में चगन्त्य मुनि नष का दुहपयोग करता ह। और इम उच्छ्रित विश्वमनीय परमशात मुनि धम की निन्दा व हास्य करवाता हे। इसलिए मय प्रकार प्रकृति आनि सष बातों की जाचकर शोका नेना चेनी चाहिए।

(- ) निमके धमाली अथ य (द्वोशे उच्च) शी हो या घर में पाच बाल-बच्च हों और उनके भरण-पोषण शिष्यादि का प्रबन्ध न हो या निसक मय पर धनसा ऋण हो माता पिता उच्च शो आर उनकी सवाशुश्रुषा करने वाला अथ कोई न हो उसे दीक्षा नही देनी चाहिए। आचाय सा कृत्य होता ह कि जिनको शोका नना हो उसका माता पिता स्त्री पुत्रादि की आहा मिलने पर उसे दीक्षा देवे। मुख्य मधसाधयों शी आहा माल बिना रूपि दीक्षा न दे। यदि रिना उन की अनुमति क दीक्षा देगा तो बडा उपन्व उपस्थित हो जावेगा और उनी नशा मर पत्नी अ शास्य माता पिता व अनाय बाल उच्चों क हाय विलाप करने व उनके कहुण रोदन मे उसका व समाज के अन्य श्यानु मनुष्यों सा श्यय पदन लगेगा। सम्पूर्ण विवेकी मनु य विरोधी बन जाँगे। तथा अथ विधर्म भी मुनिधम की घोर निन्दा करने लगग। शान्तय म गेमा अशिविक पूण कृत्य नि सा योग्य शी माना गया ह। इसलिए शोकाकाचाय के लिए धमज्ञान के साथ व्यवहार ज्ञान सा होना आ आचय बतारा गन् ह।

मुनि इम ती मय सा हिन चारन वाला ह उम निन्दायत और अपचात् का क्या काम है? लेकिन अज्ञानी जीवों के निमित्त म अनुचित धम विरुद्ध तथार्थ प्रमाण धम ती भो निन्दा होती और इस जिनेन् के समान मुान भेष की हसी डोने लगती है। साधु लक्ष साय शची सा मय न दु पाग मय्या शी मुनि होने ह उनसे जो अज्ञानवशा अनुचित काय होने से सम्पूर्ण मुनियों को निन्दय पाट नोन सा कलङ्क लागत म अदूरन् ती य अज्ञानी साधुभासों स ही लगता है।

किस प्रकार के पुत्र व स्त्री को दीक्षा देना चाहिए

( १० ) जिसके चित्त में सांसारिक सम्बन्धियों का मोह ममत्व निकल गया हो, जिसका मन विषयों से परम विरक्त हो गया हो, जिसको जैन सिद्धान्त का ज्ञान हो अपने शरीर से वैराग्य और संसार से भय उत्पन्न हो गया हो केवल आत्म-कल्याण की भावना ही जिसके हृदय में लहराती हो जिसे लोभे कार्यों से घृणा और पाप से भय होता हो जिसकी प्रत्येक क्रिया में दया भाव पाया जाता हो जो शान्त स्वभाववाला और अपने कसब को समझनेवाला हो वह दीक्षा के योग्य है। किन्तु यदि किसी के सफेद कोढ़ हो शृंगी रोग हो या बह काना हो बहरा हो नपुंसक हो या किसी सङ्गमक रोग से पीड़ित हो तो परिस्थिति के विचार से आचार्य दीक्षा न दे।

वोषरहित और गुणसहित दीक्षा क योग्य भेद्य जाति कुल के ब्यक्ति को ही दीक्षा देनी चाहिए।

### दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे ?

शरीर क सम्पूर्ण सस्कारों का त्याग कर, बालक के समान निष्कषाय और निर्विकार नम दिगम्बर वेध धारण कर इन्द्रिय और मन को अपने वश में रखे। वैराग्य भावना में तत्पर हुआ अपने ढाढ़ी और मूँह के बालों का लोच करे। जीवरक्षा के निमित्त मयूर की पिच्छी अपने हाथ में धारण करे। शीघ्र के लिए काष्ठ का कमरहनु तथा ज्ञानाभ्यास के लिए योग्य पुस्तक ग्रहण करे। इस प्रकार जीव-रक्षा, शरीर-शुद्धि व ज्ञानाभ्यासके उपकरण के अतिरिक्त सम्पूर्ण बाधा और आभ्यन्तर परिग्रह का मन बचन काय और कृत कारित अनुभवेना द्वारा नवकोटि त्याग करे तथा निरन्तर ध्याम-भावना में अनुरक्त हुआ द्वारानुप्रेक्षा का मनन चिन्तन करता रहे। एवं मन बचन व काय से क्षिण शुद्धि दिगम्बर भेष की ( निर्मलता ) के लिए सदा सावधान रहे।

भगवान् कृष्ण दाचार्य ने ऐसे परमशीतराग दिगम्बर मुनि भय को अर्थात् क्षिण शुद्धि को आचरन कहा है—

मख-वयख-कायध्वा आयत्ता जस्स हृदिया विसया ।

आयदख जिखमग्गे खिदिह सजय रुव ॥ ५ ॥

मयरायदासमोहो कोहो लोहो ष जस्स आयत्ता ।

पचमहन्वयधारा आयदख महरिसी भखिया ॥ ६ ॥ ( वधपाण्डव )

मन बचन काय द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय स्पर्श रस गन्ध बर्ण और शब्द ये जिसके आधीन हैं वह अथवा विशिष्ट मुनि का

रूप जिन माग में आयतन कहा गया है।

जिस मुनि के आठ प्रकार के मन्त्रों में से एक भी मन्त्र नहीं है जिसके राग परिणति का सबका अभाव है बाह्य पदाथ में तथा शरीर में भी जिसके मोह का लेश नहीं है जिसकी आत्मा में क्रोध लोभ और मायाचार का अंश दूटने पर भी नहीं मिलता और जो परम अहिंसा उत्कृष्ट सदा महान् अर्चोय पूण्ण ब्रह्मचर्य और समस्त परिग्रह का त्याग इन पञ्च महाव्रतों के धारण करनेवाला है वह आचर्यन है। अर्थात् शून्य स्वरान और पूजन के योग्य उसकी उक्त प्रकार की अवस्था को लिंगशुद्धि कहा गया है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने लिंग शुद्धि को ही प्रतिमा रूप से वर्णन किया है।

सपरा जगमदेहा दसख्खाखेसा सुद्वचरखाया।

शिगगथवीयराया जिखमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥ ( बंध पाहुड )

अथ—दर्शन और ज्ञान स जिनका चारित्र्य निमलता को प्राप्त होगया है ऐसे मुनि का आत्मा से निम्न जो निम्न ही वीतराग शरीर है ब्रह्म प्रतिमा स्वरूप है। अर्थात् निमके बाल क अप्र भाग बराबर भी परिग्रह नहीं है तथा जो वीतराग स्वरूप है पर पदाथ में न राग है न द्वेष है और न मोह है—इस प्रकार शान्त-मुक्त का धारक परम वीतराग स्वरूप निम्न ही मुनि का दर्शन ज्ञान चारित्र्य सम्पन्न जो जङ्गम शरीर है वह जिन मत में प्रतिमा मानी गई है। इस प्रकार की अवस्था का नाम लिंग-शुद्धि है।

लिंग-शुद्धि से लाभ

विस्वासकर रूप अखादरो विसयदेहसुप्सेसु।

सम्बन्ध अप्पवसदा परिसह अविवासथा वेव ॥ ८४ ॥ ( भग आ )

अथ—विगम्य मुद्रा सम्पूर्ण जीवा के विरवास का कारण होती है। जगत् के प्राणी विचारते हैं कि ये अपने पास वस्त्र का खंड तक नहीं रखते हैं, तब अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे कर सकते हैं ? इनसे किसी के भय नहीं होता क्योंकि भय उत्पन्न करने वाले शस्त्र अस्त्रादि इनके पास नहीं होते हैं। गुप्त ( छिपे हुए ) शस्त्रादि की भी सम्भावना या शङ्का नहीं हो सकती क्योंकि शस्त्रादि छिपान के लिए इनके पास वस्त्रादि कुल भी नहीं हैं। तथा उनकी शांत मुद्रा देख कर शत्रु भी विरवास करने लगता है। उनके निर्बिकार और कुरूप संस्कार रहित मज्जित शरीर को देखकर दराक को विरक्त बत्यन्न होती है। मुनि को भी मलीन सस्कार रहित शरीर के धारण करने से नित्य प्रतिबन्ध

वेराग्य भावना की जागृति हाती है। विषयों से विरक्त बतल जाती है। सम्पूय मनुष्य ( स्त्री या पुरुष ) का उनपर पूष्य भाव पैग होता है। वे सोचते हैं कि इनको अपने शरीर पर अनुराग नहीं है अतः दूमरी वस्तुओं पर केंमे अनुराग कर सकते हैं ? इमलिए उनका हृत्त्य उनके प्रति निर्बिन्द और पवित्र रहता है। ज्ञातरूप धारक संयमी का मन भी नम्र वष के धारण करने से व स्नानादि द्वारा शरीर का संस्कार न करने से विषय सुखों से सना बिरक्त रहता है। व० सदा चिन्तन करते हैं कि "मैं किस पर अनुराग करू ? क्या मास रुधिर और मल मूत्र की गद। मोगको रूप अत्यन्त घृणित स्त्री आदि का शरीर अनुराग करने योग्य है ? विवेकी पुरुष इस मास रुधिरादि की मैली का छूना तो दूर रहा दखना व स्मरण करना भी नहीं चाहते हैं। मैं तो शुद्ध बुद्ध अतिनिर्मल आनन्दमय चैतय स्वरूप की प्राप्ति के लिए इस सर्वकृष्ट मुनि धम को धारण किया है ? इस प्रकार वे विवेकज्ञान स अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं। इसलिए उनके मनमें विषय सुख के प्रति कभी आन्तर भाव उत्पन्न नहीं हाता है। प्रेताकार समान मलिन मुनि के शरीर को देखकर अविवेकी महिमाजन भी उनमें अनुराग नहीं करते हैं। इसलिए मसार के सब प्राणियों का आवर्ग भाव निरपेय जिंग मे हाता है।

वस्तुनिष्ठ मन्त्राद्योग करने मे मुनि किमा के परतन्त्र न। नेने। वस्तुनिष्ठ रहने से उनकी प्राप्ति के लिए संयमी की गृहस्थ के अधीन वृत्त होता है। तथा उसी का रक्षा का सदा भय लगा रहता है। चोरादि व द्वारा चुराये जाने का भय बना रहता है। उनके प्रज्ञानादि के लिए आरम्भादि द्वारा हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं। वस्तुनिष्ठ के नाश के भय से उनका रक्षा के वि० संयम के घातक उद्गमादि दोष महित स्थान म शयनासन करना पकता है।

दिगम्बर मुद्रा धारण करने से दश मशक शीत धामादि की पीरीषहों को सहने का सुभवसर प्रतिक्षय मिलता है जो कि कमनिजरा का मुख्य साधन है। इससे आत्मबल प्रकट होता है और अनेक उपसर्गों के आने पर भी चित्त चञ्चल नहीं होता है। धैर्य और सहिष्णुता की वृद्धि होती है। और मन्त्र प्रकार के परिग्रह के बोध स रहित बुद्ध्या मुनि आत्मध्यान में स्थिरता प्राप्त करता है। परिग्रहधारक के चित्त में निरुत्पत्ता नहीं आती है। उसक चित्त में चञ्चलता रहती है। कहा तक उसके गुण बखन किये जावें। यह दिगम्बर भेष त्रिनेत्र भगवान् का प्रतिरूप ( प्रतिविम्ब ) है और सुमुख जीवों के लिए मुक्ति का उपाय है। इसने गंगादि दोषों का परिहार होता है। और आत्मानु भूति की जागृति होना है। और भी बहुत से गुण इस जिनमदरा जिंग ( दिगम्बर भेष ) के धारण करने पर स्वत उत्पन्न होने लगते हैं।

## ( २ ) व्रतशुद्धि

ते सम्बगन्धयुक्का भमभा अपरिगृहा जहाजादा ।

वोसदृचत्तदहा जिह्ववग्धम्म सम योति ॥ १५ ॥ ( मूला० अन० )

अर्थ—जिन्म संवत्सी ने मिच्छात्सु वेद कथाव (कोश मान माया लोभ) राग द्वेष हास्य रसि अरति, शोक भय सुगुप्ता इन चौबह प्रकार के आभ्यन्तर तथा क्षेत्र वास्तु द्विरस्य सुवस्य धन धान्य दास्यो दास कुप्य आच्छ इन दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का नवकाटि से जन्म भर के लिए त्याग किया है वही नम्रसुद्धा का धारक मुनि अपने शरीर से भी ममत्त्व रहित बालक समान निर्विकार होता हुआ तैलानि मर्दन उद्वहत्तन ( उबटना ) स्मनादि स गरीर के संस्कार स त्यागी होता है और जिनन्द्र प्रखीत धर्म को पर भय से भी अग्नि साध ले जाता है ।

भावार्थ—विगम्बर मुद्रा धारण करने वाला मुनि चौबह प्रकार के आभ्यन्तर और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग कर शरीर से भी ममत्त्व नहीं करता है । शरीर के संस्कार का त्यागी होता है । मधुसूक्त आरंभ ( प्राणी हिंसा के कार्य ) से अलग रहता है । हिंसादि सब पापों का त्याग करता है । बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह को नहीं रखता है । जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है वही निवास करता है । किसी के अधीन नहीं रहता । सब प्रकार स्वन्न होना है विद्यत क ममान जिसका स्थान निचल नहीं होता है अर्थात् निर्विकल रूप से एक स्थान में निवास नहीं करता है ।

### ( ३ ) व्रमनिका शुद्धि

गामेपरादिवासा श्वपरे पचाहवासिस्या धीरा ।

मवखा फासुविहारी विविक्तगगतवामी य ॥ १६ ॥ ( मू आ आ० )

अर्थ—जिस वस्ती के चारों ओर कंठे आदि बाड़ हो उसे गाँव कहते हैं उसमें मुनि एक रात्रि वास करते हैं । जिसमें प्रवेश कर बड़े दृष्टि हो उसे नगर कहते हैं उसमें पाँच दिन तक निवास करते हैं । सब अधिक नहीं ठहर सकते क्योंकि पाँच दिनों में तीर्थ यात्रादि सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं । इससे अधिक निवास करने से उस स्थान से ममत्त्व उत्पन्न होता है । स्त्री नपुंसक, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करने वाले निर्गुण आचरण के पालक मुनियों का काम में एक रात और नगर में पाँच दिन ठहरने का विधान है ।

एकान्त स्थान का अन्वेषण करनेवाले गचहस्ती के समान मुनि विविक्त स्थान में ही सुख का अनुभव करते हैं । पवत की कन्दरा गुफा वृक्ष छोटार, रूय-गुहादि में रहते हुए भी वैय से विचलित नहीं होते हैं । जिनका में रम्य करते हुए परम आनन्द चित्त होकर आत्मा को ध्यान में संलग्न करते हैं ।

जिस समय गाँव या नगर में वास करते हैं, उस समय वहाँ पर भी एकान्त बट रूय गुहादि निर्दोष स्थान में वास करते हैं । उस स्थान से ममत्त्व सम्बन्ध नहीं जोड़ते । वहाँ पर कमल पत्र की तरह निर्लेप रहते हैं ।

मुनीश्वर पवन के शिखर कंदरा तथा गुफा आदि कायर पुखों को भय उत्पन्न करने वाले स्थानों में निवास करते हैं। जहाँ पर सिंह व्याघ्र आदि दिमक जन्तुओं का प्रचार रहता है उन विकृत स्थानों में रहकर वे ध्यान करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

सिंह समान निर्भीक मुनि उन भयावह घने जंगल में जाकर ध्यान धरते हैं जहाँ पर सिंह व्याघ्र शूकर रीढ़ आदि के शब्द गूँज रहे हों। उनकी त्रास जनक ध्वनि मुनीश्वरों के चित्त को लेशमात्र भी चञ्चल नहीं करती है। वे धीर वीर मुनि ऐसे भयानक स्थानों में उत्तम यान सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ऐसे भय नक वन में मुनि किस ऋषि में रहते हैं ? उमें दिम्बते हैं—

मञ्जापम्भाशुनुत्ता रश्मि श्च सुवति ते पयाम तु ।

सुनन्त्य चिन्ता शिवाय वम श्च गच्छति ॥ २८ ॥ ( मूला अ )

अर्थ—भयंकर वनादि तथा एकान्त शून्य गृहादि में निवास करनेवाले मुनि स्वाध्याय और ध्यान में वृत्तचित्त हुए रात्रि में नैदी सोते। अन भावना में और गफाप्रचित्त होकर यान में मग्न रहते हैं। रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर उक्त-प्रकार बिताते हैं। वे सूत्र तथा अर्थ और उभय ( सूत्र व अर्थ ) का चिन्तन करते रहने हैं सलिंग वे निद्रा के वशा नहीं होते हैं।

भावार्थ—निद्रा मुनि यान स्वाध्यायाद् क कारण जब रीर म थकन मात्स्य होती है तब अम का परिहार करने के लिए रात्रि का पहला आर पिछला पहर छोड़कर शयन करते हैं। हाथ का ताक्या लगाकर एक करवट सोते हैं। बार बार करवट बदलते नहीं हैं। गोबूहन आसन योगासन मृतकसन पद्मासन पर्याकामन यानि आत्मनों में जो ध्यान म स्थिरता करनेवाला प्रतीत हो उस आसन से एकप्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हैं। अतज्ञान के पद पदाथ का मनन चि तन करते हैं। आत्मा धर्मध्यान या शुक्लध्यान में रमण करता रहूँ ऐसे उपायों का अवनम्बन करते हैं। अनेक प्रकार क परीष आर उपसर्गा के आने पर उनके प्रतीकार की च्छा तक नहीं करते। अपने शरीर से समन्व का त्याग करने के कारण परीषह व उपसर्ग उनकी आत्मा में किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं करते। जैसे किसी दूसरे के मूने घर में आग्नि काण्ड आग्नि उपवृत्त के उपस्थित होने पर मनुष्य के मन म दुःख व शोक नहीं होत है उसी प्रकार भेद विज्ञान द्वारा शरीर को गन्ध पर समझनवाले मुनि क दुःख का आधिभाव नहीं होता है। इस प्रकार की भावना जिनके अन्त वरख में निरन्तर निगाल करता है वेही वीर वीर पापगीह मुनीश्वर कम का दाय करने में नमय होत है।

## (४) विहार शुद्धि

युष्मा शिरावधेकस्वा सच्छदविहारिणो जडावादा ।

हिंदिदि शिरुव्विग्गमा शयगयम्मटिय वसुह ॥ २१ ॥ ( मूला अ० )

अथ—समस्त प्रकार के परिग्रहों से संबंधित नित्य तथा किसी पन्नाय का प्राकृतिक नदी करने जान मुनि वायु के समान स्वच्छ विहारो प्राप्त नगर पत्तनात्ति से मण्डित वसु घरा ( पृथ्वी ) पर नित्यप्रति भ्रमण करते हैं । किन्तु किंचित् मात्र भी अलग नदी होते ।

भाषा—नित्य विहार करनेवाले मुनि शुद्ध माने गये हैं । जो मुनि आगमोक्त विहार करने में प्रमाद करते हैं अथवा जिन शासन की अवहेलना करके बिना विशेष कारण के महीनों तक एक स्थान में निवास करते हैं वे मुनि सन्तोष हैं । मुनि की उद्यमता व निर्मलता तो वायु के समान निरंतर स्वच्छ विहार करने से ही होती है । मुनि पैल विहार करते हैं । किसी प्रकार की सगरी नदी करते । क्योंकि चेतन बल अर्थात् वाहन पर चढ़कर विहार करने से उन्हें पीडा पहुंचती है और मागस्थित श्रोत्र जन्तुओं को रक्षा नहीं हो सकती है । अचेतन मोटर वायुयान आदि की सगरी स भी नलक्षय पृथ्वीक्षय अतिक्रियादि जन्तुओं की तथा मागस्थित अस जीवों की भारी हिंसा होती है । तथा वाहन पर सगरी करने से परतंत्रता तथा मानता आती है । समस्त परिग्रह के योगों मुनि क निरुद्ध रूपया पैसा नहीं होता और वे किसी स याचना नहीं करते । अतएव मुनि के सब प्रकार के वाहन का त्याग होता है । वे वृद्ध विहार करते हैं । मुनीश्वर सब जीवों के निष्कारण बन्धु होते हैं । कष्टना से उनका हृदय आनन्द रहता है । वे भूमि पर के जीवों को चलाते हुए इस प्रकार चलते हैं कि मागे खोये हुए रत्न का ही अन्वेषण कर रहे हों । तथा माता जैसे पुत्र पर स्नेह करती और उसकी सब प्रकार रक्षा करती है उसा प्रकार मुनि सब जीवों के रत्न होते हैं । वे जीवार्थि हैं । इय और नवतरंग के पूर्ण ज्ञाना होते हैं । उनक स्वभाव को ज्ञान रूपा उच्चतम प्रकार स भले प्रकार जानते हैं इसलिए पापजनक क्रियाओं का परिहार कर प्रवृत्त करते हैं ।

निम्न यथासाधु पाप भोग होते हैं । अतः उनके योग-योग मन वचन कर्म व कृत कारित अनुमोदना आग सम्पूर्ण पाप जनक कर्मों का त्याग होता है । वे प्रयोजन वश भी वृत्त का ज्ञेयन नहीं करते वृत्त का गता नहीं तीव्रते । किम्वा हरितकाल-जनस्पति का ज्ञेयन नहीं करने । वृत्त की वशा शाखा कोषक क मूलात्ति ज्ञेयन भेदन मोटन ( मरोड़ना ) आदि नहीं करते । ज्ञेयन तो दूर रहा उनका स्पर्श तक नहीं करते । प्रमाद से अथवा भ्रम से किसी मन्त्रित वनस्पति का स्पर्श हो जाने पर प्रायश्चित्त जेकर उस दोष को दूर करते हैं । वे दूसरे से पत्र फावदि का आरम्भ नहीं करवाते और न उनको अनुमति देते हैं । जो साधु सचित्त वनस्पति के आरम्भ व भक्षणदि को प्रेरणा करता है उसका अहिंसा महाजन स ध्युत सममना चाहिए ।

व्यापरायण परम अहिंसक निर्मल्य मुनि सचित्त मिट्टी आदि पृथ्वी आनि खोदना पाटना चूणें करना कूटना आदि न तो स्वयं करते और न दूसरे से करवाते हैं। पल का सिंचनादि कल्पि नहीं करते। पम्बा आनि हिलाकर वायुकाय क जीवों की विराधना कभी नहीं करते। अग्नि को न जलात आर न बुझते आर न अन्य किसी प्रकार उक्त जीवों का पीड़ा पहुँचाते हैं आर न दूसरों के द्वारा उक्त जीवों को कष्ट निश्चात हैं। यि अन्य पुरुष किसी प्रकार का मावण कार्य करता है तो उसकी अनुमोचना नहीं करते। बालक प्रिय मधुर बचन द्वारा उपदेश कर पाप काय म दोनबानी हानि ममकाकर मावण कार्यों से उसको बचते हैं।

साधु सना निभय निहत्यासिंह समान विचरते है। समस्त प्राणियों पर साम्य भाव रखते है। सलिय किसी प्रकार के शस्त्र अस्त्र धारण नहीं करते। हाथ में डंडा तक नहीं रखते। उनका कोई शत्रु नहीं है। सब जीवों को मित्रवत् समझते हैं। सम्पूर्ण जीवों को आत्म-त चिन्तन करते हैं। मेरे द्वारा किसी तरह किसी जीव को पीड़ा न हो जावे। यदि मेरे निमित्त से इन जीवों को दुःख पहुँचा तो वह दुःख मरी आत्मा को बेचैन करदेगा। उनका ऐसा स्वच्छ ब हृद संस्कार सम्पूर्ण जीवों को पीडा क परिहार में प्रवृत्ति करता है।

आत्म-साधना में तत्पर रहने वाले निम्र-थों का अतिशान्त गम्भीर चित्त क्षुधा तथा शीत उष्ण इत्यादि परीषहों के तथा देव-तियचानि कृत उपसर्गों के प्राप्न होने पर मोनता नहीं निम्बाता किन्तु रखाण में उसाहित शूरवीर पुरुष की तरह वैर्य धारण कर वैराग्य भावना रूपी शस्त्र वा प्रयोग कर उन पर विजय प्राप्त करता है। साधु शत्रु मित्र पर माध्यस्थ भावना धारण कर रागद्वेष को परास्त करते हैं। क्रुम ( कछुप ) की तरह अपनी सब इन्द्रियों को मुकोड कर प्रिय व अप्रिय विषयों में आवर व अनात्नर गुद्धि नहीं करते हैं। संसार के किसी पदाथ की आसना न होने से उनके मन की चपलता दूर होकर स्थिरता अप्रम हो जाती है। उनके निमल आन करण में माया प्रफन्च का लरामात्र मद्भाव न होने के कारण वे मच जीवों के विरवाम पात्र होते हैं।

जिनन्द्र शासन रूपी माग पर सना ट ट्ट रखते हैं। उसके उ-तपन से आत्मा की महती हानि को समझते हैं। जन्म मरण के तथा सासारिक इष्ट वियोगादि जन्म दुःखों से भयभीत हुए गर्भावास के असह कष्टों से बचराते हैं।

हे आत्मन ! पौर नरक के कुंभीपाक के समान दुःखने वाले माता के उदर में बहुत काल तक मल मूत्र अधिरादि से लिपटे हुए रहकर भयानक मताप भोगना पड़ता है। इसलिए इस गर्भ बसती से अतिव्रस्त होकर मुनि छुटकारा चाहते हैं।

ज्ञान-नीपक स जगत् के समस्त पदार्थों की असली हालत को देखकर कमभोग मे विरक्त होते हैं और ज्ञान-चक्षु से अगम-बास के स्थान को ढूँढते हैं और बहा पर पहुँचने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र्य का आश्रय लेकर वैराग्य भावना में लीन होते हैं। शरीर मे निरपेक्ष हुए वैय रूप लगाम हाथ में लेकर आमा का दमन कर संसार के मूल ( मोह राग द्वेष ) का छेदन करते हैं।

## ( ५ ) भिक्षा शुद्धि

अनुमनये हि पारोति य परपरमि भिक्षसाय ।

अमनस इ वति य व विष पयाम रसहाय ॥ ४४ ॥ ( मूला० अ० )

अर्थ—मुनीश्वर अपने संन्यस की साधनाके लिए बेला,तेला खोला पंचोला आदिके पारये निमित्त परपर भिक्षा से भोजन करते हैं । जो भोजन कृत करित और अनुमोचना से रहित हो तथा उद्विष्टादि दोषों से वज्रित हो उसे ही ग्रहण करते हैं । जिन्हारस की लोलुपता से अधिक भोजन नहीं करते हैं ।

भाषा—साधु जन आहार को उपादेय नहीं समझते । जहाँ तक हो सके उसका त्याग करते हैं । अपनी शक्ति को न खिपाकर बेला तेलाआदि उपवास चारण कर निरन्तर आत्म-भ्यान स्वाध्याय में लगे रहते हैं । जब देखते हैं कि आहार के बिना स्वाध्यायादि कार्यों में बाधा उपस्थित होती है तब भिक्षा के लिए बस्ती में निकलते हैं । भुखा व तथा से अतिपीडित होने पर भी मुख्यादि द्वारा दीनता प्रकट नहीं करते । नवचा भक्ति के साथ दिया हुआ कृत करित अनुमोचना से रहित नवकोटि विशुद्ध उद्विष्टादि दोषवर्जित तथा बौद्ध मल ( नख रोमादि ) रहित प्राप्तुक्त शुद्ध आहार पर-वर में लेते हैं । जिस पर पर ममत्व हो उसमें आहार ग्रहण नहीं करते हैं । रस की लाजसा रहित उतना आहार करते हैं जिससे स्वाध्यायनादि आत्मीय क्रय की सिद्धि हो सके । आधा उदर आन से और चौथाई जल से भरते हैं । चौथाई खाली रखते हैं । स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता बरा रस हीन भोजन का त्याग नहीं करते हैं । गृहस्थ जैसा भी शुद्ध और प्राण्य भोजन देता है उसे मौन पूर्वक ग्रहण करते हैं और वह भी पाणि-पात्र में है ।

उद्विष्टादि क्रियाबीस दोष और बर्षीस अन्तराय रहित साधु का भोजन होता है । उसका विवेचन पिचड शुद्धि अधिखर में किया गया है । वहाँ से ज्ञान लेना चाहिए ।

मुनि भिक्षा के लिए किस प्रकार भ्रमण करते हैं इसका सुलासा निम्न प्रकार है ।

अपन्नादमणुपन्नाद भिक्षस शिष्य समन्निभमङ्गलेसु ।

परपतिर्हि हिंङति य मोखेष मुखी समादिंति ॥ ४७ ॥ ( मूला० अ० अ० )

अर्थ—आज मुनीश्वर भिक्षा के लिए यहा पर आवेंगे इस प्रकार ग्रहस्थों को ज्ञात नहीं हो उसे अज्ञात करते हैं । अनभिज्ञ

अर्थात् मुनि अमुक अभिप्रदादि धारण करेंगे व अमुक घर जावेंगे अर्थात् अभिप्राय का ज्ञान न हो उसे अनभिप्रेत कहते हैं। ऐसे अज्ञात और अनभिप्रेत घर में चाहे वह धनिक का घर हो या मध्यम स्थिति वाले का घर हो चाहे गरीब का घर हो एक पक्ष में धाम्य हुए घरों को नहीं टालकर मीन पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—मुनियों को चाहिए कि वे जो अभिप्रदा व करें उसका स्पष्ट ज्ञान गृहस्था को न हो सक। तथा जिस घर में मुनि आहार को जावे उसमें पहले अपने संघ का प्राणिकारी आदि जाकर सब अनुकूल व्यवस्था न करे। जहा पर संघ का कोई व्यक्ति गृहस्थ के घर जाकर पहले भोजनादि का प्रबन्ध करले और उसी घर में साधु का आहार हो तो उसमें उद्दिष्ट दोष ही नहीं अथ कम दोष उत्पन्न होता है जो मुनि के मुनित्व का नाशक माना गया है। तथा साधु बर्षा के लिए निकले तब पक्षिबद्ध घरों में जहा पर भी पक्षि मिल जावे वहां पर आहार के सम्पूर्ण शेषों को गलकर आहार ग्रहण करले। ऐसा न करे कि विधि मिलने पर किसी घर को बीच में छोड़ कर अपनी इच्छानुसार कहीं पर भाजन ग्रहण करे। इससे ममत्त्व और आहार की लालसा या अथ किसी प्रकार का मोह प्रकट होता है। इसलिए गरीब धनवान साधारण घर क भेद भाव को ध्यान में न रखकर प्रासुक शुद्ध त्रिधि सहित जहा पर भी योग्य सरस या नीरस आहार मिले उसको स्वीकार करले। भोजन ठंडा हो या गम हो स्निग्ध हो या रूख हो लौना हो अलौना हो स्वादु हो या बेस्वा हो अपने मनके अनुकूल हो या प्रतिकूल हो इन बातों का खयाल न कर प्रासुक शुद्ध आहार जहा पर मिल जावे वहा ही ग्रहण करले।

आजकल अत्यन्त शीत ( ठंड ) है यदि गम भोजनादि मिले तो अर्द्धा हो आजकल गर्मी क दिन है उस समय शरीर में शीतलता करनेवाला पदार्थ मिले तो अर्द्धा हो अ ज उपवास का पारणा है स्निग्ध सरस भोजन मिले तो शरीर के लिए हितकर होगा इत्यादि बातों का कभी चिन्तन न करे। जैसा भी प्रासुक शुद्ध आहार मिले साधु को शान्ति पूर्वक इस प्रकार ग्रहण करनेना चाहिए—जैसा कि कोई व्यापारी अपनी माहसे भरा गाड़ी को इष्टस्थान पर ले जाने क लिए पहियों क मध्यभाग में तैल या घी का ओंगन देता है। यदि ओंगन न दिया जावे तो धुरे स अग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह धुरा नष्ट भष्ट होजाता है गाड़ी इष्टस्थान पर पहुंचने में असमर्थ हो जाती है। उस अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए घृत या तैल का ओंगन आवश्यक होता है। उसी प्रकार साधु का शरीर रत्नत्रयादि अमूल्य रत्नों से भरी हुई गाड़ी है। यदि इसका उचित समर्थ में प्रासुक शुद्ध आहार रूपी ओंगन न दिया जावे तो वह अपन अभीष्ट स्थान ( मोक्ष ) में पहुंचने क पहले मांग में ही नष्ट हो जावेगी तथा उत्तम समय तपस्वरण ध्यानादि के विषय में किया गया ममत्त अम यर्थ हो जावेगा। साधु शरीर को भोज मार्ग पर चञ्चलन के लिए आहार रूपी ओंगन देना आवश्यक समझते हैं। राम बुद्धि से शरीर को पुष्ट करने क लिए साधु आहार नहीं करते हैं।

मुनि उक्त ऋषि म गृहस्थ क घर चया के लिए जाते हैं। यन्त्र वैद्ययोग से बिधि न मिलने पर या अन्तराय आदि के हो जाने पर आहार न मिल तो उपास नहीं होते चित्त में विषाद नहीं करते। उमको कर्म की निजरा का कारण समझकर शान्ति से स्वाध्यायान्ति आत्म जितकर कर्मों म लग जाते हैं।

वे विचारने हैं कि आहार प्राण-धारण के लिए किया जाता है और प्राणों का धारण धम के आराधन के लिए है। अत जितने काल शरीर प्राण म है उनन समय तक उस धम के आराधन मे ही लगाना चाहिए। ऐसे विचारों मे वे धम कृत्यों में एक समय भी प्रमाद नहीं करते ह।

भोजन का प्राप्ति क लिए वे किसी की प्रशंसा स्तुति नहीं करते हैं। न किसी वस्तु की याचना करते हैं। क्योंकि याचना करने वाला क वानछात्त होता है। जिसके मन्य में नीनता होती है वह गृहस्थो का नास बन जाता है तो उमका श्रोताओं के चित्तपर कुद्ध भी असर नही पहता है। यान्ति की याचना करनेवाला साधु नहीं होता वह साधु भेष की लज्जाने वाला है। इसलिए साधु किसी वस्तु की याचना करना ना ग्य रहा उमकी इ-ज्ञा तक नहीं करने। क्योंकि उमको भी वे संयम का नाशक समझते हैं। आहार के लिए भी जब मौन धारण करक बन्नी म जाते ह तब आहार क चुकने तक किसी प्रकार का सकेत तक नहीं करने। तब अय्य वस्तु को मुख से कैसे माग सकेते हैं। देहि ( २१ ) यह श म मानना आर कहेणा का प्रकृत करन वाला है। इसे क्वापि अपने मुख म नहीं निकालने। पाच सात दिन आहार न मिलने से भुख र मार मुनि क शरा शिथिल व अशक हो गया हो आस्वो के सामने अवेरा आने लगा हो मस्तक शूय हो गया हो चक्कर आने लगे हो हाथ पाव ाहलान का सामन्य भी नहीं रहा हा तथापि धीर वीर मुनि एक प्रास तक नहीं मागते हैं। ऐसे स्वाभिमानी ( मुनि धम का मान रखन वाले ) मुनोश्वर अपने मुख म क्या काइ अय्य वस्तु माग सकेते है ?

मुनि भोजन न मिलन पर अपने हाथ से भोजन नहीं बनाते न उपदेश देकर दूसरे से बनवाते हैं। न अपने लिए भोजन वाले को अनुमोचना करते हैं। क्योंकि उन्होंने भोजन बनाने का नवकोटि से त्याग किया है। भिक्षा के समय जो अन्न भिक्षा जाता है उसीमें सतुण रहते हैं। भिक्षा म भात रोटी आन्ति अशान मिले अथवा दुग्धचलानि पेय पदार्थ मिले या लड्डु आदि पकवान मिले अथवा रावड़ी आन्ति मिले या जलमात्र मिले जो शुद्ध व प्रासुक हो पाण्डपात्र म उसका प्रतिलेखन कर-देखशोचकर भक्षण करते हैं। जो भोजन बिचर्री ( भन्ग ) न हो प्रासुक। सम्मुखनान्ति न तुरहित ) मनोहर तथा एषणा के दोष से रहित हो ऐसा भोजन भिक्षा में भिक्षे दो ग्रहण करते हैं। किन्तु वामा ( ने तीन निन का बना ) भोजन न करते। विवण (भदा) तथा शीटी आन्ति जिसमें चब रही हों उसे अप्रासुक समझ कर चस भिक्षा भोजन का त्याग करते हैं।

निम भोजन के पदाथ में काला पोला नीला लाल श्वेत पाच रंग की फूलन में से कोई फूलन आगाई हो, जो चक्षित रस हो

जिसमें दुर्गम आना हो साधु उसको अप्राप्त्युक्त समझ कर त्याग करते हैं। क्योंकि कृत्स्न में साधारण बनस्पतिकार्य के अनन्त निगोदिया जीव होते हैं। सलिए साधु ऐसे पन्थ का भोजन करते हैं जो सत्रा प्रासुक हो शुद्ध हो और मनोज्ञ हो। जो आहार देखने में भी भरा मात्स्य होता हो उसका भी ग्रहण नहीं करते हैं।

फलानि जब तक अग्नि में पकाय नहीं गये हों साधु उन्हें नहीं लेते हैं। क्योंकि बिना अग्नि के पकाये फलादि के टुकड़े प्रासुक नहीं होते हैं।

जिसमें बीज न हो ऐसा फलों का गूना या रस प्रासुक किया हुआ ग्रहण करते हैं। जिसमें बीज हों ऐसा फल का गूना रस आदि रभा नहीं लेते। तथा बिना वाजवाला रस उगेरह भी यदि प्रासुक न किया गया हो तो उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

शुद्ध प्रासुक भवा भोजन करने पर भी प्रमाणात्कृत भाषों का अनवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमणादि करते हैं। विन में भोजन की दो बला होना हैं किन्तु मुनि एक दिन में एक बार ही भोजन करते हैं।

## ५ ज्ञान शुद्धि

ते लद्धशाखाचक्षुः साणुज्जोषणा दिङ्मपरमद्वा ।

शिष्मकिन्द शिन्विदिगिच्छादबलपरकमा साधु ॥ ६२ ॥ (मूला० अ० )

अर्थ—जिन महात्माओं ने ज्ञान-चक्षु प्राप्त कर लिया है मतिज्ञान अतुल्यज्ञान अविज्ञान, मन पर्यज्ञान के उज्वल प्रकारों से सम्पूर्ण लोक के सार पार्थों को जान लिया है उनको आगम निरूपित पन्थों में शका नहीं होती है तथा संसार की किसी भीमत्स (घृणास्पद) वस्तु पर चिह्न घृणा नहीं है तथा कठिन से कठिन तपस्या करने पर भी आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होती है आत्मबल के अनुकूल पराक्रम द्वारा निरन्तर उमाह सहित काय में लगे रहते हैं।

जिस साधु को स्वासद्धात का तथा परमत के सिद्धान्तों का रहस्य ज्ञान होता है वह साधु अपने आचरण से नहीं गिरता है। ज्ञान रूप उज्वल तपक उसका आग प्रकाश करता चलता है। वह संसार के सब पदार्थों का अमली स्वरूप उचाहकर उसके सामने रज देता है। यह पन्थ तेरे लिए अमृत के समान माद्य है और यह पदार्थ तेरे लिए विष के समान अहितकर होने के कारण त्याग्य है। यह अनुकूल किचा मेरे आत्मा की पवित्र और बलवान बनाने वाली है और यह विपरीत क्रिया तेरी आत्मा को मलीन व निर्बल बनाने वाली है इत्यादि बातों को सूचित कर श्रेयोभाग को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है। यदि विपरीत कारणों के संयोग से

चारित्र के आराधन में साधु प्रसाद होने होने क्षमता है कठिन परीषदों के प्राप्त होने पर चारित्र से उदासीनता होने लगती है तब यह ज्ञान अक्षय हाथ पकड़कर गिरने से बचाता है और उदासीनता दूर कर उल्हास को बढ़ाता है। उन्मार्गागामी मन को थाप कर माग में लाता है। साधु को यथासमय भले बुरे की सूचना देने जला एक ज्ञान ही है।

ज्ञान बल स साधु तपस्वियों कायों में निरन्तर नद-चित्त रहता है उसका चैय बढ़ानेवाला ज्ञान ही है आराम में गम्भारता तथा अन्वय गुणों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान करी लगाम में ही अन्वय करी बलवा ( धोड़े बरा में रहते हैं। मन-मानन को आन्वा के बरा में रम्भन के लिए ज्ञान अकुरा क समान है।

तपस्या से जिन साधुओं के कंगल सुखकर निचकगये हैं भुङ्कति ( भौंड़े ) ऊपर उठ आई हैं आलें अन्वर पुस गई हैं शरीर अस्थि पंजर मात्र हो गया है वे साधु भी ज्ञान के बल स निरन्तर तपस्वरग में उन्मार्हित रहते हैं और उनका वास्तविक स्वरूप जानते हैं। वही कहा है।

सुदरगणपुण्यकण्ठा हेउखपविसारदा चिउलपुद्धी।

खिउखत्थसत्थुमला परमपयगियाणया समखा ॥ ६७ ॥ ( मूला अ

अ १—जिन मुनि पुंगवों के कर्ण अ तज्जान करी रत्न से भूषित हैं जो हेतुवाद में पारङ्गत हैं जिनकी बुद्धि विराल है जो व्याकरशास्त्र तकरशास्त्र माहित्य ब्रह्म अर्द्धकार आदि शास्त्रों में निपुण हैं वे महामति साधु परमपय ( मोक्षमाग ) के वास्तविक ज्ञाता होते हैं।

भावा ३—सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान व चारित्र मोच का माग माना गया है। नव व प्रमाण से जावादि पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनपर अज्ञान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उम सम्यग्दर्शन सहित जितना भी ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान तथा जितना भी चारित्र है वह सम्यक चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिए पदार्थों का यथाथ ज्ञान आवश्यक है और पदार्थों का यथाथ ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है अतल्लिण सबसे प्रथम प्रमाण व नयों के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। नय और प्रमाण क ज्ञान बिना वस्तु का यथाथ ज्ञान होना अर्द्धभव है।

अ तज्जान स निरूपित अय के एक देश ( अंश-वय ) का निरचय करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। नैगम मंग्रह आदि उसके सान भेद हैं। उनका स्वरूप ज्ञानाचार में दिव्या आये हैं। अथवा न्यथार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो भेद हैं। नैगम, मंग्रह व्यवहार और अजुम्व के चार नय प्रथमार्थिक हैं क्वौक ये न्यथ का प्रहय करते हैं। और शेष तीन ( शब्द मयभिरुद्ध और एवंभूत )

पर्यायार्थक हैं। यं पर्याय का प्रहण करते हैं। अथवा व्यवहार और निरन्तर्य इस प्रकार नय के दोभेद हैं। वस्तु की शुद्ध अवस्था के प्रहण करनेवाले नय को निरन्तर्य नय कहते हैं। तथा अन्य वस्तु क संयोग से उ पन्न हुई वस्तु की जो वतमान अवस्था है उसके प्रहण करनेवाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। अनन्त धामात्मक वस्तु को समस्त स्वरूप के प्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके प्रवचन व परीच य नो भव है। इसका विराट् विवेचन ज्ञानाचार म किया गया है वहाँ ज्ञान लेना चाहिए।

असतो आगम म ज्ञान है उस मुनि का चारित्र्य उज्ज्वल होता है। तथा वही अपना तथा दूसरे का कल्याण करने में समर्थ ही मरुता है। अतज्ञान विना मनुष्य अपने के समान होता है। जैसे आचा माग सिद्ध कण्टक, पथर खडू आदि अनिष्ट वस्तु से बचकर ठीक मार्ग पर चलने में असमर्थ होता है वैसे ही ज्ञान हीन मनुष्य आमा के अहितकर माग ( चारित्र्य ) से बचकर उत्तम निर्दोष मोक्षमाग पर चलने में असमर्थ होता है। इसलिए आचार्य मठारणज न साधु के श्रुतज्ञान ( आगमज्ञान ) की आवश्यकता दिखाई है।

मुनि म यवहार ज्ञान भी होना चाहिए। जो द्रव्य क्षेत्र फल व भाव के अनुसार उपदेश नहीं देता है उसके उपदेश से जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता है प्रत्युत कभी कभी उससे भयंकर हानि हो जाती है। द्रव्यक्षेत्रधलादि का विचार न करनेवाला मुनि अपने चारित्र्य को भी निमेल नहीं रख सकता इसलिए साधु को मतिमान होना चाहिए।

जो साधु व्याकरण न्याय क्वन् सार्द्ध्यादि शास्त्रों का वेदा होता है उसके द्वारा मुनिपद सुख के समान देवीव्यमान हो जाता है। वह विद्वानों के द्रव्य में स्थान पाता है। उसीसे जैन धर्म का उद्योत (प्रकाश) होता है। सबको धर्म की प्रभावना विद्वान् मुनि ही कर सकता है। उसकी ज्ञानमय आमा क मुख से निकले श्रोत्रज्ञी बचनों से विरोधी विद्वान् भी नत मस्तक हो जाते हैं। शास्त्र निपुण विद्वान् आचार्यों न ही सम्पूर्ण जीों की सन्माग निस्तानेवाले शास्त्रों की रचना की है। उन शास्त्रों के आधार पर ही इस समय जैन धर्म टिका हुआ है और अन्य जीनों को मोक्ष माग प्राप्त हो रहा है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मोक्ष माग के ज्ञाता व प्रयेता ( उपदेशक ) विद्वान् मुनिपद ही हो सकते हैं।

अनक शास्त्रों के पारगामी विद्वान् साधु कैसे होते हैं इसके लिए कहते हैं—

अवगद मायास्थमा अणुस्सिदा अगम्बिदा अचढा य।

दता मद्बबुषा समयविदण्ड विषोदा य ॥ ६८ ॥ ( मूला० अ० )

अर्थ— शास्त्र पारगत मुनियों के जेरा मात्र भी ज्ञान का गव नहीं है, ज्ञान के गव से उक्त छ सल ( वर ड ) होकर आगम विकट एक शब्द

भी उच्चारण नहीं करते हैं। उत्तम जाति उच्छ्व कुलादि का अभिमान उनके मृत्यु को स्पष्ट तक नहीं करता है। क्रोध के झरख उपस्थित होने पर भी उनके अंत करणों में क्रोध का आविर्भाव नहीं होता है। क्रियाओं का दमन करने कर लिया है। वे मृदुता गुण से भूषित हैं। स्वमिद्वान पर सिद्धान्त के विद्वान् हैं तथापि वे अत्यंत विनयवान् होते हैं।

भाषार्थ—प्रकारण विद्वान् मुनि के सामने जगत के उद्भूत विद्वान् रथगत के समान प्रतीत होते हैं। उनकी ज्ञान-तेजस्विता से विख्यात कीर्ति पंडित भी कापते हैं। तथापि वे मुनिराज अपने ज्ञान का गव नहीं करते हैं। क्योंकि यह वस्तु के यथाथ स्वरूप का बोध होगा है। पुण्य और पाप के कारणों का स्वरूप उनके हृदय में अंकित हा गया है। वे समझते हैं कि अभिमान पाप का बीज है। अभिमान स आत्मा का पतन होता है। कवलज्ञान के सामने भरा ज्ञान लघुत्व के समान है। मैं जिसका अभिमान करूँ वह ज्ञानोपशमिक ज्ञान कर्माधीन है। तीव्र असाता कम तथा वीर्यान्तराय कम के लक्ष्य होने पर यह ज्ञानोपशम ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस पराधीन और नरवर ज्ञान का अभिमान करना अज्ञानता है। भरा स्वरूप का कवलज्ञान है। उसको प्राप्ति के लिए मैं यह उत्कृष्ट मुनिपद धारण किया है। यदि मैं अभिमान करूँगा तो छ माग में गिर जाऊँगा और भेरा सबख लुप्त जावेगा—ऐसा विचार कर साधु अभिमान को निकट तक नहीं आने दते हैं। किंतु इसमें विपरीत विनीत भाव धारण करते हैं। अपने ज्ञान की अल्पता से और ध्यान रखते हैं। अभिमान वशा किसी का निराकार नहीं करते। नक धचन में किया में नष्टता मिलती है। ज्ञान के ज्ञानोपशम में लक्ष्य नहीं है। अपने चारित्र्य को उच्चल के न में नरवर रहते हैं। उचित्य में मन पर। जय प्राप्त में धमभ्यान में उपयुक्त रहते हैं।

### ( ) उद्भूतशुद्धि

न क्रिएणुगोद्वेधा गिण्णोहा अणुणा मरीरम्मि ।

क क र ति किचि माह परिमठप मरीरम्मि ॥ ७ ॥ ( मूला अ )

अर्थ—विमन पुत्र स्त्री आदि के प्रेम सम्बन्ध में लिल भिन्न स्त्रियाँ हैं और अपने शरीर से भी स्नह सम्बन्ध तोड़ दिया है। वे साधु अपने शरीर का किंचि मात्र भा सम्भार नहीं करते हैं।

भाषार्थ—उद्भूत शुद्धि चार प्रकार की होता है। १ शरीर के सम्भार का त्याग २ पुत्रादि बन्धुवग का सबंध त्याग ३ सम्पूर्ण पापों का त्याग और ४ रागादि भावों का त्याग।

## उक्त शुद्धि के चार भेदों का स्वरूप

१। जन महात्माओं ने अपने शरीर के ममत्व (माह) का त्याग कर लिया है वे शरीर को आत्मा का शत्रु समझते हैं। क्योंकि जितना पापकर्म होत है उतना कारण यह शरीर ही है। मात्मा व अमरा किन्तो प्रकार का मस्कार नहीं करते। न वे मुह होत हैं न नत्रों पर लल खिड़कते हैं न बतवाचन करते हैं। अथवा मंजन या नैन लेकर या अगल में गडककर बात स्वच्छ नहीं करते हैं। मुगधित नत्रों का उत्रना नहीं करते हैं। न पौर्वो पर कशर आनि नत्रों को लगाकर उहे स्वच्छ करते हैं न शरीर का ममन करते हैं। न मुक्त आनि से शरीर कुत्तवाने हैं न किसी कृपणियत्र मशरीर को त्रवाने हैं न शरीर क अत्रोमग मोधुपात्त म उगधित करते हैं। अपने कठ की शुद्धि के लिए अथवा स्वर का ठीक करने के लिए ममन नहीं करते हैं। अपने नत्रों में मुरमा क तलानि का अजन नहीं करते। न पत्र की शुद्धि के लिए या उत्र पीड़ा का परिहार करने के लिए त्रिचन लेते हैं। मुगधित तलानि का शरीर पर मालिश नहीं करते हैं। चन्त अगर त्रुपावि का लेप नहीं करते हैं। कभी नति धौती नहीं करते हैं। नामिका म और उत्र म वत्र चन्त म नाशिका और उत्र को स्वच्छ करने की क्रिया को नेति धौती कहते हैं साधु मम कभी नहीं करते हैं। न मिगी आनि लगाने अपने शरी का कशिर निकलवाने हैं। इयानि शरीर सम्बन्धी कोई मस्कार नहीं करते हैं।

प्रश्न—मुनिराजो ने अपने शरीर का समस्त संस्कार का त्याग कर दिया है तो क्याधि आनि के उत्पन्न होना पर वे क्या करते हैं ?

उत्पणमि वाही मरवयण कुम्बि वरण म् ।

अधियामिनि मुधिनिया कायतिगिद्ध म् इच्छन्त ॥ ७२ ॥ ( मूल अ )

अर्थ—बस जुकाम मला आनि गोत्रक उत्पन्न होने पर मर की पीड़ा उत्रशल पेट में उत्पन्न अथवा मप्रकार अथवा असह्य पीड़ा के उत्पन्न होने पर वरममथय धारण करनेवाले मुरान चारत्र उत्र ममन हण आत्मा को वेदनीय पत्र करन वाली वेत्ना की प्रतीकार की म्ना भी नहीं करते हैं किन्तु चन्त को हानि त्रन म भावना मल जान करते हैं।

भाषा—ममानकीडा मन्थाल असमय मग वेत्न के उरस्थित हो जान पर त्रयधुग्धम सुानराज शरीर की ओर स ध्यान का हणकर हन त्रान भावना म चित्त का लगाने हैं। व विचरते म कि हे आत्मन तर नोअसाता वेदनीय कम का उत्र आया है वह अपना फल त्रिय विना न रहे। न यथ याकालन हो म्ना है। म समय तुल्ल शाान त्रण करना चाहिण। सका उपाजन त्रने किया है अब सफ फल भोगते समय कयों कायर होना है ? यह कम का कण त्रन किया है। कण को चुकाना मपुरुषा का कत्तय है। चन्त त्र इस समय धैर्य त्ररण कर म शांति स सहलगा ने त्र कृण मुक्त हो जावग। और या त्र त्र अहैन होकर हाय विलाप करेगा। आत्मा में आने

ध्यान वत्पन्न करेगा तो भी यह कर्म तुझे नहीं छोड़ेगा अपना फल अवश्य देगा। बल्कि घोररुज का त्याग करने से तुझे कई गुण अधिक फल प्रदात होगा और नये कर्म का बन्ध भी होगा। वह फिर तुझे भविष्य में इसमें भी अधिक दुःख देगा। सोच। यह अवसर तेरे लिए बड़ा शुभ उपस्थित हुआ है जो सचेत और ज्ञानोपयोगी त्वा में यह कम उद्यम में आया है। सब सुन्दर सबोय इस समय तुझे प्राप्त है। इस समय भी तू अज्ञान वश शोक स्तनप करेगा तो तेरे समान मूल्य और कीन होगा? जरा सोचो। तुमने नरकों में कैसे २ दुःख सहे। जहाँ निरन्तर ताकन छत्र भेदन भाङ में भजन शूलारोहण अग्नि पाचन आग्नि घोर क्लेश सहे हैं जिनका स्मरण मात्र हृदय को कम्पित कर देता है, उसके समस्त यह आगत दुःख तो कुछ भी नहीं है। देखा। सुकुमाल मुनिराज के शरीर को नोच नोच दोनों बन्धों सहित स्थालनी ने भक्षण किया, तथापि लोहामात्र भा बनक मन में बिबर नहीं हुआ। वहाँ वह सुकुमाल मुनारवर जिनके शरीर को सरसों भी कौटे। समान दुःख देती थी, उस ही स्थालनी द्वारा आघा भक्षण कर लेने पर रचमात्र दुःख नहीं हुआ। पाचों पाठ्य मुनिराजों के गले में अग्नि से तप्तायमान लोहे के जगमगाते हुए गहन झल्ले गय तथापि उन्हें निरच मात्र दुःख नहीं किया। उनके शरीर के अवयव लम्ब हो गये किन्तु उनके बाह्य में बिबर नहीं हुआ। गजकुमार मुनि क मस्तक पर अगोठी बनाकर अग्नि जलाई गई किन्तु मुनिराज का मन-सुमेरु तनिक भी चञ्चल न हुआ। तुमको बछड़े ही कहाँ? क्या यह शरीर तुम्हारा है? यह तो अनवर पुद्गल का शिखर है। तुम तो शुद्ध बुद्ध चेत य सुख स्वरूप आत्मा हो। ऐसे शरीर तो तुमने अनन्त बार पाये हैं। जैसे पुरान बस्त्र को उत्तार कर नये वस्त्र पहननेवाला मनुष्य अप्रसन्न नहीं होता है। उसी प्रकार इस जीय आर दुःख शरीर का लोडकर दिव्य अनुपम देवानि क शरीर को प्राप्त करनेवाले को क्या दुःख? समयी इसकाल में भी स्वर्ग का अधिकारी है। स पचमकाल म मास नहीं होता ता भी देवगति के सिवा समयी दूसरी गतिमें नहीं जाता। यदि तुम आत्मध्यान करोगे तो तुम्हारे समय रन को कपाय चौर इन्द्रलंग और तुम्हें नरकानि गति में जाना पड़ेगा। "यादि ज्ञान द्वारा मुनिराज अपने शारीरक रोगानि के प्राण हान पर शरीर का संस्कार न्हा करत हैं। न वेना स मन को विकृत करते हैं—व्याकुल चित्त नहीं होते हैं। किंचित्त बियुद्ध नहीं होते और मन य कायरता नहीं धारण करत किन्तु महान धैर्य का अवलम्बन लेकर व्याधि रोग वेदनादि से न घबराकर उससे मुकाबला करते हैं। विवेक ज्ञान स शरीर को अय समय कर उसकी चिकित्सा आदि की इच्छा तक नहीं करते हैं।

शका—क्या मुनिराज विरचनादि सब औषधियों का त्याग करते हैं?

समाधान—नहीं ऐसा नहीं है।

गका—तो किस को इच्छा करते हैं?

समाधान—मुनिराज जिन भगवान के वचन रूपी औषध का निरन्तर सेवन करते हैं। इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विषय-सुख का विरचन लेते हैं। अर्थात् विषय-सुख का त्याग करते हैं। ज्ञानामृत का पान करते और आत्मा के ध्यान में सम्युष्ट रहते हैं।

कात्म ध्यान वनम जरा मरण रूप व्याधि के ज्ञय कर्म का कारण है। शारीरिक मानसिकादि समस्त दुःखों के ज्ञय का कारण है तथा सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने में समर्थ है।

जिनागम क तत्त्वों में सम्यक्श्रदान रखने वाले चारित्रपरायण साधु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करके कोई क्रिया नहीं करते। जिनागम में व्याधि प्रतीकार करने के लिए औषधादि का सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। अतः प्राणियों का नारा होते हुए भी साधु किसी प्रकार की औषधानि का सेवन नहीं करते हैं।

आत्महित-परायण मुनिराज शरीर को रोगादि-मस्त हुआ जानकर विचरते हैं कि यह शरीर रोगों का मन्त्रिण है। इसमें सैंकड़ों व्याधि का उत्पन्न होती है। यह तो रोगों का प्रसूतिगृह है। एक रोग का प्रतीकार करने पर दूसरा उत्पन्न हो जाता है और उसका उप-शमन होते ही तीसरा रोग प्रकट हो जाता है। इसकी असह्य चिकित्सा असाता वेदनीय कर्म का ज्ञय करने से हो सकती है। यह शरीर जब तक रहूँगा तब तक रोग का अस्तित्व मिट नहीं सकता अतएव इसकी उत्पत्ति कभी न हो ऐसा उद्योग करना ही अव्यक्त है।

स शरीर के साथ रोग व्याधि आदि का सम्बन्ध है। ये इसीको हानि पहुंचा सकते हैं। इसमें मेरी क्या हानि है ? यह शरीर तो अशुचि है महा अशुचि है शुभ लक्षणा से रहित है नसों और आतडियों से वेष्टित है चमड़ी से ढका हुआ है हड्डियों की ठिठरी है जो मांस चर्बी से लिपि हुई है भीतर कपिर शुक्र कलेजे आदि से भरा हुआ और मलमूत्र कफ आदि का स्थान है।

यह शरीर मड हुए फोड के समान घिनाना है। संसार के सब अपवित्र और घृणित पदार्थों से यह शरीर बना है। शरीर का सबसे उत्तम अवयव मुख है वह कफ और लार युक्त है। आंखों में से कीचड़ नासिका से कफ कानों से कण्ठमल निकलता रहता है। अणु द्वारा स मल मूत्र समय समय निकलते रहते हैं। सम्पूर्ण शरीर से स्वेद जल बहता रहता है। कहीं तक कहा जाये यह शरीर मलमूत्र है, श्मशान के समान बीभत्स है। और स पर भी कसक टिकन का कुञ्ज भरोसा नहीं। कितन ही रक्षा के उपाय किये जायें तो भी अनियत काल म नष्ट हो जाता है। इसकी क्षण भर रक्षा करने को भी त्रिलोकों में कोई भी समय नहीं है।

जिस शरीर की रक्षा करने के लिए यह प्राण निरन्तर दत्तचित्त रहता है-जिसको सुन्दर पवित्र सुगन्धित दुग्ध पक्वा आदि पदार्थों का भोजन देता है उनको यह शरीर मल मूत्र रूप कर ढालता है। यदि वह अन्नादि दातों में लगा रह जाये तो रोग उत्पन्न कर देता है। इस शरीर के संसर्ग से सुन्दर भोजन जलादि मनोह्र पदार्थ कफ-क्षार-स्वेद-मल-मूत्रादि दुगन्ध पदार्थ बन जाते हैं, जिसका स्पर्श तो दूर रहा नेत्रों से देखना भी कोई नहीं चाहते।

प्रश्न—एक शरीर को मुनि क्या धारण करते हैं ? और आहारानि स उसका पोषण क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस अत्यन्त अशुचि और विनश्वर शरीर से पवित्र और अविनाशी मुख देने वाले घम का आराधन करने के लिए इसकी आहारानि स रचा क त है क्योंकि मनुष्य शरीर में ही चारित्र्य घम का पालन होता है स्वाध्याय-ध्यान की सिद्धि होती है। जब तक यह स्वाध्यायानि स साधक होता है तब तक इसका पोषण करते हैं और तब अपना मुख काम लेते हैं। और जब यह रोगादि से पीड़ित होता है स्वाध्यायानि सों में उपयोगी सिद्ध नहीं होता है तब इससे अपना सम्बन्ध तोड़ देते हैं और अपने परिणामों में किसी प्रकार का विचार उत्पन्न नहीं होने देते। यन्मो त्ना शुद्धि कहते हैं।

### ७ वाक्य शुद्धि

भाम विणयापदृश धम्मावगता विवज्जण उयसु ।

पाच्छ्वमपुच्छित्ता म पि न भामति मप्पुमि । ॥ ८७ ॥ ( मूला अ )

अर्थ—सत्यरूप मुनिराज समाप्तोपे वचन का उच्चारण नहीं करते घम स अत्रिरुद्ध भाषा भी विनय रहित नहीं बोलते। पृष्ठन पर या बिना पृष्ठ कटु कठोर तथा व्यवहार विरुद्ध या आगम विरुद्ध कोई वचन मुख से नहीं निकालते।

भाषा—पाप स भयभीत महापुरुष तम ज्ञान का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि मेरे मुख स प्रमादवश ऐसा वचन न निकलने पावे जो लोगों को घम स विपरीत मार्ग पर चलाने वाला हो। प्रवचन भी घम क अनुकूल ही होना चाहिये। अविनीत वचन भी जनता को सम्मार्ग पर लाने में समर्थ नहीं होता। भाषा क वक्ता पढ़ाने मुनि आशुभागा स उच्चारण करते हैं जिससे श्रोताओं के अत करणमें भाषाभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होन लग। यदि समझन क लिए किसी अन्य उपाय भाषा का प्रयोग करना पड़ता भी एसी सरल और व्यवहार-मात्र भाषा का उच्चारण करते हैं जो स्पष्ट प्राण्य होता है। नाचजाना क उच्चारण करने योग्य र त्। अन्ति तुच्छ वचन कभी नहीं बोलते। बड़ों में तो क्या जलक के प्रति भी र त् अन्ति हलक श श स प्रयोग नहीं करते। उनम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य तुम आप स जन अन्ति वचनों का प्रयोग करते हैं। विनय पूर्वक जोलागया वचन श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करता है। तथा वक्ता के प्रति आन्तरिक पू य भाव उत्पन्न करता है। धर्मापत्त्य क समय मुनि आगम क सिद्धांतों का प्रात करनवाली भाषा नहीं बोलते। जिस विषय का ज्ञान न हो उसका अपना मत स कल्पित विवेचन नहीं करते किसी क प्रश्न कर प आगम क अनकूल सरल चित्त में उत्तर देते हैं। यन्ति उस प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति नहीं होती है तो उत्पत्त्य उत्तर न दूर अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि मेरे मुख स निकला हुआ वचन लोग सत्य मानते हैं। यन्ति मैंन अभिमान वश कुछ भी असत्य भाषण कर दिया तो त्म मुनिवेष को लाजित कर दिया। मुझे असत्य-भाषण करते हुए

स्वकर लोगों की मुनिवेष म चूणा होन लगगा । लोगो को सत्यभाषी मुनिराजों क प्रति भी अश्रद्धा होने लगगी । मुनियों की सबीकृष्टता का नारा करके उनक प्रति अरुचि और अपयता का औरान का कारण हो जाऊगा तो मेरे समान और कौन पापी होगा ? मुमस्ते यह गृहस्थ ही अछ हैं जो जैन धम की व मुनि वेष को प्रभावना व पूजा करते हैं । और में ऐसा पापी हुआ जो उनको निन्दा का कारण हुआ । इस सत्य महाश्वत क कारण ही मन्पूण ससार मरा विश्वास करता है । मर चरण पूजता है और मरा स्थान पूजन कर अपन जन्म को सफल व वय समभता है । मरा क्तय है कि मै प्राण जान पर भी अज्ञानवश व अभिमानपरा या मोहवश असत्य वचन न निकालू ।

मुनिगण शास्त्रों क पठन पाठन मनन । चतन म अपना समय यतीत करते हैं । जिना प्रयोन किमी गृहस्थ स्त्री व पुरुष क सभाषण नहीं करते । वे गृहस्था क लौकिक मगो में नहां बोलत । कहा भा है—

अच्छार्हि य पच्छता कएणार्हि य बहुविहाड सुखमाणा ।

अस्थान मृयभूया ण त कराल दुला य कहाओ ॥ ८८ ॥ ( मूला अ )

अ—मुनिराज भले बुर क भा योग्य-अयोग्य वस्तु को आँखा स देखते हुए म रहते हैं मानो वे नत्रविकल हैं । कानों स सुनन योग्य व न सुनन योग्य अनक प्रकार क वाक्या । सुनते हैं तथापि वे गूँ व बहर वन जाने हैं । मानो उन्होंने सुना ही नहीं हो कहन क लिए उनके जीभ ही न हो । किसी भी समय लौकिकी का गृहस्थों के भगड मने की शान को न सुनते हैं और न बोलते हैं ।

सामाजिक मगडों स लोगों क परत वक्वों म मुनिराज को क्या मतलब है ? उनोन लौकिक सब सम्बन्ध का त्याग कर मुनि शीला प्रण की है । उम त्याग म यत्रहार का प्रहण करना उच्छिष्ट का प्रण करना है । अत किसी लौकिक मगड में पडनेवाले अपने आत्मा का घात तो करने ही है । माघ म । न म्प मुनिराज को भी क्लञ्चित करते ह ।

ह मुनियां तुमन लौकिक मगडा का वचन स ही नहीं मन में भी त्याग किया है । अत उनको मन में भी स्थान न्ना नम्हार लिए लज्जा की बात है । तुम्हें स्त्री सम्भ वी कोइ का नहीं करनी चाहिए । यह स्त्री मुरूप है यह कुरूप है यह सौभाग्यवती है यह मपूर भाषणी है यह कलहकारिणी है यह अप-वयस्क है यह प्रौढ है । यानि स्त्री सम्भ वा का तुम्हार लिए अत्यंत अहितकारक है । ऐस ही तुम्हें अथकथा भी नहीं करना चाहिए । धन के उपाजन करन के उपायों का वगन करना अथकथा है । राजादि को सेवा के द्वारा प्रसन्न करने से अमुक वस्तु का वाणिज्य-व्यवहार करन स अमुक उपायों का अलम्बन कर खेती आदि करन से गतुओं के शोचन खननानि के माघनों को काम में लाने से मत्रतत्रानि का प्रयोग करन स धन की उपलब्धि होता है । म प्रार की का को अय कहते हैं । भोजन से सम्बन्ध

रखने वाली कक्षा को भोजन कक्षा कहते हैं। उनके यहाँ सुन्दर अशन-पान-स्नान आहार मिलते हैं। अमुक घर में भोजन-सामग्री की सुब्यवस्था है। वे आहार में बड़े स्वादिष्ट पदार्थ संयमी को दते हैं। वह स्त्री बच्चा स्त्रादिष्ट और मनोहर भोजन बनाती है। उसके हाथ के बने हुए भोजन में बड़ा सुन्दर स्वाद आता है। अमुक घर में रूखा सूखा भोजन मिलता है। उसके घर दुर्गन्धियुक्त बस्ताद भोजन होता है। इत्यादि प्रकार से भोजन की कथा तुम्हें कभी नहीं करनी चाहिए। देश-नगर-ग्राम क्षेत्र कवटादि की कथा को देश कथा कहते हैं। (ननी पवत से घिर हुए प्रश्न को वे कहते हैं। सब तरफ से पवतों द्वारा घिरे हुए प्रदेश को कवट कहते हैं) अमुक क्षेत्र व कवट के निवासी बड़े युद्ध कुशल हैं। अमुक ग्राम (कानों का की बाह से घिर हुए प्रदेश) में धन धान्य की समृद्धि है। वहाँ के लोग बहुत धनिक हैं। वहाँ पर परचक का भय नहीं है। वह नगर घनघनिय संपर्युक्त है। उसमें किसी शत्रु का प्रवेश करना असंभव है। अमुक देश उत्तम यज्ञ चालित सेनाओं से सुरक्षित है। उस पर शत्रु का प्रभाव नहीं हो सकता। त्यादिनगर ग्राम द्रोणयुद्ध देशादि की कथा कमबख्त करने वाली है। अत आशुओं को लिए सबधा त्याग है तथा राजाओं की कक्षा करना राजकक्षा कहा जाती है। उसके मन्त्राचार्यक्यादि नीति में प्रवीण हैं। योग और ज्ये में वह राजा उद्योगशील है। (अग्रिम युद्ध की प्राप्ति को योग और प्राण वस्तु के रक्षण को ज्ये कहते हैं) उसके पास चतुरग सेना है। उसमें अनेक घोर संग्रामों में विजयलक्ष्मी पाई है। उसमें सम्पूर्ण शत्रु-समूह को निर्मूलन कर निष्कण्टक राज्य किया है। उस राजाके प्रताप के सामने किसी की तेजस्विता नहीं टिकती। उसकी सेना रण कुशल है। उसके पास शास्त्रास्त्रों के श्रुता है। त्यादि राज-कथा करने से रौद्र परिष्कारों का प्रादुर्भाव होता है। त्यादि मुनियों को कदापि ऐसा कथाप नहीं करनी चाहिए। साधुओं को चोरी की कथा भी नहीं करनी चाहिए। अमुक नगर का निवासी चोर बच्चा निपुण है। यह नीरता से माग में लुप्तता है। घात लगाने में उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है। वह ऐसा गंठकटा है कि देखते देखते वस्तु को चुरा लेता है। आशुओं से सब बज्जल तक निकाल लेता है और पता नहीं चलन देता वह ऐसा परयतोहर है। वह डाकू इतना शूर है कि उसको सेनाने चारों ओर से घेर लिया तथापि वह अकला ही उससे लड़कर भाग निकला। त्यादि चोर डाकू गंठकटे लुटेरे आदि की कथा चोरी का महारव प्रकट करती है। आत्मा के परिष्कारों में विश्वास भाव उत्पन्न करता है। सल्लिप मुनियों को ऐसी उपाय कभी नहीं करनी चाहिए। अमुक देश में हीरा पत्तन होता है। अमुक जगह पत्ता की खाने हैं। अमुक राजा में मोती बहुतायत से पाये जाते हैं और बहुत सस्ते मिलते हैं। अमुक स्थान पर जाकर अमुक रत्नादि लाये जाव और अमुक स्थान में बेचे जाव तो बड़ा लाभ होता है। वहाँ पर केसर आदि उत्तम और अल्पमूल्य म मिलती है। अमुक नगर में बहुत महंगी मिलती है और बहुत बिकती है। वह देश रमणीय है। वहाँ पर अन्न पान साधु को सुलभ है। वहाँ के लोगों का खान पान पहनाव रहन-सहन बड़ा अष्ट और मनोहर है। अमुक नगर के लोग इन्द्र तैलादि सुगन्धित द्रव्यों का अधिक उपभोग करते हैं। सी प्रकार अन्य भी कमबख्त की कारणभूतकथाओं को साधु कदापि न करे और न उनके सुनने में भीति करे।

सुनिराय नाटक के पात्रों ( ननों ) की युद्ध में कुशल सहस्रभट कोटिमन्त्रि योद्धाओं की कुशती करने में प्रवीण पहलवानों की मुष्ट आदि युद्ध में कुशल महलों की अज्ञानि माया प्रपञ्च करने में प्रवाण इन्द्र जालियों (बाजीगरों) की मत्स्यबध करने वाले

मनुष्यों की चतुराई की उड़ते पक्षियों पर निशाना लगाने वाले लक्ष्यवेधी मनुष्यों का जुआ खेलने में चातुर्य (चात्तुकी) करने वाले जुवारियों का हास पात्र सिर आदि शरीर के अवयवों का भ्रमन करने में कुशल तथा जोष दिसा में रति ( प्रेम ) रखने वाले मनुष्यों की, रस्ती व बाध पर बलकम खेल करने वाले नगों की कथा में कभी अनुराग नहीं करते हैं। वैराग्य परायण मुनीश्वर वन कथाओं का उच्चारण तो क्या, मनमें चिंतन तक नहीं करते हैं। उक्त कथाओं को द्रष्टुं मात्र भी इच्छा में प्रान नहीं करते हैं। जिन परम वीतराग भावना में रत हुए मुनियों का चित्त निरंतर धम भावना में रगा रहता है वे उक्त कथाओं का मन वचन काय से त्याग करते हैं। अर्थात् उक्त कथाओं के अर्थ को सूचित करने वाली भाषा द्वारा कोई चर्चा नहीं करते हैं। इत्यादि संसकन नहीं करते हैं। उनका वचन से उच्चारण तथा कथन से अवगण नहीं करते हैं। अर्थात् वे उनका मनम चिंतन तक नहीं करते हैं।

वैराग्य की मूर्ति साधु लोग श्रुति द्वारा काम-क्रिया का सूचक पत्रादि नहीं करते बल्कि उत्पन्न करने वाले वचन नहीं बोलते प्रथम मिश्रित आदिष्ट वचन मुद्रा संकभी नहीं निरालते कभी मिलमिलकार अट्टंगम नहीं करते आग न दूधरा को हसाते हैं शृंगार रस के पादित्य शोचन रमणीय वचना का उच्चारण नहीं करते अपन हाथ संदूरे के तारक ताडन नहीं करते श्वीर न पीठ आदि ठोकते हैं। क्योंकि ये सब क्रियाएं विकारा मनुष्यों के योग्य हैं। निर्दिशार मन वचन काय के विकार से त्रिमुख परम त्रिरक्त मुनिराजों की सब वेष्टाएं उद्धता सं रहित होती हैं। वे ममुद्रा के समान मरुभींग होते हैं। उनका चित्त संश्रित स्थिर होता है। उनका अत-करण वत्-आवरणक क्रियाओं-स्वाध्याय यानादि सं-लवलीन रहता है। परमव के गुण की भावना निरन्तर उनके चित्त में जागृत रहती है और इस लोक के आनिष्ट सं भयभीत रहते हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट जगत्सुख पत्र का उन्हें मदा ध्यान रहता है। मस्त्रिप वे कभी शरीर से वचन सं श्वीर मन सं ऐमा कोई काय ( विकथादि ) नहीं करते चिसस मुनि भय का अपवान हो म को निन्ता हो श्वीर अपन आमा का अहित हो

प्रश्न—यदि मुनिराज एक विकथाएं नहीं करते तो कैसी वजाएं करते हैं।

त्तर—मुनिराज ऐसी वजाएं करते हैं जिनस संस्थानशन संस्थानज्ञान और संस्थक चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होती है या वृद्धि होती है। रत्नत्रय का स्वरूप प्रकट करनेवाली तथा उसमें दृढ़ता उत्पन्न करनेवाली शरीर भोगादि सं वैराग्य उत्पन्न करनेवाली परलोक में बन्धस पैदा करनेवाली धम में अभिरुचि करने वाली स्व पर का हित करने वाली धम कथाओं का वे उच्चारण करते हैं। आत्मा क कम बाध क नारणों तथा बाध का क्षय करने के उपायों का विवेचन करने वाली कथाओं को वे करते हैं। सब प्रथम तो वे मुनिराज अपन आत्माहित क काय-वत् आवश्यक क्रियाओं का आचरण तथा ध्यानाध्यन करते हैं। उससे जो समय बचता है उस समय को वे आत्माहित-साधक जीवादि तत्त्वों का निरूपण करनेवाली भन् विज्ञान प्रकट करनेवाली पापकार्यों सं अरुचि और पुण्यकार्यों में रुचि उत्पन्न करनेवाली चारित्र में प्रम वदानेवाली तथा वैराग्य भावना को पुष्ट करनेवाली पुण्यकथाओं में लगाते हैं। वे मुनिराज एक उत्तम

वद्य क समान होते हैं। क्योंकि व विषय भाग रूपी अणुय मवन रवन वाले ससारी जीव रूपी रागी को रत्नत्रय रूपी पथ्य औषध का दान दते हैं और स्वय भा प य आर हिनर वेंगाय का मेवन करक स्व पर का कल्याण करते हैं।

## ८ तपशुद्धि

शिव च अप्यमत्ता, मन्नमममिणोसु भ्रातृजोगेसु

तवचरख-करण जुता इवति समखा समिदयावा ॥ ६६ ॥ ( मूला अ )

अ १—तपस्या म तपस्य मुनिराज सजग पन्तह प्रकार क प्रमात्स रहित हुए प्राणी संयमध इन्द्रिय संयम (लहकाय के जीवों के रत्नग क्षार अर्थात् कर्मन) म पच मामतियों के पालन म अस्य यान व शुक्लस्थान के चन्तन मे नानाप्रकार के अक्षयह ( आखड़ी ) क महारा करने में शरण प्रसार क तपश्चरण क आचरण करने म तेरह प्रकार क चारत्र के पालन में और तेरह प्रकार क करण मे सद्यत हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करते हैं।

रुमों का लय करने क लिए मुनि ज प्राण्य आर अ य तर तप मो नन है। उनम कायकलश तप अति दुष्कर है। उस तपश्चरण मा आचरण करने क लिए अश्रावकाश योग आत रन आर उत्तमूल यो। का सा रन करते हैं। इन योगों का वे ही महापुरुष साधन कर सकते हैं तिनकी आत्मा म परम योगी पराक्रम सा उत्कृष्ट है तथा शरीर मे बल का प्राकल्य है। वे हा अपनी आत्मा मे शरीर को सर्वथा भिन्न अनुभव कर क तन्तुकूल प्रवृत्ति करते हैं। वे ही मह पराक्रमा धीरपुंश्चर परम विरक्त मुनिराज उम शरीर को मन्त्र क लिए आत्मा स प्रक कर नन क लि अश्रावकाशादि योगा को साधना करने म कठिबद्ध होते हैं।

### अश्रावकाश याग

जिस शीत म समस्त अत्वा के वन जल गये हैं सरोवरों के पानी पथर—से नम गये हैं कमलों क सम्पूर्ण वन जलकर नष्ट हो गये हैं पत्नी उर्वों के घोसलों को छोडकर पवतों की गुफाओं आर नारों मे बसरा लेन लग हैं मिह और हिरन एक दूसरे के समीप बची मिलत होने पर भी शीत के कारण शरीर की चक्षाओं में शू य होकर एक दूसरे को बाश करने में असम्य हो रहे हैं कई पशु और पत्नी शीत क कारण अपने प्राणों म रहित हो गये हैं रात दिन निरन्तर हिम ( पाला ) गिर रहा है मनुष्यों के शरीर थरथर काँपते हैं कोई भी अपने पर क बाहर नहीं निकलता उसी शीत के समय में वे धार जग महामुनि अ वी म तनी के तप या किमी जलाशय के निकट कायोल्वग

धारण कर पार के स्तम्भ की भांति खल हुए यान लगाते हैं। उस समय चरण स लेकर मस्तक पयत्त सम्पूर्ण शरीर हिम से ढक जाता है तो भी वे महामुनी शरीर स सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़कर आत्म ध्यान में मग्न रहते हैं। उनके रोम मात्र में भी विकार प्रतीत नहीं होता है। आरव कमा की प्रतिममय अमर्यात गुणा निजग करते न्म आत्मा की शुद्धि करन ह।

### आतपन-य ग

“यद्यपि मास क मयुः प्रारम्भ करणो स पश्यन् सपस्त भूतल आत्म क समन ागया ह। अग्नि वाला के समान अत्यन्त प्राण वायु स बान क सब वृत्त न लताए मुख कर प पुण्यात् म न्तिन हा गय ह। नानिया और सरोवरी सा जल सुख गया है। प्यास से याकुल हुए प्राणियों क कष्ट सूख गय ह। गमल म र होर शक्तिया क नलवर प्राण- य होय हैं। माग पथिन विहीन हो गये हैं। मनु य अपने नि ाम स्थान स बाहर पर्वत तक नहा रखत। बन् क श्नु प त का गुफाओं म बहोश पढ़ हुए ह। मनुष्य अपने घरों में भी गर्मी क मताप स याकुन होर अनर प्रक क शीतोपचार करन र भां शांति नहीं पा रह हैं। उस समय म बीरधुरीण महा मुनिराज पशत क शाखर पर चक्र मूर्ध क सम्मुख हुए शयात्मग धारण कर खड र त हैं। शरीर का भुजमानवाली कड़ी धूप उनके शरी पर अत्रवलिर्षा करती हे। पवत और भूमितल को अग्नि समान तमान वाली उष्ण-वायु उनके शरीर के साथ रग रेलियां करती है। तीक्ष्ण गर्मी स मुनिराज क कण्ठ आच्छ मयु गय हैं। त ापि वे महामुनि अनभव रुी अमृत वा पान करन म आशक हुए सम गर्मी की बाधा की कुल भी अरुहिन क करक आत्म याग स च्युत नहीं होत हैं।

### वृत्तमृग-याग

इषा क समय चत्र निर र मूमलग ग्राह्य होतम सम्पुग माग चल म पुरित हा जान हैं। मघ की घनघोर गजना और बिजली की उड़कडाहट मा ॥ गूज गतो हे मय ममूह क कारण भयान अ रकार म भूतल सा माग-जान लुप्त होजाता है। बीच बीच म त्रजला क चमत्कर स बन की भयानकता और भी वृत्त जाता है अत्यन्त वायु क कारण प्राणियों क शरीर याकुल हाते हैं। उस समय यान के रसिया व डीर वीर महा मुनीश्वर वृद्ध तल में शयोमग स अट रहत हैं। जिस वृत्त क मूल में अनक सपों न अपना मुख्य स्थान बना रखा है उस वृत्तक नाच घोर अ वकार म अन्त होर यान म नानचल बन रहते हैं। रच माय चित्त म भय और डोभ नहीं करते मानों नशच्छपाधारण प्रतिमा है अ इवा पत्र शाय्या रहित वृत्त सा स्कन्ध हे।

“स प्रकार त्रिकाल योग क धारक महामुनीश्वर वच उड वृत्तों को जन्म उन्वाह फकनेवाले भयानक आधी क मोर्कों को  
म प्र  
पू कि ४

सहत है। बड़ी बटी नत्ता नडाग सरोवर आदि क जल को सुखा दन वाली भयकर उग्र गर्मी की बाधा को सहत है। सम्पूर्ण शरीर क अथयर्षा को सताप ननवाने तीव्र पिपासा (प्यास) के अमन्य दुःख को सहन करते हैं। शरीर के रुचिगति को शोषण करने वाली प्रलय काल या अग्नि क समान अत्युग्र बुभुक्षा क क्लेश को कुछ नदी गगत हैं। वीहड वन म अतिगगत नश मशक आदि जन्तुओं के कटने से शरीर म उन्नत अमन्य वन्ना पर विजय प्राप्त करने है। तथा विन्ड स बराहानि क द्वारा किये गये घोर उपद्रव को सहते हैं। अधिक कहां तक कहा जाव अचम दशकृत नियचानिकृत मध उपसर्गा को उन्नत र्सा का जय करने के निमित्त सहते हैं। इस लोक सम्बन्धी किसी भोगों का आशाका नहीं करत।

म प्रकार कायकलश तप का निरूपण कर अथ वचन कायकलश तप का निरूपण करते हैं—

षट चगयगन उचन्ती हुई लोह की चिनगारियों क समान सम्पूर्ण शरीर म संताप पैदा करने वाले ममभेनी जनों क अप-वात् ननर वचन मुनकर मुनिरान लेशमात्र भी चित्त में क्षोभ नहीं करते। अविद्यमान लोगों क प्रकाश करनेवाले परुष-कठोर तीक्ष्ण वचनों का मुनकर चित्त म न्येत्नी करते। जाती और कुल को लाडित करनेवाले तथा नृ पशुवत् है नृ शास्त्र ज्ञान रहित तिर्यच है इत्यादि अपमान जनक वचन अगना असना करने वाले दुवचनों को मुन कर मुनि मन मे विचारते हैं कि यह अज्ञानी भोले जीव इस हृष्टी और मासाति क क्लेश को दुःखन कहते हैं। क्योंकि इन्होंने आत्मों से नसी को देखा है और सुना है यह शरीर तो मेरा नहीं है। मैं इसके निमित्त म अपन परिणामों को कनुषित कर अपने आत्मा को कम बाधन मे क्यों डाल ? पशुआदि के अनेक शरीर मैंने धारण भी किये हैं। उनका नामाचारण कर यह उपरायो मित्र मुझ तक स्मरण िला रहा है। यदि म को पाठ कषाय कहेंगा तो वे नीच शरीर मुझे फिर मिलेंगे अत मुझ न वचनों म आनन्द मानना चाहिण। इस प्रकार विचार कर मुनि मन मे प्रफुल्लितहोते है कि यह कम-निजरा करने का अवसर मिला है। शान्त रागण करने से नवीन मम वचन नहीं हागा और सचित्त भों की निजरा होगी। यह तो मेरे लाभ का कारण हुआ।

वचन जय क्लेश क सहन करने के स्वभाव का निरूपण करके अब शस्त्र प्रहारादि क उपद्रव सहने की क्षमता का निरूपण करने हैं—

यदि कोई मि यादृष्टि किसी मुनिराज को क्रोध स आया होकर लकड़ी स पीटने लगे उनपर कडूर पत्थर की वर्षा करने लगे रत मट्टी फेंकन लग चाबुक पेंत का प्रहार करने लगे खड्ग (तलवार) छुरी आदि से आक्रमण करने लगे अथवा छुरी आदि शस्त्रों का प्रहार भी कर तो भा वे परमशान्त गम्भीर मुनिराज प्रहार व चोट करने वाले मनुष्य पर टेढ़ी निगाह स भी नहीं देखते हैं। वे विचारते हैं कि मर पूर्वकृत कम का उन्म आया है। यह बेचारा क्या करसकता है यह तो निमित्त मात्र है। इसमें इसका क्या अपराध है ? यह निमित्त नहीं हाता ता काइ ठसरा निमित्त मलता। तीव्रकम वदय म आया है वह तो अवश्य फल देगा। मेरा शत्रु तो पूर्वोपाजित कम है।

मन उसको उपन्न किया है। अब वह उन्म को प्राप्त हुआ है। मरा भूल मुझ दुःख द रहा है। इस स्वप्नान्ति क प्रहार करनेवाले का कोई अपराध नहीं है। मैं रागल कुत्त के समान मुख तो हूँ नहीं तो असली शत्रु को न समझकर बाह्य निमित्त को शत्रु मान बैठा। मैंने जिनागम का अध्ययन किया है। अम अनाम का भक्त विज्ञान प्राप्त किया है। सब संसार म सम्बन्ध ताड़ कर कल्याण करनेवाला जिनदाज्ञा ला है। क्या मैं अज्ञानवश न निरपराध मनुष्यादि पर द्वेष करूँ ? यह मरा काम नहीं है। ऐसा तो मिथ्यादृष्टि करते हैं जिनका विवेक ज्ञान नहीं हुआ है और जिनका अहृतत्त्व और जिनबाणा का मोभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। मुझ तो महापुरुषय योग स यह सब कुछ मिला है। ऐसे अबमरो के उपरिगत होने पर यदि मैंने विवेकज्ञान का उपयोग नहीं किया तो मरा मनुष्यजन्म पाकर ऐसे सुयोग का पाना यथ हो जावेगा मालम मुझ सावधान होना चाहिए। मर क्षमाधि धम तथा र नत्रय रूप धम का घात न होना चाहिए। उसका घात ये मनुष्यादि नहीं कर सकते। ये शरीर का घात कर सकते हैं जा कि मरा वस्तु नहीं है। अन यह रोप करने का अबसर नहीं है। स प्रकार जो ज्ञान रूपी जल से आत्मा को अशान्त करने वाली अज्ञान मोहनाय रूपी अग्नि को शांत करने ई वे मुनिराज शस्त्रान्ति क प्रहार स कभी आत्मा मे क्षोभ उत्पन्न नहीं करते। सामान्य मनुष्य भा जा कि पाचा न्त्रियों का निग्रह ( जमन ) करने म तपर रहता है वह भा क्रोध नहीं करता है। जिनागम के वेत्ता मुनिराज उपत्त्व करने वाले मनुष्य पर किस प्रकार क्रोध कर सकते हैं ? अत हे महात्माओं ! क्षमा के गुण को भलीभाति जाननेवाले सम्यग्ज्ञान सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को अगोकार करनेवाले जन्ममूर्ति आपका शत्रु पर क्षणमात्र रोप न करना चाहिए और अपने तपश्चर्यानि काय में जन्मा म मलम रना चाहिए।

### (१०) यान शुद्धि

ध्यान की शुद्धि नित्या पराव्रज्य प्राप्त किये गिना न। मोना अन प्रम न्त्रियज्य का अनुरूपण करन ह।

वियगमु पधावता चबला चडा तन्डमुन हि ।

नियत्राग वारा वमम्मि ठविटा वषमिदि ॥ ७७ ॥ (मूला अ )

अथ—मन को लुभाने वाले रूप म मयुर रसोल रम म मनोमोहक मुग व म शरार को मुहावन स्परा में तथा चित्ताकण्य पचम चेतनादि स्वरो और मनोह गानों में दौलती हुई अति चपल तथा श्रुच चभ्यु अन्त्रियों भयानक चोर हैं। नको वश में रखना यद्यपि अति कठिन है तप्रापि मनवचनकाय पर काबू करनेवाले विषय वि कण्य चारित्राचरण मे लीन मुनीश्वर उह वश मे कर लेते हैं।

भावाथ—जैसे अरबरोही ( सवार ) लगाम को हाथ म मावधानी स थाभकर दुर्घात अरब को भी अपने काबू में कर लेता है वैसा ही लगाम स्वरूप मन को अपने वश मे रखता हुआ माय न्त्रियरूपी अ यों को विषयरूप जन्माम में जाने से रोक देता है।

ध्यानी मुनि मन्त्रोन्मत्त मन रूपी इस्ती को ध्यान व वैराग्य रूपी दृढ़ रस्ती से आत्मा रूपी आत्मान-स्तम्भ के इतना दृढ़ बाध देते कि जिससे २२ उन्मत्त-मनो हृत्ती विषयादि रूप वन या राजमाग में दौड़ने के लिए असमर्थ हो जाता है ।

इन्द्रिया बन्ध के समान बन्ध हैं । उनको तपवज्जान रूपी पाश से बाँधकर वैराग्य रूपी पीजरे में बन्द किया जावे तभी उनकी उड़ल कूट बन्द होती है और ज्ञान शान अनुपम शिष्य मुक्त का आविर्भाव होने लगता है—विषयों से उदासीनता होती है ।

तपरूपी दुग् ( जिले ) में निवास करनेवाले साधुकाराग वृष मोह और शिष्यरूपी हाकुओं का गिरोह कुञ्ज भी विगाढ़ करने में समय नहीं होता है । उस दुग् के धैर्ययुक्त मति का कोट होता है । चरित्र का बहुत ऊँचा दर्जा है और उसके जमा और सुकृत कम के ो किचाह लगे होते हैं । तथा समय दुर्गरक्षक कोताल होता है । इस प्रकार सुरक्षित तपरूपी दुग् का आश्रय लेने वाले मुनी के रत्नत्रयरूप वन भटार को राग वृष-मोह शिष्य चोर लूट नहीं सकते हैं ।

इन्द्रिय का वश में करन से हा ध्यानसिद्धि होती है --

तेतोदया महगिरी राग दोस च ते स्ववेदूष ।

आखोवजागजुत्ता खवेति कम्म खविदमोहा ॥ ११५ ॥ ( मूला अ )

अर्थ—इन्द्रिया का मन करनेवाले समीचीन ध्यान में रत हुए महर्षि राग व वृष रूप आत्मा के बभाविक भावों का क्षय करके मोह रहित होकर सम्पूर्ण कर्मा का क्षय करते हैं । क्योंकि सम्पूर्ण कर्मा का मूल कारण राग वृष है । उनका नाश होने पर सब कर्मा सहज म नष्ट हो जाते हैं ।

भावार्थ—हे मुनीश्वरो ! राग वृष से प्ररित हुए इन्द्रियरूपी अश्व विषयरूप बीहड़ वन के उन्माग ( ऊँच खाबड़ मार्ग ) में आत्मा को ले जाते हैं । जयतक ये शिष्य अश्व उन्माग में गमन करते रहते हैं तब तक आत्मा को शुभध्यान रूपी उत्तम माग प्राप्त नहीं होता है । इसलिए उत्तम ध्यान रूप सुमाग में आत्मा को ले जाने के लिए मन रूपी घोड़ों की लगाम को दृढ़ता से थाभलो तथा मन को विषयों से हटाने के लिए उसमें शुभध्यान में स्थिर करन के लिए सबसे प्रथम विषयों में उत्पन्न होनेवाले राग वृष को क्षीण करो और व्रत उपवासान् २१ आचरण करके उद्धत दुःखान्धियों का मन करो । उनकी उपवासान् से निबल बनाओ । निबलता को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ रूपी अश्व को वैराग्य भावना द्वारा स्थिर हुए मन रूपी लगाम के थाभ लेने से विषयों से उदासीनता और सुध्यान में रति उत्पन्न होती है । आत्मारोन्ध्यान में विनाश होकर शुभ-ध्यान की जागृति हाती है । अत धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में परायण हुए मुनिराज के ज्ञानादि

प्रथम तम रत्नत्रय रूप आत्मीय धम प्रकृत होते हैं और अष्टरत्नों का सत्य सहज में होन लगता है। जिस वृक्ष का मूल (जड़) नष्ट हो जाता है वह वृक्ष कितने काल तक खड़ा रह सकता है ? अथवा कितने समय तक वह हरा भरा रह सकता है ? अर्थात् उसका शीघ्र भूमि पर पतन होता है और वह अल्प समय में ही सूखनाता है और वह पुनः भूमि में नहीं जमता है। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के मूल कारण कषाय राग द्वेष हैं। उनका ध्वंस होने पर सब कर्मों का सहन में ध्वंस होनाता है और फिर वह आत्म-भूमि में कभी नहीं उत्पन्न होते हैं। अतएव इह मुनिराजो ! इष्ट विद्योगाणि से उत्पन्न होने वाले आत्तध्यान को तथा क्रोधाणि कषायों की अप्रता से उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान को आत्मा के निकट मत आने दो। और धम्यध्यान व शुक्लध्यान का निरंतर चिन्तन करो। इन शुभ ध्यानों को स्थिर करने के लिए शुक्ल जेरया को प्रकृत करो। यदि तुम स प्रकृत आचरण करने में वत्तचित रहोगे तो तुम्हारी आत्मा में क्रोधादि कषाय किसी प्रकार के विषम भाव उत्पन्न करने में समर्थ न होगी।

निश्चल चित्तवाले मुनियों को कषाय दबा नहीं सकती है और न उनके मन को चंचल कर सकती है। जैसे कल्पान्त काल की उत्तर दक्षिण पूव व पश्चिम की प्रचण्ड वायु सुमेरु को कम्पित नहीं कर सकती है।

इह मुनियो ! यदि तुम यथावत् जड़ आवश्यकों का पालन व आगमोक चारित्र का सम्यक प्रकार आचरण करो तो प्रतिफल परिस्थिति भी तुम्हारा कुल भी बुरा नहीं कर सकती और तुम कर्मों की निजरा करने में समर्थ हो सकते हो।

जो मुनि संसार से भयभीत विषयों से उदासीन व शरीर स विरक्त है जिसके हृदय में अभिमान की मात्रा नहीं है, वह मन्व कषायी शास्त्रों का अधिक ज्ञान न होने पर भी भद्रविज्ञान के जागृत होने से कर्मों का सत्य कर लेता है। लेकिन उस मुनि के २८ मूलगुण तो अवश्य होने चाहिए। यदि मूलगुण रहित होकर मुनिपद धारण करता है तो वह दृढ कर्मों का बचन कर नरक या निगोद में जाता है।

इह मुन ! यदि तुम निर्दोष चारित्र का पालन करना चाहते हो तो प्रायुक्त निर्दोष आगमानुसूल भिक्षा भोजन करो। वन में या एकांत स्थान में रहो। अल्प आहार करो। बहुत भाषण मत करो। दुःख आने पर चित्त में विकर मत उत्पन्न होने दो। निद्रा को जीतो। सब जीवों के साथ मत्री भाव रखो उत्तरोत्तर वंराग्य की वृद्धि करो। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र मेरा स्वरूप है इनके सिवाय कमजय भाव शरीरादि भरे नहीं हैं। ऐसा सतत चिन्तन करो। अद्वान पूर्वक सम्यग्ज्ञान सहित जो तपस्या करते हैं उनके पूर्व कर्मों का सत्य व नवीन कर्मों का संवर होता है। सरागसंबध शुभ जेरया तथा सामागिस्त्रादि का आचरण करते हुए यदि मृत्यु होती वह जीव स्वर्गों में जाता है—पैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा —

**मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका दर्शन**

श्री भगवान् भट्टकलंकदेव ने राजवार्तिक में नवों अण्वाय ( सूत्र ४७ ) में कहा है—

सं प्र

पू कि ४

पुलाकान्य संयमान्निभ मात्या ॥१॥ एत पुलाकद्वय पच निम्न-प्रविशेषा संयमादिभिरष्टभिरनुयोग व्याख्यायता न्य ॥

पुलाक वक्रुरा कुशील निम्न-प्रयोग स्नातक ये पाचों प्रकार के मुनि निम्न १ ( विगम्बर ) होते हैं । उनका समय अन्न प्रतिस्वना तीथ लिङ्ग लम्बा उपपात्र और ध्यान न आठ अनुयोगों से व्याख्यान किया जाता है । तत्र प्र-क कस्मिन् समयमे भवति ? जैस कि कौन किस समय क आराधक होते हैं ? एसा प्रश्न होन पर समाधान करते हैं—

पुलाकवक्रुरा प्रतिस्वनाकुशीला द्वयो समययो सामायिकद्वन्द्वोपस्थायोभवति । कषायकुशीला द्वयो परिहारविशुद्ध सूक्ष्मसाम्पराययो पूर्वोत्तर । निम्न धस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयम ।

अर्थ—पुलाक वक्रुरा और प्रतिस्वना कुशील मुनि सामायिक तथा द्वन्द्वोपस्थापना संयम क आराधक होते हैं । कषायकुशील मुनि पूर्वोक्त दो समयों के तथा परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयम के आराधक होते हैं । निम्न प्र और स्नातक एक यथाख्यात संयम के ही आराधक होते हैं ।

श्रुत—पुलाकवक्रुरा प्रातस्वनाकुशीला उत्कषणाभि नाचरत्नरापूर्वरा । कषायकुशीला निम्न-धारचतुदशपूर्वरा । जप-यन पुलाकस्य श्रुतमाचारस्तु । वक्रुराकुशीलनिम्न धाना श्र तमष्टौ प्रवचनमानन । स्नातका अपगतप्र ता कवलिन ।

अर्थ—पुलाक वक्रुरा और प्रतिस्वना कुशील ये तीन प्रकार क मुनि अधिक स अधिक अभिन्नान्न-रापूर्व क धारक होन हैं । अ-प्रान्त उनके नवपूर्वों का पूरा ज्ञान तथा त्तरापूर्व का अपूर्णज्ञान होता है । कषायकुशील और निम्न १ चौदहपूर्व तक क धारक होते हैं । पुलाकमुनि क जप-यन स जप-यन श्रुतज्ञान आचार-स्तु का होता है । वक्रुरा कुशील प्रतिस्वना कुशील क कम स-म्भ आठ प्रवचन मानता ( पाचसमिति व तीन गुणित ) ज्ञान होता है । स्नातक मुनि कवली होत है । उनक श्रतज्ञान नहीं होता है ।

प्रतिस्वना—पचाना मूलगुणाना रात्रिभोजनवजनस्य च पराभियोगान् बलात्पचयतम प्रतिस्वबमान पुलाको भवति । वक्रुरोद्विविध उपकरणवक्रुरा शरारवक्रुवर्तत । तत्र उपकरणभिष्वकाचत्तो विविधविचित्रपरिमहयुक्तो बहुविशेषयुक्तोपकरणकश्चो तत्संस्कारप्रतीकारसर्वो भिन्नरूपकरणावक्रुरो भवति । शररसम्भारमवो शरीरवक्रुरा । प्रतिस्वनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन उन्नर-गुणेषु का चद्विराधना प्रतिस्ववते । कषायकुशील निम्न-धस्नातकाना प्रतिस्ववना नास्ति ।

अर्थ—दूसर किमी मनुष्यानि क बला नाग स पुलाक नाति का मुनि पाच मूल गुण ( अहिंसाति पच महाव्रत ) और रात्रि भोजन त्याग इनम स किमी एक क विपरीत मवन ( विकृद्ध आचरण ) कर लेता है । वक्रुरामुनि के दो भ-म्भ है—१ उपकरण वक्रुरा और

शरीर वक्रुग। उनमें ल उपकरण वक्रुग उस कहते हैं जा उपकरण (कमयडलु पुस्तकादि) में विरोध आसक्ति रहता है, विविध और विभिन्न पारमह (पुस्तकादि) स युक्त होता है विशिष्ट उपकरण की आकांक्षा करता है तथा उनक सस्काराद को करता है। शरीर के संस्कार को करने वाला शरीरवक्रुग होता है। प्रतिसेवनाकुशील उसे कहते हैं जो मूल गुणों की विराधना नहीं करता है किन्तु कभी २ चत्तरगुणों की विराधना कर बैठता है। कुशील निम्र य और स्नातक के किसी प्रकार की प्रतिसेवना (विकृष्टाचरण) नहीं होती है।

तीर्थमति—सर्वेषा तीर्थकराणा तीर्थेषु सर्वे भवन्ति ।

अथ—सम्पूर्ण तीर्थकरों के तीर्थ में पुलाकाणि सब प्रकार के मुनि होते हैं।

लिङ्ग—द्विविध इत्यलिंग भावलिंग च। भावलिंगप्रतीत्य सर्वे पञ्चानिम न्या लिङ्गिनो भवन्ति इति। इत्यलिंगं प्रतीय भाव्या ।

अथ—लिङ्ग दो प्रकार का है—१ इत्यलिंग और २ भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा से सब पाचों निम्र य लिंगी होते हैं। इत्यलिंग की अपेक्षा विविध विकल्प होते हैं।

लेख्या—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेखा भवन्ति। वक्रुगप्रतिसेवनाकुशीलयो पडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविद्युष्टे श्वतस उत्तरा। सूत्रसाम्परायस्य निम्र यस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अथोगरील प्रतिपत्ता अलेख्या।

अथ—पुलाक मुनि के पीत पद्म और शुक्र ये तीनों शुभ लेखाएँ होती हैं। वक्रुग और प्रतिसेवना कुशील के जहाँ लेखा होती हैं। कषाय कुशील और परिहारविद्युष्ट सयमवाल के कापोत पीत पद्म और शुक्र ये चारों लेखा होती हैं। सूत्रसाम्पराय तथा निम्र य और स्नातक (सयोग केवली) के केवल एक शुक्र ही होती है। अयोगकेवली के कोई भी लेखा नहीं होती है।

उपपाद—पुलाकस्य उत्कृष्ट उगम, उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहकारे। वक्रुगप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्विविधात्सिद्धि-  
द्वारणान्युत्कल्पयो। कषायकुशीलनिम्र ययोस्त्रायस्त्रिशासागरोपमस्थितिषु सर्वाथसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्य सौषर्मेकस्य द्विसारोपम-  
स्थितिषु। स्नातकस्य निवर्णमिति।

अथ—पुलाक मुनि मरकर अत्रिक अथक सहस्त्रार स्वग में उत्कृष्ट स्थितिवाले देवों में जन्म लेते हैं। वक्रुग और प्रति सेवना कुशील मुनि आरण्य व अन्युतत्रय में बाइस सागर की स्थिति वाले देवों तक में जन्म लेते हैं। कषायकुशील और निम्र य मुनि तनीम सागरका स्थिति वाले सर्वाथासिद्ध तक के देवों में जन्म होते हैं। उक्त सब (चारों प्रकार के) मुनि कम से कम सौषर्मेक से २ सागर की स्थिति वाले देव होते हैं। तथा स्नातक महामुनि नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

राम—असख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र सर्वे जघन्यानि लब्धिस्थानानि पुत्रकषायकुरा लभ्ये  
 ती युगपत्सख्येयगन्तानि गच्छन्ति । तत्र पुलाको व्युच्छद्यते । कषायकुरालप्रतिसवनाकुरालवकुशा युगपत्सख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति ।  
 ततो वकुशा व्युच्छद्यते । ततोऽप्यम यथानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुरालो व्युच्छद्यते । ततोऽप्यसख्येयानि स्थानानि गत्वा कषाय  
 कुरालो व्युच्छद्यते । अतः उभय कषायस्थानानि निम्नं प्रतिपद्यते । सोऽप्यसख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छद्यते । अतः उभयं मर्कं स्थानं गत्वा  
 कान्ताको निवारणं प्राप्नोति— एषा सयमलाचरनं नरुणा भवति । ति ।

अ२—कषाय के निमित्त म मयम क असख्यात राम होते हैं । उनमें सबसे जघन्य राम पुलाक व कषायकुराल के होते  
 हैं । वे जो असख्यात स्थानों तक तो एक माः जाते हैं । पुलाक वही रहा जाता है । वहा से से आगे कषायकुराल प्रतिसवनाकुराल और  
 वकुशा असख्यात सयम स्थानों तक तो तीनों साथ जाते हैं परन्तु वकुशा उनसे अलग होकर वही रह जाता है । उसके आगे असख्यात  
 सयमस्थान आगे जाकर प्रतिसवना कुराल अलग हो जाता है और उससे असख्यात सयमस्थान आगे चलकर कषायकुराल भी  
 रहजाता है । उसके ऊपर अकषाय स्थानों में प्रथम पहुँचता है । वह असख्यात स्थान आगे जाकर ठहर जाता है । उसके ऊपर एक स्थान  
 जाकर एतक निवारण को प्राप्त करता है । स प्रार इन सयमित्या की संयम की लब्धि ( प्राप्ति ) अनन्त गुणीअनन्तगुणी होती है ।

भावाथ—मुनि चारित्र्य तप और ध्यान क प्रभाः म कम स कम सौधर्म स्वर्ग में और पुलाक उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्ग तक  
 जाते हैं । वकुशा और प्रतिसवना कुराल अनुत्त स्वर्ग में वाईमसागर की आयु वाले देवों तक होते हैं । कषायकुराल और निम्न उच्छ्र  
 सर्वायसिद्धि तक जाते हैं । तथा मनात्क मोक्ष जाते हैं । मिथ्यादृष्टि भी मुनि-चारित्र्य व तप का आचरण कर नव प्रवेयक तक जाता है और  
 वहाँ पर अप्रवृत्त्य सुख का अनुभव करता है । यदि सम्यग्दृष्टि चारित्र्य व तपस्या का आचरण करता है तो वह उत्तरोत्तर निव्य-सुखों का  
 उपभोग करता हुआ निवारण पत्त को पाता है । इमन्तिष्ठ हे मुने ! सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र्य और तपश्चरण तथा ध्यान का आगमन करो ।  
 क्योंकि येही ससार के सम्पूर्ण सुखों के देन वाले हैं । इष्ट पदार्थों का संयोग और अनिष्ट पदार्थों का असंयोग करानेवाले हैं । मनोऽनुकूल  
 सुख सामग्री जो कुछ इस लोको में मिलती है उस के ये मूल कारण हैं । चक्रवर्ती की अनुपम विभूति और देवेन्द्र के दिव्य भोगोपभोग  
 इनक संवन करने से ही मिलतेहैं इन्ही प्रकार कसुन्दर और अत्यन्त प्रिय स्वगादि के भोग प्राप्त कर निवारण को प्राप्ति इन्ही से होती है ।  
 अतः ऐसा सुखवसर पाकर नक आचरण करन में न्त चिन्त हो जाओ । किंचिमात्र प्रमात्न करो । इसीमे मनुष्य जन्म की सफलता है ।

वही भाव पाहुक में कहा है—

धम्ममि खिप्पवासो दोसावासा य इच्छुक्खलसमा ।

।यप्फलविग्गुयारा खडसवथा खग्गकवथ ॥ ७१ ॥

अ २—जिस साधु का निजस्वभाव रूप घम में तथा लज्जामादि दरा लक्षण घर्म में बाध नहीं है वह दोषों का आवास है। तथा इक्षु के फूल के समान है। जिस इक्षु का फूल फल रहित होता है और गन्धादि गुण स भी शून्य होता है वैसे उस साधु का मुनिभेष भी घम हीन होने से निष्फल है आर नमादि गुण रहित है। वह साधु तो नान रूप धारण कर नाचनेवाले नट के समान है। अर्थात् नान साधु का स्वाग धारण करने वाला बहुरूपिया है।

भा १५—जो साधु के गुणों से हीन मुनि मनुष्यों को सम्यक्त्व व संयम विरुद्ध उपदेश देकर उनको प्रसन्न करता है, तथा अपनी कथाय के पोषण करने में आगम के विरुद्ध लोगों की प्रवृत्ति करता है वह स्वयं नष्ट होता है दूसरों का नारा करता है पर घम के माग को मलीन करता है। जो साधु के गुणों से शोभित है उसीसे निम्नोक्त लिंग कल्प शोभित होता है।

### लिंगकल्प के चार भेद

अ चेलकक लाचा वामन्परारत्ता य पडिलिहण्ण ।

एमो हु लिंगकप्पा चदुविधा हात्ति श्यायवा ॥ १७ ॥ (मू० स०)

अ २—१ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग २ केशलोच उरना ३ शरीर-संस्कार का त्याग ४ तथा प्रतिलेखन लिंग कल्प है।

भावाप—यहाँपर आचलक्य शब्द स सम्पूर्ण रिम का त्याग लिया गया है। यद्यपि आचेलक्य शब्द का अर्थ तो केवल उरन का त्याग करना है तथापि यहाँ पर उपलक्षण म उरान्ति समस्त परिग्रह के त्याग का प्रमाण है। आचेलक्य और केशलोच के बारे में मूलगुणाधिकार में विशेष लिखा जा चुका है।

शरीर के संस्कार-त्याग । वगन भी बही अ नान ( स्नानत्याग ) नाम मूलगुण में कर आये है इसलिए यहाँ उनका विशेष न करके प्रातलेखन के चार म कुल्ल विशेष लिखते हैं।

प्रतिलेखन ( मयूरपिच्छा ) का स्वरूप

रजसदाश्वमगहण मदव सुकुमालदा लहुत्त च ।

त्रत्थेद पचगुणा न पडिलिहण्ण पमस्सति ॥ १६ ॥ (मूला० सम०)

अध—ना रच ( धूल ) और पसान का प्रदहण न कर अत्यन्त मृदु ( मुलायम कोमल ) हो जो देखने में सुन्दर प्रतीत हो जाते हैं। ऐसे पाच गुण जिसमें पाये जावे वह प्रातलेखन प्रशसनीय माना गया है।

भावा—इ मुनि तुम्हारे समय की रक्षा करनेवाला समय का उपकरण प्रतिलेखन है। जो तुम्हारे पास प्रतिसमय रहना चाहता है तबसे निम्नोक्त गन्ध गुण पाये जावे वही प्रातलेखन प्रशसनीय माना गया है।

( १ ) रत्नो म ग—स्वप्न का अप्रदहण ३ मृत्ता ४ सुकमारता और लघुता।

( ) सातु प्रतिलेखन अपने पयाग म आन वाले शास्त्रा का प्रमाजन करता है। निवास करन की बसलिका प्रवेश का पट्ट आदि का प्रमाजन करता है उस रजाहरण ( प्रातलेखन ) म ऐसा गुण होना चाहिये कि भूल आदि का सम्यक होने पर भी वह मलान न हो ऐसा स्वाभाव गुण जिसमें पाया जावे वही रजाहरण प्रशसनीय है और सातु के हाथ में धारण करने योग्य है।

( ) स्वप्नका अप्रग मुनि क शरीर पर यदि पसीना आ रहा है तो उसका प्रतिलेखन से पोंछना पड़ता है। पसीने से जो नहीं भीग वही मुनि क प्रदहण कर्म योग्य माना गया है।

शङ्क—क्या मुनि शरीर के स्वप्न ( पमान ) को पिच्छी स पाड़ते हैं ?

ममाधान—मुनि अपने शरीर को किसी वस्त्र म कभी नहीं पोड़ते किन्तु जब मुनि धूप से छाया में या छाया से धूप में आते हैं उस समय पिच्छी स अपने शरीर का पाड़ कर हा जाते हैं। यदि ऐसा न करें तो छाया के जन्तु धूप के संसग स और धूप से जीवन प्राप्त करन वाले छाया मे पहुचन स मरण को प्राप्त हो जाँगे। अत मुनि को उचित है कि वह अपने शरीर को कोमल पिच्छी से पोंछ कर छाया स रूम म और धूप म छाया म जावे।

( ३ ) मृदुल—नत्र म फिरान पर भी जो पीड़ा न पहुचावे ऐसा कोमल प्रतिलेखन उपादेय माना गया है। रवेताम्बर साधु भद्र की उन का प्रातलेखन रखते हैं। तबसे यह गुण नहीं पाया जाता है। यदि भूल से वह आत्म में लग जावे तो आत्म में भारी बाधा पहुचाता है। अत सूत्र ( छोटे चारक ) जन्तुओं के अति कोमल शरीर को वह प्रति लेखन अवश्य बाधा पहुचावेगा है। इसलिये वह साधुओं के लिये उपाय्य नह। बताया है। दूसरी बात यह है कि उनमें असव्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। तीसरा दोष यह है कि उसका मूल्य ( कीमत ) अधिक होता है। अत वह मवथा अप्रदह माना गया है।

( ४ ) सुकुमारता—जिसमें अपूर्व सुकुमारता पाई जावे। अर्थात् उक्त गुणों के साथ जिसका रूप भी वशमीय हो। नेत्रेन्द्रिय व

मन को प्यारा लगनेवाला रूप जिसमें विद्यमान हो वही प्रतिलेखन मुनि के प्रहण करने योग्य होता है ।

( ५ ) लघुता—बढ़ गना हल्का हो कि जिसमें सूतम जन्तु के शरीर को भी किमो प्रकार की बाधा न पड़े। तथा उठाने रखने आदि में सुविधाजनक हो । अत्यन्त वृद्ध तथा अशक्त मुनि को भी उससे आज्ञा करने में किसी प्रकार का कष्ट न हो ।

उक्त सब प्रकार के गुण मयूरपिच्छी में ही पाये जाते हैं । ऊन आदि के बनाये गये रजोहरण में उपयुक्त गुण नहीं होते । उनमें मयूरपिच्छ के समान कोमलता नहीं होती अपने शरीर को भी कठोर प्रतीत होती है । तब अति कोमल सूतम प्राणियों को तो वह शर्मसा प्रतीत होती है । वह धूल त्वद आदि स मलीन होजाती है । उसमें शनीय गुण भी नहीं होता । उसमें जीवों की उत्पत्ति होती है । चोरी होजाने का भय लगा रहता है । उसे बाजार में बेचकर अन्य वस्तु किया जा सकता है । ऐसे ही और भी अनेक कारण हैं जिनसे उनका प्रतिलेखन मुनियों के समय की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता बल्कि बाधक सिद्ध होता है । मयूरपिच्छ में गुण ही गुण हैं । इसके समान अन्य का ऐसा अन्य नहीं है जिसमें उक्त पाचों गुण हों और जो संयम का उपकारक हो । इसके चोरी जाने का भी भय नहीं रहता है ।

राक्ष—ऊन तो ऐसा पदार्थ है जिम भडोंके स्वामी साल में दो बार भेड़के शरीर परसे कतरनी द्वारा कतरकर उतार लेते हैं। उस के उतारने स भेड़ को कष्ट नहीं होता है और मयूर के पिच्छ उतारने स तो मयूर को दुःख होता है इसलिए ऊन मयूर पिच्छ की अपेक्षा उत्तम है ।

समाधान—भेड़ के शरीर स कतरनी द्वारा ऊन उतारते समय भेड़ का थोडा बहुत कष्ट अवश्य होता है और मयूरपिच्छ को तो मयूर अपने आप वर्ष में एक बार कार्तिक मास में अवश्य छोड़ता है । पुरान पिच्छ उसके स्वयं गिरते हैं और नये आते हैं । ऐसा प्राकृतिक नियम है । जो स्वतः गिरे हुए पंख होते हैं उनस ही मुनि की पिच्छी बनाई जाती है । अतएव मयूरपिच्छी में कोई दोष नहीं होता । उसके निमित्त मयूर को पीडा नहीं दी जाती है । वह तो स्वयं उस छोड़कर अपने को लघु गन्धता है और उसमें आनन्द मानता है । क्योंकि बिना पुराने पिच्छ का त्याग किये नवीन पिच्छ उत्पन्न नहीं होते हैं ।

उक्त प्रकार सब दोषों स निर्मुक्त और पाच गुणों से युक्त प्रति लेखन मयूरपिच्छ क सिद्ध अन्य कोई नहीं है । इसलिए परम स्थालु संयमनिष्ठ निग्रय आचार्यों ने सबगुणसम्पन्न मयूरपिच्छ का ही सबप्रथम संयम का रक्षक प्रतिलेखन स्वीकार किया है ।

राक्ष—नेत्र द्वारा जीवों को देखकर उनकी रक्षा कर सकते हैं तो फिर जीवरक्षा के निमित्त मयूरपिच्छ ( प्रतिलेखन ) की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नेत्र इन्द्रिय द्वारा देख कर चलने फिरने आदि क्रियाओं के करने से जीवों की रक्षा होती है किन्तु बहुत इन्द्रिय छोटे झोटे सब जीवों को देखने में असमर्थ है। उनकी रक्षा के लिए मयूरपिच्छ की अत्यन्त आवश्यकता है। वही कहा है—

सुहुमा हु सति पाखा दुप्येकला अक्खिस्सो अगेज्जा हु ।

तम्हा जीवदयाए पण्डिहइय भारए भिक्खु ॥ २० ॥ ( मूला० स० )

अर्थ—संसार में इन्द्रियायुक्त असजीव व एकैन्द्रिय वनस्पति कार्याद् स्थावर जीव इतने छोटे २ होते हैं कि जिनका दिखाई देना अत्यन्त दुष्कर है। इनको चम-बहु देख नहीं सकती हैं। इसलिए उन जीवों की रक्षा के निमित्त साधु को मयूरपिच्छका अवरय धारण करनी चाहिए

मात्रार्थ—साधु ने सम्पूर्ण जीवों के साथ मैत्रीभाव धारण किया है। उनको किसी प्रकार का कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है। वह उनके दुःख को अपना दुःख समझता है। दूसरे मनुष्यों को भी जीवों की रक्षा का उपदेश देता है। वह साधु जीवों के मत् स्थान योनि आदि आदि का ज्ञाता होता है। जो नेत्रेन्द्रिय के गोचर स्थूल जीव होते हैं उनको बचाकर गमतागमनात् क्रिया करता है। किन्तु कितने ही जीव ऐसे छोटे होते हैं जो इन चम बहुओं से दिखाई नहीं देते हैं। उनकी रक्षा का उपाय एक मयूरपिच्छका है। वह इतना कोमल व हल्का उपकरण है कि झोटेस छोटे जन्तु को भी उससे बाधा नहीं होती है। उस सर्वोत्तम प्रतिलेखन से भी साधु बड़े सावधानी से धीरे धीरे हल्के हाथ से प्रयार्जन करता है।

हे मुने ! तुम प्रातःकाल नित्यप्रति अपने ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि का तथा संयम के उपकरण कमण्डलु आदि का तथा अपने निवास स्थान वसति का प्रवेश का मयूरपिच्छका से प्रयार्जन करो। तुम्हें मलमूत्र की बाधा दूर करना हो, धुंकना हो तो पहले उस स्थान को नेत्र से भले प्रवेश देखकर तथा शक्ति में बैठना बैठना मलमूत्रादि का त्याग करना अथवा धुंकना हो तो मयूर पिच्छका से प्रयार्जन करके उस स्थान को निजन्तु करके करो। तुम बैठना चाहते हो वा उठने के पहले पाँव रखने की भूमि को बैठना चाहते हो तो बैठन की भूमि आदि को सोना चाहते हो तो शयन करने के स्थान को आगे पाव रखना चाहते हो तो पाव रखने के स्थान को पहले मयूरपिच्छका से प्रयार्जन कर लो। यदि कबट लेना आवश्यक हो हाथ पाव फैलाना सुकोढ़ना हो तो मयूरपिच्छकासे उक्त स्थान का अवरय प्रयार्जन करो। कमण्डलु आदि उठाना हो तो कमण्डलु आदिका तथा उनको नीचे रखना होतो उस स्थानको पहल प्रयार्जन करके परच न नीचे रखना। कारणवशा याद वसति का आदि के कलाह या लिहकी आदि खोजने या डरून पडें तो बड़ी सावधानी रखो। कभी कभी किबाहों की बोलतों की साधवों में द्विपकलिया मर्कटिया व कसारिया पाई जाता हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे २ जन्तु रहा करते हैं इसलिए उनको देखकर तथा पिच्छी से

प्रमाज्जन कर खोलना व बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर पर खुजली भले या किसी जन्तु के काटने आदि की बाधा प्रतीत हो और यदि तुम उसको न सह सको तो महसा न खुजलाओ किन्तु पिच्छी से शनै शनै उसे प्रमाज्जन करो। तात्पर्य यह है कि मयूरपिच्छी का प्रत्येक क्रिया के पूर्व जहाँ उसकी आवश्यकता हो अवश्य उपयोग करो। इस पिच्छी को आहार करते समय कुछ काल के लिए दूर रखो। शेष सब कामों में उसको सदा निकट रहो। एक चालू के लिए भी उसे अपने पास से अलग मत करो। दूध के प्रकाश से प्रकाशित स्थान में एक र भा २। तुम को चलना पड़े तो पिच्छी को छोड़ कर मत चलो। उठो तब पिच्छी की हाथ में तथा बगल में दबा कर चलो व उठो।

**प्रश्न—**मयूर की पिच्छी से जीव जन्तुओं को हटाने पर उन जीवों को बाधा होती है इसलिए उसके चारण करने की क्या आवश्यकता है ?

**समाधान—**मयूर की पिच्छी के अग्र भाग इनने कोमल होते हैं कि आँसुओं के अन्दर फिराने पर भी पीड़ा नहीं होती है। आँसुओं को भी मुहावने लगते हैं। तब उनसे जीवों को बाधा कैसे हो सकती है ? जीव जन्तुओं की रक्षा करनेवाला यह अद्वितीय उपकरण है। उसका धारण करना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिलेखन जीवों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतएव यह साधु के लिए सबसे अधिक आवश्यक उपकरण है। इस प्रकार इसका ग्रहण करना साधुके लिए युक्ति और आगम से परमावश्यक सिद्ध होता है। जिस प्रकार आहार की शुद्धि पर ध्यान रखना संयमी का परम कर्तव्य है उसी प्रकार उपकरणों की शुद्धि पर ध्यान रखना भी परम कर्तव्य माना गया है। अतः संयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छिका होना आवश्यक है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

मुनि इन चार लिङ्गों को चारण करके चारित्र्य का अनुष्ठान (आचरण) करते हैं। इनको चारण किये बिना मुनि पूर्णरूप से चारित्र्य का आराधन करने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिए इनका चारण करना मुनिमात्र के लिए परमावश्यक है। आचैतन्य ( नानपना ) तो स्वाभाविक चिह्न है। आत्मा के पेट स बालक नमन निकलता है, उस समय उस शरीर पर बाल के अग्रभाग मात्र भी कोई वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता है। केशलोच सङ्गठना प्रवृत्त करने वाला चिह्न है। तथा शरीर के संस्कार का त्याग करने से वराग्य भाव प्रकट होता है। जिसको शरीर से राग नहीं होता है वही उसको मैला कुचैला धूल से घुसरित देखकर भी उसको स्वच्छ नहीं करता है। तथा जीवों की रक्षा करने के लिए मयूरपंख की पिच्छी का उपयोग है ही। इस प्रकार मुनिलिंग के चार भेद बताये गये हैं।

सिद्धान्तों में दश प्रकार का श्रमण वन्य वगण किया गया है—

अचैतन्यकुह सिय सेज्जाहर रायपिंड किदिपम्प ।

वद जेह पडिवकमस मास पज्जो समसकप्पो ॥ ( मूला० स० )

**अर्थ—**१ आचैतन्य अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, २ जीव शिक ( उद्विष्ट ) भोजनार्थक का त्याग ३ शब्दाचार वस  
स प्र.

निष्पन्न क स्वामी क पर क अहार का त्याग ४ रात्रिपण्डित्याग ५ कृति कम ६ व्रतारोपण ज्येष्ठान ( व्रतपन ) क विचार ८ प्रतिक्रमण ९ सिगिन्त्य ( एक मास ठहरना ) अर १ पर्याय गीतु मुनि की निषयश जहाँ हो या पंच कल्याण जिन स्थानों पर हुए हों उन स्थानों की यात्रा करने से पर्याय सिगिति क प कहते हैं। अथवा पर्यायकाल में चार मास पयन्त एक नगह ठहरने को पर्याय कहते हैं। इस प्रकार मुनिकल्प ( मुनि व्यवहार ) का प्रकार यह है

उक्त भेद का विरोध ब्रह्मण पहले मूलगुणाधिकार के आचेलक्यादि प्रकारण में तथा समाचारावकार में आचार्य के ६३ गुणों क अवसर पर कर आय हैं।

### भाव भ्रमण बनी

निष्पन्न की अपेक्षा श्रमणों के चार भ्रमण किये जा सकते हैं—( १ ) नाम श्रमण ( २ ) स्थापना श्रमण ३ इन्द्रिय श्रमण और ४ भाग श्रमण। इन चार निष्पन्नो में स आदि के तीन निष्पन्न हेय हैं। शेष भावनिष्पन्न ही उपादेय है। क्योंकि नामाद तीन निष्पन्नो से जीव की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। उनमें वास्तविक पुण्यता लानेवाला भाव निष्पन्न है। किसा का मुनि या साधु नाम रख लेने से वह मुनि का गौरव नहीं पा सकता। किसी विषयासक्त या परिग्रह धारक व्यक्ति में मुनि की स्थापना करनेसे उसे भी कोई लाभ नहीं। न्य मुनि का भी वह महत्व नहीं। यदि स्व-पर का कोई लाभ है तो वह भाव मुनि बनने में ही है।

शका—आधुनिक सिगिन्त्य मुनियों में पुरातन मुनियों की स्थापना हो सकती है या नहीं? यदि हो सकती है तो जीव में इससे जीव की स्थापना हो गई और आपन मका पहले निष्पन्न किया है मो उमे ?

ममाधान—पुरातन मुनियों की आधुनिक मुनियों में स्थापना करके उनके समान उनको समक कर व्यवहार करना सबका अनुचित है। मुनि की पूज्यता उसके गुण के आश्रित है। यदि उसमें अठारहस मूलगुण हैं तो वह पूज्य है और यदि उन में से एक भी गुण ही तो वह पूज्य नहीं है। केवल नग्नरूप में पूज्यता की कल्पना करने पर नग्न रूप धारण करने वाला बहुसुखिया भी पूज्यता का आश्रयारी बन जावेगा। अतः पुरातन मुनियों की आधुनिक साधुओं में कल्पना करके गुण न होने पर भी उनको पूज्य समझना मिथ्यात्व की उद्दान है। क्या किसी अत्यन्त संनारी जीव में भगवान महावीरानि की कल्पना हो सकती है? जैसे तीर्थकरानि की स्थापना किसी व्यक्त विरोध में नहीं हो सकती। वे ही प्राचीन काल के मुनीश्वरों की स्थापना आधुनिक साधुओं में भी नहीं हो सकती है।

हे मुनियो! तुम भावश्रमण बनो। अठारहस मूलगुणों का भंग मत होने दो। भिक्षाशुद्धि पर पूरा ध्यान दो। क्योंकि वह सब शील व तप का आधार है। भिक्षाशुद्धि का विचार किस गति से किया जाय इस विषय में निम्न उल्लेख पर ध्यान देना चाहिए।

## भिक्षा शुद्धि कब होती है ?

भिक्षु मरीरजोग सुभक्तिजुक्त च फाउय दियञ्च ।

दक्षपमाद्य खेत्त काल भाव च खादूञ्च ॥ ५२ ॥

खवकाडीपदिसुद्ध फासुय सत्य च एमखासुद्ध ।

दसदासविष्णुक्क चोद्दसमलवज्जिय सुजे ॥ ५३ ॥ ( मूला स )

अथ—जो प्रासुक भिक्षा भाजन नवधा भक्ति युक्तगतर के द्वारा लिया गया हो उसमें साधु नबकोटि मशुद्धि की गवेषणा कर । यह भिक्षा अन्न मन-चचन-काय द्वारा कृत करित व अनुमादित तो नहीं है ? तथा उसकी प्रासुकता का विचार करे । इसमें किसी अप्रासुक अन्न का सम्मेलन या संयोग तो नहीं हुआ है तथा कुत्सार्ति दोषोंवाला तो नहीं है । इसमें दुग्ध धादि दोष तो नहीं है । सन्नी तथा एषणा शुद्धि की, वहिष्टान्ति दश दोष चौदह मलानों के अभाव का तथा क्षेत्र काल भाव और द्रव्य प्रमाण की जांच करके सम्यग्शानादि की रक्षा और श्लेषा के उपशमन करने के लिए उस आहार का प्रदण करे ।

भावाथ—पीतरागी साधु उस आहार का प्रदण करते हैं जो दाता के द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक लिया गया हो प्रासुक हो । शरीर की रक्षा करनेवाला हो जो नबकोटि स शुद्ध हो जो साधु के निमित्त बनाया गया हो द्विजालीस ऋणों से त्रिमुक्त हो सका गला दुग्धमय न हो, जिसके अन्तर्गत क्षेत्र काल और भाव की परीक्षा करली गई हो । अधान्ति निस भोजन का अन्न शुद्ध हो पवित्र क्षेत्र में तैयार किया गया हो योग्य काल में बनाया गया हो जिसके गुणों में बस्वरूप में विकृति उपपन्न न हुई हो जो एषणा समिति स शुद्ध हो दान्य म भी सुन्दर हो उसकी सब प्रकार से शुद्धि का ज्ञान होने पर मुनि रत्नत्रय की सिद्धि के निमित्त श्लेषा का उपशमन करने के लिए प्रमाण सहित आहार का प्रदण करे ।

हे मुने ! रत्नत्रय को निर्मल बनाने के लिए शक्यता दोषों का परिहार करो और अहिंसादि धर्मों का पूणतया पालन कर चारित्र्य को शुद्ध बनाओ । तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव के आश्रय से दोष लगे हों तो उनका निवारण करने के लिए गुरु महाराज के निकट जाकर विनयपूर्वक आलोचना करो और उनके द्वारा दिये गये प्रावञ्चित का अनुचरण कर लौकिक-शुद्धि का पालन करो । लौकिक और लोकोत्तर दोनों शुद्धियों से आत्मा को निमल करो ।

हे मुने ! जिस क्षेत्र में कौचान्ति कषाय जाग उठती हों जहाँ भक्ति और आदर की हीनता प्रतीत हो तहाँ पर श्रुतता व मूखन

की प्रवृत्तता हो जहाँ अशुभानि शक्तियों को लक्ष्मणाने वाले राग बढ़ानेवाले विषयों की प्रचुरता हो चित्ताकर्षक अगार रस की रसिक स्त्रियों का नमन हो अथवा जिस क्षेत्र में स्त्रिया अगार रसप्रिय हों उनके आकार तथा अगविकार विषय के पोषक हों उनमें हाव भाव नृत्य गतानि एवं हास उपहास करने की आन्त सी हो गई हो जिस क्षेत्र में साधुओं की पद पद क्लेशों की महान के लिए बाध्य होना पड़ता हो तथा जो क्षेत्र उपसर्गों में भरा हो ऐस स्थानों से साधु अभ्यन्तरानानि को शुद्ध रखने के लिए दूर रहे—वस जगह न ठहरे ।

शंका—क्या मुनि आन्तर के भूले होने हैं ? यदि नहीं होते तो आदर-सम्मान रहित क्षेत्र के परित्याग का उपदेश क्यों किया गया है ?

समाधान—मुनि आदर-अनादर को समान समझते हैं किन्तु जिस स्थान में इतर जनों द्वारा दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना होती है धम पर प्रीति का अभाव होता है वहाँ पर मुनि को नठहरना चाहिए । यदि कोई मुनि इठ करके ठहरता है तो वह मुनिधम का तिरस्कार करानेवाला है तथा जिनाज्ञा को उल्लंघन करने के कारण मिथ्यादृष्टि है ।

प्रश्न—गौ मुनि को कैस स्थान में ठहरना चाहिए ?

उत्तर—जो मुनि घोर घोर है उसको पर्वतों की गुफाओं में या रमसान में या सूने घर व मठादि में अथवा वृक्षों की कोटर (पोल) में ठहरना चाहिए क्योंकि ये स्थान वरग्य को वृद्धि करने वाले और चारित्र्य का पोषण करने वाले हैं । किन्तु निम्नोक्त देश नगरादि में अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले पर्वतानि में भी साधु निवास न करे । जैसा कि कहा है—

शिवदिवाहीण भवन शिवनी वा जन्म दुष्टा होज्ज ।

पञ्जजा च ल ल भद्र मज्जमादो य त वज्जे ॥ ६ ॥

सा कल्पदि विरन्ता विरदीक्षुषामयभिध भेदुठेदु ।

तत्थ शिसज्ज उव्वट्ठ मज्झायाहार वोसरथे ॥ ६१ ॥ मूल० स० )

अर्थ—जिस क्षेत्र का कोई राजा न हो । अर्थात् जिस देश नगर गाँव या घर का कोई स्वामी न हो वहाँ के रहने वाले सब मनुष्य स्वच्छन्दता से अपनी मनमानी प्रवृत्ति करते हैं । तथा जिस देश नगर गाँव या गृह का स्वामी दुष्ट स्वभाव का हो दूसरों को सताने और धम की प्रशिक्षण करने में जिसको सतोष उत्पन्न होता हो जिस देश में शिष्यमण्डली न हो धर्मोपदेश को सुनने वाले न हों शास्त्रों का अध्ययन करने वाले न हों प्रतीकों के रक्षण करने में तत्पर न हों तथा जिन के मन में मुनिधम की तथा आवकधम की क्षीण

ग्रहण करने की भावना भी न हो जहाँ संयम में अतिचार अधिक लगने की संभावना हो आत्म हित का अभिलाषी साधु ऐसे सब स्थानों का परिहार करे।

निर्दोष चारित्र के आराधक मुनिओं और आर्यिकाओं को ऐसी वसतिस्थानों में कभी नहीं रहना चाहिए—जिसमें शयन करने की आगमोक्त योग्यता न हो, बैठने की योग्यता न हो जहाँ से भिक्षा के लिए जाने में बाधा उपस्थित होती हो। मज्जाय करने में बिज्ज परित्यक्त होता हो तथा अन्य शरीर सम्बन्धी बाधा दूर करने में अनेक प्रकार आपत्ति प्रतीत होती हो जहाँ रहने से लोभप्रपाद होता हो अथवा ब्रह्मभंग होने का सन्देह हो अपने चारित्र को उन्नत रखनेवाले साधु व आर्यिका ऐसे स्थान का बलपूर्वक परित्यक्त करे।

क्योंकि उत्तम वस्तु के संसर्ग से सम्यग् शान्ति की शुद्धि होती है और निन्दनीय वस्तु के सम्पर्क से सम्यग्दर्शनादि में मल्लिखता उत्पन्न हो जाती है। कभी २ वनका सवनाश भी हो जाता है। जैसे कमल के संसर्ग से जल का कुंभ सुगन्धमय और शीतल हो जाता है और अग्नि आदि द्रव्य के संयोग से शीतल सुगन्धित जल-कुंभ जल्य और बेस्वान् हो जाता है एवं पत्थर आदि के संयोग से उसका सर्व नाश हो जाता है। इसलिये साधुओं को कुत्सित संसर्ग का त्याग करना चाहिए। उन कुत्सित ( निन्दनीय ) संसर्ग का बखान करते हैं।

चढो चवला मटा तह साह पुढिमस पहिसेवी।

गारव कमायवहुला दुरासओ हदि सो समखो ॥ ६४ ॥ ( मूला स० )

अर्थ—जो बरह स्वभाव का हो विष वृक्ष के समान जिस में दूसरों के प्राण हरण करने वाली रू प्रकृति हो जो अत्यन्त चंचल स्वभाव वाला हो जिसके चित्त में स्थिरता न हो। जिसके पेट में कोई बात टिक नहीं सकती हो जो चारित्र के पालन में आससी हो, तथा जो पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो जुगलखोर हो अभिमान से भरा हो अपने को सब से महान् समझ कर दूसरे की अचहे-खना करता हो जिसकी प्रकृति क्रोधमय हो जो बात बात पर क्रोधित हो जाता हो जो दुराराध हो—ऐसे साधु या अन्यजन का संसर्ग त्याग करन योग्य है।

हे मुने! जो साधु रोगी दुर्बल व्याधि पीडित आदि साधुओं का वैवायुत्वादि द्वारा उपकार नहीं करता है जो पाप प्रकार के विनय से विमुख है, अर्थात् अविनीत—उच्छेद है जो कठोर वाणी का प्रयोग करता करता है जिसका आचरण निन्दनीय है दिग्गम्बर मुद्रादि का आचरण होने पर जिसमें वैराग्य नहीं है राग भाव का उत्कृष्ट है—ऐसे साधु का सम्पर्क सबथा त्याग करने योग्य है।

जो कुटिल स्वभाव का है दूसरे को संताप देने वाला है पर दोष का प्रकाश करने में आनन्द मानता है मारण उच्छादन

वरीकरण मन्त्र बन्धन तन्त्र का प्रयोग करनेवाला है, दूसरे को घोला देने वाले इन्द्र जाच कोकरास्य वा सयनादि शास्त्रों में प्रीति रखता है इन दुगुणों से युक्त चिरवीक्षित साधु भी सप के समान त्याग देने योग्य है। हे मुन ! ये दुगुण पाप श्रमण में पाये जाते हैं। क्योंकि वह गुरु के अकुरा रहित अकेला रहकर अनेक दुगुणों का निवास स्थान बन जाता है और पाप-श्रमण की सजा पाता है।

### पाप-श्रमण का लक्षण

आपरियकुल श्रुत्वा विहरदि समथो प जादुष्यगामी।

ख प गेयहदि उवदेश पावस् मथोत्ति बुद्धदि दु ॥ ६८ ॥ ( मूला स )

अर्थ—जो मुनि आचार्य संघ को छोड़कर अपनी इच्छानुसार श्रमण करता है मनमाना उपदेश देता है वा स्वद्वन्द्वता पण उचनान्नाप करता है भला बुरा सोचा करता है किसी के हितकर उपदेश को नहीं सुनता है किसी की शिक्षा की परवाह नहीं करता है। ऐसा बिना नकेल के बेल के समान अथवा बिना अकुरा के मदीन्मत्त हस्ती क समान शब्द प्रवृत्ति करनेवाला सधमष्ट एकलबिहारी साधु पाप-श्रमण माना गया है।

जो दुवृत्ति साधु अपने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर अपनी उद्वेगता से उनके अकुरा की परवाह न कर आचार्य बनने की लालसा से मदमस्त हाथों के समान इधर उधर विचरन लगता है तथा एक दो अपने समान साधियों को इकट्ठा कर आचार्य बन बैठता है—वह विवेकहीन साधु पाप-श्रमण है। वह पापमय प्रवृत्ति करके अपना नाश तो करता ही है और उनकी मर्गति करने लिये सयमियों तथा श्रावकों को भी उन्माद में लगाता है। जैसे आम का वृक्ष नीम के समान न आकर कबुजे फल देता है। उसा प्रभार संवेग भाव (संसार से भाति) रहित धर्मानुरागहीन शिष्यालाचारी साधु के कथनों से विमुख दुराशय साधु अ संसग मत करो। उसकी मर्गति आत्मा को अद्धा और पारित्र से च्युत कर देती है।

नगर के मध्यभाग से निकल हुए नाले समान दुजनसाधु के वचन कूडे ककट के समान निकला करते हैं। जैसे नाले में बहकर आया हुआ मलमूत्र कूड़ा ककट दुगुणों को फैलाता है सं ही दुजन साधु आगम विरुद्ध वचनों का उच्चारण कर समाज में श्रम और दुराचार का निरस्तार करता है। ऐसे साधु से मना दूरते रहना चाहिए। क्योंकि उनके वचन मुनक आमों को डसते हैं। उनके विषयी प्रभाव अनंत भय तक बना रहता है अतः वह भुजग (सर्प) में भी नष्ट भयानक है। यद्यपि उसके उचन घोड़े की लोम सनाज ऊपर से चिरन चुपड़े होते हैं बगुले के समान सुन्दर प्रतीत होते हैं मुनक के भोग (शरीर) के समान कोमल मालूम होते हैं किन्तु फल के समान

आगत रमणीय और मीठे होने हैं किन्तु अन्त में आत्मा के घातक होते हैं। आत्मा को अज्ञानकार रूप दुःख से मलीन करनेव ले होते हैं। जिस के समान आत्मा के घातक हैं।

हे मुने ! कोई चिरमल का नीक्षित होने स श्रद्ध नहीं माना गया है। साधु की श्रेष्ठता सच्चे वैराग्य से होती है। बहुत से साधु चिरदीक्षित होन पर भी मोक्षमार्ग से दक्षित देखे जाते हैं। वैराग्यपरायण तीन दिन का दीक्षित अथवा अन्तमुहूर्त्त का दीक्षित भी मोक्ष का अधिकारी होता देख गया है। अत आत्मा में वैराग्य भावना को दृढ़ बनानेवाले परम त्रिकत साधुओं का सत्संग करो। कई साधु ऐसे देखे जाते हैं जिनके उपदेश परम वैराग्य का निरूपण करते हैं परन्तु उनके अत करण लोभ और मान से गद्दे और मोक्षमार्ग से विमुख होते हैं। इसलिए सहसा किसी साधु को आत्मा के लिए हितकर मत समझो। उनके निकट सम्पर्क में कुछ झल रहो। उसके विचारों और कार्यों का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करो। तब तुम्हें प्रतीत होने लगगा कि उसका बाह्यरूप घोड़े की लीन के समान सुहावना है और उनका अन्तरंग कितना गन्दा और तुच्छ है। वे ऊपर से बगले के समान सुन्दर दिखाई देंगे और उनके काम अति निन्दनीय और घृणा क योग्य प्रतीत होंगे। इसलिए जिन के ससंग में तुमको अपने जीवन को सफल बनाना है अपने वैराग्य भाव को दृढ़ करना है- चारित्र को उन्नत बनाना है-तो उनकी जाँच में असावधानी मत करो।

हे मुने ! देखो कमबच के करण आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए अपने आत्मरिणामों को उज्वल बनाये रखो। जो साधु दिखावे के लिए अपने को उत्तम प्रकट करने के लिए दूसरों के सामने तो अपने मन वचन काय की उत्तमता से प्रवृत्ति करता है और जनता से प्रथक् होते ही-एकत्रत में-उनकी इष्टप्रवृत्ति करता है। मन में निन्दनीय और तुच्छ विचारों को जन्म दता है। संकल्प और विकल्प रूपी जल तरंगों में उसकी मनरूप नौका गोते खाने लगती है। अभिमान लोभ और माया भरे महान असत्य वचनों का उच्चारण करता है और काय से जीवचरा रहित अज्ञानमय क्रियाएँ करता है वह साधु अपना भी विनाश करता है और उसके सम्पर्क में रहने वाले संथमियों और श्रावक श्राविकाओं की भी मिथ्यामार्ग में प्रवृत्ति होने लगती है। इसका करण भावों की मलीनता ही है। इसलिए प्रतिमय तुमको अपनी आत्मा का निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधु विवेक-ज्ञान ( भद्र ज्ञान ) रूपी दीपक लेकर अपने अन्त करण में सम्यग्दर्शन व सम्यक्चरित्ररूपी मात्रनी ( बुद्धारी ) से मिथ्यात्व असयम व कषाय रूपी कूड़े ककट को साफ करता रहता है उसकी आत्मा अल्पकाल में परम पवित्र बन जाती है और उसके द्वारा ही संसार के जीवों का कल्याण होता है। वह शीघ्र मुक्तिपथ का अधिकारी होता है और उसके ससंग से अन्य जन भी मुक्तिपथ के पथिक बनते हैं। इसलिए तुमको मिथ्यात्व असयम और कषाय का सवधा त्याग कर अपनी आत्मा का प्रतिक्षण निरक्षण करते रहना चाहिए।

क्योंकि आत्मा के परिणामों के निमित्त को पाकर योग द्वारा प्राप्त हुए कार्माण वगणा के पुद्गल कमरूप परिणमन करते हैं।

जो आत्मा ज्ञानरूप परिणत होता है। जिसको भक्त विज्ञान जागृत हो गया है वह आत्मा निरन्तर आत्मा का निरीक्षण करता रहता है इस लिए वह कम के बचन से बद्ध नहीं होता है। अतः अतः उसके कर्मों का बचन नहीं होता है। अतः चार्ित्र को ज्ञान धरान पू क कहा है।

हे मुने ! जो साधु मिथ्यात्व असयम व कषाय को हृत्य में रान नहीं देता है उसके ज्ञान व चार्ित्र की शुद्धि होती है। उसका चित्त एकाग्रता को प्रप्त होता है और चित्त की एकग्रता को ही ध्यान कहते हैं। उसका शान्त-चित्त स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होता है। वह आगम का वाचन पृच्छन चिन्तन स्मरण करता है। तथा वाचन-चित्तनाम्नि से उपलब्ध हुए तप को आगम के रहस्य को उपदेश द्वारा जनता में प्रकट करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति करनेवाला महामा मसार समुद्र से शीघ्र पार होता है और उसके सन्मक में रहने वाले पुण्यवान पुरुष भी ससार सागर से निकलने का साधन सन्माग रूपी नौका प्राप्त करलेते हैं।

हे मुने ! ज्ञान सन्माग का प्रदर्शक है और तपश्चरण आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। तपश्चरण में भी स्वाध्याय सब से मुख्य है। क्योंकि आत्मा को तपश्चरण सरीस्त्रे कठोर काय मे स्थिर रखने वाला विवेकज्ञान है और वह ज्ञान स्वाध्याय से सूत्र (आगम) का अध्यास मनन चिन्तन मे उपलब्ध होता है। कहा भी है—

सुई जहा समुत्ता य शससदि दु पमाददासेण ।

एव समुत्तपुरिमो य शससदि जहा पमाददासेण ॥ ८० ॥ ( मूला० स० )

अर्थ—डोर में पिरो हुई सूई प्रमात्त स गिर जाने पर भी उस गुम नहीं सकती—अर्थात् कूड़े कचरे में गिरी हुई सूक्ष्म सूई सूत्र ( डोरे ) के साथ हान स पुन मिला जाती है—वैसे ही आत्मा क प्रतिकूल अनेक कारणों के उपस्थित होने पर तपश्चरणानि कठोर क्लेशजनक आचरण स आत्मा मे चंचलता आनाने पर उसको सन्माग मे गिर करने वाला सूत्र ( आगम ) का स्वाध्याय है। जो कोमल प्रकृतिवाला मनुष्य दुःख वृत्तमूलानि योग अथवा मासोपवास कायक्लेशानि तप करने में असमर्थ है वह यदि शुद्ध चित्त से कषयादि का त्याग करके निरन्तर आगम क स्वाध्याय मे तल्लीन रहता है तो कर्म का बहुत शीघ्र क्षय करलता है।

हे मुने ! शास्त्रस्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि करने के लिए तुमको निम्नपर विजय प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि निद्रा मनुष्य को अचेत ( विवकहीन ) बना देती है। निद्रा में साधु विवेक शून्य होकर अनेक दोषों का सबन करता है। निद्रा और आहार बढ़ाने से बढते और घनन स घटते हैं। जो निद्रा के बश रहता है—उसको प्रमात्त व आलस्य घरे रहता है उसका मन न तो स्वाध्याय में लगता है और न यान मे लगता है। इसलिए शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए और चित्त को एताप करने के लिए निद्रा-विनयी बनो। निद्रा-विजयी साधु नीवाजीरादि तन्त्रों का नयप्रमाण स सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करता है। कर्मों के बचन और मोचन के कारणों को जानकर ध्यान द्वारा कम-बन्धन

की गुणियां को मलभ्रता है। जैसे लक्ष्यबेधी मनुष्य घनुष पर सीधा बाण रखकर अपने दोनों नेत्रों को अधनिमीलित (आँखें मूढ़कर) बाण को लक्ष्य से मिलाता है। उसी प्रकार प्रमाद रहित साधु शुभध्यान के लिए अधनिमीलित नेत्र होकर अपने चित्त को एकाग्र करके आत्मा में लगाता है।

हे मुन! मसार और भोगों से विरक्त होकर तुम ज्ञानावरणाणि कर्मा का आत्मा क प्रदेशों के साथ सम्बन्ध का आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मों के विरलेपण के उपायो का तथा जीव और पुद्गलाणि अजीव पदार्थों तथा उन पर्यायों के भेद प्रभेदों का चिन्तन करो।

हे साधो! स चीव न अनानिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए त्रयपरिवतन त्रयपरिवतन कालपरिवतन भव परिवतन और भावपरिवतन अनेक बार किये हैं। किन्तु श्रीजिनेन्द्रदेव कथित धम का आश्रय इम को नहीं मिला है। यदि एक बार भी धम का अङ्ग आत्मा में उचित हो जाता तो उसको इतने असङ्ख दुःख न भोगन पड़ते। अब काललक्षि आदि क योग से यह सुभवसर-पल्लव हुआ है। यदि सको तपश्चरण और ध्यान क बिना खो दिया तो फिर पड़ताने के सिवा कुछ भी ह्राय म न रहेगा। इत्यादि प्रकार से नित्य प्रतिसमय चिन्तन करो।

देखो ये संसारी अज्ञानवरा मोहानि से झुलस रहें हैं अत्यन्त अमङ्गल दुःख का अनुभव करते हुए भी विषय भोगसे अधिक-त्रिक सम्बन्ध करते हैं। और अनन्त संसार से निकलने के द्वार को मोह होकर खो रहे हैं। संसार में धीर वीर साधु ही हैं जो अनेक उपसग परीषदों को सहकर इस असार संसार से विरक्त होकर आत्म-व्याण के मार्ग में दक्षचित्त हैं। हे मुने! यह शुभ-संयोग तुमको श्रेष्ठ सौभाग्य से मिला है अतः तुम शुभध्यान में सदा रत रहकर कर्मों के जाल को तोड़कर अपनी निजनिधि को प्राप्त करो।

हे मुने! यदि तुम ध्यान मरण होना चाहते हो तो आरभ और लोभादि कषाय का परित्याग करो। जैसे नेत्र सूक्ष्मतम कचरे को भी नहीं सह सकता उसको बाहर निकलने पर ही उसे चैन मिलता है। जैसे समुद्र अपने भीतर तृणाणि कचरे को स्थान नहीं देता है, ऊपर निकाल फैकता है। इसी प्रकार ध्यान भी आरम्भ और लोभादि कषाय को अपने निकट नहीं आने देता है। अर्थात् आरम्भ और कषाय के मद्भावे ध्यान की सिद्धि असम्भव है। जब आत्मा निष्कषाय होता है उसके अतः करण में कषाय की मलीनता नहीं रहती है—तब ही ध्यान की सिद्धि होती है।

हे मुन! यदि तुम संसार के दुःखों से छुड़ाने वाले चरित्र का आराधन करना है तो आत्मा में कषाय को उत्पन्न मत होने दो। क्योंकि कषाय के अभाव को ही चरित्र कहते हैं। जो कषाय के वशीभूत हो वह असयमी है। जिस समय कषाय उपरान्त रहती है—अर्थात् कषाय का उदय नहीं हो। है उस समय आत्मा-सयमी होता है।

हे साधो । शिष्यानि में मोह उत्पन्न करना दुर्गति का कारण है । क्योंकि उससे मिथ्यात्व असंयम कषाय रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । कारणों से दोष पैदा होते हैं और कारणों के अभाव से दोषों का अभाव होता है ।

पञ्चयभूदा दोसा पञ्चय भावेण स्यति उप्यची ।

पञ्चभावे दोसा खस्सति निरामया जहा बीय ॥ ६३ ॥ ( मूला स० )

अर्थ—कम बच के कारणभूत शिष्यानि सम्बन्धी मोह से रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । रागद्वेषादि के कारणभूत मोह के अभाव से उन दोषों का प्रादुर्भाव ही होता है । अतलिये कारणभूत शिष्यानि सम्बन्धी मोह के अभाव से मिथ्यात्व असंयम कषाय रागद्वेषादि दोष स्वयं नष्ट हो जाते हैं । क्योंकि आश्रय के अभाव से दोष निमूल होकर नष्ट हो जाते हैं । जैसे बीज में अकुर की उपत्ति पृथ्वी तल पवन-सूक्ष्मकरणों के संयोग से होता है । यदि पृथ्वी जल-पवनानि का संयोग न मिले तो बीज अकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है । जिन कारणों के सम्बन्ध से जो दोष होते हैं उन कारणों का अभाव होने पर उनके फल ( काय ) स्वरूप उन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है ।

अतएव हे साधुओ । परिग्रह के कारणभूत क्रोध मान माया लोभ हैं । क्योंकि लोभादि के होने पर ही परिग्रहादि होते हैं और लोभादि का विनाश होजाने पर परिग्रहादि नहीं होते हैं । इसलिए सब साधुओं को लोभादि छोड़ना चाहिए जिमसे परिग्रह की इच्छा उत्पन्न ही न हो ।

हे साधो । इस संसार में जीव जो नरकार्य पर्यायों को प्राप्त करते हैं उसका मूलकारण राग द्वेष और माह है । राग द्वेष व मोह के त्रयीभूत होकर ही जीव नरकार्य कुयानियों में भटकता है । संसार में रागद्वेष मोह ही महाराजु है । सत्पि वैराग्य ज्ञान द्वारा पदार्थों से मोह को हटाओ । परमविरक्ति धारण करो । वही शिव सुख को देने वाली है ।

अत्यस्त जीविपस्स य जिन्मे अत्याणकारण जीवा ।

मरदि य मारावेदि य अखतसो सन्वकाल तु ॥ ६६ ॥

जि-मो वत्यखिमिच जीवो दुक्ख अणादि ससारे ।

मच्चो अणतसो तो जि-मो वत्ये जयह दासि ॥ ६७ ॥

अर्थ—यह जीव इस संसार में अथ के निमित्त—धन पर भूमि आदि के लिये अपने जीवन के लिए—आत्म रक्षा के लिए, विद्या इंद्रिय के विषय की प्राप्ति के लिए तथा उपस्थ इंद्रिय के विषय के लिए—काम सेवन के लिए अपने प्राणों का बलिदान करता है, स्वयं अन्य प्राणियों के प्राणों का हरण करता है तथा दूसरों से हरण करवाता है।

इन चारों में भी रसनेन्द्रिय और मैथुन इंद्रिय अति बलवान हैं। इनके निमित्त इस जीव ने अनन्त बार हृद्य संसार में घोर दुःख मह हैं। इसलिए इन दोनों इंद्रियों पर पूरा विजय प्राप्त करो।

भाषा—यह अज्ञानी जीव मासारिक विषयों में सुख समझकर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता है। कभी धन पर गाय भैंस जैसा भूमि की प्राप्ति व रक्षा के लिए चौर शत्रु आदि स लड़ता है। रणचण्डी के चरणों में अपने प्राणों की बलि चढ़ाता है। कभी अनेक निरपराध व दीन क्षीण प्राणियों के प्राण लेता है। अपने जीवन की रक्षा के लिए अभद्र पदार्थों का भक्षण करता है। अन्यायमाग का अनुसरण करता है। असह्य दीन जीवों पर अत्याचार करता है। जीवों के आहार सत्ता इतनी तीव्र होती है कि जिसके बशीभूत हुआ प्रत्येक जीव रात दिन आहार की खोज में लगा रहता है। छोटे जंतु से लेकर बड़े से बड़ा प्राणी पेट की ज्वाला शांत करने के लिए क्या र अनर्थ नहीं करता ? एक जन्तु दूसरे जन्तु का भक्षण करता है। मनुष्य भी भोजन की लालसा के बशीभूत होकर भद्र अभद्र का विचार नहीं करता है। मथुन इंद्रिय के बरा जीव अध्यासा हो जाता है। विवेकी मनुष्य भी कामातुर होकर कुल जाति व सचमादि को भूल जाता है।

हे मुने ! तुम स्पर्शान्द्रिय को जीतने के लिए पूरा सावधान रहो। काठ की या मिट्टी की स्त्री ( पुतली ) चित्राम की स्त्री व स्त्री की ( तस्त्री ) स भी भयभीत रहो। यह पुतली और स्त्री की तस्त्री भी तुम्हें ब्रह्मचर्य त उचित कर सकती है। क्योंकि इनको देखने से भी चित्त में क्षोभ समभव है। वही कहा है—

बाहेद्वव शिच्व कहुत्यमसवि तदित्थिरुवस्स ।

हृदिय चित्तकलोभो पच्यभावेण जीवस्स ॥ ६६ ॥

विदमग्दियडसग्तिथो पुरिसो इत्थी बलत अग्गिममा ।

तो महिलेय दुक्का यद पुरिसा सिव गया इये ॥ १०० ॥ मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखने वा अभिलाषी मयमी काठ व मिट्टी की बनी हुई स्त्री तथा चित्र लिखित स्त्री से भी डरता

रह। क्योंकि वह भी साधु क चित्त में चंचलता व उद्वेग विकार उत्पन्न कर देती है। चित्त में विकार उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य का रहना असंभव है। क्योंकि यो स भरे हुए घट के समान पुरुष है और जाब-यमान अग्नि के समान स्त्री का रूप है। अग्नि के समीप में रहने वाले घट की जमीन आग्ना होती है वही हालत स्त्रा के साथ संसर्ग करने वाले समय की होती है।

‘आ के फागे और चित्राम मे भी जब पुरुष के मन को लोभित करन का शाक्त है तब साधुन स्त्री का क्या कहना ? इसलिए हे साधो ! य तुम अपनी रक्षा का उद्देश्य के स्थिर और ब्रह्मचर्यव्रत का निरूप रखना चाहते हो तो स्त्री को सप के समान समझो । ना सयमी भ्रा के म पक म आये हैं उनके साथ । तालाप हास्यानि क्रिया है-उनका समय-जीवन तप होगया है। और जो नका दूर स फ ल्य ा करत ई उनक साथ बात चीन तो २ रही पूण-दृष्टि स भी जा उनको नहा देखते हैं। व ही पुरुष मोक्ष माग पर धिर रहे हैं और शत्रुमुख के अधिकारी बन हैं। सालप

मायाए वहिशाए धूआए भूइ बुड् इत्याए ।

रीहदव शिचच इत्यारुच शिरावेकख ॥ १ १ ॥ ग्ला

अथा—चाहें इ स्त्री माता हो वहिन हो पुत्री हो गृणा हो या बाला वृद्धा क्यों न हो स्त्री के शरीर स सत्प डरना चाहिए। क्योंकि अग्नि किसी ही क्यों न हो वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ती। जैसे चल्न की अग्नि भी शरीर को तत्काल भस्ममान करने में समर्थ होता है वैसे ही स्त्री मात्र का मन्पक ब्रह्मचर्य का घात करनवाला है।

हे मुन ! म ब्रह्मचर्य म दृष्ट हो तु गरा अत करण पत्र ह। तुम्हार चित्त में वराम्य भावना लहरा रही है। तुमन विषयो को मुनय के भोग ( शरीर ) के समान समझकर निबन्धन अवस्था परण की है। लोकन ससार में निमित्त बड़ा बलवान होता है। देखो। आखों में जल भरने का काइ स्थान नहीं है तथाप अत्यन्त शाक्य दु ख के प्राप्त होन ही आखों से आसुओं की धारा बहन लगती है। आम्यरुक्री ( शरडी ) के स्तना म २ २ हां रत्ना है किन्तु उनके बच्चों के मुह लगाते ही उनके प्रेम से शरडी के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जात है। संयोग पाकर शरीर के परमाणु जल और दूध रूप परिणत हो जाते हैं। बाह्यनिमित्त में अचिन्त्य शक्ति है बाह्यनिमित्त को पाकर चित्त म विकार भाव उत्पन्न हो सकना है। अनएव स्त्री के अग्रयवों को कभी मत देखो। जिस स्त्री के हाथ पाँव भी झिल झिल हो गये हों कानो स बहरी और नाक से नकनी हो कोठ से जिसका शरीर मरता हो अत्यन्त विद्वरूप हो यदि वह भी वस्त्राणि रहित नंगी हो तो उस की तरफ मत भ्रको। सत्ता में बैठे हुए कम-शत्रु नि मत्त पाते हो उन्त्य में आरुग तुम पर विजय प्राप्त करलेंगे। क्योंकि स्त्री आत्मा के पेश्यादि गुण का नारा करके नरकानि दृगति में लेनानशाली है।

“परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीं  
विषमजलधिषेज्ञा रक्षभ्रसीधप्रतोलीम् ।  
मदनञ्जजगदङ्गं माहत्तन्द्रामवित्रां,  
परिहर परिखामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥”

अर्थ—इ मुन ! तू धेरज का अवलम्बन लेकर स्त्री के सम्पर्क को चित्त से भी निकाल दे । अर्थात् स्त्री के आकार का चित्त में भी चिन्तन मत कर । क्योंकि यह स्त्री तिरस्कार रूपी फल को उत्पन्न करने वाली बेल (लता) है । दुःख रूप दावानल की परम्परा को बढ़ाने वाली है । विषय रूप समुद्र का लहर है । नरक रूपी महल का बड़ा द्वार है । काल रूपी सप की दाढ़ है । मोह रूपी नीद की जन्मदात्री है । ऐसा जानकर ब्रह्मचर्य का पालन करने में पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है । ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार दिया है ।

### ब्रह्मचर्य के भेद

मखावभवेर वद्विबभचेर तह काय बभचेर च ।

अहवा हु बभचेर दम्बं भाव ति दुधियप्प ॥ १०३ ॥ मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है । १ मानसिक ब्रह्मचर्य २ वाचनिक ब्रह्मचर्य और कायिक ब्रह्मचर्य । अथवा ब्रह्मचर्य और भाव ब्रह्मचर्य इस प्रकार ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं ।

आभाव—मन में स्त्री आदि के सम्बन्ध से विचार भाव के न रहने से तथा स्त्री के रूप का उसके अवयवों का अगार रस पूरा शस्त्रों का चिन्तन या मनन न करने से चित्त में शोभ नहीं होता है । मांस मज्जा इधिर वात पित्त कफ, सार बिष्टा, मूत्रादि के पात्र, अत्यन्त दूषित स्त्री के अङ्गोंपाङ्गों पर दृष्टि पड़ जानेपर उनके असली स्वभाव का विचार करने से मानसिक ब्रह्मचर्य की पालना होती है । काम विकार उत्पन्न करने वाले अगार रस के पोषक नाटक काव्य आदि के न पढ़ने से कामाग्नि प्रवृत्त करने वाली कथा कहानी न करने तथा वैराग्य व त्रिषय-विरक्ति व्रत्त करने वाले शास्त्ररस गोपक बवनों के उच्चारण करने से वाचनिक ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है । कामोदीपन करनेवाले गरिष्ठ आहार का त्याग करने से शरीर के संस्कार का त्याग करने से, परम वैराग्य की मूर्च्छि गुह आदि महात्माओं के निकट

रहने से एकाकी भ्रमण न करने से एकान्त में माता व बहिन तथा परम बिरुद इच्छा आदि आदि से भी वार्तालापदि का सर्वथा त्याग करने से कायिक ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है ।

बचन से व काय से ब्रह्मचर्य का पालन करना न्यून ब्रह्मचर्य है । मन से भावब्रह्मचय का धारण करना भावब्रह्मचर्य है । भावब्रह्मचय से रहित केवल न्यून ब्रह्मचय से आत्मा की सन्नति नहीं होती । अतः विषय स्त्री बच में रमण करनेवाले मन स्त्री मत्त हाथी को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये जब तक मनरूपी मत्त हस्ती विषय वाटिकमें क्रीडा करता फिरता है तब तक संयमभाव उत्पन्न नहीं होता । इसलिए उस वैराग्य रूपी साकल से विवेक-ज्ञान रूपी आत्मान ( बचन स्तम्भ ) के साथ बाधो । अन्यथा संयम की आशा करना व्यर्थ है ।

ब्रह्मचय की रक्षा के लिए साधु को निम्नोक्त दोषों से बचना आवश्यक है—

पदम बिउलाहार विदिय कायसोहस्य ।

तदिय गधमन्लाह चउत्थ गीयवाह्य ॥ १०५ ॥

तह सयसोचस्य पि य इत्यिससगग पि अत्यसगहस्य ।

पुव्वरदि सरस्यमिदिय विसयरदी पखिदरससेवा ॥ १०६ ॥

दसविहमव्वभमिस्य ससार महादुहायमवाह ।

परिहरह जो महप्पा सो दह बमव्वदो होदि ॥ १०७ ॥ ( मूला स )

अथ—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए निम्नोक्त विषय का परित्याग करो । १—प्रचुरमात्रा में भोजन मत करो । २—जलस्नान तैलमन्त्रन चवटन अन्नि रागवचक कारणों से शरीर का संस्कार मत करो । ३—इत्र लवंबर सेंट आदि सुगन्धित द्रव्यों का शरीर से सयोग मत होने दो । ४—गातवाटिन्नादि के सुनने का तथा सुरीले गान का परित्याग करो । ५—ईर्ष्या आदि के गह पलंग आन्नि आराम देनेवाली शय्या पर शयन मत करो तथा काम को उत्तेजित करनेवाले क्रीडाशुद्ध-चित्रशालादि को मत देखो । ६—रागरग में निपुण कटाक्षनिरीक्षण एक श्रु गार रमप्रिय स्त्रियों के सङ्ग का त्याग करो । ७—इस्ये पैसे का तथा बत्ताभरणादि का ग्रहण मत करो और न उनको लूओ । ८—पूर्व संयम में भोगे हुए भोगों का स्मरण चिन्तन मत करो । ९—काम के निमित्त कारण इन्द्रियों के व सुन्दर व मनोहर रूप रसादि विषयों की अभिलाषा मत करो । १०—पौं ठरु व क - - उत्तेजित करनेवाले पत्थरों के सेवन का त्याग करो । ये दश कारण ब्रह्मचय के घातक हैं, तथा संसारमें तीव्र दुःख कर्तव्य करण हैं । तीव्र नाना भले प्रकार त्याग करत है उसीके ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है । जो इनका त्याग किये बिना ब्रह्मचय का

पालन करने की इच्छा करता है। वह आकारा के कुसुम से सुगन्ध चाहता है। उसका ब्रह्मचय बालू की भीत के समान है। ब्रह्मचर्यव्रत को रद्द बनाने के लिए उक्त दश त्याग आवश्यक हैं। भाव-ब्रह्मचय का धारण व रक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि आयु की रक्षा के लिए शरीर का रक्षण आवश्यक है अथवा शरीर रक्षा के लिए आहार-ग्रहण आवश्यक है। जिस महात्मा ने द्रव्य ब्रह्मचय को सुरक्षित बना रखने के लिए उक्त दश प्रतिकूल कारणों का त्याग किया है उसी ने भाव ब्रह्मचय की रक्षा कर आत्मा को कम वाचन से मुक्त किया है। क्योंकि ब्रह्मचय के होने पर ही चारित्र्य होता है। ब्रह्मचय के प्रभाव से शरीर में चारित्र्य के पालन करने की तथा आत्मा में ध्यान में स्थिर रहने की सामर्थ्य प्रकट होती है। ब्रह्मचय के प्रताप से ज्ञानबल के साथ आत्मा की सोई हुई सब शक्तियाँ जाग उठती हैं और वह आत्मा सहज ही में कम-शत्रुओं को परास्त कर अपन निज ( शिव ) पद को प्राप्त कर लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के त्याग आवश्यक हैं। कहा भी है—

चाओ य हाइ दुविहो सगच्चाओ कलत्तचाओ य।  
उभयच्चाप किञ्चा साह सिद्धि लहू लहदि ॥ ११५ ॥ (मूला)

अर्थ—यति के दो प्रकार का त्याग होता है। १ परिग्रह का त्याग और २ कलत्र ( स्त्री ) का त्याग। इन दोनों त्यागों को करके साधु शीघ्र ही सिद्धि को पा लेता है।

भावार्थ—परिग्रह-त्यागी और समस्त स्त्री का त्यागी शील व्रती मुक्ति का अधिकारी होता है। परिग्रहत्याग का ब्रह्मचय से भी सम्बन्ध है। जिसके दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है उसके ही ब्रह्मचय की उत्कृष्टता होती है। भाव-ब्रह्मचय की पूर्ण प्राप्ति के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोहमदमायलोहेहिं परिग्रहे लयह ससजइ जीवो।  
तेणुभयसगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ १०८ ॥ (मूला)

अर्थ—जीव क्रोध से मद से माया से व लोभ से परिग्रह में आसक्त होता है। इसलिए साधुओं को क्रोधादि कषायों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का और दोनों प्रकार के अन्नब्रह्मचय का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ—जिसको आत्मा ग्रहण करता है उसे परिग्रह कहते हैं। वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। किन्तु कषाय के वशीभूत हुआ आत्मा अपने स्वरूप से तो घृण्य होता है और आत्म-स्वरूप से भिन्न पदार्थों में आसक्त होता है। क्रोध के आवेश में होकर क्रोध की शान्ति के लिए बाह्यपदार्थों का आश्रय लेता है। जिसपर क्रोधित हुआ हो उससे वैर निर्यातन करने के लिए शस्त्रादि का ग्रहण करता है। अभिमान

के बश होकर अपने को महान् विश्वासे के लिए अनेक प्रकार के परिग्रह का संचय करता है। भावाचार को सफल बनाने के लिए अथवा कष्टाचार को छिपाने के लिए बाह्य आङ्गुली दिखाता है। अथवा भावाचार में दूसरों को ठगकर परिग्रह का संचय करता है। लोभवशा अनेक वस्तुओं का अज्ञान करता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह के अज्ञान व रक्षण में कषाय ही कारण होती है। परिग्रह के त्याग करनेवाले को प्रथम कषायों का त्याग करना अत्यावश्यक है। जबतक आत्मा में कषाय जीवित है तबतक परिग्रह का त्याग होना असंभव है। अतः कषाय-त्याग पूर्वक दोनों प्रकार का परिग्रह का त्याग करना चाहिए। परिग्रह का त्याग करने पर ब्रह्मचर्य का आराधन अति सुगम है। इसलिए है साधु। तुमको भयसे प्रथम रूपाय क्रम करनी चाहिए। कषाय के मंद होने पर परिग्रह से अरुचि उत्पन्न होती है और परिग्रह से अरुचि आत्मा को ब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त करती है। मर्लिंग परिग्रह-त्याग और ब्रह्मचर्य को हटाने के लिए मको कषाय का त्याग करना उचित है। जिस क अतः करण में लाभान्ति कषाय धक्का रही है उसकी आत्मा में ब्रह्मचर्यान्ति व्रत व दोनों प्रकार के समय का अकुर नहीं जमता है। अतः प्रत्यमान कषाय व्रत व समय न चीन को क्षणभर में न कर देती है। अतः कषाय का त्याग ही परिग्रह का त्याग और ब्रह्मचर्य का साधक है।

ब्रह्मचर्य में स्थिरता और परिग्रह के त्याग से साधु का अतः करण सब पदार्थों से विरक्त और मोह रहित हो जाता है शान्त तथा शुभ ध्यान में तपकर रहता है उसकी सब क्रियाएँ निर्णय होता हैं। उसकी भिलाचर्या में शुद्ध परिणति होती है ध्यान स्वाभ्यास में उसकी अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है और वह पापक्रियाओं से निवृत्त रहता है।

प्रतीं सी रत्ना के लिए शील का होना नितान्त आवश्यक है इसलिए यहाँ शील के भेदों को भी समझ देते हैं।

### शील-निरूपण

जाए करण सण्णा इदियभोम्मादि ममया धम्मये य।

अण्णाण्णहं अमत्था अट्टारह सीलसहस्साइ ॥ २ ॥ (मूला शी०)

अर्थ—तीन योग तीन करण चाणसज्ञा पाच इत्थिय दश पृच्छीकायान्ति चीव और दश प्रकार सुनिधम इन को परस्पर गुण्या करने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावाध—याग और बाया-तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिकादि सात प्रकार की कषयवगणनाओं में से किसी एक के अवलम्बन से जो आत्मा क प्रदर्शों का परिस्पन् (कम्पन) होता है उसे कषययोग कहते हैं। शरीर नामक के उदय से प्राप्त हुई वचनप्रणाली के आश्रय तथा वीर्या-तराय और अक्षरात्मक मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमादि आश्रय-तर वचनलक्षि के होने पर

वचन उच्चारण करने में प्रवृत्ति करनेवाले के जो आत्म प्रवेशों का परिस्पन्द होता है उसे वचनयोग कहते हैं। तथा आभ्यन्तर वीर्यांतराय व नोचन्वियावरण क क्षयोपशम रूप मनोवर्ध के होने पर तत्रा बाह्य में मनोवर्धना के आलम्बन से जो आत्मा के प्रवेशों का कम्पन होता है उम मनोयोग कहते हैं। इस प्रकार तीन योग हैं। यहाँ पर योग मे मन वचन काय का शुभ प्रवृत्ति का प्रहण है।

करण—कृत कारित और अनुमोचना ये तीन करण हैं अथवा मन वचन और काय की अशुभ क्रिया को करण कहते हैं।  
संज्ञा—संज्ञानाम अभिलाषा का है। वे चार हैं—१ आहारसंज्ञा २ भयसंज्ञा ३ मैथुनसंज्ञा और ४ परिग्रहसंज्ञा।  
इन्द्रिय—स्पर्शन रसना घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियाँ हैं।

जीवरशि—१ पृथ्वीकायिक २ जलकायिक ३ तजसकायिक ४ वायुकायिक ५ प्रत्येक वनस्पति कायिक ६ साधारण वनस्पति कायिक ७ नो इन्द्रिय ८ तीन इन्द्रिय ९ चार इन्द्रिय और १० पचेन्द्रिय जीव।

नश मुनिवचन—१ उत्तम ज्ञाना २ मान्य ३ आज्ञव ४ सत्य ५ शौच ६ संयम ७ तप, ८ त्याग ९ आर्किकवचन और १० ब्रह्मचर्य ये नश मुनि वचन हैं।

इन सब को परस्पर गुणा करने से नीचे लिखे अनुसार भन होते हैं।

$$\frac{३ \times ३}{१} \times \frac{४ \times ४}{३६} \times \frac{५}{१००} \times \frac{१० \times १}{१८} = १८०$$

इस प्रकार अठारह हजार शील के भद होते हैं।

आबाध—जो अष्ट मुनीश्वर मन वचन काय सं कृत कारित अनुमोचना रूप अशुभ परिणामों से रहित आहारादि संज्ञा से रहित स्पर्शान्ति इन्द्रियों स संवृत पृथिवी कायान्ति जीवों के रत्नक तत्रा उत्तम ज्ञानान्ति दशवर्षों के पालक होते हैं उनके अठारह हजार शील के भेनों का पालन होता है।

अब मयम के भन रूप चौरासीलाख उत्तर गुणों का सुलासा करते हैं—

पाखिवहसुसावाद अदत्तमेदुखपरिग्रह वैष ।

कोहमदमापलोहा मयअरदिरददुगु छा य ॥ ६ ॥

मन्वयस्यकाचमगुल मिच्छादसखपमादो य ।

पिसुखत्तस्यभयस्यास्य अशिमगदो इदिवाच ॥ १० ॥

अदिकमस्य कविकमस्य आदिचारो तद्वै अशाचारो ।

एदेहि चदुहि पुष्ठा सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥ ११ ॥ (मूला शी )

अथ—१ हिसा २ असय ३ चोरी, ४ अन्नक, ५ परिग्रह ६ क्रोध ७ मान ८ माया ९ लोभ १० भय ११ अरति १२ रति, १३ जुगुप्सा १४ मन १५ वचन १६ काय १७ मिथ्यादर्शन १८ प्रमात् १९ पैशुन्य २० अज्ञान और २१ इन्द्रियों का अनिमग्न-ये इक्कीस भेद हुए । इनको अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार इनचार भेदों से गुणा करने पर चौरासी भेद होते हैं ।

भावाथ—विषय की अभिलाषा को अतिक्रम कहते हैं । अर्थात् विषयों के त्यागी संयमी के जो विषय-सेवन की मन में इच्छा उत्पन्न होती है वह अतिक्रम दोष कहलाता है । जो संयमी मुनि सध को छोड़कर विषय के उपकरणों ( साधना ) का संघय करने लगता है उसके यतिक्रम दोष उत्पन्न होता है । जो व्रत में शिथिलता ( नीलापन ) होती है व्रत का कुछ अंश में भंग होता है उसे अतिचार कहते हैं । और व्रत के भंग को मद्य या स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को व्रत का मूल नाश करने को अनाचार कहते हैं । इन चार दोषों से हिंसादि इक्कीस भेदों को गुणा करने से चौरासी भेद होते हैं ।

१ पृथिवीकाय ० अपृकाय ३ तेजकाय ४ वायुकाय ५ प्रत्येकवनस्पतिकाय ६ साधारण वनस्पति काय ७ द्वीन्य ८ त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और १ पञ्चेन्द्रिय इन ८ भागों को परस्पर में गुणा करने से १ × १० = १० सो भन् जीवों के होते हैं ।

८ न सो भन् १० पूर्वोक्त चौरासी भेदों से गुणा करने पर ८ × १० = ८४ ० चौरासी सौ भेद हाते हैं ।

शीलविराधनाके ८ भाग हैं ? स्त्रियोंके साथ हास्य वार्तालापादि करना २ पौष्टि ( न्य विकार जनक)आहार करना ३ सुगन्धित तल त्र आदि स तथा गुलाब चम्पा आदि के पुष्पों से शरीर का सस्कार करना ४ कोमल सुखद शय्या पर सोना कोमल आसनों पर बैठना ५ कन्कादि आभूषण प्रारण करना शरीर को सजाना ६ सुन्दर सुललित रागवचक राग रागनियौ गाना व सारंगी हारमोनियमादि बाजे बजाना व सुनना तथा नृप दस्वना या इन की अभिलाषा रखना ७ रुपये पैसे सोना आदि वस्तुओं से संपक रखना ८ डुरील ( दुस्वरित्र ) मनुष्यों की संगति करना ९ विषयों के पोषण करने के लिए राजादि की सेवा करना १ बिना प्रयोजन रात्रि में घूमना । ये दश कारण शील के धातक भाग में निरूपण किये गये हैं । इन १० भन् से पूर्वोक्त चौरासी सौ को गुणा करने पर ८४ × १० = ८४० ० चौरासी हजार भन् होते हैं ।

१ आकम्पित ० अनुमानित ३ दृष्ट ४ वापर ५ सूक्ष्म ६ प्रच्छन्न ७ शङ्कुकुलित ८ बहुजन ९ अचक और १० तल्लेवी ये आलोचना के दशादोष हैं। इनका विशेष बणन तप आचार में कर आये हैं।

पूर्वोक्त चौरासी हजार अर्थों का इन दशा भेदों से गुणा करने पर ८४ ००×१०=८४ ० ० आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं।

### प्रायश्चित्त के दश भेद

१ आलोचन ० प्रतिक्रमण ३ उभय ४ विवेक ५ अयुसग तप ७ छत्र ८ मूल ९ परिहार और १० अद्धान। इनका विशेष बणन भी पहले आ चुका है। इन प्रायश्चित्त के दश अर्थों को पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार भेदों से गुणा करने पर ८४००० × १० = ८४०० ० दोषों का चौरासी लाख भेद होते हैं। इन दोषों के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण हैं।

जैसे—धीर वीर मुनि हिंसा के त्यागी अतिक्रम दोष रहित पृथिवी के आरम्भ से विमुक्त स्त्री सम्पत्क से दूर आकम्पित दोष रहित आलोचना शुद्धिवाले होते हैं। सुषामाद से विरक्त (सत्यमहाव्रती) अतिक्रम दोष हीन पृथिवी के आरम्भ से विरक्त स्त्री सम्पत्क से पृथक् आकाशतपोपरहित आलोचनशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार अन्तर्दान विरत आदि में भी अतिक्रमदोषरहित आदि लगालेना चाहिए। अतिक्रमदाष रहित का जब हिंसादि पाचों पापों के त्यागों के साथ सम्बन्ध हो जावे तब अतिक्रम के स्थान में व्यतिक्रम को लगाकर पूर्ववत् सब पाठ को 'यो' का लोप पढ़ना चाहिए। जब व्यतिक्रम का सम्बन्ध पाचों हिंसादि विरतों के साथ पूरा हो जावे तब व्यतिक्रम को हटाकर उसके स्थान में अतिचार पद को जोड़कर पूरा की तरह सब पाठ 'यो' का लोप रखना चाहिए। जब अतिचार का भी सम्बन्ध उक्त पाँचों हिंसादि विरतों के साथ पूरा हो जावे तब अतिचार को निकालकर उसके स्थान में अनाचार पद जोड़ देना चाहिए। जब अनाचार का सम्बन्ध भी पाचों हिंसादि विरतों के साथ सम्पूर्ण हो जावे तब उसके आगे का भग सम्बन्धी पृथिवीकाय आरम्भ-त्यागी को हटाकर उसके स्थान में जलकायारम त्यागी इस पद का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। उक्त प्रकार पूर्व भंग का सम्बन्ध अन्तिम भंग तक हो जान पर उसके निकाल कर उसके आगे के भंग का सम्बन्ध करते चले जाना चाहिए। यह क्रम तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्तिम भग समाप्त न हो जावे।

अब शील और उत्तर गुणों का विशद ज्ञान होने के लिए निम्नोक्त पाँच विकल्पों का प्रतिपादन करते हैं—

मौलगुणाद्य मत्वा पत्यागं अस्वसकमो चैव ।

शुद्ध तद् उच्छिद्ध पचवि वत्सुखि शेयासि ॥१६॥ (मू. शी )

अथ—शील तथा गुणों के भेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सख्या प्रस्तार अक्ष-सकम ( अक्षों का परिवर्तन ) नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच प्रकार हैं ।

भेदों का गणना को सख्या कहते हैं । भेदों की सख्या निकालने अथवा रखने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं । प्रथम भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को अक्षसकम कहते हैं । सख्या का ज्ञान होने पर भेदों के निकालने को नष्ट कहते हैं । भेदों को जानकर सख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं ।

शील व गुणों की सख्या निकालने का नियम

मन्वे वि पुञ्जभगा उवरिमभगेसु एकमेककेसु ।

मेलतेऽक्षय कमसो गुण्दि उप्यजदे सख्या ॥ २ ॥ ( मूला शी )

अथ—शील व गुणों के सब पूर्व भंग ऊपर के प्रत्येक भंग में मिलते हैं । अतएव इनको क्रमसे गुणा करने पर सख्या निकलती है । जैसे—प्रथम भंग योग क प्रमाण तीन को ऊपर के भंग करण के प्रमाण तीन से गुणा करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक योग का सम्बन्ध प्रत्येक करण के साथ पाया जाता है । इसलिए तीन करण से गुणा करने पर नव सख्या उत्पन्न हुई । इसको ऊपर के भंग सखा के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिए । क्योंकि प्रत्येक योग और प्रत्येक करण का सम्बन्ध प्रत्येक सखा के साथ पाया जाता है । अत नव का चार से गुणा करने पर छत्तीस ( ३६ ) सख्या हुई । इसको ऊपर के भंग इन्द्रिय के प्रमाण पाच से गुणा करना चाहिए । क्योंकि प्रत्येक योग करण और सखा का सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ है । अत छत्तीस को पाच से गुणा करने पर एकसौ अस्सी ( १८० ) सख्या हुई । इसको ऊपर के भंग पृथिवीकायादि जीवों के प्रमाण दश से गुणा करना चाहिए क्योंकि योग करण सखा और इन्द्रियों के प्रत्येक भेद का सम्बन्ध प्रत्येक पृथिवीकायादि जीव के साथ है । अत एकसौ अस्सी को दश से गुणा करने पर अठारह सौ ( १८०० ) हुए । इनको आगे के भंग उत्तम ज्ञानादि मुनिधम के प्रमाण दश से गुणा करने पर कुल शीलों की सख्या अठारह हजार होती है । क्योंकि पूर्व के प्रत्येक भंग के भेदों का सम्बन्ध प्रत्येक उत्तम ज्ञानादि मुनिधम के साथ है । अत सम्पूर्ण शील व्रत के भेदों की सख्या १८००० होती है ।

प्रस्तार का उत्पत्ति क्रम

पढम सीलपमाथ कमेथ शिक्खिविय उवरिमाथ च ।

पिंढ पडि एककेक्क शिक्खित्त हाइ पत्थारो ॥ २१ ॥ ( मूला० शी )

अथ—प्रथम शील के प्रमाण का क्रमसे ( विरलनरूप ) निक्षेपण करके उसके विरलनरूप के प्रति अर्थात् एक एक रूप के प्रति ऊपर के पिंडरूप शील प्रमाण का निक्षेपण करना चाहिए। इस क्रम से निक्षेपण करने पर प्रस्तार उत्पन्न होता है।

जैसे—प्रथम शील 'योग' का प्रमाण तीन है। उसका विरलन कर के अर्थात् विखेर करके क्रमसे १ १ १ इस प्रकार निक्षेपण करके इसके ऊपर आगे के शील करण के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक के अ क ऊपर  $\frac{३}{१} - \frac{३}{१} \frac{३}{१}$  इस प्रकार निक्षेपण करना चाहिए। इसके अनंतर 'करण' क प्रमाण को परस्पर जोड़ने पर नव (६) होते हैं। इन ६ को प्रथम समझकर इनका विरलन कर ( विखेरकर ) एक एक अ क को नव बार १ १ १ १ १ १ १ १ १ इस प्रकार लिख कर आगे शील संज्ञा के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक अ क के ऊपर  $\frac{४}{१} \frac{४}{१} \frac{४}{१} \frac{४}{१} \frac{४}{१} \frac{४}{१} \frac{४}{१} \frac{४}{१} \frac{४}{१}$  निक्षेपण करना चाहिए। पञ्चान प्रत्येक सङ्गा के पियह को जोड़ने पर छत्तीस ( ३६ ) होते हैं। छत्तीस को प्रथम समझकर विरलनकर एक एक अ क को छत्तीस जगह रखना चाहिए। और उन प्रत्येक छत्तीस एकों पर आगे के शील इन्द्रिय के प्रमाण पाँच का निक्षेपण कर उनको जोड़ना चाहिए। जोड़ने पर एक सौ अस्सी संख्या होती है उनको भी पूव की भाँति विरलनकर एक एक अ क को एक सौ अस्सी जगह रखना चाहिए। तथा उनके ऊपर आगे के शील जीव राशि प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर स्थापन करना चाहिए। तत्पश्चात् पहले की तरह उनको जोड़ने से अठारह सौ संख्या होती है। उस संख्या का विरलन कर एक एक अलग रखकर आगे के शील मुनिचम के प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर रखना चाहिए। पूव की तरह उनको जोड़ने से अठारह हजार संख्या प्रणाम शील के भेद होते हैं। इस प्रकार भेद निश्चलने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। इस क्रम से यह ज्ञात हो जाता है कि पूव पूव के शील के प्रत्येक भेद उच्चर के समस्त शील के भेदों के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इस प्रकार सम प्रस्तार का निरूपण करके अब विषम प्रस्तार का निरूपण करते हैं—

शिविस्वच् चिदियमेच पदम तत्सुचरि विदियमेकैवक ।

पिंड पडि शिविस्वच् तहेव सेसावि कादन्वा ॥ २२ ॥ (मूला शी०)

अथ—द्वितीय शील का जितना प्रमाण उतनी बार प्रथम शील के प्रमाण के पिंड को रख कर उसके ऊपर एक एक पिंड के प्रति द्वितीय शील क प्रमाण को एक एक करक रखना चाहिए। और आगे क भंगों के लिए इसी क्रम से स्थापन करना चाहिए।

जैसे—द्वितीयशील 'करण' का प्रमाण तीन है। इसलिए तीन जगह प्रथम शील योग के प्रमाण तीन के पिंड को

३ ३ ३ इस प्रकार रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर द्वितीय शील करण क प्रमाण को एक एक करके  $\frac{1}{3} \frac{1}{3} \frac{1}{3}$  इस प्रकार रखना चाहिए। इनको जोड़ने से नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समभक्त आगो के संज्ञा-शील का प्रमाण चार है अत नौ के पिण्ड को चार जगह रखकर उस प्रत्येक पिण्ड के ऊपर संज्ञा के प्रमाण को एक एक करके  $\frac{1}{4} \frac{1}{4} \frac{1}{4} \frac{1}{4}$  रखना चाहिए पश्चात् इनको जोड़ने पर छत्तीस होते हैं। इन छत्तीस को प्रथम मानकर इसके आगो के 'इन्द्रिय' शील का प्रमाण पाच है इसलिए छत्तीस के पिंड को पाच जगह रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर इन्द्रिय प्रमाण पाच को एक एक करके स्थापन कर उनको जोड़ लेने पर एकसौ अस्सी (१००) होते हैं। इन को प्रथम समभक्त इसके आगो का शील जीवराशि का प्रमाण दश है इसलिए दश बार एकसौ अस्सी को रखना चाहिए और प्रत्येक एकसौ अस्सी के पिंड पर दश प्रमाण को एक एक करके स्थापन करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोड़ने से अठारह सौ होते हैं। इनको भी प्रथम मानने से इसके आगो का शील मुनिषम है उसका प्रमाण दश है। इसलिए दश जगह अठारह सौ के पिंड को रखकर प्रत्येक पिंड के ऊपर दश के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोड़ने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं। इस प्रकार द्वितीय विषम प्रस्तार का क्रम समझना चाहिए। प्रथम समप्रस्तार एक एक के प्रति पिंड का निक्षेपण करने में होना है और पिंड के प्रति एक का निक्षेपण करने से द्वितीय विषम प्रस्तार होता है।

### अष्टमक्रमस्य ( अष्टपरिवतन ) का नियम

पदमन्त्रे अतगदे आदिगदे संक्रमेदि विदियन्त्वो ।

दोषिष्य वि गच्छत आदिगदे सक्रमेदि तदियन्त्वो ॥ २३ ॥ ( मूला० शी० )

अर्थ—योग की गुप्ति रूप प्रथम अक्ष क्रम से घूमते हुए जब अत तक पहुच कर फिर मनोगुप्तिरूप आदि स्थान पर आजाता है तब द्वितीय करण का स्थान मनकरण को छोड़कर वचनकरण पर आता है। इसी प्रकार जब द्वितीय करण स्थान भी क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुच कर जब आदि मनकरण स्थान पर आता है तब तीसरा सज्ञास्थान बल्लता है। अर्थात् आहार सज्ञा को छोड़कर भय सज्ञा पर आता है। जब संज्ञा स्थान भी घूम करती क्रमशः भ्रमण करता हुआ अत तक आकर वापिस आदिस्थान ( आहार संज्ञा ) पर आता है तब चौथा इन्द्रिय स्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है। इसी प्रकार इन्द्रिय स्थान भी जब क्रमशः घूमता हुआ अन्त तक पहुचकर आग्नि स्थान ( स्पर्शन ) पर आता है तब पाचवाँ जीवराशिस्थान बल्लता है। अर्थात् पृथिवीकाय स्थान को छोड़कर जलकाय स्थान पर आता है। इसी प्रकार जब जीवराशि स्थान पर भी अन्त तक पहुच कर आदि स्थान स्पर्शन पर आता है तब छठा स्थान मुनिषम बदलता है। इस प्रकार अक्ष क परिवतन होने का क्रम समझना चाहिए।

## नष्ट निकालने की विधि

सगमाखंडि विभक्त सेम लक्षिततु सन्निधे रूप ।

लक्षितवज्र त सुद्ध एव मन्वत्थ कायव्व ॥ २४ ॥ ( मू शी )

अथ—जिस संख्यावाला शील का भंग जानना हो उसी संख्या रखकर उसमें क्रम से शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो रूप आता रोप रहे उसी संख्या का अक्षस्थान समझना चाहिए। यदि रोप कुछ भी न रहे अर्थात् रोप शून्य आये तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और लक्ष में एक नहीं मिलाना चाहिए। जो संख्या लब्ध आये उसमें रूप ( एक ) मिलाकर आगे वाले शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करने जाना चाहिए।

जैसे—दोहजार अस्सी संख्या का कौनसा भंग है ? स प्रकार पूछने पर बताई हुई २०८ संख्या को रखकर उसमें प्रथम शील योग के प्रमाण तीन का भाग देने से लक्ष छहसौ तिरानवे ६६३ आये और रोप एक आया इसलिए योग अक्षका प्रथम स्थान छनो याग हुआ। लक्ष ६६३ में एक मिलाकर आगे के शील करण के प्रमाण तीन का भाग देने पर दोसौ इकतीस लब्ध आये और रोप एक रहा। इसलिए अक्ष का प्रथम स्थान मनकरण हुआ और लब्ध में एक मिलाना चाहिए। अतः दोसौ बत्तीस में आगेके शील संज्ञा के प्रमाण चार का भाग देने पर लक्ष अठारन आये और रोप शून्य रहा इसलिए लक्ष में एक नहीं मिलाना और संज्ञा का अन्त स्थान परिग्रह संज्ञा समझना चाहिए। उक्त अठारन संख्या में आगे के शील चन्द्रिय के प्रमाण पांच का भाग देने पर ग्यारह लब्ध आये और रोप तीन रहे। इसलिए चन्द्रिय का तीसरा स्थान प्राण समझना चाहिए। ग्यारह में एक मिलाकर ऊपर के शील जीवरशि के प्रमाण दश का भाग देने पर लक्ष एक आया, उसमें एक मिलाना चाहिए। शेष दो रहे इसलिए जीवरशि का दूसरा अपकाय स्थान समझना चाहिए। तथा दो में आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश का भाग नहीं जाता है। अतः मुनिधर्म का दूसरा स्थान मादक समझना चाहिए।

दो हजार संख्या वाला भंग मनो गुप्ति पालक मन करण का त्यागी परिग्रह संज्ञा रहित, प्राणश्चिद्रथ-विरक्त, अपकाय सयमी और मादक धर्म पालक हुआ है।

## उद्दिष्ट का विधान

सठाविद्श रूप उवरीदो सगुच्छित् सगमाखे ।

अवच्छिज्ज अशक्किदथ कुज्जा पवमति जावेव ॥ २५ ॥ ( मूला० शी )

अथ—रूप ( एक ) का स्थापन करके उसके ऊपर के शील का जितना प्रमाण है उससे गुणा करना चाहिए तथा उसमें जो अनंकित हो उनका परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करन स उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है।

भावाथ—शील के भङ्ग को स्थापन कर सख्या निकलाने को उद्दिष्ट कहते हैं। उसकी रीति निम्नोक्त प्रकार है।

जैसे—मनोगुप्ति पालक मनकरण का त्यागी धारोन्द्रिय विरक्त परिग्रह सञ्ज्ञा रहित अपृकायारम्भत्यागी और मानव धम का पालक यह शील का भंग कितनी संख्या कला है ? इस प्रकार किसी के प्रश्न करने पर प्रथम एक का अङ्क स्थापन करके ऊपर के शील मुनि धम क प्रमाण दश से उस एकको गुणा करना चाहिए। गुणफल दश हुए। उनमें से अनङ्कित आजव शेष सत्य संयम दि आठ धम हैं क्योंकि पुद्गेगये भंग में मादव धर्मका ग्रहण है अत शेष आजबानि धम आठ हैं उनको दशमें से घटाने से दो रहे। उनको ऊपर क शील जीवराशि के प्रमाण दश से गुणा करने पर बीस होते हैं। उनमें अनङ्कित तेज कायादि आठ हैं उनको बीस में से घटाने पर शेष बारह रहे। उनको आगे के शील स्पर्शानादि पाच इन्द्रियों के साथ गणा करने पर साठ होते हैं। उनमें से अनङ्कित चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय दो घटाने से अठारह रहे। उनको आगे के शील सञ्ज्ञा प्रमाण चार से गणा करने पर नौसौ बचीस होते हैं। सञ्ज्ञा में अनङ्कित कोई नहीं है क्योंकि प्रश्न में परिग्रह सञ्ज्ञा का ग्रहण किया गया है। अत दोसौ बचीस को आगे के शील करण प्रमाण तीन से गुणा करने पर बहसौ ज्ञानवे होते हैं। उनमें से अनङ्कित उचनकरण और कायकरण ( दो ) को घटाने से शेष बहसौ औरानवे रहे। उनको आगे के शील बोग गुप्ति प्रमाण तीन से गुणा करने पर दो हजार बियासी होते हैं। उनमें अनङ्कित वचन बोग और काययोग को घटाने से शेष दो हजार अस्सी प्रमाण रहता है। यह दो हजार अस्सी शील की संख्या उक्त प्रश्न का उत्तर है। इसी प्रकार सब भंगों से संख्या निकल लेना चाहिए।

इस प्रकार शील व भतों के भेदों को जान कर उनके पालन का पूरा प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मूलगुणों के पालन में भी पूरा सावधानी रखनी चाहिए। यह मुनि-माग बड़ा कठिन है। कहीं जरा भी चूका और गिरा। चाहे कोई कितना ही तपस्वी हो यदि वह मूलगुणों की बिराबनी करता है तो सबा साधु नहीं। मूलाचार में स्पष्ट लिखा है—

मूल छित्ता समथो जो गिएहादी य बाहिर जोग।

बाहिरजोगा मन्वे मूलविहृयस्स कि करिस्संति ॥

जो साधु अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों का विनाश करके मायोपवास वृक्षमूल आतपन बोग आदि उत्तरगुणों का आचरण करता है उसके वे दुःख कायक्लेशादि सब योग जिसकी जड कट गई ऐसे वृक्ष के पत्र पुष्पाणि के समान-निरर्थक हैं। अर्थात् जैसे वृक्ष की जड

कट जाने पर उसके पत्ते फूल आदि किसी काम के नहीं रहते सब सूख कर बेकार हो जाते हैं उसी प्रकार जिस सौधु के अहिंसा, सत्य आदि अठारह मूलगुण ही नहीं हैं उनमें भी अनाचार दोष आता है उसके दुधर तप आदि सब बाह्य योग बेकार हैं। मूलगुणों के बिना उनका कोई फल नहीं मिल सकता। इसलिए सयमी को अपने प्रत्येक कृत्य पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। आहारशुद्धि उपकरणशुद्धि शय्याशुद्धि वसतिशुद्धि आदि शुद्धियों में किसी की भी उपेक्षा करने पर साधु शूद्रस्थ से भी बुरा बन जाता है। इसलिए अपने सम्पूर्ण कृत्य को अच्छी तरह समझकर उसका यथोचित पाठन करना चाहिए।

यहाँ तक श्री आचार्य स्वर्णसागरजी महाराज विरचित  
सयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वाद्धि में द्वादशाब्द  
प्रज्ञा, अनगार भावना आदि अनेक  
विषयों का प्रकाश करने वाली  
चतुर्थ किश्त समाप्त  
हुई



श्री १ = दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वाब्द्ध-पचम किरण

(मुनिधर्म)

# सयम—प्रकाश

पूजादि—पंचम करण

वृहत्—समाधि—अधिकार

❀ मगनाचरण ❀

म मति प्रणिपत्याह समाधिमरणाश्रय—  
मंत्रिकारामम वक्ष्ये मातृश्रीप्राप्तिकारणम् ॥

स अध्याय म समाधिमरण का वस्तुतः एतत्कथा जायगा। समाधि का अर्थ है अपने आपमें लयलान होना। समाधि यान्त्रिक योग व सब पथावस्थाओं शब्द हैं। मृत्यु के समय शरीर कुटुम्ब धन गृहान्ति पर पत्नियों सहकर आत्मस्थ होना एवं नीरता और शांत के साथ मृत्यु का आलिगन करना समाधिमरण कहलाता है। समाधिमरण का प्राप्त होना मनुष्य ही बहुत दुर्लभ है।

तस आत्मा म अशुभ परिमाण का सतात बनी रहती है उसको समाधि की प्राप्त नस होसन्ती है? मणि समाधि प्राप्त करने का लिए ३३ प्रथम अशुभ भाव उत्पन्न करने वाले बाह्य नामन्ता को त्याग कर शुभ भाव या शुद्ध भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। जब तक मानसिक विकार आत्मा को मलान करते रहें तब तक समाधि (चित्त शान्ति) की आशा करना व्यर्थ है। तसल्लि चित्त में अशान्ति उत्पन्न करने वाले कारणों का त्याग कर शुभ या शुद्ध परिणामों की प्राप्ति करने वाले उपायों का आश्रय लेना उचित है। यदि एक बार भी सम्यक्त्व सहित समाधिप्रारण हो जावे तो वह आत्मा अदृश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद का अधिकारी होता है। ब्रह्मपभनाराचं सहनन आन्ति सखन साधन सयुक्त कोई नीरता समाधि मरण क प्रभाव से उसी भय में मोक्ष को प्राप्त होता है और कोई तो तान या सात आठ भय बाण मोक्ष की प्राप्ति करता है। मणि सत्रमियों को समाधि के अनुकूल साधना की ओर अग्रसर होते हुए सत् समाधिमरण के लिए तत्पर रहना चाहिए क्यन्ति मनु के आनका कोई निश्चित समय नहीं है।

### आयुर्वध का नियम

कमभूमि में जन्मा हुआ मनुष्य व तिर्यच परभव की आयु का वध सुव्यमान आयु के आठ अपकष काल में करता है। अर्थात् वतमान आयु के बराबर तीन हिस्सों में से दो हिस्से वीत जाने पर तीसरे भाग के पहले समय में लेकर अन्तमुद्घत्त तक पहला अपकष काल है। इस अपकष काल में परभव सम्बन्धी आयु का वध हो सकता है। यदि उस समय न हो तो फिर उस बच्चे हुए एक हिस्से के फिर तीन भाग करना चाहिए। उन तीन भागों में पहले के दो भाग वीत जाने पर तीसरे भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तमुद्घत्त तक दूसरा अपकष काल कहलाता है। इस काल में भी परभव सम्बन्धी आयु का वध हो सकता है। यदि उसमें भी नहीं हुआ तो इसी तरह तीसरा चौथा पाँचवाँ छठा सातवाँ और आठवाँ अपकष काल होता है इनमें से किसी में आयु का वध हो सकता है। यदि उनमें भी न हुआ तो आयु के अन्तिम अन्त मुद्घत्त में होगा। उदाहरणतया किसी कमभूमि के मनुष्य की सुव्यमान आयु छह हजार पाच सौ इकसठ वर्ष की है। इसके तीन भागों में से दो भाग ( तियालीस सौ चौदचर वर्ष ) वीत जाने पर जब शेष एक भाग ( इक्कीस सौ सत्स्यामी वर्ष ) रह जाता है तब उस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तमुद्घत्त तक का काल प्रथम अपकष काल कहलाता है। उस अपकष काल में परभव सम्बन्धी आयु का वध होता है। यदि इस काल में आयु का वध न हो तो उस एक तृतीय भाग ( इक्कीस सौ सत्स्यामी वर्ष ) में से दो भाग ( चौदह सौ अठारवन वर्ष ) वीत जाने पर जो शेष एक तृतीय भाग ( सात सौ उन्तीस वर्ष ) रहता है उसके प्रारम्भ के अन्तमुद्घत्त तक का काल दूसरा अपकष काल कहा जाता है। उस काल में परभव सम्बन्धी आयु का वध होता है। यदि उस काल में भी आयु का वध न हो तो उस अवशिष्ट एक तृतीय भाग ( सात सौ उन्तीस वर्ष ) में से दो भाग वीत जाने पर जो एक भाग ( दो सौ तियालीस वर्ष ) शेष रहता है उसके प्रथम समय से लेकर अन्त मुद्घत्त तक का काल अपकष काल कहलाता है। यह तीसरा अपकष काल हुआ। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का वध होता है। यदि उसमें भी आयु का वध न हो तो शेष भाग ( दो सौ तियालीस वर्ष ) के प्रथम अन्तमुद्घत्त में आयु का वध करने वाला चौथा अपकष काल है उसमें परभव सम्बन्धी आयु का वध होता है। यदि इसमें भी आयु का वध न हो तो पाँचवें छठे सातवें अथवा आठवें अपकष काल में आयु का वध होता है। यदि आठों में से किसी भी अपकष काल में आयु का वध न हुआ हो तो सुव्यमान आयु के अन्तिम अन्त मुद्घत्त ( आयु की अन्तिम आवृत्ती के असत्कालों में भाग प्रमाण काल से पूर्व के अन्तमुद्घत्त ) में आयु का अन्त्य वध होता है।

इस प्रकार कमभूमिज मनुष्य व तिर्यचों के परभव सम्बन्धी आयु के वध होने का नियम कहा गया है। किन्तु भोगभूमि में जन्मे हुए के लिए तथा देव नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु-वध क विषय में कुछ विशेषता है।—

भोग-भूमिज मनुष्य व तिर्यचों के परभव आयु का वध सुव्यमान आयु के अन्तिम नौ महिनो में होने वाले आठ अपकषों के काल में

होता है। अर्थात् उनकी आयु के जब नां महीने शेष रहते हैं तब पूव का भाति आठ अपकष होते हैं। नौ महिने में से दो भाग बीत जाने पर जब तृतीय भाग ( तीन महिने ) शेष रहता है तब उसके प्रथम समय से लेकर अन्तमुहूर्त्त पर्यन्त का प्रथम अपकष काल होता है। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। जब उसमें आयु का बन्ध नला होता है तब शेष एक तृतीय भाग ( तीन महिने ) में से दो भाग ( दो महिने ) बीत जाने पर अवशिष्ट तृतीय भाग ( एक मास ) रहजाने पर उसको प्रथम अन्तमुहूर्त्त का दूसरा अपकष काल होता है। उसमें आयु का बन्ध होता है। यदि उसमें भी आयु का बन्ध न हुआ तो तीसरे चौथे पाचवे छठे सातव या आठवें में आयु का बन्ध होता है। यदि नर्म भी न हुआ हो तो पूव की भाति मुख्यमान आयु के अन्तिम अन्तमुहूर्त्त में तो अवश्य ही होता है।

देव तथा नारकियों के परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध मुख्यमान आयु के अन्तिम छह महिने शेष रहने पर होता है। अर्थात् शेष छह महिनों में पूव की भाति आठ अपकषण होते हैं। उनमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। और यदि उन आठ अपकषों के काल में भी आयु का बन्ध न हो तो पूव की तरह आयु के शेष अन्तमुहूर्त्त में तो अवश्य ही आयु का बन्ध होता है। यहा यह भी याद रखना चाहिए कि यदि पहले के किसी अपकष काल में आयु का बन्ध हो गया हो तो उस के आग के अपकष कालों में बन्ध होता रहेगा। आयु पक्ष के इस उपयुक्त नियम से यह फलितार्थ निकलता है कि कोई भी यह नहीं कहसकता कि उसका परभव की आयुका रस क्या होगा ? इसलिये प्रत्येक समय मनुष्य को अपने भाव ठीक रखना चाहिये।

### समाधि युक्त मरण का स्वरूप

मरण के वेत्ताओं ने इसके अनेक भेद बतलाये हैं। मरण का सामान्य अर्थ पयाय का छोड़ना है। यह अर्थ सम्पूर्ण जीवों के साथ सम्बन्धित होता है। केवली भगवान हो या लक्ष्मण जीव हो सब प्राण शरीर को छोड़ते हैं इसलिए उन सबका मरण कहा जाता है। किन्तु केवली और लक्ष्मण के मरण में इतनी विशेषता है कि केवली पूव शरीर का त्याग कर पुन नूतन शरीर का ग्रहण नहीं करते हैं। अत उनका फिर मरण नहीं होता है। वे अजर अमर कहे जाते हैं। और लक्ष्मण जीव पहले के शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है और पुन मरण करता है। इसलिए मरण पुन पुन जन्म-मरण का निमित्त होता है। ससार में जितने भी दुःख हैं, उनमें सब से अधिक दुःख मरण का है। अनेक रोगों से पीडित व मयानक उःसर्गों से यथिव झोटे से झोटा जन्तु भी मरण के नाम से कौपता है मरण के दुःख से घबरता है। इसलिए इस महान दुःख से उद्धार पाने का एक मात्र उपाय समाधिमरण ही है। यही स दुःख को समूल नाश करने वाली परमौषधि है।

जिन महापुरुषों ने अपने जीवन में विषय वामनाआम सुख मोहा है कषाय मो मन् करने का अभ्यास किया है तथा उन का शुभ रूप परिणामन किया है—वे महात्मा महावन का पूणतया पालन कर अन्त में कषाय पर विजय करते हैं। उसका नित्य फल समाधि मरण उनको ही मिलता है। ऐसा जिनेने भगवान ने कहा है। यहाँ प्रमगानुमार मरण के भना का वरण करते हैं। मरण के भगवती आराधना में १७ भन् वतलाय हैं —

### मरण का भेद

मरणाणि मत्तरम दमिदाखितित्थकरहिं निखवयण ।

तथ वि पच इह मगहेण मरणाणि वाच्छामि ॥ २५ ॥ ( भग आ )

अ २—उपलब्ध दुर्ह पयाय के नाश को मरण कहते हैं। अमात् देव नारक तियच आर मनुष्य पयाय का वम होना भी मरण शब्द का अर्थ है। अथवा प्राणों के याग करने को मरण कहते हैं। क्योंकि सन् धातु का अर्थ प्राण याग करना है। प्राण धारण करने रहने को चापन आर प्राण याग को मरण कहते हैं। प्राण दो प्रकार के हैं—भावप्राण और त्वयप्राण। ज्ञान ज्ञान चाग्नि भावप्राण हैं। यह सिद्धों के भी पाया जाता है इसलिए सको अपेक्षा म यन् मरण नहीं लिया गया है। त्वयप्राण ( नित्य जल आयु और उच्छ्वास ) के विनाश को मरण कहा है। आयु के उ य होने पर जीव जीता है और भुयमान आयु का विनाश होने पर मरता है।

यह मरण १७ प्रकार का है—( १ ) आजीविक मरण ( २ ) तद्वय मरण ( ३ ) अवधि मरण ( ४ ) आगतमरण ( ५ ) जालमरण ( ६ ) षडितमरण ( ७ ) असन्नमरण ( ८ ) जालपङ्क्तिमरण ( ९ ) सशयमरण ( १० ) पलायमरण ( ११ ) वशात्तमरण ( आतवशमरण ) ( १२ ) विप्राणमरण ( १३ ) गद्यप्रपुमरण ( १४ ) भक्तप्रत्यारयान मरण ( १५ ) प्रायोपगमन मरण ( १६ ) गिनी मरण ( १७ ) कबालमरण ।

इन सत्रह प्रकार के मरणों में स पाँच प्रकार के मरण ही विषय उद्भवनीय हैं। अत आगम में उन्हीं का विषय वरण है। शेष त्रारह प्रकार के मरणों का वरणना गाण रूप से है।

यहां इन सत्रह प्रकार के मरणों का सत्त्वो स स्वरूप निगताते ।

### आजीविकमरण

( १ ) आजीविकमरण—जीवके प्रतिक्षण होन वात्त मरण को आजीविक मरण कहते हैं। आजीविक का अर्थ है तरंग लहर। जिस

तरह लहर एक दूसरे को बचा आती है और (प्रतिस्पर्धा) उनका परस्पर समाप्त नहीं होती। मी तरह यह जीव भी प्रतिक्षण मरता रहता है। प्रतिस्पर्धा आयुक्रम का अनपेक्षित अन्त्य में आकर भडना रहता है कभा यह प्रक्रिया समाप्त नहीं होती। इस आबीचिमरण का समूह ही महामरण है। मरने वालों की अपेक्षा यह आबीचिमरण अनानि सात है। क्योंकि भय जीव को जब मौल प्राप्त हो जाता है, तब यह मरण नष्ट होता है। मलि मको मान् कहते हैं। मोन व होने के पय अनानि काल से भयजीव के प्रतिस्पर्धा यह मरण होता रहता है मलिये सको अनानि भी कहते हैं। अत य मरण नय की अपेक्षा स अनानि सात होता है। अभयो की अपेक्षा तो यह आबीचिमरण अनानि अनन्त है। क्योंकि उनकय मरण अनानि म है और सता रहेगा मलिय अनानि अनन्त है। भव की अपेक्षा मे अधया क्षेत्र की अपेक्षा स यह (आबीचिमरण) मान् कटा जाता है।

### ( १ ) आबीचिमरण क भेद

आबीचिमरण प्रकृति प्रिति अनुभाग और प्रश्न की अपेक्षा स चर प्रसार का होता है।

( १ ) प्रकृति आबीचिमरण—एक आमा के एक भव में एक ही आयुक्रम की प्रकृति का अन्त्य आता है। मलिय एक आयु की प्रकृति क क्षय होने स आमा का मरण होता है। मको प्रकृति आबीचिमरण कहते हैं।

( २ ) स्थिति आबीचिमरण—आमा क उपायरूप परिमाणों से व ध को प्राप्त हुए आयु के पुद्गलों म स्निग्धता उपाय होती है मलिय वे पुद्गल आमा क प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होने त है। म्नि यता के उपायन कारण तो पुद्गल कम ही हैं किन्तु आमा के कषायभाव म पुद्गल कम म स्निग्धता प्रकट होता है अत रूपय भाग स्निग्धता के निमित्त कारण होते हैं। जितने समय तक पुद्गल कम आमा के साथ सम्बद्ध रहते हैं उसको स्थिति कहते हैं। यह आयुनामक पुद्गल कम की स्थिति एक स लेकर बढती हुई देशों तेतीस सागर के जितने समय होते हैं उतन भन्वाली होती है। उच्छृथित तेतीस सागर की और जग्य अन्तमुहत्त परिमाण वाली होती है। इन आयुक्रम की प्रितियों की तरों के समान क्रम रचना है। उनका क्रम क्षय होने के कारण आमा के मरण को स्थिति आबीचिमरण कहते हैं।

( ३ ) अनुभव आबीचिमरण—कमपुद्गलों का जो रस (फल) अनुभव गोचर होता है उसको अनुभव कहते हैं। यह अनुभव पुद्गल कमों में पडगुणी हानि उद्धि रूप मनुष्य की तरगों के क्रम से प्रित रहता है उसक क्षय होने को अनुभव आबीचिमरण कहते हैं।

( ४ ) प्रदेश-आबीचिमरण—अयुक्रम के पुद्गल प्रदेश जघन्य निपेक से लेकर एक से तीन आनि बुद्धि क्रमेण तरग के समान प्रित हैं उनके विनाश होने को प्रदेश आबीचिमरण कहते हैं। स प्रसार आबीचिमरण नाम प्रथम भेद का वरण किया।

## ( २ ) तद्भवमरण

तद्भवमरण—सुख्यमान आयु का अन्तिम समय में नारा होने को तद्भवमरण कहते हैं। अर्थात् वत्तमान पर्याय का नारा होकर उत्तर पर्याय की प्राप्ति को तद्भवमरण कहते हैं। यह मरण इस जीव ने अनन्त बार किया है और जब तक रत्नत्रय की आराधना कर सिद्ध अवस्था प्राप्त न कर लेगा तब तक यह मरण होता रहेगा।

## ( २ ) अवधि मरण

अवधिमरण—का वत्तमान पर्याय के समान ही भविष्य पर्याय में भी मरण का होना अवधिमरण है। इस अवधिमरण के दो भेद हैं—सर्वावधिमरण और देशावधिमरण।

( १ ) सर्वावधिमरण—जैसा आयुःम प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रवेशा स वर्त्तमान काल में उदय आरहा है वैसा ही प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशवाला आयुःकम फिर बध को प्राप्त होकर उदय में आवे उसको सर्वावधि मरण कहते हैं।

( २ ) देशावधिमरण—जैसा आयुःकम वर्त्तमान काल में उदय को प्राप्त हो रहा है उसकी कुछ सदृशता को लिए हुए आयुःकम फिर बध को प्राप्त होकर उदय में आवे उस देशावधिमरण कहते हैं।

इसका आशय यह है कि वत्तमान आयु का कुछ अंश अथवा सर्वांश में सादृश्य जिसमें पाया जाता है उस अवधि (मर्यादा) से युक्त मरण को अवधिमरण कहते हैं। वत्तमान आयु का सम्पूर्ण सादृश्य जिस भावो आयु में पाया जाता है उस मर्यादित मरण को सर्वावधि मरण और जिस भावो आयु में वत्तमान आयु का एक अंश सादृश्य रहता हो उस मर्यादित मरण को देशावधि मरण कहते हैं।

## ( ४ ) आद्य त मरण

आद्यत मरण—वत्तमान काल के मरण का सादृश्य जिस भावो मरण में नही पाया जाता है उसको आद्यत मरण कहते हैं। यहा पर आदि शब्द से प्रथम मरण लेना चाहिए। उसका अन्त ( नारा-अभाव ) जिस मरण में पाया जाता है अर्थात् जो सर्वथा विसदृश मरण होता है उसको आद्यत मरण कहते हैं।

## ( ५ ) बाल मरण

बालमरण—बाल नाम अज्ञानी जीव का है। अज्ञानी जीव का जो मरण होता है उसे बाल मरण कहते हैं। बाल (अज्ञानी) जीव पाच प्रकार के होते हैं—(१) अयुक्तबाल (२) व्यवहारबाल (३) ज्ञानबाल, (४) दर्शनबाल (५) चारित्रबाल।

१ अयुक्तबाल—बड़ा अव्यक्त शब्द का अर्थ छोटा बच्चा है। जो बाल अर्थ काम पुरुषार्थ सम्बन्धी कर्मों को न समझता है और न उनका आचरण करने की शारीरिक शक्ति रखता है उसको अव्यक्त बाल कहते हैं।

२ व्यवहार बाल—जिसको लौकिक-व्यवहार तथा शास्त्रीय ज्ञान नहीं है अथवा जो बालक है उसको व्यवहार बाल कहते हैं।

३ दर्शन बाल—जो तत्त्वार्थ के अज्ञान से रहित मिथ्याज्ञि है उसे दर्शन बाल कहते हैं।

४ ज्ञान बाल—जिसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं है उमको ज्ञान बाल कहते हैं।

५ चारित्र बाल—जो चारित्र क आचरण से रहित है उसे चारित्र बाल कहते हैं।

इन पाच प्रकार के मरण को बाल मरण कहते हैं। ऐसा बाल मरण इस जीव ने भूतकाल में अनन्तबार किया है, और अनन्त जीव इस मरण को करते रहते हैं।

यहाँ प्रकरण म न्शन बाल का ही ग्रहण है। अन्य बालों का यहाँ ग्रहण करना आवश्यक नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित अथवा चार प्रकार के बाल न्शन पंडित कहे जाते हैं। अतः उनका मरण सम्यग्दर्शन सहित होने से उस मरण को पण्डितमरण माना है। अर्थात् सम्यग्दर्शन युक्त मरण सद्गति का कारण होता है और सम्यग्दर्शन रहित मरण दुर्गति के दुःखों का जनक होता है।

न्शन बाल मरण के संक्षेप से दो भेद हैं— १ इच्छाप्रवृत्तमरण और २ अनिच्छा प्रवृत्तमरण।

१ इच्छाप्रवृत्तमरण—जो प्राणी अग्नि में जलकर धूर्ण से श्वास का निरोधकर विषभक्षण कर जल में डूब कर, पवन से गिरकर गले में फासी लगाकर अथवा शस्त्राघात से अत्यन्त शीत व उष्ण के पकने से भूख से प्यास से जिह्वा के छेदन—उत्पाटन (बलाहने) से प्रकृति विरुद्ध आहार करने से इत्यादि कारणों से न्च्छा पूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उस मरण को इच्छाप्रवृत्त बालमरण कहते हैं।

२ अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण— जाने की इच्छा रखते हुए मिथ्यादृष्टि का जो काल में या अकाल म मरण होता है उसको अनिच्छाप्रवृत्तबालमरण कहते हैं। जो दुर्गति में गमन करने वाले हैं इसलिए जो विषयों में आसक्त रहते हैं जिनका अन्त करण अज्ञान अज्ञान म आलस्य है जो ऐश्वर्य के मत् से उत्पन्न हैं उनके मत् बालमरण होता है। इस मरण से जीव तीव्र पाप का उपार्जन कर दुर्गति में दुःखों का अनुभव करते हैं और जन्म जरा मरण के क्लेशों को बहुत काल तक सहते हैं।

### परिणत मरण—

परिणत मरण के चार भेद हैं— १ यवहारपरिणत मर्म्यक्त्वपाण्डित ३ ज्ञान परिणत और ४ चारित्र परिणत।

१ यवहार परिणत—जो केवल लोक यवहार बलज्ञान तथा शास्त्रज्ञान म सिंगात होता है उसको यवहार परिणत कहते हैं। अर्थात्—

जो अनेक लौकिक शास्त्रों में निपुण हो तथा शुश्रूषा अथवा मनन चारणात् बुद्धि क गुणों म न्न हो उसको यवहार परिणत कहते हैं।

२ दशन परिणत—जिसको तार्किक सांयोगशक्त अथवा आपशक्तिक मर्म्यक्त्व प्राप्त हो गया है उसको दशन परिणत कहते हैं। ३ ज्ञान परिणत—मतिज्ञानादि पाच प्रकार क स य ज्ञानों म से यथासम्भव फूसी ज्ञान म युक्त जीव को ज्ञान परिणत कहते हैं।

४ चारित्र परिणत—मासाधिक त्रेदोपर्यापना परिहारप्रशुद्धि म्मसाम्पराय और यथायथा न पाच चारित्रों में से किसी भी चारित्र म प्रवृत्ति करने वाले मयमी को चारित्र परिणत कहते हैं। इन चार प्रकार के परिणतों म से यहा ज्ञान परिणत दशन परिणत और चारित्र परिणत स ही प्रदश करना चाहिए। क्योंकि यवहार पाण्डित मि यान्द्रि होता है। इसलिए उसका मरण बालमरण माना गया है। केवल मर्म्यक्त्व का मरण ही परिणत मरण कहा गया है।

नरक म भवनवासी देवों के स्थानों में तथा स्वर्गवासी और ज्योतिषी त्रेदों के निवासों में अन्तर देवों के निवास स्थानों में एव द्वीप व समुद्रों म दशन परिणत मरण होता है तथा ज्ञानपरिणत मरण उपयुक्त स्थानों में तथा मनुष्य लोक में होता है, किन्तु मन-पययज्ञानी तथा केवल ज्ञानों का ज्ञान परिणत मरण मनुष्य लोक में ही होता है। चारित्रपरिणत मरण भी मनुष्य लोक में ही होता है।

## ( ७ ) अवसन्न मरण

मौलमाग ( रत्नत्रय ) का पालन करनेवाले सयामियों के सच का परियाग करनेवाले संघभ्रष्ट माधु को अवसन्न कहते हैं । उसका जा मरण है वह अवसन्न मरण कहलाता है ।

यहां पर अवसन्न शब्द का प्रहण करने से पारशर्य स्वच्छन्द कुशाल और ससक्त इन चार प्रकार के भ्रष्ट साधुओं का भा महण होता है ।

“पामत्थो मच्छदा कुमील मथत्त हाति ओसएणा ।

ज सिद्धिपन्धिदादा आहीखा माहु मत्थादा ’ ॥ १ ॥ ( भग टीका गाथा २५ )

शब्द—पारशर्य स्वच्छन्द कुशाल समक्त और अवसन्न ये पांच प्रकार के भ्रष्ट ( पतित ) साधु हैं । ये रत्नत्रय से हीन हैं और साधुओं के मध्य में बहिष्कृत होते हैं ।

ये साधु वनादि पेश्वय में प्रेम रखते हैं । रम ( राजा का लम्पटना ) में आसक्त होते हैं । सदा मुखों की अभिलाषा रखते एवं दुख से डरते हैं । लाभादि कषाय के वशीभूत होते हैं । उनके आहारानि में तीव्र सखा होती है । वे पाप जनक मात्रतन्त्रादि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं । तेरह प्रकार की क्रियाओं के आचरण में प्रमाद्वि होते हैं । गृहस्थ की वयवृत्त ( सेवा ) करते हैं । मूलगुणों से हीन होते हैं । समिति और गुणित क पालन करने का उद्योग नहीं करते अतः उनका समिति व गुणित नहीं हाती है । परम्य भावना व ससार से भीरता भी नहीं होती है । वे उत्तम क्षमादि ऋणधर्म में बुद्धि नहीं लगाते । उनका चारित्र सर्वोप होता है । इस प्रकार के माधु को अवसन्न कहते हैं ।

ऐसे साधु सहस्रों भवा में भ्रमण करते रहते हैं । बारबार दुःखा को भोगते हैं ।

## ( ८ ) बाल परिणत मरण

सम्पन्नान का धारक सयतासयत ( अणुव्रत ) आश्रम को बालपरिणत कहते हैं । उनके मरण को बालपरिणतमरण कहा है । क्योंकि आश्रम बाल आर परिणत इन दोनों धर्मों से युक्त होता है । बाल तो इसलिए कहा जाता है कि इसके केवल एक देण से ही हिसादि पापों का त्याग होता है । सम्पूर्ण रूप से हिमादि का त्याग नहीं होता है । अतः चारित्र की अपेक्षा तो बाल है और परिणत इसलिए है कि उसके सम्पन्नान का सद्भाव है । अतएव इसको बाल परिणत कहते हैं । यह बालपरिणतमरण गभज पर्याप्त विषय व मनुष्यों के होता है । वेद तथा

कारियों के नहीं होता क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन तो होता है लेकिन देशसंयम नहीं होता। इसलिए उनके दर्शन पखिलत मरण हो सकता है।

( ६ ) सशान्यमरण

शाल्य नौ प्रकार का है—१ द्रव्यशाल्य और २ भावशाल्य। मिथ्यादर्शन माया और निदान रूप भावों को भावशाल्य कहते हैं और इन भावों की उत्पत्ति के कारण द्रव्यरूप को द्रव्यशाल्य कहते हैं। इस प्रकार शाल्य के दो भेद होते हैं अतः शाल्य मरण के भी दो भेद हैं। द्रव्यशाल्यसहित मरण और भावशाल्यसहित मरण। पृथ्वी जल अग्नि वायु और बनस्पतिक्रय इन पांच स्थावर जीवों के मरण को तथा त्रीन्द्रियानि असंज्ञो पर्यंत त्रस जीवों के मरण को द्रव्यशाल्यसहित मरण कहते हैं। संज्ञी पचेन्निय जाव के ही भावशाल्य सहित मरण होता है।

राजा—क्या असंज्ञी पयन्त ( संज्ञी को छोड़कर शेष ) सब जीवों के भाव शाल्य ( माया मिथ्यात्व और निदान ) नहीं होता है ?

समाधान—माया मिथ्यात्व और निदान ये तीन सम्यक्त्व के अतीचार माने गये हैं। सम्यक्त्व संज्ञी के अतिरिक्त स्थावरादि असंज्ञीपयन्त जीवों के नहीं होता है। यह कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा है।

जल—कपट करके सन्माग को क्षिपाना व असन्माग को सन्माग प्रकट करने के लिए दंभ करना मायाशाल्य है।

मोक्ष मार्ग को दूषण लगाना या उसका विनाश करना सन्माग का निरूपण न कर उन्माग ( विपरीतमार्ग ) की प्ररूपणा करना मोक्षमार्ग पर स्थित जीवों को सन्माग स चिगाना यह सब मिथ्यादर्शन शाल्य है।

आगामी काल में मुझे अमुक् भोगादि सामग्री प्राप्त हो इस प्रकार मन में चिन्तन करने को निदानशाल्य कहते हैं। यह निदान तीन प्रकार का है १ प्रशस्तनिदान २ अप्रशस्तनिदान और ३ भोगनिदान।

१ प्रशस्त निदान—पूण सयम का पालन करने के लिए दूसरे जन्म में पुत्रपुत्र आवि होने की वाढ़ा करना प्रशस्त निदान है।

२ अप्रशस्तनिदान—मान कथाय के बरा होकर आगामी भव में उत्तम कुल सुन्दर रूपादि की आकांक्षा करना अप्रशस्त निदान है।

३ इस व्रत सयम व शील के पालन करने से मुझे इस भव में अमुक् भोग सामग्री प्राप्त हो, इस प्रकार की अभिलाषा करने को भोग निदान कहते हैं।

असयतसम्यग्दृष्टि के तथा सयतासयत ( अयुजती आवाक ) के निदानशाल्य मरण होता है। पापवस्त्रादि भ्रष्ट साधु चिरकाल विहार करके बिना आलोचन किये ही उसी अवस्था में जो मरण करता है उसके माया शाल्य मरण होता है। यह मरण संघर्षी, अयुजती आवाक तथा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है।

### ( १० ) बलाय ( पलाय ) मरण

बिनाय वैशद्युक्त तथा देवबन्धनादि नित्य नैमित्तिक क्रिया करने में आलस्य ( प्रमाद ) करने वाला इनमें आदर भाव न रखने वाला जतों के आचरण करने में प्रमादी समिति और गुप्ति के पालन करने में अपनी शक्ति को छिपाने वाला धर्म के स्वरूप का विचार करते समय निद्रा बरा हो जाने वाला ध्यान नमस्कराव कर्मों से दूर भगने वाले अर्थान् उसमें उपयोग न देने वाले का जो मरण है उसे बलाय ( पलाय ) मरण कहते हैं। सम्यक्प्रपठित ज्ञानपढित और चारित्र्यपढित के यह बलाय मरण भी संभव हो सकता है।

जो पहले स्थाय मरण और अवसन्न मरण कह आये हैं वे दोनों प्रकार के मरण करने वालों के नियम से बलाय मरण है। त । नक अतिरिक्त जीवों का भी बलाय मरण होता है। क्योंकि जो जीव नि शाल्य ( शल्यरहित ) है और सवेगभाव से युक्त है किन्तु सस्तर (शय्या) पर पड़े हुए अर्थान् नरण्योन्मुख हुए उसके शुभ भावों का पलायन हो रहा है उसके शुभ भाव नहीं ठहरते हैं। अत सराल्य और अवसन्न मरण करन वालों से भिन्न जीवों के भी बलाय ( पलाय ) मरण होता है।

### ( ११ ) वशात् मरण ( आर्त्तवश मरण )

आप्तध्यान व रौद्रध्यान में प्रवृत्त हुए जीव के वशात्मरण होता है। इसके चार भेद होते हैं—१ इन्द्रियवशात् मरण २ वेत्नावशात्-मरण ३ कषाय-वशात्-मरण ४ नोकषायवशात्-मरण।

१ इन्द्रियवशात्-मरण—स्वरा रस गन्धादि पाच इन्द्रिय विषयों के भेद से इस मरण के भी पाच भेद हो जाते हैं। स्वरा-नेन्द्रिय वशात्-मरण रसनेन्द्रिय-वशात्-मरण आदि।

तत विवत घन और सुषिर ( मृग बोखादि ) वाद्य जनित मनोह शब्दों में राग और अमनोह (अभिय) शब्दों में द्वेषयुक्त होकर मरण करने को श्रोत्रेन्द्रिय वशात्-मरण कहते हैं। स्वाद्य स्वाद्य लेख व पेय ऐसे चार प्रकार के आहार में यदि वह दृष्ट हो तो उसमें आसक्ति सहित और यदि वह अनिष्ट हो तो द्वेष सहित होकर मरण करने को रसनेन्द्रिय-वशात्-मरण कहते हैं। बन्धन पुष्पादि पदार्थों के

लुभाव गव में प्रेम और अरुचिकर असुहावने में द्वेष युक्त होकर मरण करने को प्राणोन्मिष वशात्तमरण कहते हैं। तथा सुन्दर रूप व आकार में रागभाव और असुन्दर रूप व आकार में द्वेषभाव युक्त होकर मरण करने को नेत्रेन्मिष वशात्तमरण और स्पर्शवाले पदार्थों के सुन्दर सुहावने स्पर्श में प्रीति और असुहावने स्पर्श में अप्रीति करने को स्पर्शोन्मिष वशात्तमरण कहते हैं। सी तरह मन के लिए भी समझना चाहिए। इन सबको त्रिधानिन्द्रियवशात्त मरण के नाम से कहते हैं।

वेनावशात्त मरण—इस मरण के दो भेद हैं—मातवेनावशात्त मरण और असातवेदनावशात्त मरण।

जो जीव शरीर और मन सम्बन्धी सुख में उपयोग महित करता है उसके सातवेदनावशात्त मरण होता है और जो शारीरिक तथा मानसिक दुःख में उपयोग रखते हुए मरता है उनके असातवशात्त मरण होता है।

इ कषायवशात्त मरण—कषाय के चार भेद हैं अतः कषाय की अपेक्षा इस मरण का भी चार भेद होते हैं। अपने ऊपर दूसरे पर अथवा स्व पर शत्रुओं पर उत्पन्न हुए क्रोध से जो मरण करता है उसे क्रोध वशात्त मरण कहते हैं। मानवशात्त मरण के आठ भेद होते हैं कुल रूप बल शास्त्रज्ञान प्रभुत्व लाभ प्रज्ञा और तपस्या से अपने को उत्कृष्ट समझते हुए प्राणी का अभिमानवशात्त मरण होता है तमोगुणवशात्त मरण कहते हैं। उक्त आठ भेदों से युक्त मरण का प्रयत्न कहते हैं।

म जगत् प्राप्तः। शाल व उच्चकुल म उन्नत हुआ है। ऐम मानने हुए प्राणों का जो मरण होता है वह कुलमानवशात्त मरण है। मर पाचों अन्या सुन्दर हैं तथा सम्पूर्ण शरीर के अययव सुदृढ और मनोमूढ़ हैं मै तपस्वी हैं नवयुवक हैं मेरी रूप सम्पूर्ण मनुष्यों व मन को मोहन वाला है। स प्रकार के भाव रखते हुए जीव का जो मरण होता है उसे रूपमानवशात्तमरण कहते हैं। मैं बृहत् पवतामि का उल्लास फलन म समग्र हैं मैं युद्ध शूर हैं तथा मेरे पास मित्रों का बल है इस प्रकार बल का आभमान करते हुए जीव का जो मरण होता है उस बलमानवशात्त मरण कहते हैं। मेरा परिवार बलन है मेरी आज्ञा को सब मानते हैं इस प्रकार अपनी प्रभुता ( ऐश्वर्य ) में उन्मत्त पुरुष का जो मरण होता है उसको प्रभुता ( ऐश्वर्य ) मानवशात्त मरण कहते हैं। मैं लौकिकशास्त्र व्यवहार वेद सिद्धांतशास्त्राणि का ज्ञाता हूँ। स प्रकार शास्त्र ज्ञान के अभिमानों के मरण को शास्त्रज्ञानाभिमानवशात्त मरण कहते हैं। मेरी अतिनिमल व तीक्ष्ण बुद्धि सब शास्त्रों में प्रवेश करती है। मर तत्तज्ञान के आगे दूसरों की तक बुद्धि नहीं चलती है—इत्यादि प्रकार से अपनी बुद्धि के अभिमानों के मरण को प्रज्ञामानवशात्त मरण कहते हैं। मैं जिस यापार में हाथ डालता हूँ सबमें मुझ लाभ हो लाभ होता है ऐसे लाभ सम्बन्ध मान का चिन्तन करते हुए मनुष्य के मरण को लाभमनवशात्त मरण कहते हैं। मैं दुधर तपश्चर करने वाला हूँ तपस्या में मेरे समान अन्य कोई नहीं है इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव का जो मरण होता है वह तपमानवशात्त मरण कहलाता है।

माया के हैं—१ निकृति—पथि ३ सातिप्रयोग ४ प्रणिधि और ५ प्रतिकुंचन। १ घन की तथा अन्य किसी विषय की अभिलाषा करने वाले २ दुःख द्वारा जाल फसाने को निकृति नाम की माया कहते हैं। २ अपने असली भाव को छिपाकर धम के बहाने में बोरी आदि दुष्कृत्य में प्रवृत्ति करने को उपाध नामक माया कहते हैं ३ उन के विषय में झूठा भगड़ा करना किसी की घरीहर रखी हो उसको कम लेना या सब का सब इच्छम कर जाना किसी को झूठा दूषण लगाना या झूठी प्रशंसा के पुल बाधना ४ सातिप्रयोगमाया है। ४ कम मूल्य का महारा वस्तु को बहुमूल्यवाली वस्तु में मिलाना हीनाधिक नाप ब तोल के उपकरण रखना असली में नकली चीज की मिलावट करना अथवा असली कहकर नकली चीज लेना यह प्रणिधि नाम की माया है। गुरु के सम्मुख आलोचना करते हुए लोगों को भते प्रक्षर प्रकट करन उनको छिपाना यह प्रतिकुंचन नाम की माया है।

लोभवशात्तमरण—राज्जी पुस्तक कमडनु आदि ११करणों में भोजन पान में क्षेत्र में शरीर में और निवासस्थान में उन्ना या मून्ना (ममत्व) रखने वाले का जो मरण होता है उसको लोभवशात्त मरण कहते हैं।

नो कषायव त्तमरण—हाम्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुरुष वेद तथा नपुंसक वेद से आक्रांत मनुष्य का जो मरण होता है उस नाशवायवशात्त मरण कहते हैं

नोकषायक वशात्तमरण करनेवाला जीव मनुष्य और तियब योनि में उत्पन्न होता है। असुरजाति के देवों में (कदप और किल्बिषिक नोचदेवों में) जन्म लेता है। मिश्रादृष्टि के यहो बालमरण होता है। नशनपण्डित अचिरतसम्पन्दिष्टि तथा संयतासयत (अनुव्रती आशक) भी नशात्तमरण करते हैं उनका यह मरण जालपण्डिमरण या नशनपण्डित मरण सम्भन्ता चाहिए।

### ( १२ ) विष्पाणम ( विप्राण ) मरण

विष्पाणम ( विप्राण ) मरण और गद्यपृष्ठमरण इन दोनों मरणों की शास्त्रों में न तो अनुज्ञा ( अनुमति ) मिलती है और न निषेध ही मिलता है।

जिस समय दुष्काल ( दुर्भिक्ष ) पडा हो जिसको पार करना कठिन है ऐसे भयानक वीहङ्क जंगल में पहुँच गये हों पूर्वकाल के प्राणपत्तक राज्ञ से भय उपरिगत हुआ हो दुष्ट राजा से भय प्राप्त हुआ हो या चौर का भय उपस्थित होगया हो अथवा सिंहादि प्राण सहायक तियबकृत्य उपसग उपस्थित होगया हो और इनके द्वारा उत्पन्न हुए क्लेशों को सहन का सामध्य न हो अथवा ब्रह्मचय व्रत के नाश अथवा अन्य चारित्र के घात के पृष्ठ कारण प्राप्त हो गये हों ऐसे समय में ससार से संविग्न पाप से भयभीत संयमी कम के

तीव्र उदय को उपस्थित हुआ जान कर जब वह उससे बचने का उपाय नहीं देखता है और उन क्लेशादि को सहन करने की क्षमता अपने में नहीं पाता है पापमय कोई प्रतिक्रिया नहीं करना चाहता है तथा आत्मा के जलक मरण से डरता है तब वह उपयुक्त कारणों के उपस्थित होने पर क्या मेरा कुशल होगा ? ऐसा विचार करता है—यदि मैं उपसर्ग भय से जास को प्राप्त होकर संयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा तथा उपसर्ग वेदना को सहन न कर सकने से सम्यग्दर्शन से भी पतित हो जाऊँगा तो मेरा आराधन किया हुआ रत्नत्रय हाथ से निकल जावेगा। जब उसको चारित्र्य व सम्यग्दर्शन के विनाश की संभावना का दृढ़ निश्चय हो जाता है तब वह मायाचार रहित हुआ व्रतन व चारित्र्य में बिशुद्धि प्राप्त कर धैर्य का अवलम्बन करता है ज्ञान का आश्रय लेता है निगूढ रहित हुआ अहन्त भगवान् की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना करके आत्मशुद्धि करता है शुभलेख्या स अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है—उस मरण को विष्ण्वास ( विप्राण ) मरण कहते हैं।

### ( १३ ) गृध्रपृष्ठ मरण

ऊपर लिखे हुए कारणों के उपरिगत होने पर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राणों का विसर्जन करता है उसे गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं।

### ( १४ ) भक्तप्रत्याख्यान, ( १५ ) इगिनी और ( १६ ) प्रायोपगमनमरण

भक्तप्रत्याख्यान मरण ( १५ ) गिनीमरण और ( १६ ) प्रायोपगमनमरण ये तीन उत्तम मरण हैं। ये महात्माओं के ही सम्भव है। इनका स्वरूप आगे कहेंगे।

### केवलीमरण

केवलीमरण—ज्ञानावरगान् द्विक्रम और रागादि भावकम का विनाश पूर्वक जो सदा के लिए औदारिकद्विरीतों के सम्बन्ध का त्यागकर अन्ततत्तुष्टय की प्राप्ति कर नित्यनिरजन अक्षय अनन्त शिव पद को प्राप्त करते हैं उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को केवली मरण कहते हैं।

स प्रकार सत्त्व से सत्रह प्रकार के मरणों का विवेचन किया। उन सत्रह मरणों को भी संक्षिप्त करने से पांच मरण होते हैं। पांच मरणों के विवेचन करने की शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी अतः उनका निरूपण करते हैं।

### पंडितपंडितादि पंच मरण का विशेष वर्णन

श्री शिवकौटि आचार्य भगवती आराधना में उक्त पांच मरणों का बखान करते हुए लिखते हैं—

पण्डितपण्डितमरणं पण्डितय बालपण्डित वेव ।

बालमरणं चउत्थ पचमय बालबाल व ॥ २६ ॥ ( भग आ )

अथ—१ पण्डितपण्डितमरण २ पण्डितमरण ३ बालपण्डित मरण ४ बालमरण और ५ बालबालमरण ये पांच मरण हैं ।

शंका—यहां पर आपने मरणों के पांच भेद ही कहे हैं । वे किस अपेक्षा से कहे गये हैं । यदि भव ( मनुष्यादि ) पर्याय के विनाश होने को मरण माना जाय तो पर्याये अनेक हैं तो मरण भी अनेक हुए ।

यदि प्राणियों के प्राणों का जो वियोग होता है उसे मरण मानें तो भी मरण के पांच भेद सिद्ध नहीं हो सकते । क्योंकि सामान्य रूप से प्राण वियोग की अपेक्षा से तो एक भेद ही होता है और विरोध की अपेक्षा लीजावे तो प्राण दश हैं उनके वियोग रूप मरण के भी दश भेद सिद्ध होते हैं ।

यदि उन्मत्त में आये हुए कर्मों के खिरने को मरण कहा जावे तो कम प्रत्येक समय में खिरते हैं उनको पांच तरह के कैसे कहते हैं ?

सामाधान—गुण भेद की अपेक्षा स जीवों को भी पांच प्रकार क मानकर तत्सम्बन्धी मरण के भी पांच भेद कहे गये हैं ।

उक्त पांच प्रकार के मरणों को कई आचार्यों ने यथाक्रम से प्रशस्ततम प्रशस्ततर ईषत्वशास्त्र अविशिष्ट और अविशिष्टतर इन नामों से भी कहा है ।

\* ( १ ) पण्डितपण्डितमरण—जिनका ज्ञान दर्शन चरित्र और तप में अतिशय सहित पाण्डित्य है अर्थात् जो केवल ज्ञान के धारक हैं चायिक सम्यग्दृष्टि व यथाख्यात चरित्र और उत्कृष्ट तपश्चरण के आराधक हैं उन केवली भगवान् के शरीर त्याग करने को पण्डित पण्डितमरण कहते हैं ।

( ) पण्डितमरण—जिनका ज्ञान चरित्राणि परम प्रकषता को प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे प्रमत्तसयतानि लठे गुणस्थान से लेकर बारहव गुणस्थानवर्ती साधुओं का जो मरण होता है उसे पण्डितमरण कहा है ।

\* ( १ ) पण्डित शब्द उत्तम तप, उत्तम सम्यक्त्व उत्तम ज्ञान और उत्तम चरित्र इन चार अर्थों में व्यवहृत होता है ।

( ३ ) बाल परिहृत—सयतासयत ( पंचम गुणस्थान बर्त्सी श्रावक ) को बालपरिहृत कहते हैं । रत्नत्रय में परिणत होने वाली पद्मा ( बुद्धि ) जिसको प्राप्त होगई है उम यहा परिहृत माना है । उसलिय श्रावक बालपरिहृत कहा गया है । क्योंकि इसमें एक देश रत्नत्रय का आराधन करने और महाव्रत रूप सबदेश रत्नत्रय का पालन न करने के कारण बालपना और परिहृतपना दोनों धम पाये जाते हैं अत यह बाल और परिहृत उभय रूप है । इस का मरण बालपरिहृतमरण माना गया है ।

( ४ ) बालमरण—अमयत सम्यग्नि बालमरण करता है । क्योंकि सके सम्यग्ज्ञान और ज्ञान होने पर भी चारित्र नहीं पाया जाता है ।

( ५ ) बालबालमरण—मि यादृषि को बालबाल कहते हैं । क्योंकि उसके सम्यग्ज्ञान-सम्यग्ज्ञान-चारित्रान् कुञ्ज भी नहीं होता है । मलिय यह अतिशय बाल है । इसके मरण को बालबाल मरण कहते हैं ।

न पाच प्रकार के मरणों मे से आत्मा के तीन मरण मद्रति देने वाले हैं अत जिने उन्नेवने नकी प्रशसा की है । वही कहा है —

पडिदपडिदमरण च पडिद बालपडिद चेव ।

एत्ताणि तिरिण मरणाणि जिष्सा णिच्च पससति ॥ १ ॥ ( भग आ टीका गाथा २६ )

अथ—पडितपडितमरण परिहृतमरण और बालपडितमरण इन तीनों की चिन्ते उदेव नित्य प्रशसा करते हैं ।

हित शान्तमरण क स्वामी कवली भगवान हैं ।

अथ पडित मरण कयक हाता है ? ऐमी उत्पन्न हुई शाना का समाधान करते हैं—

पायापगमणमरण भक्तपइण्णा य इगिणी चेव ।

निविह पडियमरण माहस्म जहुत्तचारिस्म ॥ २६ ॥ ( भग० अ० )

अथ—१ प्रायोपगमनमरण = इगिनीमरण और २ भक्तप्रतिष्ठा मरण ये दोन भेद पडितमरण के हैं । ये तीनों आगमोक्त चारित्र का पालन करनेवाले मुनीश्वर के होते हैं ।

( १ ) प्रायोपगमन मरण—जो साधु रोगान् स पांडित होने पर भी अपना वैयावृत्त्य दूसर से नहीं करवाता है और न आप भी करता है जीवन पर्यन्त आहारानि का त्याग करके एक रमान म मूत्र काठ की तरह व मूत्रकफाय ममान स्थित रहता है तथा मन-वचन-काय की क्रिया रहित हुआ परम विशुद्धि स पथाय का त्याग करता है उसक प्रायोपगमन मरण होता है। यह मरण संसार का उच्छेद करने में समर्थ सस्थान और सहनवाले क होता है। म्म मरण को प्रायोग्यामन मरण तथा प नोपगमन मरण भी कहते हैं।

( २ ) शगनी मरण—निज अभिप्राय को इंगित कहते हैं। जो अपने अभिप्राय के अनुकूल अपना वैयावृत्त्य आप ही करते हैं, दूसर स अपना वैयावृत्त्य नहीं करवाते हैं रोगानि अस्या में भी उठने बैठने शयन करने आनि क्रियाओं में दूसरे की सहायता नहीं लेते हैं सम्पूर्ण आहारदि का त्याग कर एका ही वन म शरीर का त्याग करते हैं, उनके मरण को इगिनी मरण कहते हैं।

( ३ ) भक्त प्रतिष्ठा ( प्रत्याख्यान ) मरण—जो साधु अपनी शुभ्रवा आप भी करते हैं और दूसरों स भी करवाते हैं, आगमोक्त चारित्र का पालन करते हुए अनुक्रम से आहार का त्याग करते हैं तथा कषाय को कुरा करते हैं उनके भक्तप्रतिष्ठा अथवा भक्त-प्रत्याख्यान मरण होता है। बाल पंडित का वयन पहले करही चुके हैं। म्म तर प्रारभ के तीन मरण ही श्रेष्ठ हैं। बालमरण चारित्रहीन सम्बन्धि क होता है। यद्यपि यह उक्त तीन मरणों की अपेक्षा हीन है किन्तु उसके स्वामी के तत्त्वब्रह्मान होता है इसलिए यह बालबाल मरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु समय का सवथा अभाव होन स म प्रशसनीय नहीं कहा है। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालबाल मरण कहा है। यह मरण संसार के सब एकेन्त्रिय म लेकर मिथ्यात्वा समस्त पचेन्द्रियों का होता रहता है। इस जावने अनन्त बार यह मरण किया है। आचार्य शिवकोटि कहते हैं—

सुविहियमिम पवयस्य असहन्तेषि मण जीवेश्च ।

बालमरणाणि नाद मदाणि काले अणुतासि ॥ ४२ ॥ ( भग आ )

अथ—वस्तु का यथाथ स्वरूप प्रतिपादन करने वाले पूवापर विरोध रहित तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रामाण्यों से अबाधित जिन तद्व काथत आगम का ब्रह्मान न करके म्म जीवने पहले अनन्त बार बालबालमरण किये हैं। पर पंडितमरण का एकबार भी सुभ्र वसर प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक बार भा पंडितमरण हो जाता तो अधिक स अधिक सात आठ भव धारण करने के परभाव यह आत्मा इस जन्म मरण के दु ख से सदा क लिए छूट जाता। अत ऐसा अवसर प्राप्त होने पर अपने आपको या दूसरों को यों समझना चाहिए की है आत्मन्। बकी कठिनता स महान पुण्य कम उण्य स यह अनुपम स्वर्ग अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए परमागम की श्रद्धा में दृढ रहो और अपने चारित्र को निर्मल बनाओ। जिन अतिचारों का पूत्र वगने कर आये हैं उनमें से एक भी अतिचार अन्त समय में मत लगने ने। क्योंकि

मनुष्य जन्म का पाना और अनुकूल साधनों का योग पाकर सयम का आराधन करना उत्तम कार्यों में शिरोमणि है। इस संयम के लिए उत्कृष्ट सांसारिक सुख के स्वामी सर्वाथसिद्धि के देव भी तरसते हैं। वह सयमरतन तुमने प्राप्त कर लिया है। क्या उसे साधारण पुण्य वाले पुरुष प्राप्त कर सकते हैं ? सुन्दर शरीर त्रिपुल घन सम्पत्ति देवदुलभ ऐश्वर्य मनोनुकूल नष्टभोग-बिलासत या आहारानि सामग्री तो तुमने "स अपार ससार में न जाने कितनी बार उपलब्ध कर ली हैं उससे क्या शान्ति मिली है ? मोहवशा यह आत्मा आहार भोगानि से मिथ्या सुख शान्ति मान लेता है। सुख शान्ति प्राप्त करने का मांग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र्य हैं। इसलिए हे मुने ! मरण समय में इन सुख दाता सम्यक्वाद् का त्याग मत करो। यदि तुमने इनका त्याग किया तो अनन्त काल पयन्त ससार में भ्रमण करना पड़ेगा। अतएव इस समय सम्यक्त्व की रक्षा करने हुए सयम का निरतिचार पालन कर आत्मा को "स ससार के रोमाचकारी दुःखों से मुक्त करने के लिए पण्डितमरण स शरीर का त्याग करो।

पण्डितमरण का फल केवल ज्ञान प्राप्त करना है। यदि ससार की अवधि अभी कुछ शेष रही तो पण्डितमरण करनेवाला सयमी कल्पवामो देवों में जन्म लेता है और ब्रह्मा पर दिव्य स्वर्गीय सुख सामग्री का अनुभव कर निकट भविष्य में निर्वाण परमाधिकारी होता है। इसलिए स समय काय और रुषाय को क्रुश करना ही तुम्हारा परम कर्तव्य है।

ऊपर जो पांच प्रकार के मरण बताये हैं उनमें स पण्डितपण्डितमरण बालपण्डितमरण और बालमरण को छोड़कर केवल पाण्डितमरण का यहा प्रहण होता है क्योंकि इस पंचम काल के साधुओं के पण्डितपण्डितमरण नहीं होसकता है। केवली भगवान् आध्यात्मिक शरीर का त्यागकर निर्वाण के लिए गमन करते हैं उनके यह मरण माना गया है और शेष तीन सयमहीन मनुष्यों के होते हैं। अत वर्तमान सयममर्थों के एक पण्डित मरण ही उद्देश्य माना गया है। इसलिए उभोका निरूपण यहा करना है।

### पण्डित मरण के तीन भेद

"सके तीन भेद पहले बतलाये गये हैं। उनमें से प्रायोपगमन मरण और इगिनीमरण का विवेचन आगे करेंगे। यहा पर केवल भक्त प्रतिष्ठा ( भक्तप्रत्याख्यान ) मरण का निरूपण करना है। क्योंकि प्राय मुनि इसीका आश्रय लेते हैं। यही कहा है

पुत्र ता वणशेषिं भक्तपश्यण हमत्यमरणेषु ।

उम्मरण सा चैव ह सेमाण वणशेषा पच्छा । ६४ ॥ ( भग० आ० )

अर्थ—पण्डितमरण क प्रायोपगमन इगिनी व भक्तप्रत्याख्यान ये तीन भेद हैं। उनमें से प्रथम भक्तप्रत्याख्यान मरण का बखान

करने हैं क्योंकि साधुओं व बहुलता से यहाँ मरण पाया जाता है। इसके पश्चात् शेष दो मरणों का वरण करेंगे। भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप पहले से पहले वरण कर आया है। अब उसका विशेष त्रिवेचन करने के लिए उसके भेद लिखते हैं।

**भक्त प्रत्याख्यान नामक पद्धित मरण के भेद और उनका स्वरूप**

**दुविह तु भक्तपञ्चखाण सविचारमथ अविचार ।**

**सविचारमखागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ ६५ ॥ ( भग० आ० )**

अथ—भक्तप्रत्याख्यान मरण के दो भेद हैं—(१) सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण और (२) अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण।

(१) सविचारभक्तप्रत्याख्यान—जो साधु उसाह बल से युक्त है तथा जिसका मृत्यु काल सहमा (अकस्मात्) उपस्थित नहीं हुआ है जो विधिपूर्वक अथ सधर्म जाने की तैयारी रखता है उसके मरण को सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

(२) अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण—जो सामान्य से हीन है और जिसका मृत्यु समय अचानक उपस्थित होगया है उस पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

**सविचार भक्त प्रत्याख्यान के ४० प्रकारों के नाम वस्वरूप**

उक्त दो भेदों में से प्रथम भक्त सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का त्रिवेचन निम्नोक्त चालीस अधिकांश से किया गया है। उनके नाम ये हैं।

(१) अह (२) लिंग (३) शिक्षा (४) विनय (५) समाधि (६) अनियतविहार (७) परिणाम (८) उपधित्याग (९) अति (१०) भावना (११) सल्लेखना (१२) विशा (१३) क्षामणा, (१४) अनुशिष्टि (१५) परगणचर्या (१६) मागणा (१७) सुस्थित (१८) उपसम्पत्ता (१९) परीक्षा (२०) प्रतिलेख (२१) आधुच्छा (२२) प्रतीकज्ञान (२३) आलोचना (२४) गुणदोष (२५) श या (२६) सस्तर (२७) नियापक (२८) प्रकाशन (२९) हानि (३०) प्रत्याख्यान (३१) क्षामणा, (३२) क्षमणा (३३) अनुशिष्टि (३४) सारणा (३५) कवच (३६) समता (३७) ध्यान, (३८) लेख्या, (३९) फन और ४० शरीरत्याग। इनका प्रथम सामान्य अर्थ लिखते हैं।

(१) अह—अमुक् पुरुष भक्तप्रत्यारयान के योग्य और अमुक् योग्य नहीं है। इस प्रकार पुरुष की योग्यता के वणन करने अधिकार को अर्हाधिकार कहते हैं।

( ) लिंगाधिकार—शिक्षा विनय समाधि आदि क्रियाएँ भक्तप्रत्याख्यान की सामग्री हैं उसका साधन लिंग है। अमुक् लिंग (चिह्न) का धारण करने वाला भक्तप्रत्यारयान कर सकता है और अमुक् का नहीं मका वणन करनेवाला लिंगाधिकार है।

(३) शिक्षा—विना ज्ञान क विनयानि का पालन नहीं होता है इसलिए ज्ञानोपाजन (अताभ्यास) करना आवश्यक है। मका वेचन करने वाला शिक्षा अधिकार है।

(४) विनय—ज्ञानानि का वासना विनय से प्राप्त होती है इसका वणन इस अधिकार में किया गया है।

(५) समाधि—मन को एकाग्र करने को समाधि कहते हैं। अशुभोपयोग से हटाकर मन को शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में लगाना समाधि है। इसका वणन इस अधिकार में किया गया है।

(६) अनियत विहार—पूव म नियत नहीं किय गय एस अनेक नगर ग्रामानि में विहार का वणन करने वाला यह अधिकार है।

(७) परिणाम—साधु के कर्तव्य मों का प्रणन करनेवाले अधिकार को परिणाम (कर्त्तव्य विचार) अधिकार कहते हैं।

(८) उपधित्याग—परिग्रह क त्याग का वणन करने वाला यह उपधित्याग अधिकार है।

(९) श्रित्ति—शुभपरिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि करना इसका निष्पक श्रित्ति अधिकार है।

(१०) भावना—उत्तरात्तर भावना को ठुप लाना का अभ्यास करने का विवेक भावनाधिकार है।

(११) मल्लेखना—शरीर और कर्मायों को ठुप करना मल्लेखना है इसका वणन इस अधिकार में किया गया है।

(१२) निशा—दिशा नाम एलाचाय का है। मय क नायक आचाय ने यावजीव आचाय पत्र का त्याग करके उस पद पर अपन समान गुणवाले जिस गिण्य को स्थापित किया है उस एलाचाय कहते हैं। उसके स्वरूप व उपदेश का वणन करने वाले अधिकार को दिशा अधिकार कहते हैं।

(१३) क्षमणा—परस्पर क्षमा याचना का उगणन करन जाला क्षमापणा अधिकार है।

(१४) अनुशिक्षि—आचार्य सघस्थित मुनियों के प्रति तथा आचार्य पद पर स्थापित अपने शिष्य के प्रति दिये हुए उपदेश का वर्यन करन वाला अनुशिक्षि अधिकार है।

(१५) परगणचर्या—अपने सघ को छोड़कर अन्य सघ में गमन का बरण करनेवाला परगणचर्या अधिकार है।

(१६) मातृण—रत्नत्रय की शुद्धि तथा समाधिमरण करवाने में समथ आचार्य का अन्वेषण ( तलाश ) करने का बरण इस अधिकार म किया गया है।

(१७) सुद्विगत - पगोपकरण करन म तथा आम-प्रयोजन ( आचार्यपद के योग्य काय ) साधन करने में प्रवीण आचार्य का बरण सम किया गया है

(१८) उपसम्पत्ता—आचार्य क पाठमूल मे गमन करने का बरण उपसम्पत्ता अधिकार में है।

(१९) परीक्षा—वैयवृत्त्य करनवाले मुनि की आहारानि सम्ब धी लालमा को तथा उसके उसाह की परीक्षा करने का बरण इसम किया गया है।

(२) प्रातिलख—आराधना की निर्विघ्न साधना करन क लिए उनके अनुकूल राज्य देश नगर ग्रामादि का तथा उनके अधिकारी आग क शोधन का मारुण करनवाला यह आाकार है।

(२१) आपृच्छा—यह साधु हमार सघ म ग्रहण करन योग्य है या नहीं है ? इस प्रकार संघ मे प्रभ करने का बरण इसमें किया गया है।

( २२ ) प्रतीच्छन— प्रतिचारक मुनियों की सम्मति लेकर आराधना करने क लिए आये हुए मुनि का ग्रहण करने का बरण समें होता है।

( २३ ) आलोचना—गुरु के निकट अपने गेषोंका निवेदन करने का विवेचन इसमें है।

( २४ ) गुणदोष—आलोचना के गुण व दोषों की निरूपण करने वाले अधिकार को गुणदोषअधिकार कहा है।

(२५) शम्धा—आराधक क योग्य वसतिकर का निरूपण करनेवाला यह शम्धा नाम का अधिकार है।

(२६) संस्तर—मुनि के योग्य संस्तर का वरण इन्हें किया गया है।

(२७) निर्यापक—आराधक के समाधिमरण में सहायता करनेवाले आचार्यादि को निर्यापक कहते हैं। इसका वरण इस अधिकार में किया गया है।

(२८) प्रकारान—चरम (अन्तिम) आहार को दिखाना इसका वरण करनेवाला यह प्रकारान अधिकार है।

(२९) हानि—कर्म से आहार का त्याग करने का विधान करने वाला हानि नाम का अधिकार है।

(३) प्रत्याख्यान—जलादि पेय पदार्थों के अतिरिक्त तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने का वरण करने वाला प्रत्याख्यान अधिकार है।

(३१) क्षामण—आचार्यादि निर्यापकों से आराधक की क्षमायाचना का वरण इसमें किया गया है।

(३२) क्षमण—अन्य सब साधु आदि के अपराधों को क्षमा करने का वरण करनेवाला क्षमणाधिकार है।

(३३) अनुश्रिटि—संस्तर में स्थित साधु के प्रति निर्यापकाचार्य को शिक्षा देने का निरूपण इस अधिकार में किया गया है। न १४ पर भी अनुश्रिटि नामक भेद ऊपर लिख आये हैं। भगवती आराधना में भी दोनों स्थानों पर यही नाम आया है। नं० १४ पर लिखा है—अणुसिट्टि—सूत्रानुसारण शासनम्। और यदा न ३३ पं० है—अणुसट्टी—अनुरासन शिष्यार्थं निर्यापकस्याचार्यस्य।

(३४) मारणा—दुःख की वेदना से मोह को प्राप्त हुए अथवा अचेत हुए साधु को सचेत करने का निरूपण सारणाधिकार में किया है।

(३५) कवच—जैसे सैकड़ों बाणों का निवारण कवच (बल्तर) से होता है वैसे ही निर्यापकाचार्य के चर्मापदेश से संस्तर स्थित साधु के प्राण दुःख का निवारण होता है "मका विवेचन करनेवाला यह कवचाधिकार है।

(३६) समता—जीवन मरण लाभ अलाभ संयोग वियोग सुख दुःखानि में राग द्वेष न करना समताधिकार में वर्णित है।

(३७) ध्यान—एकाग्रचित्त का निरोध करना ध्यान है। इसमें ध्यान का वर्णन है।

(३८) लेरया—कषाय से मिश्रित योग की प्रवृत्ति को लेरया कहते हैं। लेरयाधिकार में लेरया का स्वरूप प्रतिपादन किया है।

(३९) फल—आराधना से सिद्ध होने वाले कार्य को फल कहते हैं। इसमें आराधनाजनित प्रयोजन का वरण किया गया है।

(४) देहत्याग—आराधक के शरीर का त्याग इसमें वर्णित है।

इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यान मरण में बालीस अधिकार हैं उनके सामान्य स्वरूप का बरण किया गया है। अब उनका विशेष बरण करते हैं।

### अर्हाधिकार

कैसा साधु आराधना करने योग्य है यह देखनाते हैं—

बाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामएणजोगहासिकरी ।  
 उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ॥ ७१ ॥  
 आणुलोमा वा सच्चू चारिसविन्नासया इवे जस्स ।  
 दुम्भक्खे वा गाढे अहवीए विप्पण्डो वा ॥ ७२ ॥  
 चक्खु व दुब्बल जस्स होज्ज सोद व दुब्बल जस्स ।  
 जघाबलपरिहीणो जी ष्च समत्थो विहरिदु वा ॥ ७३ ॥  
 अएश्याम्मि चावि एदाहिसमि आगाढकारण जादे ।  
 अविरहो भचपद्दयाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥ ( भग० आ० )

अथ—संयम का विनाश करनेवाला दुःसाध्य रोग जिसके शरीर में उत्पन्न होगया हो ऐसा साधु या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान करने योग्य है। अर्थात् जिस संयमी या अणुव्रती श्रावक क शरीर में ऐसी व्याधि उत्पन्न हो जाये जिसको मिटाने के लिए उसे संयम का त्याग करना पड़े और जिस व्याधि की शान्ति दुष्कर प्रतीत हो ऐसी व्याधि से पीड़ित संयमी या देश सचमी या अव्रतसम्यग्मति को भक्त प्रत्याख्यान के योग्य माना है। जीवों के रूप शरीरानि बल अवस्था आदि का नारा करनेवाली वृद्धावस्था इतनी बढ़ जावे कि मुनि तप आदि क्रिया में असमर्थ हो जावे। तब वह भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माना गया है। क्योंकि वृद्धावस्था में शरीर बल घट जाता है तब साधक कायक्लेशादि तपश्चरण में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। जो अत्यन्त वृद्धावस्था से युक्त हो जाता है उसका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। अर्थात् उसका यथाऽवस्तु ज्ञान निम्नल नहीं होता है। इसलिये ध्यान योग का विनाश करनेवाली वृद्धावस्था जिसको प्राप्त हो जाती है वह भक्त प्रत्याख्यान मरण के योग्य माना गया है। जब देवकृत मनुष्यकृत तिर्यककृत अथवा अचेतनकृत ऐसा भयानक उपद्रव उपस्थित हो जावे जिस को

निवारण करना अशक्य हो और उस उपद्रव से उबरने के लिए पीड़ा का प्रतीकार असंभव प्रतीत हो, तब मुनि भक्त प्रत्याख्यान को अंगीकार करते हैं।

जब अनुकूल वायुगण स्नेहवशा या अपने भरणपोषण के लोभ से प्रेरित हुए सयमी के सयम धन का विनाश करने में तत्पर हों अथवा तब देव मनुष्य वा तारुण्यों में से कोई उमके सयम को छुड़ाने के लिए उद्यत हो तब वह सयमी भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कहा गया है।

रक्षापात के समान समस्त देशनिवासियों को अनुभव होनेवाले महाभयानक दुर्मिच्छ पडने पर साधक भक्तप्रत्याख्यान करते हैं। क्योंकि दुष्काल में निर्दोष आहार का मिलना असंभव हो जाता है। उममें चारित्र्य का नारा होना संभव है। अतः अपने चारित्र्य की रक्षा के लिए साधक भक्तप्रत्याख्यान कर सल्लेखना करते हैं।

जब मुनि मार्गभ्रष्ट हो कर ऐसे महाभयानक बीहड़ वन में पहुँच जाते हैं जिसमें कर हिसक जन्तु भर पड़े रहते हैं तथा जिस में उद्धार पाने का कोई भी साधन नहीं देखते हैं तब वे निःसूद हुए आपने जीवन को विनाशोन्मुख पाते हैं उम समय वे भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

तब साधक के नेत्र सूक्ष्म वस्तुओं के अवलोकन करने का बल खो देते हैं एवं कानों में शब्द प्रवृत्त करने का सामर्थ्य नहीं रहता है अथवा पावों में विहार करने की ( जाने आने की ) शक्ति नष्ट हो जाती है तब वह भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य होते हैं।

इसी प्रकार के अन्य प्रतिकार रहित स्थिति के उपस्थित होने पर मुनि अथवा गृहस्थ भक्तप्रत्याख्यान के योग्य माने जाते हैं। अर्थात् उनक समय या दशासयम के रक्षण का उपाय जब कोई निकाई नहीं देता है भव तरह से हताशा हो जाते हैं तब अतन्तो गत्वा इम भक्तप्रत्याख्यान का आश्रय लेते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान के लिए योग्य कौन हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान कर अब भक्तप्रत्याख्यान के लिए कौन अयोग्य है ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

उस्मरइ जम्म चिरमवि सुहेख सामएणखण्णिवार वा ।

खिज्जावया य सुलहा दुम्भिकखभय च जण्णित्थि ॥ ७५ ॥

तस्स ख कप्पन्ति भत्तपइएण अणुवड्ढिद भये पुरग्गे ।

मा मरख पच्चिक्खता नेति हू मामएण्णखिण्णिवएणो ॥ ७६ ॥ ( भग० आ० )

अथ—जिसके सुख पूर्वक ( निबाध ) चारित्र का पालन हो रहा है तदाव्रतानि म भी अतिचार लगने की कोई संभावना नहीं वह भक्तप्रत्याख्यान के लिए अयोग्य माना गया है। समाधिमरण स अधिक नियारक आचार्य जब सुलभ हो और दुर्भिक्षादि का भय भी उपस्थित न हो ऐसे समय में साधु को भक्तप्रत्याख्यान कर समाधिमरण नहीं करना चाहिए।

इसका आशय यह है कि समय के बिरागी रूप की गाथा म निर्दिष्ट दुर्भिक्षानि कारणों में से कोई भी कारण उपस्थित न हुआ हो तो साधु भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य माना गया है।

जिसका चारित्र निर्दिष्ट पल रहा है तथा नियामक आचार्य जिम गुणम हैं तबको दुर्भिक्षानि का भय भी उपस्थित नहीं है यदि वह साधु मरण की अभिलाषा करता है तो समझना चाहिए कि वह मयम स उगमान हो गया है उसको चारित्र से अरुचि उत्पन्न होगई है अन्यथा वह बिना आपत्तिजनक कारणों के प्राप्त हुए मरने के लिए क्या प्रयत्न करता है ?

यदि कोई साधु यह विचारे कि इस समय मुझे समाधिमरण करवानेवाले नियामक आचार्य सुलभ हैं और आगे दुर्भिक्षादि के भय की पूरा संभावना है उस समय नियामक आचार्य समाधिमरण के सहायक साधु मुझे न मिलगे यदि मैं इस समय समाधि मरण न करूंगा तो मेरा समय रत्न लुप्त जावेगा और भविष्य में पश्चितसमाधिमरण न कर सकूंगा—ऐसा जिसको भय हो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान के योग्य है ऐसा समझना चाहिए।

इस भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण को अव्रतसम्यग्दृष्टि अनुव्रती आवश्यक व मुान तीनों कर सकते हैं।

भावाथ—हे आत्मन् ? तुमने अनन्तवार जन्ममरण किये हैं। जो जन्म धारण करता है वह मृत्यु को ओर गमन करता है। जन्म और मरण का अविनाशभाव सम्बन्ध है। तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे जन्म-मृत्यु के जाल से बच जाओ। वह प्रयत्न समाधि मरण है। आयु का क्षय होने पर समस्त प्राणियों का मरण निरिचन है। किन्तु सम्यग्ज्ञानी के मरण में और अज्ञानी के मरण में इतना ही अन्तर है कि सम्यग्ज्ञानी मरण करता हुआ मरण सन्तान का उन्मुख करता है और अज्ञानी मरण सन्तान का वृद्धि करता है। क्योंकि काय स मोह और कषाय की तीव्रता के कारण जन्म मरण रूप ससार की वृद्धि होता है और कायसे निर्माहिता धारण करने से और कषाय के अभाव में उक्त ससार का क्षय होता है। काय से ममत्व का अभाव तथा कषाय कृश करने का नाम ही समाधि है। इस समाधि की प्राप्ति करने के लिए भक्तप्रत्याख्यान करना आवश्यक है।

अथ यहा पर यह दिखता है कि भक्तप्रत्याख्यान ( आहार त्याग ) करने वाले के कौनसा लिंग ( भेष ) होना चाहिये ?

उष्मग्गियलिंगकम्म लिंगमुष्मग्गिय तय चेव ।

अपवानियलिंगम्म वि पमत्यमुवमग्गिय लिंग ॥ ७७ ॥ ( भग आ० )

अर्थ—जिसक उक्त लिंग ( दिगम्बर भेष ) है अर्थात् जिनमे दिगम्बर मुनि-नीचा धारण की है उसके तो भक्त-प्रत्याख्यान क समय भी दिगम्बर भेष रहता है किन्तु जिसने शुल्लकान्ति गृहस्थ भेष धारण कर रखा है व भी अन्तिम समय में नम्र भेष धारण कर सकता है ।

भाषार्थ—समाधमरण के अवसर में भक्त-प्रत्याख्यान ( आहार क त्याग ) कर समाधि युक्त धारण का इच्छुक जब सस्तर में स्थित होता है तब मुनि तो उस समय भी पूव की भांति नम्र लिंग ही रखता है परन्तु जिसने पूव में मुनि अवस्था नहीं धारण की है किन्तु गृहस्थ अवस्था को ही धारण किये हुये है—ऐसे शुल्लक पेलक व इसके नाचे की अवस्था क जो धारक हैं वे जब भक्त-प्रत्याख्यान करने हैं तब नम्रभेष धारण कर लेने हैं ।

प्रश्न—क्या प्रत्येक पुरुष भक्त-प्रत्याख्यान के समय नम्रभेष धारण कर सकता है ?

उत्तर—नहीं प्रत्येक पुरुष नम्रभेष धारण करने के योग्य नहीं होता है । जिसमें नम्रता की योग्यता है वही पुरुष इस भेष को धारण कर सकता है । जो ससार भोगों से विरक्त होगया है और अपने मनुष्य भव को समय पालन करते हुए सफल बनाना चाहता है वही परम विरक्त मन्त्रकषायो नम्रता क योग्य कहागया है ।

प्रश्न—ता ससार स उन्नासान है जिसकी भावना वराग्यपूण है जो ससार के दुःखा स उद्विग्न है—वह मन्त्रकषायो तो चाहे क भी दिगम्बर भेष को क्या धारण कर सकता है ?

उत्तर—इस जा उक्त गुणों स भूपत है वह पुरुष नम्रभेष धारण कर सकता है । परन्तु उसके पुरुष बिह में निम्नोक्त दोष न हो तभी वह नम्र भेष का अधिकारी माना गया है । जिनके पुरुषबिह का अग्रभाग चर्म रहित ( उघाडा ) न हो पुरुषबिह अतिनीच ( लम्बा ) न हो । बार बार चैतन्य न होता हो ऊपर उठता न हो तथा अहकोश बड न हो । वही दिगम्बर भेष को धारण कर सकता है । जिसमें इन दोषों में स एक भी दोष हो वह मुनिभेष धारण नहीं कर सकता है किन्तु भी वह समाधि मरण के समय भक्त-प्रत्याख्यान कर जब सस्तर में स्थित होता है तब नम्रता जरूर धारण कर सकता है अन्य समय में नम्रता धारण करने का आगम में सर्वथा नियेष है । आगम स दिग्द प्रवृत्ति करने वाल को मिश्रान्ति कहा है—

सुचादो न मम्म दरमिज्जत जग्ग षु मह्हन्ति ।

सो चैव हवइ मिच्छादिही जीवो तदापहुदि ॥ ३३ ॥ ( भग० )

अर्थ — किसी मनुष्य ने अज्ञान स अथवा किसी के उपदेश स उल्ला अज्ञान कर लिया हो और जब कोई आगम प्रमाण देकर उस सम्यक् प्रकार बन्धु-स्वरूप खिलावे और वह उसकी अवहेलना कर मत्त्व-ताव का अज्ञान न करे अपनी अवस्तुत्व की अज्ञा को न छोड़े और पूव की भाति मिथ्या-प्रवृत्ति ही करता रहे तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि माना जाता है । इसलिए प्रत्येक को उक्त प्रमाण भूत आगम की अज्ञा का पालन करना चाहिए । जो आगम के उपरीत अपनी मन कल्पित प्ररूपणा करता है आगम में अमाय मुनिभेष को धारण करता है — उसके सम्यक में भी रहना उचित नहीं है मिथ्यादृष्टि के सम्यक में रहने वाला उसकी प्रशंसा करने वाला उसकी कुप्रवृत्ति में सहायता देने वाला भी मिथ्यादृष्ट होता है ।

प्रश्न — भक्तप्रत्याख्यान के समय जब गृहस्थ भी निगम्वर भय धारण कर सकता है तो फिर आर्थिका के लिए क्या विधान है ? क्या वह सवस्व ही समाधिमरण करती है ? या वह भी सब परिग्रह का त्यागकर निगम्वर मुग्ध धारण कर सकती है ?

उत्तर — आर्थिका । समस्त परिग्रह का त्यागकर एक साही मात्र परिग्रह रखती है । उसमें उसको ममत्व नहीं होता अतः उसके उपचार में महाव्रत माना गया है । क्योंकि आगम में उसके लिए साही धारण करने की आज्ञा है । किन्तु जब उसका मृत्युकाल आगया हो और वह भक्तप्रत्याख्यान करके सुस्तर में स्थित हो तो योग्य स्थान में उस समय सब अनुकूलता होने पर वस्त्र का भी त्याग कर देती है । वह व्रमातका क अन्तर ही रहती है और अपना समाधिमरण ( पण्डितमरण ) कर दे ।

अथ सुल्लिक्खन्ति आचिकाए भी मृत्यु समय योग्य स्थान क सब अनुकूल साधना के होने पर घर के भीतर दिगम्वर भय धारण कर सकती हैं । उनके लिए दोनों मार्ग हैं । जो आचिका महान ऐश्वर्यवाली तथा लज्जावती है और जिसके कटुम्बाजन मिथ्यादृष्टि हैं उसक लिए निगम्वर भय में समाधिमरण करने का निषेध है । यथा—

इत्थीवि य ज लिंग दिह उम्मगिय व इदं वा ।

त तह हादि हु लिंग परिचयुवधि करेताए ॥ ८१ ॥ ( भग )

अर्थ—जो भी समाधिमरण के समय क्लृप्त लिंग ( मुनिसमानभय ) तथा सवस्व लिंग दोनों ही आगम में बरून किये गये

हैं। आर्यिका मृत्युकाल उग्ररहित होने पर योगस्थान में वसतक क अन्दर रहकर मुनिवन् विगम्बर भेष धारण करती हैं और श्राविनाएँ अपने पारमह को अल्प करती हुई अन्त ममय में यागस्थान मिलने पर घर में ही नम्रता धारण कर सन्ध्य में मरण कर सकती हैं। तथा अनुकूलस्थानानि न मिलने पर अन्य सब परिग्रह का त्यागकर वस्त्रमात्र धारण किय हुए उग्रममत्र का त्याग कर भक्तप्रत्याख्यान पूर्वक पंडित मरण करनी हैं।

प्रश्न—जिनागम में उग्रमलिग और अपवादलिग ये दो लिग माने हैं। गम्बर मुनि धारण करना उग्रमलिग है तथा सब्ध आर्यिका कि भेष को अपवादलिग कहते हैं। क्या भयानक बात है। ग उपासना र या उक्ति कि उपासना होने पर मुनि प्रक धारण कर सकते हैं ?

उत्तर—मुनि क उग्रम लिग ही माना गया है और यह उपासना मुनि धारण करने पर ही हो सकता है। जो अपवादलिग के वह मुनि क लिए नहीं है। आर्यिका तथा छुल्लादि आबक क भेष का अपवाद लिग है। मुनित्व का अपवाद (निन्दा) करनेवाले लिग को अपवाद लिग कहते हैं। मुनि किसी भा प्रकारस्य त म वस्त्र धारण नहीं कर सकता। ता सब धारण कर लेते हैं वह मुनिपद में नही माना गया है। क्योंकि साधु क २० मूलगुण माने गये हैं। उग्रमे नम्रता मुख्य गुण है। नक अ उग्रम महात्रनाण गुण नरथक मन है। मुनि क उग्रमलिग ही होता है और उसकी चार विशेषताय है उनमें नम्रता का प्रथम स्थान दिया गया है। यथा —

अच्येत्कक लाचो वोमट्टमग्गीग य पडिलिण्ण ।

एयो ण लिग कणो चटुत्विहा हानि उभसग्गे ॥ ८ ॥ ( भग )

अर्थ—मुनित्व का उद्योतक जो बिह है उमे उग्रम लिग कहते हैं। उग्रक चार प्रकार हैं—१ अच्येत्ता (वस्त्र का अभाव-नम्रता) २ केश लोच ३ शरीर के सस्कार का त्याग और ४ प्रतिलेखन।

भावार्थ—जो मुनित्व को प्रकृत करनेवाले उग्र चर वान हैं तिनको कि उल्लेख यवहार में मुनि को पहचाना जाता है उनमें सबस प्रधान नम्रता है। जिस व्यक्ति में नम्रता नहीं है और शेष तीन बातें विद्यमान हैं तो वह साधु नहीं माना गया है। इसलिए साधुपन के लिए नम्रता अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना आत्म-शुद्धि नहीं होती और वह शिवमाग (रत्नत्रय) का पूर्णरूप में आराधक नहीं समझा जाता। नम्रत्व में महान् गुण निहित हैं। उनका व्रण मूलगुणों के निरूपण में कर आये हैं। जिसके पास कोपीन ( लंगोटी ) मात्र परिग्रह

है और इसके अतिरिक्त जिसने सब परिग्रहों का सवथा त्याग कर लिया है उसकी भी आत्म-शुद्धि तब ही होती है जब कि वह उस मोह के कारणभूत कोपीन को भी त्याग देता है। यथा —

अववादिपलिंगकदो विसयामसि अगूहमायो य ।

सिंदखगरहखजुचो सुज्भन्तिउवधि परिहरतो ॥८७॥ ( भग० )

अर्थ—कोपीन (लगोटी) आदि वस्त्र का धारण करनेवाले पेलक आदि अपनी शक्ति को न छिपाकर अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और वे सोचते हैं कि समस्त पारग्रह का त्याग करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसके त्याग बिना पूरा आत्म-शुद्धि नहीं होती है। परन्तु क्या करें? हमारी आत्मा में तना बल उत्पन्न नहीं हुआ है कि सब परिग्रह का त्याग कर यथाज्ञात रूप धारण कर लें। इस प्रकार मन में परचात्पाप करने हुए अपनी निंदा करते हैं और गुरुजनों के निकट अपनी अशाक्त प्रकृति करते हैं। आमगर्हा व निन्दा करने वाले वे मुमुक्षु अपने कर्मा की निञ्जेरा करते हुए क्रमसे सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर आत्मशुद्धि करते हैं।

प्रश्न—जो अन्नतस्म्यदृष्टि और अणुव्रती श्रावक भक्तप्रत्यार्यान विधि से समाधि मरण करना चाहता है क्या उसको नग्नता धारण करना आवश्यक है ?

उत्तर—हाँ जिसका मृत्युसमय निकट आगया हो अपनी आत्मा के उद्धार के लिए जो पंडितमरण करना चाहता हो तो उसको ससार के सब पदार्थों का त्याग कर सब विधिपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान (आहार-त्याग) कर अन्न समय में वस्त्र-त्यागपूर्वक दिगम्बर मुद्रा धारण करना चाहिए। किन्तु यदि वह अत्यन्त लाजशील हो या पद्म वैभवशाली हो या जिसके कुटुम्ब परिवार में मिथ्यादृष्टियों का प्राबल्य हो तो उस नग्नता धारण न करना चाहिए। उसको कम से कम वस्त्र धारण कर उसमें भी ममत्व का त्याग कर शान्ति से धर्मध्यान पूर्वक वैदिक का त्याग करना चाहिए। आचार्यों ने उस मरण को भी पंडित मरण माना है।

### स्वाध्याय के सातगुण

पंडितमरण के अभिलाषी मनुष्य को शास्त्र का निरंतर स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि जितनागम का स्वाध्याय करने वाले के आत्महित व परहित करने की बुद्धि आदि सात गुण प्रकट होते हैं। वे आत्महितादि गुण ये हैं—

आदिदृश्यया भावसवरौ खवन्वौ न सवेगौ ।

खिक पदा तवो भावखा य परदेसिगत च ॥१००॥ ( भग० )

अर्थ—१ जिनागम का अभ्यास करने वाले के आरहित का ज्ञान होता है । २ पापकर्मों का संवर होता है । ३ नवीन नवीन संवेगभाव उत्पन्न होता है । ४ मोक्ष मार्ग में स्थिरता आती है । ५ तपस्या की वृद्धि होती है । ६ गुणितपावन में स्तररत्ना आती है । और ७ इतर भव्यजीवों को उपदेश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है । ये सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले को आत्मा में प्रकट होते हैं । इन सातों का संक्षेप स्वरूप यह है—

१ आरहितज्ञान—संसार के सब अज्ञ प्राणी इन्द्रियजय विषय सुख को ही अपना उद्देश्य समझते हैं । वे यह नहीं समझते कि इन्द्रिय सुख सुखाभास है । यदि यह वास्तव में सुख होता तो इसके सवन करने से आत्मा को अशान्ति और ग्लानि का अनुभव क्यों होता ? सुख तो उसे कहते हैं जिसका अनुभव करने से आत्मा को आह्लाद और शान्ति की प्राप्ति हो । किन्तु इन्द्रियजय विषयसुख में यह बात नहीं पाई जाती है । यह सुख आत्मा में रागाघता उत्पन्न कर कमबन्ध करता है । तथा इसकी प्राप्ति के लिए आत्मा को अनेक प्रकार क कुकृत्य करने पड़ते हैं । इससे व्याकुलता की वृद्धि होती है । यह पराधीन है । जिनागम के अभ्यास में विषयों से वनासीनता उत्पन्न होती है और सच्चे सुख के साधनभूत रत्नत्रय के आराधन में खिच पैना होती है । अतः जिनागम का स्वाध्याय करने से आरहित बुद्धि नाम का गुण प्रादुर्भूत होता है ।

२ भावसवर—पापजनक विचारों का त्याग करने को भावसंवर कहने हैं । आगम का अध्ययन करने से पाप व पुण्य के कारणों का ज्ञान होता है । ज्ञानी जीव पापजनक अशुभ भावों को छोड़ता है और शुभ व शुद्ध भावों में परिणति करता है । अर्थात् मन वचन काय से ऐसी क्रियाएँ करता है जिनसे पुण्य बन्ध होता है या कर्मों का संवर और निजरा होती है । बिना जाने अज्ञानी जीव जिन क्रियाओं से पाप कर्मों का बन्ध करता रहता है ज्ञानी जीव परिणाम की विद्युद्धि से उन्हीं क्रियाओं से कम की निर्जरा करता है । यह भावों की विद्युद्धि जिनागम के अभ्यास से ही होती है ।

३ नवीन-नवीन-संवेगभाव—जिनागम में संसार का सत्य स्वरूप का बखान किया है । इस आत्मा ने इस संसार में कैसे-र दुख किस २ गति में भोगे हैं उनका बोध होने से आत्मा संसार से भयभीत होता रहता है इसलिए जिनागमन का अभ्यास संवेग-भाव को उत्पन्न करके श्रद्धा को दृढ़ बनाता है । जो समयी नित्य स्वाध्याय नहीं करता है उस पर किसी प्रकार संकट आने पर वह श्रद्धा से च्युत हो

जाता है। जो नित्य जिनबाणी का मनन करता है उसके चित्त में हड़ता रहती है और वह आपत्ति आने पर ज्ञानबल से उसको सह लेता है। उसका आत्मा अद्वान से भ्रष्ट नहीं होता है।

मोक्षमाग में स्थिरता—जिनबाणी मोक्ष का तथा मोक्ष के माग (सभ्यग्नान-ज्ञान चारित्र) का स्वरूप और महत्त्व का निरूपण करती है। रत्नत्रय आत्मा का स्वरूप है और जिसका जो स्वरूप है वही उसके कल्याण का करनेवाला होता है। श्रीवृषभादि तीर्थ करो ने तथा अन्य महापुरुषों ने रत्नत्रय का आराधन कर शिष्य सुख प्राप्त किया है। अनेक भयानक उपसर्गों के आने पर भी उन महामाओं ने मोक्षमाग के आराधन में थोड़ा भी शिथिलता नहीं की है। वे मेढ़ के समान अडोल निष्कम्प रह कर सत्ता के लिए सुखी हुए हैं। इसलिये सुख ही अभिलाष करनेवाले को मोक्षमाग पर स्थिर रहना चाहिये ऐसा ज्ञान जिनागम के अभ्यास से हाता है।

५ तपवृद्धि—जिनागम के वेत्ता ही जीवाणि पदार्थों के स्वरूप को भले प्रकार जानकर भद्रज्ञान प्राप्त करते हैं। शरीर और आत्मा को मित्र समझकर उसको शरीर स प्ररू करने के लिए कर्मों का क्षय करनेवाले ब्राह्म और आभ्यन्तर तप का आचरण करते हैं। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से तपस्या में आत्मा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है स्वाध्याय स्वय अन्तर ग तप है। अत जिनागम के स्वाध्याय से तप में प्रवृत्ति होती है और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती है।

६ गुप्त के पालन में तत्परता—मन वचन और काय को शुद्धोपयोग में लगाने को गुप्त कहते हैं। इसके पालन करने में त पर रहने क लिए सुगम उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय करनेवाले के अनायास मन वचन काय का निरोध होता है। मन वचन काय के निरोध करने का न्यस सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है। स्वाध्याय करनेवाले का चित्त जब जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का विचार व मनन करने में लगता है तब उनके मन वचन और काय तीनों त्रिषय कषायिणि से निवृत्त होकर शुद्ध स्वरूप में प्रवृत्त होते हैं। उस समय आत्मा अशु भोपयोग स निवृत्त होकर शुद्धोपयोग में प्रवृत्त होता है। अत स्वाध्याय से गुप्ति के पालन में तत्परता होती है। गुप्ति के पालन से कर्मों का सवर और निजगण होता रहता है।

(७) उपदेश सामग्य—जिसन जिनागम का अभ्यास किया है वही इतर भय प्राणियों को उपदेश दे सकता है। समार को कल्याण का माग दिखाता साध रण पुण्यकर्म नहीं है। समार क उद्धार करने की उत्कट इच्छा होने से तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होता है। तीर्थकर व हैं भवे सुख का माग दिखाता है। जह प्रमाण और नय स जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझकर उनको कल्याणमाग में लगाता है। इसलिये जो जीवों को उपदेश देना चाहता है उसको निरन्तर आगम का मनन चिन्तन करते रहना चाहिए। जो आत्महित और परहित की इच्छा रखता है उसे रात दिन जिनागम का अभ्यास करना आवश्यक है। जिसको जिनागम का रहस्य ज्ञान नहीं है उसे आत्महित का ज्ञान

नहीं होता है। किसको हित कहने हैं ? और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? इसको वह नहीं जान पाता है। ज्ञान बिना उसके सब कृत्य कमबोध क कारण होते हैं। वह अनेक प्रकार के कठिन दुःखर तप करता है वह भी उसके कर्मबोध को बढ़ाने वाले होते हैं। इसका कारण यह है कि उसके ज्ञाननेत्र नहीं हैं। वह विपरीत माग द्वारा पापकर्म रूप भयानक बन् की ओर वन्ता जाता है और वहा वह अनेक आपदाओं म फस जाता है। न सब बुराणों का कारण अज्ञान है। यथा —

आदहितमयाखतो मुञ्जमदि भूगे ममादियन्ति कम्म ।

कम्मणिमित्त जीवो परोदि भवसायरमखत ॥ १ २ ॥ ( भग० )

अथ—आमा का हित क्या है ? इसको न जानने वाला अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों में मोहित होजाता है और मोह के कारण कर्मों का बन्ध करता है। इन कर्मों के कारण वह अनन्त ससार मागर में भ्रमण करता है

ज्ञानी जीव आमा के हित को समझता है। वह ज्ञान नेत्र से देखता है कि यह माग आत्मा का हितकर है और यह अहितकर है। हितकर माग में प्रवृत्ति करता है और अहितकर कुमाग मे निवृत्त होता है। इसलिए प्रत्य आमा को हितकारी माग जानने के लिए निरन्तर जिनागम का अभ्यास करना चाहिए।

‘यों’ यों जिनागम में अधिक प्रवेश होता है त्यों ‘यों’ तद्वज्ज्ञाना मृत करसाखान्त्वन विगेष होता जाता है। जैसे आम्रफल में रस भरा रहता है वैसे ही जिनागम के शौन्दा मे तवामृत भरा हुआ है उसका मनन चिन्तन करने से उसका रसाखान्त्वन होता है। उस रस का आखान्त्वन करने से आत्मा को परम आहान् का अनुभव होता है और उनकी धम में विशेष प्रवृत्ति होती है।

आगम का वेत्ता मुनि निरन्धय और ‘यवहार धम को यथावन्समझता है। आमा का उ खान करने वाले और अध पतन करने वाले कार्यों को भलोभाति जानता है। वन् कोइ काम ऐसा नहीं करता जिसक द्वारा मुनि रम को अपवाद का सामना करना पड। आगम के अभ्यासी समयो का प्रत्येक कृत्य ज्ञानयूक होना है। उसकी प्रवृत्तिरूपक्रिया भी निजग का खरण होती है। अज्ञानी जिा कार्यों से महान कमबोध करता है उन्ही कार्यों को करता हुआ ज्ञानी कर्मों का धय करत है रहा है —

ज अएणासी कम्म खवन्ति भवमय महस्म जोडीदि ।

त खासी तिहि गुत्तो त्वमदि अतोमुहत्त ख ॥ १ ८ ॥

छन्दमन्ममदुवालसेहि अप्पणायियमस जा सोहा ।

तत्ता बहुगुणरिया होज्ज हू जिमिन्सम शाशिमम् ॥ १ ६ ॥ (मग०)

अथ—अज्ञानी ( चिन्तागम क ज्ञान म शय ) लाल्सें करोको भवा म चिन कर्मो का क्षय करने म समथ नहीं होता है उन कर्मो के जिनागम का वेत्त नोन गुणिया का पालन करता हुआ मुनि अतमुहत्त म नष्ट करदता है । तथा अज्ञानी मनुष्य बला तेला बोला पंचोला पाक्षिक मासिकाद अनक उपवामों का आचरण करक आत्मा मे जो विशुद्धि उन्नत करता है ज्ञाना पुरुष भोजन को ग्रहण करता हुआ भी उसस बहुत अधिक आत्मा की वशुद्धि कर लेता है ।

इसका आशय यह है कि अज्ञानी चिन्ता भी करत है वह वस्तु क स्वरूप को न समझ कर करता है । जैसे हाथो स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर मूल डालकर उस मलीन बना लेता है । वैसे ही अज्ञानी नीच व्रत पत्रानि कायक्लेश तप करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओं का आचरण करता है पर वह विवेकहीन उनका यथार्थ स्वरूप न समझन क संगण विपरीत अज्ञान व श्रितिकूल आचरण करता है अतः सिद्ध्या-अज्ञान और विपरीत चारित्र के कारण उसके सब कृत्य पाप-बन्ध क हेतु होत हैं । तत्त्वज्ञान क चिन्ता उषका मन रूपी मस्त हाथी विषय आरुपाय क उपवन म दाढ लगाता है । सकल्प विकल्प के ताल म फसा हुआ उसका अतः करण ससार के बन्धन को टूट करता है ।

अज्ञानी जीव दुःख से डरकर सुख की प्राप्ति के लिए दाढ रूप ता करता है चिन्तु व अविनाशा आत्मीय सहजानन्द को न समझन के कारण उस पर विश्वास नहीं करता है । इन्द्रिय जय सुख को आत्मा का हिनकर मानता है आरु उमका प्राप्ति काल ए लौकिक अथवा पुण्य रूप प्रयत्न करता है । वह यह नहीं समझता है कि पुण्य और पाप आत्मा का बन्धन म डालन वान हैं । वेदो सोन की हो या लोहे की नोनो मनुष्य को परा नन बनाने वाली हैं । पुण्योपाजन करने स स्वर्गात् की सम्पत्ति अथवा यहाँ पर चक्रवर्ती आनि विशुद्धि भी मिल नावे तथापि आत्मा को नम मरण के दुःख से छुटकारा नहीं मिलता है । वह पुण्योपाजित सुख की सामग्री अज्ञानी आत्मा को अधिक अधिक मोहाच बना गती है और परम्पर दुःख जनक रागात् भावों को बना देती है जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को न पाकर अनगिनत भवों म दुःख को भोगता है ।

अज्ञानी आत्मा दुष्कर तपश्चरण का आचरण कर इस लोक में चमकर उत्पन्न करनेवाली श्राद्धयों और बिभूतियों की आकांक्षा करता है । वह चारित्र के चिन्तामणि समान फल को कोडियों में वेचता है । वह यह नहीं समझता कि बाँबल की खेती करने वाले को गुण (भूषा) की कामना नहीं होता है । कृषक धान्य क लिए खेतो का परिश्रम उठाता है भूम के लिए नहीं । वह तो अनायास ही मिल जाता है ।

इसी प्रकार ज्ञानी धर्म का पालन आभीय सुख की प्राप्ति के लिए करता है। उसे स्वर्गादि के सुख भी आनुषंगिक रूप से मिलजाते हैं। उनका अनुभव करता हुआ भी उन सुखों को उपादेय नहीं समझता है और उनका लक्ष्य मोक्षप्राप्ति का बना रहता है। वह नियमों को भोगता है देवागनाओं के मध्य मनोहर क्रीड़ाएँ करता है मन को लुभाने वाले अप्सराओं के लावण्य व सौन्दर्य का नेत्र पात्र से पान करता है उनके कोकिलसम कण्ठ से निकले मजुल मधुर गान का रसास्वादन करता है नन्दनवन में अप्सराओं के साथ रमण करता है फिर भी उन सुखों में उसकी आसक्ति नहीं है। वह अपने परतन्त्र आत्मा के असामर्थ्य का अनुभव कर सोने के पीजरे में पड़े हुए तोते के समान दुखी रहता है। मिष्ट फल का आस्वादन करता हुआ भी परतन्त्रता से दुःखित हो बाहर निकल भागने का इधर उधर मार्ग ढूँढता है वह ससार सानकलने के लिए छटपटाता रहता है।

अज्ञानी जात्र धन सम्पत्ति स्त्री पुत्र भवन उपवन आदि सामग्री को सुख देनेवाली समझकर उनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त होने पर उनकी रक्षा करने में ही लगा रहता है। त्वधरान् उनका वियोग हो जान पर अत्यन्त दुःखित होजाता है। किंतु ज्ञानी जीव धन सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि की प्राप्ति को कम को मन मानता है। इन पदार्थों को कम की हुई धरोहर समझता है। जब उनका वियोग हो जाता है तब दुःख नहीं होता वह मात्र साहूकार की तरह कम की रखी हुई धरोहर को उसे सह्य सौंपना ही अपना कर्तव्य समझता है। वह विचारता है कि कम ने हा तने समय के लिए मुझ सौंपी थी और अब उसने उसकी वस्तु वापस लेली। इसमें विचार क्या? दूसरे की चोज पर अपना आधिकार कर लेना महान् अन्याय है। अर्थात् करने वाला नरक निर्गोत्रादि बन्दीगृह में डाला जाता है—ऐसा विचार कर ज्ञानी सदा सुखी रहता है। उसको अज्ञानी के समान वस्तु के मयोग व सुख तथा वस्तु के वियोग से दुःख नहीं होता है।

इस प्रकार के तत्त्वज्ञान स ज्ञानी ससार के कर्त्यों को करता हुआ भी कमल पत्र के समान निर्लेप रहता है। अतएव ज्ञानी के भोग भी निजरा के कारण होते हैं और अज्ञानी की शक्ति कृत्या भी आन्विक पूर्ण होने से बन्ध की कारण होती हैं।

इसलिए हे आमन् यदि ससार के दुःखों से मानसिक सतापों से इष्ट वियोग तथा अनिष्ट सयोग जन्म क्लेशों से बचना चाहते हो तथा सत्त आनन्द प्राप्त कर रमास्वादन करना चाहते हो तो तत्त्वज्ञान सम्पादन करो। वह तत्त्वज्ञान जिनागम का सतत अभ्यास करने से उपलब्ध होता है।

शका—जिनागम का अभ्यास करने में ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है तो ग्यारह अंग और अभिन्नश पूव के पाठी मुनि को तो जरूर ही तत्त्वज्ञान हो जाना चाहिए था। लेकिन उतने अधिक आगम के अभ्यास से भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है और तुपमाय भिन्न ज्ञान

रखने वाले शिवभूति मुनि के समान आप भी तत्त्वज्ञान ( भक्तिज्ञान ) प्राप्त कर अपना कल्याण करलेते हैं इसलिए आगम के अभ्यास स तत्त्वज्ञान उपपन्न होता है—यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—किसी समय एक शिवभूति नाम के मुनि थे। उन्हें शास्त्र के एकाक्षर का भी ज्ञान नहीं था। किसी को उन्होंने उड़द की गल से उसके तुपों का अलग करते हुए देखा। इसीसे उनमें यह जानलिया कि जैसे गल तुप से भिन्न है इसी तरह शरीरादि जब पत्तियों से आत्मा भिन्न है। किसी काल में किसी निकट भाग्य को जिनागम के अभ्यास के बिना तत्त्वज्ञान हो चाहे और वह उम पर स्थिर रहकर अपने आत्मा का कल्याण करले तो वह सब के लिए राज माग नहीं हो सकता है। जैसे किसी नगर के राजा का स्वगवास होगया और वहा के निवासियों या राजपुत्र के मनुष्यों ने निश्चय किया कि जो पुरुष सबसे प्रथम नगर में प्रवेश करेगा उसीको इस नगर का अधिपति पद दिया जावेगा। धन की अभिलाषा से पर उबर भक्तता हुआ कोई व्यक्ति उक्त नगर में आवाक प्रविष्ट हुआ और उमें राय प्राप्त होगया तो क्या राज्य प्राप्ति का वह माग राजमाग माना जा सकता है ? राय का अभिलाषी क्या उसके माग का अनुसरण कर अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सके ? कभी नहीं कर सके। अथवा किसी मनुष्य को जंगल में भ्रमण करते हुए देखा गया तो स्वर्ण निधि प्राप्त होगई तो सबको उसी प्रकार स्वर्ग का स्वज्ञान प्राप्त हो जावेगा ? उसको प्राप्त करने का तो वाणिय व्यवसाय कृषि आदि ही माग हो सकता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्त का साधन जिनागम का अभ्यास ही हो सकता है। जो समयों या आवाक शिवभूति मुनि के दृष्टान्त को सम्मुख रखकर जिनागम का अभ्यास न कर पशु समान तत्त्वज्ञान रहित होकर अपना काल विक्रय आलस्यादि प्रमाद में बिताते हैं वे अपना तो अहित करते ही हैं और अपने स पके म रदने वाले श्रम्य भोले प्राणियों का भी महान अहित करते हैं अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपना तथा परका र्ति सम्पानन करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करना उचित है। स्वाध्याय करने से आत्मा को शान्ति मिलती है। विषय भोग से उत्पन्नी नता आती है धम में अनुराग उठना है। ससार से भय और शरीर से वैराग्य होता है तत्त्वज्ञान जागृत होता है कषाय मन्द होती है और चित्त की एकाग्रता होती है। चित्त की एकाग्रता के कारण ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान से कर्म का लय होकर मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार जिनागम के स्वाध्याय करने से तत्त्वज्ञान की जागृति का वर्णन करके अब विनय का वर्णन करते हैं क्योंकि ज्ञान का फल विनय है। जिस ज्ञानवान को विनय गण नहीं प्राप्त हुआ उसका तत्त्वज्ञान फलश्रूय वृत्त के समान अनादरणीय होता है।

### विनय की महिमा

‘विद्या ददाति विनय विनयाद्याति पात्रताम्’

ज्ञान की प्राप्ति विनय को जन्म देती है और विनयवान् आत्मा गुणों का पात्र ( आचार ) बनता है। तत्त्वज्ञान की सफलता

विनीत भाव रखने का ही होती है। जिसका आत्मा अविनीत है उसका सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र तप और यवहार शुद्ध नहीं होता है। क्योंकि अविनय उनमें मलीनता उत्पन्न करता है। आनय नाम कठोरता का है। कठोर-सम्यग् पापाणु क समान माना गया है। जिस पापाणु पर बालक हुआ उत्तम वीज भी बेकार हो जाता है उसमें ममता पर विचित्र क्रिया हुआ तब वह जाना है उसको आदर व कोमल नहीं बना सकता है, अतः उमम अक्षर का उदय नहीं होता। उसी प्रकार विनय ही मनुष्य में गुरु क उपदेश सत्संगति आदि के निमित्त सत्पाचारवि गुण उत्पन्न नहीं होते हैं। सचता यह है कि विनय रहित मनुष्य को ज्ञान का प्राप्ति ही नहीं होती है क्योंकि अविनात शिष्य पर गुरु का प्रेम नहीं होता विनयवान् शिष्य को गुरु अरुण म अधिक शिक्षण वन न का उपयोग करता है। हृदय खोलकर शास्त्रों के रहस्य का उद्घाटन करता है। और अविनात शिष्य को अपन निकट भी नहीं बैठने देता है। सलिय विनय गोल शिष्य ही ज्ञानान् गुणों का भण्डार होता है और वह सब का प्रिय होता है। उसके सहज में सब ममत्त्व वन जाते हैं और उसको मुख्या ज्ञानों में प्रयत्नशील होते हैं। अविनीत के विना कारण सब शत्रु हो जाते हैं। और उनके उरुष को कोई नहीं चाहते हैं।

### विनय के भेद और उनका स्वरूप

विनय पांच प्रकार का है— १ दर्शनविनय २ ज्ञानविनय ३ चारित्रविनय ४ तपविनय और ५ उपचारविनय।

१ दर्शनविनय—सम्यग्दर्शन क शाका काच विचारकम्पा सम्प्राप्तिकृती प्रशंसा अथ स्तुति न्त पाच अतिचारों का त्याग करना सम्यग्दर्शन क ज्ञानान् गुणों को धारण करना सम्यग्दर्शन का विनय कहलाता है।

(२) ज्ञानविनय—सम्यग्दर्शन को धारण कर ज्ञान विनय है। ज्ञान विनय के ८ भेद हैं उनका क्रमशः यह स्वरूप है—  
 १ योग्यकाल म आगम (मुद्रा) का अध्ययन करना कालावलय २। आगम म आगम क कृता को माहमा का बखण करना भक्ति विनय है।  
 ३ ज्ञानक यह अथ पूरा नही होगा तब तक अमुक वस्तु का भोजन नहीं करूंगा अथवा तने उपवास करूंगा अथवा तपस्या करने को उपधानविनय कहते हैं। ४ मम म न न होता है और ज्ञान ही प्राप्त होता है। ५ पवित्र होकर हाथ नोड़ एकाग्रचित्त में अध्ययन करने को प्रहमम विनय कहते हैं। ६ एकमा गुरु म शास्त्रों का अध्ययन करके भी उसको गुरु न ज्ञाना अथवा उसके स्थान में किसी अथ व्यक्ति को गुरु प्रकट करना अनह्वय कहलाता है। ७ स निह्वय का न होना ही आनह्वय नाम का विनय है। ८ गम्भीरताद्वारा निर्मित अगम का शुद्ध उच्चारण करना अथ (श) शुद्ध नाम का विनय है। ९ आगम का यथा शास्त्रा क अथ का इस प्रकार प्रतिपादन करना जिनस श्रोताओं के ठीक ठीक समझ में आजावे उस अथशुद्ध नाम का विनय कहते हैं। १० आगम क शास्त्र पाठ का तथा अथ का शुद्ध निरूपण

करने को तदुभय (वचन व अर्थ) शुद्धि नाम का विनय कहते हैं। इन आठ प्रकार के ज्ञान के साधनों से आठ कर्मों का व्यपनयन (निराकरण) होता है। इसलिए इनको विनय नाम से कहा है। उस प्रकार ज्ञानविनय के आठ भेदों का बखान हुआ।

(३) चारित्रविनय—चारित्र्य धारण करना चारित्र्यविनय है। पाचव्रतों की जो पच्चीस भावनाएँ हैं (तत्स्यैर्यार्थ भावना पञ्च २ जो इस तत्त्वार्थ सूत्र में निरूपण की गई हैं) उनके चिन्तन करनेका चारित्र्य विनय कहते हैं। अथवा ऋषि अग्निष्ट शास्त्र रूपादि विषयों में रागद्वेष न करने तथा क्रोध आदि चार कषाय इष्ट अनिष्ट हास्यरति अरति आदि नव कषायों का निग्रह करना चारित्र्य विनय कहलाता है।

(४) तपविनय—सयमपालन में उद्यमशील होना दीनता रहित होकर क्षुधादि परिषदों का सहना तपस्य में अनुराग रखना सामर्थ्यिक, प्रतिकर्मण चतुःशतित्तव, वेदना प्रत्यारब्धान और कायोसग इन छह आवश्यक का हीनाधिकता रहित पालन करना तपविनय कहलता है।

(५) उपचारविनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का मन बचव क्रय से प्रत्यक्ष व परोक्ष आदर सत्कार भक्ति करने को उपचार विनय कहते हैं।

सब प्रकार सन्नेप स बिजब का बखान किया है। इच्छका विशेष विशद बखान विनयाचार में कर आये हैं। बहा से जान लता च ह १।

### मनको वश में करने की आवश्यकता

जिनलिंग के धारक समाधिभरण के इच्छुक ने ज्ञानाभ्यास से विनय गुण उत्पन्न कर लिया है उसको अपना मन भी बश में करना चाहिये। क्योंकि जिसका मन बचल है वह अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता है। उसका चारित्र्य तप आदि का आराधन निरर्थक होता है।

चालक्षिगय व उदय सामण्य गलइ अग्निदुदमण्यस ।

कायेख य वायाए बदि वि जधुत्त चरदि भिक्खु ॥१३३॥ (मग०)

अर्थ—जो सयमी शरीर से शास्त्रोक्त क्रियाओं को करता है, तथा वचन से आगमोक्तप्ररूपण करता है तथापि यदि उसका

चित्त काय और वचन के द्वारा किये गये सम्यक आचरण में स्थिर नहीं है एवं विषयों में भ्रमण करता रहता है उस साधुका साधुत्व (सयम) बालनी में गिराये गये पानी के समान निकल जाता है। अर्थात् उसके आत्मा में चारित्र बालनी के पानी के समान नहीं टिकता है।

जब तक मनमें चपलता है। बाहर विषयों की तरफ भटकने की आदत नहीं छूटती है तबतक वह आगे बढ़े व गुंगे के समान है। जैसे आधा बहिरा व गुंगा वस्तुके स मुख रहते हुए भी उसको देखता सुनता नहीं है तथा वचन द्वारा कह नहीं सकता वैसे ही अन्य विषयों में लगा हुआ मन स मुख स्थित रूगादि का ज्ञान नहीं करता है। मन मन्मेन्मत्त हस्ती के समान है। उसको रोकने के लिए स्वाध्याय रूप श खला ही एक मुरय उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है उसीका चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। तथा वही उस अपने आ मा में लगा सकता है।

पका—मनको रोकन का उपाय करने पर भी वह अतिशीघ्र उधर उधर क्यों नौड जाया करता है ? विषयों स हटाने का विचार करते हैं तो भी उन वस्तुओं में पुन पुन चला जाता है इसका क्या कारण है ?

ममाधन—जिन पन्थों में अधिक अनुराग होता है उनमें मन की प्रवृत्ति होती है। जैसे जैसे बाह्य पन्थों से अनुराग घटता है तैसे तैसे उनस मन निवृत्त होकर आत्मा में स्थिर होने लगता है। मनको स्थिर रखने के निमित्त ही सब परिग्रह के त्यागा साधुओं को भी सावधान रहने का उपदेश दिया है और यहा तक कहा है कि उनकी गृहस्थों क संपर्क से बचना चाहिए। सोलिए निरंतर विहार करने का भी उनको आदेश है। निरंतर विहार का वगन हम पहले कर आये हैं। मलिए यहा विशेष बखान न करके उसस होने वाले लाभ का संक्षेप में निरूपण करते हैं।

### निरंतर विहार की उपयोगिता

सतत विहार करनेवाले मुनि क तीर्थंकरों के गभ जम कल्याण के क्षेत्रों के अवलोकन करने से उनकी तपस्या करने को पवित्र भूमि के स्पर्श करने से केवल और मोक्ष कल्याण के परम पवित्र तीर्थों की यात्रा करने स सम्यग्ज्ञान में विद्युद्धि उत्पन्न हाती है।

अनियत विहारी मुनि उज्ज्वल चारित्र के आराधक होते हैं उनको देखकर दूसरे शायिल चारित्र वाले माधु भी अपने चारित्र को निमल बनाते हैं। उनकी समारभीकता व उक्त तपस्या को देखकर अन्य मुनि भी ससार से उद्धिग्न हो तपश्चरण में लीन हो जाते हैं। उत्तम लेख्या के धारक मुनीश्वरों के निमल शान्त स्वभाव को देखकर इतर मुनि भी अपने परिणामों को निमल बनाते हैं। तापय यह है कि सतत विहार करने स साधुओं का परस्पर सहयोग होता है और उनमें जो कमी होती है उसे एक दूसरे को देखकर वे निकालने का प्रयत्न

करते हैं। नियतस्थान पर निवास करने से मुनियों का परस्पर सम्मेलन नहीं होसकता और वे एक दूसरे से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते हैं। तथा अनेक देश नगर ग्रामादि के धर्म प्रिय मनुष्य धर्म के माग से वंचित रहते हैं। सतत विहार करनेवाले मुनि नाना देश के लोगों को धर्म का स्वरूप दिखाकर उन्हें धर्म के माग पर लगाते हैं और धर्मात्माओं को धर्ममाग पर दृढ करते हैं।

नानादेशों में विहार करने से मुनि में क्षुद्रा तथा चर्चा शीत उष्णादि परिषर्णों के सहन करने की शक्ति बढ़ती है। अनक वे ही का परिज्ञान होता है। वहां के धर्माचरणादि का परिस्थिति का परिचय होता है। भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों के साथ धर्मचर्चा करने से तत्त्व ज्ञान में प्रौढ़ता आती है और तत्त्वचिन्तेन करने का वाक्चातुय प्राप्त होता है। अनेक देशों की भिन्न २ भाषाओं का परिज्ञान होता है।

अनियत विहारी के बसतिक्रम में पुस्तकादि उपकरणों में ग्राम नगर देशादि में तथा आवकों में मोह उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये अनन्तर विहार साधु के आचरण व ज्ञानादि को निमग्न करने वाला है।

यह याद रखन की बात है। एक दशांतर में भ्रमण करने मात्र से अनियतविहारी नहीं होता है किन्तु श्रावक लोगों में ममत्व राहत होने से हा अनियतविहार की सफलता मानी गई है। जो साधु यह श्रावक मेरे भक्त हैं मैं इनका स्वामी हूँ इस प्रकार मोह भाव रखता है वह आगमानुकूल देशान्तर में पयटन करता हुआ भी अपने आत्मा को भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण करने के योग्य नहीं बना सकता है।

उक्त प्रकार निरन्तर विहार कर। हुआ साधु व आचाय समाधि मरण के अवसर का आगमन समझकर भक्तप्रत्याख्यान करने में तैयार होता है।

### समाधिमरण के लिए तत्परता

आचाय जब अपनी आयु को अल्प शेष रही जान लेते हैं तब अथवा ऊपर बताये हुए प्राणघातक व्याधि दुर्भिक्षादि कारण उपस्थित होने पर समाधिमरण के लिए तत्पर होते हुए समस्त सध का परित्याग करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय वे विचारते हैं कि

अणुपालिदो ष दीहो परियाओ वायखा य मे दिग्खा ।

शिष्पादिदा य सिस्सा सेय त्वलु अप्पसो कादु ॥ १५४ ॥ ( भग आ० )

अर्थ—मैंने आगमोक्त विधि से चिरकाल पयन्त दशान ज्ञान चारित्र एवं तपकर्म पर्याय की रक्षा की। मैंने शिष्यों को अभ्य

यन भी कराया। अनेक शिष्यों को भगवती दीक्षा भी दी। अब शिष्य भी योग्य व समर्थ होगये हैं। अतः अब मुझे अपना हित करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य क परिणाम उत्पन्न होते हैं और यह श्रेष्ठ भाई हैं। क्योंकि —

आदहिद कादन्व जह सककह परहिद च कादन्व ।

आदहिदपरहिदादा आदहिद मुहु कादन्व ॥ ( भग टीका १५४ )

अथात्—असम आत्मा का हित होता है वही कार्य करना चाहिए यदि आत्महित करते हुए परहित करने का सामर्थ्य हो तो परहित भी अवश्य करना योग्य है। किन्तु जब परहित में लग रहने पर आत्मा का अहित होता हो उस समय परहित की उपेक्षा करके आत्मा का हित करना ही उचित है। इस प्रकार भगवान् कुन्तलाचार्य की आज्ञा है। अतः सब के नाथक आचार्य अतः समय अपने आत्मा में परम निराकुलता उत्पन्न करने के निम्न शिष्यों के शासन कार्य का परित्याग कर देते हैं।

तथा सामान्यसाधु भी प्राण्यतकक्याचि दुर्भिक्षादि के उपस्थित होने अथवा आयु के अन्तिम समय का निम्न्य होने पर अपने आत्महित में वार होता है। आगम में कहा है —

एव विचारयिचा सदि माहृष्ये य आउमे अमदि ।

अखिगृह्दिबलचिरियो कुष्यदि मदि मत्तवोसरणे ॥ १५८ ॥ ( भग० )

अथ—अपने आत्महित का विचार कर स्मरण शक्ति के रहते हुए आयु के अन्तिम समय में अपने बल व वीर्य को न छिपाकर साधु अक्षप्रयत्नानुसंधान ( समाधि मरणा ) करने का विचार करता है।

वह सोचता है कि जब तक मेरी स्मरण शक्ति बनी हुई है शारीरिक शक्ति वीर्य नहीं हुई है बचन उच्चारण करने में भी कुल वृत्ति नहीं उत्पन्न हुई है और आत्महित का विचार करने का बल जब तक नष्ट नहीं हुआ है, चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति भी जब तक नष्ट नहीं है तब तक ही मुझे अपना आत्महित कर लेना चाहिए। क्योंकि स्मृति भ्रष्ट होजाने पर रत्नत्रय का आचारण कैसे हो सकेगा ? तथा शारीरिक शक्ति का जय होने पर आत्मपदानि योगों का अनशनानि तपस्वरण का और ईश्याममिति आदि चारित्र का पालन कैसे कर सकूंगा ? शक्ति के अभाव से चारित्र के पालन में अरुचि उत्पन्न हो जाने पर मेरा समय रत्न लुप्त जावेगा चक्षु व श्रोत्र के आश्रित समय का पालन होता है और जब वे उच्च देखेंगे तब मेरा जीवन का सार खयम नष्ट हो जावेगा। अतः इन सब के अनुकूल रहते मुझे आत्म

कल्पाण के लिए भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण का आचरण करलेना उचित है। वह यह भी सोचता है कि इस समय मेरे शुभोदय से समाधिमरण के सहायक नियॉपक आचार्य तथा नियॉपक ( वैयाञ्ज्य करने वाले ) साधु आदि भी सुलभ हैं। नियॉपकालाव ऋद्धिगारव रसगारव और सात गारव रहित होना चाहिए सो मुझे इस समय सुप्राप्य है। ऋद्धि प्रिय आचार्य असयमी को भी नियॉपक पद पर स्थापित कर देते हैं। ये तीनों ही दोष नियॉपक में नहीं होना चाहिए क्योंकि असयमी नियॉपक साधु को समाधि मरण में क्या मदद दे सकता है ? जो स्वयं असयम से नहीं डरता है वह असयम के कारणों का और असंयमाचार का परिहार कैसे कर सकता है ? और इमी तरह जो रस ( आहारगदि ) त.ग. सात ( सुख ) गारव युक्त होता है उससे क्लेशों का सदन कैसे होसकता है ? जो अपने शरीरगदि के कष्ट का सहन करने की शक्ति नहीं रखता वह आराधक के वय वृत्त्य के क्लेश को कैसे सह सकता है ? किन्तु इस समय तो दशन ज्ञान और चारित्र का सुन्दर आचरण करने वाले नियॉपक का सयोग मिलरहा है। अतएव मुझे विद्वानों से मान्य भक्तप्रत्याख्यान का आचरण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है।

इस प्रकार के विचारों से सुनि के शान्ति पूर्वक शरीर त्याग करने की दृढ़ता हो जाती है यदि आसातावेदनीय कम के तीव्र वृत्त्य से उसके शरीर में तीव्र वेदना भी उपस्थित होजाय तो उक्त प्रकारस परिणामों में दृढ़ता आजाने से उसको दुःख नहीं होता है क्योंकि जीने की आशा उसके चित्त में लेशमात्र भी नहीं है वह तो शान्ति धारणकर मरण करने में उद्यमी हो रहा है, अत उसके परिणामों में निमलता बनी रहती है।

समाधिमरण करने में तत्पर हुआ साधु पिच्छा और जमण्डलु क सिवा सब का परित्याग कर ता है। ज्ञान को साधनभूत पुस्तक भी उस समय परिग्रह मानी गई है। वह उसका भी त्याग कर देता है।

**समाधिमरण में शुद्धियों की आवश्यकता और उनके भेद**

समाधि मरण में अमसर होने के लिए शुद्धियों की नितान्त आवश्यकता है और वे शुद्धियाँ पाच होती हैं। यथा —

**आलोचन्याय सेजासथाकृवहीष भक्तपोष्यस्स ।**

**वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पचहा होइ ॥ १६६ ॥ ( भग० आ० )**

अथ—आलोचना शुद्धि, राय्या सस्तर शुद्धि उपकरण्य शुद्धि भोजनपान शुद्धि और वैयाञ्ज्य शुद्धि इस प्रकार शुद्धियाँ के पाच

भेद हैं। जिस साधु ने पहिलमरण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है उसको उक्त पाच प्रकार की शुद्धियों को चारण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। न पाचों शुद्धियों का साक्षात् स्वरूप यह है।

( १ ) आलोचनाशुद्धि—मायाचार रहित और असत्यभाषण रहित गुरु के निकट अपने अपराधों को प्रकट करना आलोचना शुद्धि कहलाती है। जो साधु अपने व्रताचरण में लगे हुए दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट नहीं करता उसका आत्मा मलीन रहता है उस मलीनता को दूर करने का लिए गुरु के समीप अपने दोषों को ज्यों के त्यों प्रकट कर देना चाहिए। दोषों को प्रकट कर देने पर आत्मा स्वच्छ हो जाता है।

( २ ) शय्या सस्तर शुद्धि—शय्या ( वसति) और सस्तर में उद्गम उत्पानादि दोषों को नहीं लगाना तथा यह शय्या व सस्तर मेरा है ऐसा ममत्व न रखना शय्या सस्तर शुद्धि है। उद्गम उत्पानादि दोषों का स्वरूप एषणाशुद्धि के प्रकरण में कथ आये हैं वहा से जान लेना चाहिए। जो शय्या-सस्तर में ममता रखता है वह परिग्रही माना जाता है उसमें ममत्व का त्याग करने में ही परिग्रह का अभाव होता है जो कि आत्मा को शुद्ध बनाने में मुख्य कारण होता है।

( ३ ) उपकरणशुद्धि—पिन्डी कमलु भी उद्गमान्ति दोष रहित तथा ममेत् इम ममत्व स्वरूप से रहित होना चाहिए। जो उपकरण उद्गम उपादानादि दोष से युक्त होते हैं वे डिमान्ति पापों के जनक होते हैं तथा उनमें ममत्व रहने से वे परिग्रह माने गये हैं इसलिए निरपि-पकरण में भी मोह का त्याग करना आवश्यक है नहीं तो आत्मा में विशुद्धि नहीं आती।

( ४ ) भक्षपानशुद्धि—अधकम उद्गम उपादाना उद्दिष्टान्ति दोष सहित भोजन और पान का ग्रहण न करने से भोजन पान शुद्धि होती है। निरपि भोजन पान में भी मोह रहने से वह भी परिग्रही रूप होजाते हैं इसलिए निरपि और मोहरहित शास्त्र विधि के अनुकूल आहारजलान्ति वा ग्रहण करने से भक्षपान शुद्धि होती है।

( ५ ) वैवावृत्त्यकरणशुद्धि—सयमी की मन्त्रा ( वयावृत्त्य ) जिस रीति से की जाती है उस पद्धति का ज्ञान वैवावृत्त्य शुद्धि मानी गई है। जिसको मुनि के योग्य वैवावृत्त्य का ज्ञान नहीं है उसका वैवावृत्त्य शुद्धि का अभाव है।

दूमरी तरह से शुद्धियों के भेद।

शून्यशुद्धि ज्ञानशुद्धि चाग्रिशुद्धि विनयशुद्धि और आवासशुद्धि इस तरह भी शुद्धियों के पाच भेद माने गये हैं। इन शुद्धियों के चारण करने में अशुभ योगान्ति भावदोषों का निरास होना है। इन भावदोषों के निवारण करने से परिग्रह का परिहार होता

६। इन शुद्धियों का सत्सैप स्वरूप यह है।

(१) नशानशुद्धि—निश्शुद्धित आत्नि गुणों का आत्मा में प्रकट होना ही दशानशुद्धि है। इस के प्रकट हो जाने से राका काष्ठादि अशुभ परिणाम का नाश हो जाता है।

(२) ज्ञानशुद्धि—आगम का योग्य काल में अध्ययन करना जिसस विद्या का अध्ययन किया है उस गुह का व शास्त्र का नाम न ज्ञापना त्यागि आठ प्रकार की ज्ञान शुद्धि है। इस शुद्धि के उत्पन्न होने पर सूत्रों का अकाल में अध्ययनदि क्रियाओं से जो ज्ञाना वरण रुम का आम्बव होता था उसका अभाव हो जाता है।

(३) चारित्रशुद्धि—अर्थात् पाच प्रतों का पक्कीस भावनाओं का उत्तम रीति से पालन करने से चारित्र शुद्धि होती है। इन भावनाओं का परित्याग करने में अत करण में मलिनता आती है और इससे अशुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं। ये अशुभ परिणाम ही आभ्यन्तर परिग्रह हैं मालए उन अशुभ परिणामों का परित्याग करना ही चारित्रशुद्धि मानी गई है।

(४) विनयशुद्धि—यज्ञ समान आत्नि लौकिक फल की अभिलाषा का त्याग कर पूजनीयों का विनय करना विनयशुद्धि है। इस विन शक्ति का आचरण करने से मानाविकषाय का अभाव हो जाता है।

(५) आचर्यकशुद्धि—पापजनक मन वचन काय की प्रवृत्ति का त्याग करना जिनेन्द्र के गुणों में भक्ति रखना बंधमान आचार्यों के गुणों का अनुसरण करना किये हुए अपराधों की निन्दा करना मन से अपराधों का त्याग करना काय की निसारता आदि न चिन्तन करना ये सब आवश्यक शुद्धि है। इस शुद्धि के होने पर अशुभ (पापजनक) मनवचन काय की प्रवृत्ति का, जिनेन्द्र गुण में अप्रीति का आगम के महत्व में आन्तर का आचार्यादिपूय पुरुषों के गुणों में अरुचि का अपराधों की अग्लानि का त्याग रहित परिणाम का संसार की सारता और शरीर की ममता का त्याग होता है। शुद्धियों की तरह स्यासमरण धारण करनेवाले को पाच प्रकार का विवेक भी धारण करना चाहिए। इस लिए प्रसंगानुसार यहा विवेकों का वरण भी कर देते हैं।

पाच प्रकार का विवेक

इन्द्रियकसायउवधीष् भक्षपाण्यस चावि देहसस।

एस विवेगो भग्निदो पचविषो दन्वभाषगदो ॥ १६८ ॥ ( भग० भा० )

अथ—१ इन्द्रियविवेक २ कषायविवेक, ३ उपचिविवेक ४ भक्षपानविवेक ५ देहविवेक, इस प्रकार विवेक के पाच भेद हैं।

( १ ) इन्द्रियविवेक—रूपान् विषयों में चक्षुआदि इन्द्रियों की जो राग व द्र रूप प्रवृत्ति होती है उसको रोकना इन्द्रिय विवेक है। इसके दो भेद हैं—द्रय इन्द्रिय विवेक और भाव इन्द्रिय-विवेक। मैं उसके कठोर कुचों को देखता हूँ मैं उसके नितम्ब या रोमपत्ति का अवलोकन करता हूँ उसके अत्यन्त पुष्ट जघन का स्पर्श करता हूँ उसके मधुर गान को सुनता हूँ उसके मुखकमल की सुगंध को सूंघता हूँ उसके विष्व समान श्रोत्र का रसास्वादन करता हूँ—स प्रकार के विषयों में अनुराग उपलब्ध करने वाले वचनों का उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है। अचानक चक्षु आदि इन्द्रियों की रूपान् विषयों में प्रवृत्ति हो जाने पर जो ज्ञान होता है उसमें रागद्वेष का मिश्रण न करना अर्थात् चक्षु आदि के द्वारा जाने हुए भले बुरे रूपान् विषयों में राग व द्र परूप परिणाम उत्पन्न न करना भाव इन्द्रिय विवेक है।

( २ ) कषायविवेक—क्रोधान् के विषयभूत पदार्थ में क्रोधान् न करने को कषाय विवेक कहते हैं। कषाय विवेक दो प्रकार का है। १ काय जनित और २ वचनजनित। भौहें सुकोढ़ना लालनेत्र करना होठ हमना शस्त्र हाथ में लेना इत्यादि काय द्वारा कषाय न करना कयजनित क्रोधकषायविवेक कहलाता है। मैं तुझे जान से मारहालूंगा पीटूंगा तुझे सुली पर चढा दूंगा इत्यादि कषाय युक्त वचन न बोलना यह वचन जनित क्रोधकषायविवेक होता है। दूसरे के निरस्त्वान् करन पर भी अपने मन में क्रोध रूप परिणाम न होना भाव से क्रोध कषाय विवेक होता है। सा तरह मानकषाय विवेक भी काय स आर वचन स होता है। शरीर के अवयवों का अकहाना सिर को ऊंचा उटाकर चलना ऊंचे आसन पर बठना इत्यादि अभिमान प्रकट करने वाला क्रियाओं को न करना कायजनित मानकषायविवेक होता है। मुझमें अधिक कौन आगम का वेत्ता है कौन सच्चाग्र है ? मुझ स उत्कृष्ट तस्त्रो फोन है ? इत्यादि अभिमान भरवचन उच्चारण न करने को वचनजनित मानकषाय विवेक कहत ह। मैं ज्ञान चारित्र व तप में सबस महान् हूँ इस प्रकार का मन में विचार न करने को भाव स मानकषाय विवेक कहते हैं। मायाविवेक भी दो प्रकार का है—किसी व्यक्तिविशेष कस्मन्व म बोलना दुष्प्रभा भी मानो किसी अन्य व्यक्ति के लिए बाल रहा है—स तरह के वचन का याग करना अथवा मायाचार क उपदेश का याग करना या मैं माया न करूंगा न करवाऊंगा और न माया करते हुए की अनुमोचना करूंगा यन् सब वचनजनित मायाकषाय विवेक कहलाता है। शरीर स करना कुड़ और लोर्गा को दिखाना कुड़ इमका याग करने को काय जनित मायाकषाय विवेक कजाता है। लोभविवेक—अन्य और भाव के मन् में दो प्रकार का है। जिस पत्न्य का लोभ है उसको लेने के लिए हाथ फैलाना पत्य के धन को मुरझित रखना उस वस्तु को लेने की उच्छ्वा रखने वाले मनुष्य को हाथ के इशारे या सिर हिलाकर मना करना इत्यादि लोभ विषयक क्रियाओं के यागन से कायसे लोभकषाय का विवेक होता है। यह वस्तु मेरी है इस वचन प्रामाणिक मैं स्वामी हूँ—इत्यादि वचन न बोलने को वचनजनित लोभकषाय का विवेक कहते हैं। क्रिमी वस्तु में ममत्तरूप परिणाम न करने को मनोजनित लोभ कषाय विवेक कहते हैं।

( ३ ) उपधि विवेक—शरीर से पुस्तकादि उपकरणों का प्रहण न करना न अन्य जगह उनको स्थापन करना और न कहीं पर

रखा कर उनकी रक्षा करना यह कायजनित उपधिविवेक होता है। इन ज्ञानोपकरणों का मैंने त्याग किया इस प्रकार वचनों का उच्चारण करना यह वचन जनित उपधि विवेक होता है।

( ४ ) भक्तपान-विवेक—भोजन और पान करने की वस्तुओं के खाने पीने का त्याग करना कायद्वारा होने वाला भक्त-पान का विवेक होता है। असुक भोजन व पान का मैं याग करता हूँ ऐसे वचन को वचन द्वारा होनेवाला भक्त पान का विवेक कहा जाता है।

( ५ ) देह-विवेक—यह देह विवेक भी शरीर और वचन के द्वारा होता है।

शंका—संसारी जीवों के शरीर में विवेक ( पृथक् होना ) कैसे हो सकता है ?

समाधान—अपने शरीर से अपने शरीर सम्बन्धी उपद्रव का निवारण न करना अर्थात् अपने किसी शरीर के हस्त पादादि अवयव में जहरीला फोड़ा उत्पन्न हो जाने पर उमङ्ग निवारण अपने शरीर से न करना यह शरीर द्वारा होने वाला अपने शरीर का विवेक कहा जाता है। अथवा अपने शरीर पर उपद्रव करने वाले मनुष्य तिर्यच या देव को तुम उपद्रव मत करो इस प्रकार के हस्त संवेत्ता से अर्थात् हाथ हिलाकर जो मना नहीं करता व शरीर जो सताने वाले डास मच्छर विच्छेद सर्पादि को जो अपने हाथ से नहीं हटाता है पिच्छी आदि उपकरण से या लकड़ी आदि से दूर नहीं करता है तथा ज्वर पिच्छिका चटाई आवरण आदि से शरीर की रक्षा नहीं करता है, उसके शरीर द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

मेरे शरीर को पीडा मत दो मेरी रक्षा करो ऐसे वचनों का उच्चारण न करना यह शरीर अचेतन है, मुझ से भिन्न है ऐसे वचन बोलना वचन द्वारा होने वाला देह का विवेक होता है।

विवेक के दूसरे प्रकार से कहें मेद

अहंवा सरीरसेज्जा सथाकृवहीस्य भक्तपाहस्तस ।

वेज्जावच्चकरास्य य होइ विवेगो तदा चेत् ॥ १६६ ॥ ( भग० )

अर्थ—शरीरविवेक, शम्भ्याविवेक, संस्तारविवेक, उपधिविवेक, भक्तपानविवेक और वैयावृत्त्य करने वालों का विवेक इस प्रकार भी विवेक का अर्थान किया गया है।

विवेक के एक लक्ष्य में से शरीरविवेक उपधिविवेक और भक्षणविवेक का वर्णन तो ऊपर ही हुआ है। शेष शारीरविवेक संस्तरविवेक और वैश्यावृत्त्य विवेक इन तीनों का स्वरूप विलेखित हैं।

शारीरविवेक—पहले जिस वसतििका में रहते थे उसमें नहीं ठहरना यह शय्या का विवेक कायजनित होता है। मैं इस वसतििका का त्याग करता हूँ ऐसे वचनों से वसतििका के त्याग करने को वचनजनित शय्या का विवेक कहते हैं।

संस्तरविवेक—पहले जिस संस्तर पर बैठते या मोते थे उस पर न सोना व न बैठना इसको कायजनित संस्तर विवेक कहते हैं। मैं संस्तर का त्याग करता हूँ ऐसे वचन बोलकर संस्तर का त्याग करना वचनजनित संस्तरविवेक कहलाता है।

वैश्यावृत्त्यविवेक—जो शिष्यादि वैश्यावृत्त्य करने वाले हैं उनको शरीर में अलग कर देना उनके साथ न रहना यह कायजनित वैश्यावृत्त्यविवेक कहलाता है। तुम लोग मेरा वैश्यावृत्त्य मत करा मैंने तुमझारा त्याग कर लिया है। इस प्रकार वचन बोलकर वैश्यावृत्त्य करने वालों का त्याग करना वह वचन जनित वैश्यावृत्त्य विवेक कहा जाता है। किन्तु यह सब विवेक भाव जनित ही होना चाहिए नहीं तो सब कुछ निष्फल है। सम्पूर्ण शरीरगति पदार्थों से अनुगम का त्याग करना अथवा उनके साथ मम न भाव न रखना ही भावविवेक होता है। भावविवेक ही सल्लेखना की जान है। सल्लेखना के लिए उद्यमी साधु सग्राह्या के स्वरूप को पुद्गलानि से भिन्न अनुभव करता हुआ पुद्गल की पर्यायों से मोह का त्याग करता है तथा उनका मम न भाव न रखता है। तथा शरीर में आहारानि से भी राग सम्बन्ध का त्याग करता है और समता भाव को स्वीकार करता है। सब परपरागर्ह से अपने को भिन्न अनुभव करता हुआ वह अपने रत्नत्रय की वृद्धि में ही संतुष्ट रहता है। उसको अपने शरीर से भाव नितान्न उपजा होनाती है। यह विचारता है कि शरीर नि सार है महान् अशुचि पदार्थों का घर है यह आत्मा के परिणामों को मलान कर उसको कमवचन में डालता है यह जराभरण से युक्त है नित्य दुःख देने वाला है। इस प्रकार चिन्तन कर शरीर से निःसृष्ट होता है और आत्मा को सुखी बनाने वाले सम्यग्ज्ञान सम्यग्दान और सम्यक्चारित्र्य रूप आत्मा के भावों को उत्तरोत्तर अति उज्वल करता है।

### आचार्य पद का त्याग

जब संघ का नायक आचार्य मल्लेखना करने के लिए उद्यक्त होता है तब अपना आचार्यपद त्याग देना है और आचार्य पद के भार का वहन करने में ममत्त नो साधु होता है। उस मुनि आर्या आचर्य और आर्या चतुर्वेध मप के मध्य विठ्ठाकर मव संघ को सुचिन करता है कि इतने समयतक मैंने संघ को सवाकी है अब मैं आत्मा कायाण करने लिए संघ से अपना सम्बन्ध छोटा हूँ और संघ पर चारित्र्य क्लृप्त न श्रिता उत्तमशील स्वभाव वाले व्यवहार निपुण आगम के रहस्य के वंता, इस साधु को स्थापित करता हूँ। आज से यह तुम्हारे

आचाय है। यह अपना व तुम्हारा उद्धार करने में तपर रहेंगे। अतः आप लोगों को इनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार कहकर सध ना भार उस आचाय पर रखकर परमशुभ परिणामों से सब से पृथक् हो जाते हैं और अपने आत्मा को निमल्ल करने में दत्तचित्त हो जाते हैं। ये अपने आत्मा को शुभ भावनाओं से संस्कृत करते और कुभावनान्ना का सप्रथा परिहार करते हैं। वे कुभावनान्ना विद्वानों ने पाच प्रकार की बतलाई हैं। यथा —

कादर्पी कैल्विपी प्राज्ञैरामियोग्यासुरी तथा

सामोही पचमी हेया सक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥ ( भग० आ० संस्कृत १८१ )

अथ—विद्वाना ने कादर्पी कैल्विपी आभियोग्या आसुरी और सामोही ये पाच भावनाएँ सत्ता वाज्य मानी हैं। अर्थात् इनका आत्मा में एक क्षण भर के लिए भी रहना दृढ कम बन्ध का कारण है। इन भावनाओं का स्वरूप पहले लिख आये हैं, इसलिए यहाँ नहीं लिखा गया है।

सधु को उक्त पाच कुभावनान्नाओं का परित्याग कर पाच शुभ भावनाओं में प्रवृत्ति करना चाहिए।

पाच शुभ भावनान्ना

तवभावणा य सुदमत्तभावणोत्तमात्तमे चेव ।

धिदिबलविभावणाविय असक्लिष्टाधि पचविहा ॥ १८७ ॥ ( भग० )

अथ— १ तपभावना २ अतभावना ३ सत्त्व ( अभीरुत्व ) भावना ४ एकत्वभावना और ५ धृतिबल भावना ये पाच प्रकार की उत्कृष्ट भावनाएँ आत्मा को सद्गति में लेजाने वाली हैं। इनका सत्तित्त स्वरूप यह है —

१) तपभावना—जड़ प्रकार के बाह्य और जड़ प्रकार के अन्तरंग तपों का अभ्यास करना तपभावना है। बार बार अनशान्ति तप करने से पाँची इन्द्रिया बरा में होती है। इन्द्रियों का निग्रह होने से समाधिपरण के अभिलाषी आचाय के समाधि के कारणभूत रत्नत्रय का आराधन होता है।

आराय यह है कि तपस्या से इन्द्रियों का दमन होता है और दमन को प्राप्त हुई इन्द्रियों मन में क्रम विकार उत्पन्न करने में

समय नहीं होती है। जब शरीर कुरा होजाता है और इन्द्रिया प्रशान्त हो जाती हैं तब स्त्री के साथ कामकीड़ा आलिंगनादि क्रियाओं में आह्वार भाव नहीं होता है यह सुप्रसिद्ध है।

शका—अनशन ( उपवास ) आदि तपश्चरण में प्रवृत्त हुए पुरुष को आहार के दान से उसका विचार करने से सुनने से भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है अतः तपोभावना से इन्द्रिया विषय से विरक्त होती हैं यह कहना अयोग्य है।

सामाधान—आत्मा जब तक वस्तु का याग नहीं करता है तब तक उसका चित्त उस वस्तु की ओर दौड़ता है और जब उसका याग करता है अर्थात् उस से अनुराग हटा लेना है तब चित्त की प्रवृत्ति तबने समय के लिए उस वस्तु से हट जाती है। क्योंकि पदाथ को ग्रहण करने की इच्छा अनुराग से होती है अनुराग क अभाव में उपेक्षाभाव उत्पन्न होता है और उपेक्षा के कारण आत्मा उपेक्षित पदाथ से विरक्त होता है अतः तपोभावना से आत्मा में राग इष का अभाव होता है और रागद्वेष के अभाव से कम का बन्ध नहीं होता किन्तु मन्त्र और निजरा होती है।

जो तपो भानना से रहित है उसमें क्या शेष उत्पन्न होता है इसे लिखते हैं।

पुष्पमकारिन्जोग्गो समाधिकामो तथा मरणाकाले।

य भवति परीसहमहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १६१ ॥

जाग्मकारिज्जतो अस्सो दुहभाविदा चिरकाल।

रथभूमिण वाहिज्जमाणओ कुण्णदि जह कज्ज ॥ १६२ ॥ ( भग० आ० )

अर्थ—समाधिमरण करने क अभिलाषी जिस मनुष्य ने पहले क्षुधा वृषान्ति परीषह सहन करने का अभ्यास नहीं किया है वह आहारान्ति का लम्पटी मरण समय में क्षुधात्ति की परिषहों को सहन करने में असमर्थ होता है। उसका चित्त विषयों से पराङ्मुख ( विरक्त ) नहीं होसकता है। जिस घोड को पहले शान्तों का सकेत नहीं सिखाया गया है चञ्चलने दृष्टने, घूमने आदि बातों की शिशा नहीं दी गई है जो चिरकाल तक मुख से पाला गया है जिसने शीत धाम आन्ति की बाधा को नहीं सदा है वह घोडा रणाङ्गण में किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं हाता। वह युद्धस्थल से या ता भाग जाता है या अपने और अपने स्वामी ( अस्वारोही ) योद्धा के भी प्राण छोदेता है। वस ही जिस साधु ने अनशनान्ति तप करके इन्द्रियों को बश में करने की शक्ति नहीं प्राप्त की है वह मरण समय में क्षुधादि परीषह को सहने

भे चमता नहीं रहता है। उसका मन आहारानि विषयों में आसक्त रहता है अतः वह समाधि (रागद्वेष के अभाव) को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः मुनि को चाहिए कि वह चारित्र्य का मार जो ममाधिमरण है उसको प्राप्त करने के लिए तपस्या का अभ्यास करता रहे। वह अभ्यास उसको अन्त समय में महान सहायक सिद्ध होगा।

( २ ) श्रुतभावना—आगम में अभ्यास करने से वस्तु के स्वरूप का प्रतिभास होता है जीव और अजीव का भेद विज्ञान होता है। भेद विज्ञान होने से सम्यग्दर्शन ( शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव ) होता है। आगम के अभ्यास से चारित्र्य का महत्त्व प्रतीत होता है और उसमें प्रवृत्ति होती है साम्यभाव की प्राप्ति होती है कर्म की निजरा के साधनभूत तपश्चरण में अनुराग उत्पन्न होता है और समय की ओर आगम का परिणाम होता है।

शका—आगम के अभ्यास से तो आत्मा में ज्ञान की वृद्धि होती है उससे सम्यग्दर्शन चारित्र्य तपः समय की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जैसे क्रोध का सेवन करने वाला क्रोधी बन जाता है मायावी नहीं बनता। इसी प्रकार ज्ञान का सेवन करने वाला ज्ञानी हो सकता है किन्तु सम्यग्दर्शि वपस्वी और संयमी नहीं हो सकता है। आपने आगम के अभ्यास से सम्यग्दर्शनात् की प्राप्ति होती है ऐसा कैसे कहा है ?

समाधान—जो वस्तु जिसके बिना रहा होती है और उसका होना पर ही होती है वह उससे उत्पन्न हुई कही जाती है। जैसे जो कृतक (किसी से उत्पन्न हुआ) होता है वह प्रतिय होता है। ऐसी प्राप्ति है। उसी प्रकार जिसको आगम का ज्ञान है उसी के सम्यग्दर्शन तप और समय होते हैं। जिसको आगम का ज्ञान नहीं है उसके सम्यग्दर्शन तप और समय नहीं हो सकते हैं। ऐसा कहने में कोई लोच नहीं आता है।

शका—आगम के ज्ञान से सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न हो सकता है किन्तु तपः समय उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि हो तो असंयत सम्यग्दर्शि के भी समय तप आदि मानने पड़ेंगे और यदि उनके समय तथा तप आदि मान लिया जाय तो उनको असंयत कैसे कहा जावेगा ? इमलिए मानना पड़ेगा कि असंयत सम्यग्दर्शि के समय व तप नहीं हैं। तो फिर आगमज्ञान के अभ्यास से तप संयम की उत्पत्ति का उपयुक्त कथन असत्य सिद्ध हुआ।

समाधान—जिनागम के अभ्यास से तप समय आदि उत्पन्न होते हैं इस कथन का आशय यह है कि यदि तप और समय होंगे तो आगम के ज्ञान व ही हो सकते हैं। आगम के ज्ञान बिना तप समय की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी व्याप्ति समझनी चाहिए। आगम के ज्ञान के अन्वय तप समय होते हैं ऐसी प्राप्ति नहीं बनाई है।

आशय यह है कि जिसको सस्यन्शन की तथा तप और सयम की प्राप्ति करना है उसे आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। आगम के ज्ञान में कालक्षण आदि का योग मिलने पर सस्यन्शन की उपत्ति होती है और निरन्तर आगम का अनुशीलन करने से तप व सयम में आनन्द भाव उपन्न होना है उससे कर्मों की निवृत्ति होता है। चारित्र्य मोहनाय के तात्रकम् (अप्रचारयानादि) की निर्वृत्ति होने पर तप व सयम की प्राप्ति होती है अर्थात् चारित्र्य मोहनीय के क्षयोपराम संहित आगम ज्ञान में ही तप सयम होते हैं।

जा ज्ञानी है आगम का मर्म समझने वाला है उसका नित्य अभ्यास करने वाला है वह क्षुधादि पीडाओं के उपास्थित होने पर भी माग से विचलित नहीं होता है। आगम के निरन्तर अभ्यास से उसकी बुद्धि निर्मल रहती है। उस का ज्ञान उदापोह के सामर्थ्य से युक्त होता है। उदापोह के अभ्यास से उमवा जिनाम कथिय में सकार एव स्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है और वह मूक के समय भी बना रहता है जितना मनुष्य की प्रवृत्तिया होती हैं वे सब सस्मा व आश्रित होती हैं अतः तप सयम की प्रवृत्ति में भी आगम का सकार उपयोगी होता है। इस प्रकार ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन किया।

( ३ ) मन्त्र (अभीष्ट व) भावना—विम मन य में आनन्द है उद भगानक उन्त्रों के उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता है। उसको चलायमान करने का सामर्थ्य देवों से भी नहीं होता और जो कौन कर्म आगम में कहा है—

देवन्ति भेमिदा विदु कयावराधो भीमरूवेहिं ।

ना मत्तभावणाए वहह भर शि भद्रो सयल ॥ १६६ ॥

वहसा वि जुद्धभावणाए ण भडो हु मुज्झन्ति रणम्मि ।

तह मत्तभावणाए ण मुक्कन्ति मुग्घो वि बोमग्गे ॥ १६७ ॥ ( भग आ )

अर्थ—म वभावना ( निर्भयता ) का अभ्यास जिस गानुने किया है वह यात्र मिह मरान्ति रूपों को धारण करने वाले देवों से सताया गया भयभीत किया गया भी सामने आये हुए सब कर्मों का आलिंगन करता हुआ सयम क मसत भार को धारण करता रहता है। वह सममता है कि यह उपनग मरा प्रण हरण कर मन्त्रे न मन्त्र उन प्राणा से मरे आमा का कुल भी सस्यन्ध नहीं है मैं ता अनर अमर शरीर हा का तो नाश होता है और यह तो कम जय है। मेरा धन तो रानत्रय है। यदि मैंने इन उपन्नों से भयभीत होकर संयम का परित्याग कर लिय तो फिर कर्म-शत्रुओं का नाश करना अशक्य हो जावेगा। कर्मों का विनाश न होने से आमा की समय २ पर महती पीडाए भोगनी पड़गी। अतः भय सब अनर्गों का मूल कारण है। ऐसा विश्रय कर भय से विचलित नहीं होता है। जिस बीर योद्धा ने अनेक

समार्पण का अनुभव किया है वह रणभूमि में जाकर भयभीत नहीं होता किन्तु उस साहसिक अंगुली रणकुशलता को दिखाने के लिए उद्यत होता है। वमनी जिस साधु ने निर्भीकता का अभ्यास किया है वह भयानक उपद्रवों के उपरिगत होने पर भी अपने सयम स विचलित नहीं होता है बल्कि अपने को सबाधित करने हण यों कहता है। "हे आत्मन् ! तुमने समार के दुःखों से भयभीत होकर उन दुःखों का समूलनाश करने के लिए यह वीर भेष धारण किया है। अनादि काल से दुःख देने वाले मोहिनि शत्रुओं को तुमने पहचान लिया है और उनके मूलोच्छेद करने के लिए सयम शस्त्र हाथ में लिया है। वे मोहिनि शत्रु तुमसे अनेक प्रकार से बोला है पर तुम्हारे हाथ में सयम शस्त्र छोतना चाहते हैं। रणकुशल योद्धा शत्रु का चालनाचियों में नहीं आता है। वह सत्ता साधन रहता है। इस प्रकार तुमको भी सत्ता बौकला रहना चाहिए। ये अनेक प्रकार के भय सयम को छूटने वाले मोहनीय रम के सुभ्र हैं। उनमें सचन रहो। यह तुम्हारा कुञ्ज भी विगाड़ करने में समर्थ नहीं है। तुम अचानक चैतन्य स्वरूप हो। तुम्हारा मन गन्तव्य है। उसका नाश करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। निहयात्र सपानि जितने भी भयानक पदाथ हैं वे स पुद्गलमय शरीर का विनाश कर सकते हैं। पर यह शरीर तुम्हारा नहीं है। अतः उन आगतु क भयानक उपद्रवों से यदि भयभात हाकर विचलित होगय तो तुम्हारा मन गन्तव्य धम नष्ट हो जावेगा। फिर इसका पाना अति दुष्कर है।

हे आत्मन् ! ठोड़ा चार कर। तूने प्रथमी शरीर धारण किया उस समय खोदन जलाने हल के द्वारा विदीण करने कूटने फोडने पीसने चूण करन आदि का भयकर बाधाए तूने सही हैं।

जब तूने जल पाय धारण की तब प्रखर सूर्य का निरशों से तथा दहवती हुई अग्नि की चालाओं से तेरा शरीर अत्यन्त जलता रहा। पवन के तरारों गुफाओं और शिखरों में अतिवेग में नीचे गिराओं पर गिरने में महा दुःख का अनुभव तूने हुआ था। लवण क्षार और स्फट पदार्थों के साथ तेरा सयोग किया गया था उस समय भयानक वेगना तेने सनी थी। धग्धगायमान अग्नि के ऊपर डालन से तुझे अतिशय दुःख भोगना पडा था। वृत्तों पर गिरकर नीचे कठिन भूम पर गिरने में तरते हुए मनुष्य आदि प्राणियों के पात्रों और हाथों के आघातों से विशाल वक्षस्थल की चोट में विशालनाश हायी मग मन्त्राणि जायी के उड्डलन कूटने तैरन सूड से जनका मथने आदि क्रियाओं से तेरे शरीर का मदन व विनाश किया गया उस समय के दुःखों का वणन वचनागोचर है। ऐस दुख भी तूने अनेक बार सहे हैं।

जल पर्याय को छाड़ कर जब तन वायुरूप शरीर धारण किया तब पहाडों वृत्तों कनेली मण्डियों से टकराकर तथा अग्नि के सयोग से जल कर पखे आदि के आघात से प्राणियों के कठिन शरीर के आघात से शरीर की गर्मी के सश से जलते हुए बन की ऊंची उगलाओं तथा सत्ता काल-समान आग का उगलन वाले शाली मुखी पत्रों में गिरने से तूने रोमाचकारी दुःखों को अनेक बार सहन किया है।

जब वायु के शरीर में छोडकर तू अग्नि के शरीर में गया अथवा आग रूप शरीर धारण किया तब अनेक प्रकार की वूल से

भस्म से बाह्येन से तेरा शरीर नष्ट किया गया। जूतों से रौंटा गया। मूसल समान जलधारा डालकर तेरा नाश किया। काष्ठ पथर आदि से ठोककर तेरा चूरा किया गया। मिट्टी के डेलों और पथरों के नीचे तबाकर तेरा कचूर निकाला गया। वायु के प्रबल धक्के खाकर तू दुःख से विह्वल होकर प्राण रहित हुआ।

बस अन्न व शरीर तो छोड़ रतूने बनसत न । शरीर धारण किया तब तू करी फल हुआ कभी पुष्प हुआ कभी पत्र या फीमल अनुरूप शरीर धारण किया। उस समय तुझे मनुष्यों ने पशु पक्षियों ने तोड़ा छिन्न भन्न किया खाया मन्न किया दातों से कुतर कुतर कर तेरे टुकड़े किये गये। चाकू ताली आदि सज्जन भेदन किया। शिलाओं पर नमक मिच ममाला मिलाकर तुझे पीसा। अग्नि र भूजा। ष्टाही में घों तैल में तला गया। छोटे पीचे बेल लतादि अग्नि में जड़ से उखाड़ा गया। मध्य भाग छेदन कर अन्न रोपा गया। पशुआ और मनुष्यों के पावों से रौंटा गया। अग्नि में चलाया गया। जल के प्रवाह में बह गया या बहाया गया। बन दाह से भस्म हुआ। अति शीत में जल गया। अत्यन्त बचनानातन दुःखों का संन कर अनन्त बार मरण किया।

जब तू स्थापना पयाय सदा नित्य आनन्द प्रसपयाय में आया तब तूने कुशुआ कचुआ दीमक कीड़े मकोड़े आदि विकल जन्म शरीर धारण किया। तब आनन्द वेग में चलन गले गगणो आदि बाहर्ण कर्माचें कर नग गये घोड़े बैल आदि पशुओं के कठिन दुःख। चोट में जलकर्मगण प्रवाह में वन का अग्नि में वृक्ष पर आदि के शरीर पर गिरन से मनुष्यों के पैरों द्वारा कुचलने से विरोधी प्राणियों के द्वारा खाय जान से अत्यन्त दुःख पृथक् प्राणियों से विसर्जन किया।

नानावस्त्रय (द्रोणिय त्रान्द्रिय चो द्विय) शरीर को छोड़कर गवा घोड़ा ऊँट बल आदि पञ्चेन्द्रिय पशु का जन्म धारण किया। तब मनुष्यों ने तुझ पर आक्रमण अधिक बोक लादा और स्वयं सवार होकर तुझे भारी क्लेशा दिया। जब भार से दबा हुआ तू चल न सका अथवा शरीर में चक्कन लगा तब मार डडों के तुझे बेहाल कर दिया। चाबुका की चोट से तथा लकड़ी में लगी हुई लोहे की तीसों कीलों से तेरे शरीर को लोह लुगन कर दिया। तुझ का समय पर घास पानी नहीं दिया। तेरी नाक को छेदकर नाक में नकेल डाल दी गई। गर्दन में रस्मी बांध कर सूते पर बांध दिया। या मकान में बन्द कर दिया। शीत की और घाम की अत्यन्त शीतल वायु और ज्येष्ठ मास की अग्नि समान गमल की भयानक वेदना के साथ भूल और प्यास की पीड़ा से तुझे बहुत दुःख हुआ। नाक कान छेदना शरीर को गम लोहे से दागना विदारण करना कसाई अति मांस भक्षी नर पिशाचों के द्वारा कुल्हाड़ी तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से काटे जाना, जीते जी यत्र पर बदाकर खंभडा उखेड़ना अति रोमाचकारी क्रियाओं से तू न महान् यातनाएँ सही हैं।

गाडा रथ आग्नि स जुतकर जब तू चातुक आद को मार क भय स बड़ जोर स ठाड रहा था तब अचानक खड़े आदि में 'गर्गर पाँव टूट गया था बीमारी क कारण तेरा शरीर झीण हा गया अथवा हल गाड़ी आदि में अधिक जोतने और खाने को पूरा न देने व काम करन लायक न रहा लाटा चातुक आर आद की चाट स पीठ आग्नि म जरम होकर काड़े पड़ गये और तेरे स्वामियों ने तुझे घर स नि आल कर जगल म छोड दिया जहा चागा घास पानी न मिलने के कारण अराक होगया और कौबे चील गिद्ध आदि पक्षी तुझे नोच नोच कर चान लगे। जगली क्रूर प्राणी कुत्ते स्थाल आग्नि तेरा शरीर कुल र कर भक्षण करने लगे उस समय उस दु खको निवारण करने का कोई पाय नहा था। तू भागकर एक कर्म भी चल नहीं सकता था। उन अस" दु ख म तेरी आँखों म असुओं की असंड धारा बहती थी पर कोई न्यादित्थलान वाला न था। बहा तन भोषण अ सरा।

फिर जब तुझको का उपशम हुआ तब तुझे दुलभ मनुष्य जन्म मिला। उममे भी न्द्रिय विकल दारिद्र्य के दु ख से पादत अथवा अमध्य रोग स दण दृष्टा। उस समय भी मन् द खी रहा। उप समय जिसको तू प्रिय समझता था और जिसकी प्राप्ति व लालु छुटपटात था उस पत्न्य का प्रा न नहीं हुई किन्तु उमम। परित आप्रय दु ख नेन जाले आग्नि पदार्थों का संयोग मिला। दूसरों की म। वृत्ति करना पडा। रात दिन सवा म लगे रहना पडा तो भी खान पीन को भा पूरा न मिल सका। रोर ढकन को उचितवस्त्र भी न मिला। शत्रुओं का तारस्थार का म गा पडा। रातदिन परिश्रम करन पर भी जीवा वा नी चत्ता लगा रही। जीविका के लिए महा पाप प्रिय नना करन योग्य काम कथे न्तु नहीं प सफलता नी मली। रातदिन पशु समान दुष्कर कार्यों में जुटा रहा। लेकिन बहा पर सुख क। न म भयानक दु ख का मागण करन पड।

सप्त वात् दुःख शुभम के उन्म स नून त्रों म जन्म लया किन्तु नीच जात का देव हुआ। तब "यहा से अलग हो, दूर हटो यहा स शीघ्र चले आआ प्रभु क आन स मभय हो गया है उनक प्रस्थान की सूचना करन वाला नगारा बजाओ अरे। यह ध्वज हाथ में लेकर सीधा खड़ा हो आरतीन न देवियों का सदा टहल कर यग ठहर सामी की इच्छा क अनुकूल वाहन बनकर उनकी सेवाकर। क्या तू भूल गया कि तू पुलपुत्रपन के सामी इन्द्रमहाराज का दास है जो इस तरह चुपचप खड़ा है आगे आगे क्यों नहीं दौड़ता है?" इस प्रकार आघकारो देवों के क्रुडोर असुहावने वचन सुनकर त अनेक बाग खेत्त विवन्न हुआ है। द्र की अप्सराओं के अनुपम रूप सावस्व हाव भाव देव्यर हाय ऐसी दवागनाए सुझे कब मिलेगी? ऐसा अभिलाषा तेरे मनमें उ गल होकर दरिद्र के मनोरथ के समान सब निष्फल होने के कारण जो ट ख तुझे हुआ है यह शान से नहीं कहा जा सकता। श्रुत्युक्त के लहमासपुत्र माला के मुर्झाने से श्रुत्युक्तस निरुट आया हुआ जानकर तूने स्वर्ग के न्द्रिय वैभव के वियोग जन्य महान दु ख को सहा है।

जब तू कमयोग म नारकी हुआ उम समय जो सेवादि जन्य दु ख तूने भोगे हैं उनका स्मरण मात्र ही आत्मा को विह्वल



## एकत्वभावना

एतत्त भावणाए ण कामभागे गणे मरीरे वा ।

मन वरगमणा फासन्ति अणुत्तर धम्म ॥ २ ० ॥ ( भग आ० )

अर्थ—मे अकलाह। मरा जो नहीं है न मैं जिमा का है म प्रकार शरीरगन्तिक अर्थ जो का चिन्तन करना एकव भावना है। सका अभ्यास करने म आना तय सुख के भोगन मे आसक्त नहीं होता है। शिष्याणि बग मे तया शरीर में प्रीति नहीं करता है। एव भावना का पुन पुन मनन चिन्तन करने रहने से सब पदार्थों मर ग भाव की निश्चल और वैराग्य भाव की प्राणति होती है तया चारित्र्य धर्म की शाराधना शान्ति । एकव भावना काल स प्रकृति विचार करना चाहिए है आमन् । नू अनन्त काल मे जन्म-मरण कल्याण का अनुभव कर रहा है। क्या तब तब को कियो न वा ? अकले शान्ति जे म मरण कि दुःख भोग है। वा दुःख का शर करने म सहाय होता है। लो स्वप्न समनत है आर जो दुःख क समय स शयता नहा करता है उम परचन मानने है। स्वप्न में प्राप्ति ओ परचन म अप्रीति करने लगते है। लाहने यह स्वप्न मि या है। वास्तव म सुख की उत्पत्ति आर दुःख का निवारण सानावेनाय कम क उच्य म हाती है आर दुःख का निवारण ने वाता अमान वेचनाय कम म उच्य है। यान् तेरे अमान वेचनाय कम का उच्य है ओर मन वेचनाय कम म उच्य न है तो ससार म तुझे सुी पनान म काह समझ न है मरना है। जिहें नू स्वप्न समक रहा है वे दुःख का ज्ञान वन जात है। आ च व माता वन य कम म उच्य म अमानावे नय का उच्य नहीं होता है उम समय चिनको नू परचन समक रहा है ब भी दुःख अ करने म समय न होकर कमा म सुख उपलब्ध करने जाले वन जाते है। इसलिए धाडा ज्ञान दृष्टि स विचार कर लय। ज्ञानका नू स्वप्न समक मर रा करता है आर परचन समक कर वप करत है यह तेरा ज्ञान है ( मिथ्या ज्ञान ) है। ओर सा मि ज्ञान द्वारा यह ज्ञान अनन्त लो नू लो हा रहा है। अत अत्र तुम्हको सम्यग्ज्ञान गरण कर विचारना चाहिए कि मैं अकला ही चम म ए क दुःख का कला आर भोक्ता ह। मन शरीर को अपना समक कर माह भाव स कर्मा स बाध किया है ओर उनका उच्य होन पर तया चिन्तन मेन अकल हा भाग है। वास्तव म शरीरगन्तिक म मरा जो मरवा नही है। ऐमा चिन्तन करते रहना ही एकव भावना है।

ए एव भावना क अभ्यास क न म मनुष्य कामभोग म शिष्याणि मनुष्य म शरीर में और सुख में आसक्त नहीं होता। स्वप्न सान पदार्थों का भाग मिथ्या जाता है मनको कामभोग रहते है। लाग मी आनि पदार्थों को सुख क साधन मान लेते है। ए नु एव भावना का अभ्यसा नम राग नहीं करता है। अज्ञाना मनुष्य वाक्च पदार्थों का लो ग हान पर मन में सुख की कल्पना करता है। पर तु व ह्य अर्थ स उत उत्तर लोभ की वृद्ध होती है असनाय वप जाता है मन में याकुलता उरभ होता है इसलए मनका परित्याग करने स ही निराकुलता व स तोर सुख ढना है।

यह शरीर भी तरा कुड़ नहीं कर सकता। क्योंकि यह कम से उपज हुआ है और शुभाशुभ कम के उदय के अनुसार सुख दुःख में निमित्त होता है। यन् ता चेचारा अर्किचत्कर है। अज्ञानी आत्मा बाह्य जीव व अजीव पदार्थों में यह भेग उपकार करने वाला अथवा यह अनुपकार करने वाला है ऐसा। मध्या सङ्कल्प करके उनमें राग द्वेष करता है और रागद्वेष के कारण कर्मों के ज्ञान में फँसकर घोर मसारा भ्रमण के दुःखों को भोगता है। इसलिए हे आत्मन्। इन बाह्य पदार्थों में जो राग द्वेष बुद्धि हो रही है उसे दूर हटाओ। तुम्हें दे साथ इनका कुड़ भी सम्भव नहीं है। तुम्हारी जाति चैतन्य है और ये अचेतन स्वरूप हैं। जो शिष्यादि चेतन पदार्थ हैं उनका सम्बन्ध इस शरीर से है। तुम शुद्ध आत्मस्वरूप हो। साक्षात् इन शरीर धारक अशुद्ध आत्माओं से तुम्हारा कुड़ भी सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार विचार करो। इनसे बराबर भाव उत्पन्न करने का लक्ष्य तथा उसको वृद्धि करने के लिए इस (एकत्व) भवना का निरन्तर अभ्यास करो। इसका अभ्यास कर्ममत्तल पदार्थों से विरक्ति और आत्म-गुणों से अनुरक्ति होता है। उससे आत्मा में स्थिरता उपजती है और आत्मा में स्थिर रहने को ही आर्चा कहते हैं। यह चारित्र्य ही सम्पूर्ण कर्मों का मूलोच्छेद करनेवाला है। अतः यदि तुमको मोक्ष महल के प्रधान सोपान पर उठना समाप्त रखना है तो उसका मुख्य कारण एकत्व भवना है। यह अज्ञान व मोह का त्याग करवाकर शिव सुख को देनेवाली है और लक्ष्मण क इच्छुक मुनियों को परमप्यारी है। अतः सका निरन्तर अभ्यास करते रहो।

पौचवा धृतिबल भावना—

प्रिदिधिक्षिदचद्दकच्छो जोषेह असाइला तमवाहयो।

विनिभावणाए धरो सपुण्यमभ्यारहा हाइ ॥ २०३ ॥ (भग आ०)

अर्थ—जिसे मनस कमर बाधला है उससाधु के चित्त में जोभ उत्पन्न नहीं होता है और वह परीषद और उपसर्गों की सेना से निबाध हुआ उमक से व युद्ध करता है और धृति भावना के बल से उसका घात करता है।

मात्रथ—जो साधु सहस्र बल से युक्त है चिम्के इन्द्रिय में धीरता है वह कठिन से कठिन परीषद और देव मनुष्य, विषबादि दृष्ट उपसर्गों से चञ्चलचित्त नहीं होता है। उनके मन-सुमेरु को उग्र से उग्र क्षुभान्ति परीषद दुष्ट देवों द्वारा दीगई विभीषिका मनुष्यों के सम्बन्धकार तथा सिंहदि दिनक प्राणियों के द्वारा दीगई बाधाए चलायमान नहीं करसकता हैं। चित्त में जोभ उत्पन्न करने वाले कार्यों के उपस्थित होने पर निमका चित्त निविकार एव जोभ रहित होता है उस ही वैशशाली माना है। कहा है कि—

“विदार हेतौ मति विक्रिय ते येवा न चेना मित एव धीरा ।”

अर्थात् विकार का कारण वास्तविक होने पर भी जिसके मन में विकार उत्पन्न नहीं होता वही धीर वीर कहलाता है। धीरता ही सब सिद्धियों की जननी है।

हे आत्मन् ! इस वैश्वबल के प्रभाव से ही अत्यन्त कोमलाङ्ग सरसों भी जिनको कौटि समान चुभती थी ऐसे सुकुपाल मुनिराज वषों सहित स्थालनी द्वारा नोंच नोंचकर खाये जाने पर भी उस से मस नहीं हुए उनके रोम तक में विकार नहीं हुआ। पाषाण पादकों को अग्नि से स्तप्त लोहे के आभूषण पहनाये गये गज कुमार मुनि के मस्तक पर अगोठी जबाई गई परन्तु उनके चित्त में रचनाय लोभ नहीं हुआ। वे अपने आ मादत में लगे रहे। यह सब वैश्व का माहात्म्य है। इसलिए तुम भी यदि आत्मवर्षण का कामना रखते हो अपने काय की निर्विषय सिद्धि चाहते हो तो या परमेश सुख की अभिलाषा रखते हो तो धय धारण करो। धीर वीर पुरुष के सामने शस्त्र पुष्पाहार क समान, और विष अमृत समान हो जाना है। अमातावे तीय क्रम म उन्नत हुई रोगा = वेना भ। उनके चित्त तो दु खी नहीं बन सका है। अज्ञाना व मोदी जीव वैश्वहीन होकर अल्प वष्ट को मरान् कष्ट और न्यूनतम रोगात् पीडा को महता पीडा समझकर रोता और चिन्तन करता है और वैश्व का धारक भी पुरुष उसकी परवाह न कर अधारता का परित्याग कर शांति का अनुभव करता है। वह सोचता है कि मैं न कादि दुर्गतिधो म असहाय होकर मन् हृदय विचारक दु खों को सहा है। य दु ख क्या हैं ? इन समय तो मेरे आवय परिवरक साधु आदि अनक सहायक हैं। मुझे समय का उपदेश देने वाले हैं। मेरे वर्षण की कामना रखकर मुझे कुन ग से निवृत्त कर रहे हैं। यदि इन समय भी धय हीन हुआ तो मेरे समन अज्ञानो और कायर वीन होगा। अब इन सुयोग्य अवसर पर मुझे वैश्व का अवलम्बन लेकर शरीर म ममता हटाकर आत्महित के कार्य स विचलित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार पाच भावनाओं का सत्पेप से वर्णन किया है। इन भावनाओं का सरकार जिसके अन्त करण में अज्ञा हो गया है वह साधु सल्लेखना का आराधन सुगमता से करता है। भावना का अग्रगामी साधु चार२ प्रकार के तत्त्वकरण द्वारा सङ्गवन का प्ररम्भ करता है।

### सल्लेखना के भेद

सल्लेखना य दुर्विहा अमतरिया य बाहिरा चैव।

अन्मतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरिरे ॥ २०६ ॥ ( भग० आ० )

अर्थ—सल्लेखना के दो भेद हैं। १ आभ्यन्तर सल्लेखना और २ बाह्यसल्लेखना। क्रोधादि कषाधों को हरा करने (घटने) को आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं और वपस्था द्वारा काय के हरा करने को बाह्यसल्लेखना कहते हैं।

भार्या — वाधादिभावों को मर करन क लि हृद प्रयत्न करनाना प्रनशनात् तत्रधरण द्वारा शरीर व न्तियों के रूप को न ग - न स लवन है । मल्लेख । आ य तर आर व ह्य क भ स ो प्रकार का होता है । आत्मा क कमजय वैभाविक भावों को क्षीण करना अज्ञान का कारण क य - तात्र त्र्य होने ह भी ज्ञान व भाजन क वल म आत्मा म रागदु पात्रि रर अत्रा क्रोशानि रूप पाण्णित न नान रना आ तर मल्लेखना है ।

मरा आशय यह है कि तत्र कपाय क न्य होन पर अ म काष क वश हो जाना है उसकी क्षान्तिक उस समय अनुपनागा म्प्रद हाता है कि तु त्र्य न्नायु न ऊपर निख अयुस अत्र अ ना को श्यानि गुणों म अलकृत पत्र त्र्य भाजना तत्र म्प्र व न् भावना म म्प्रकृत कर लिया है वह विपरीत मयागा केामनन पर मो काश कपायों का त्र्यन करन का पूण प्रयत्न करता है आर त्र्य वान तत्र भाजना क वल म र्प या को कम करन म उन्नय होना है । मो को आश्रय तर मल्लेखना कहते हैं । या र कपाय निम्न ड न का ल आ मा म वाद्गत ह ता ताना है न्या उमक आमा म का शान भवा का म त होनी चल जाना है । क्रोशानि को म्प्र करने का जो त्र्याग है उमीहा आ य तर मल्लेखना कृत है ।

कपाय का म ना करन म प्रवृत्त हुआ आ मा तत्र त्र्य पूणरूप म सफल न । होता है जब तक न्त्र्य आर शरीर को अपन त्र्य म नर्द कर लन है । अत उन्नय अचना पू तरह कायु क न क लप त्र्यक चल को नीण करना आ व यक होता है । क्योंकि क्रोशानि कपाया का प्राप्ति भा श । आ त्र्यिया क म न स र त्र्य ता त्र्य । अत अश्रय तर मल्लेखना को प्राप्ति करन के लिए शरीर और इन्धिय मे म्प्र का त्र्य म्प्र त्र्य को उा करता त्र्य त्र्य । नियमनम शरी त्र्य क वल का त्र्यन करने के प्रयत्न को मल्लेखना कते हैं । शस्त्र में कहा है —

मन्वे रम्य पणाद् शिञ्जुहता त्र्यत्तलुक्स्वथ ।

अण्णत्तरेणुवभाणेण मल्लिहय अत्रय कमवा ॥ २ ७ ॥ ( भग आ )

अर्थ— त्रियों क वल का उद्दि करनेवान पात्रि आ र का परित्याग कर अवण्ड ( आसहा नियम ) द्वारा रुक् आहार प्रहण करता हुआ मायक अपन शरी को वृश करता है ।

भावाथ—सल्लेखना का आराधक सायु सत्र ता र्श का त्र्यगकरक अपने शरीर से भी मोहरहित हुआ इन्धिय और शरीर के त्र्य को त्र्य करने क लिए पुत्रिहारक वितन भी आहार हैं उनका त्र्यग करता है । रुक् आहार में भी अवप्रद करता है । अर्थात् अनशान अवमौन्यानि त्र्यधरण का आचरण करना हुआ रुक् आहार का भी नियमयूवक परित्याग करता है ।

अनशन तप साधु कभी अनशन ( उपवास ) करता है । उस दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर अनशन व्रत ग्रहण करता है । इसको चतुथ कहते हैं । चतुथ चार बार भोजन त्याग का कहते हैं । एक बार धारणा के दिन का एक बार पारणा के दिन का दोबार उपवास व दिन का भोजन का त्याग इसमें होता है अतः इसे चतुथ कहते हैं । पञ्चवने ( अग्नि का उपवास ) को प्रथम देने और तृशम चोले को कहते हैं । "सी प्रकार आगे के उपवास में भी समझ लेना चाहिए ।

अनशन तप के दो भेद हैं—१ काल की अवधि वाला अनशन तप और यावज्जीव अनशन तप । शास्त्र में कहा है—

अद्धामस्य सन्वामस्य द्विविह तु अणमस्य भक्षिय ।

विहरनस्म य अद्धामस्य इतर य चरिमते ॥ २ ६ ॥ ( भग० आ )

अथ—अनशन तप के दो भेद हैं—१ अद्धानशन और २ सवानशन । शीघ्र ग्रहण करके साधु जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है जबतक काल की मर्यादा में ना अनशन व्रत ग्रहण करता है अथवा व्रता में लगे हुए दोषों के प्रताकार के लिए जो अनशन किया जाता है उस अद्धानशन कहते हैं । सन्न्यास के समय ( समाधिग्रहण के अन्तिम अवसर में ) जो यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उस सवानशन कहते हैं ।

भावाथ—अद्धाश का अर्थ काल है यहा पर चतुर्थ पञ्च आन्स लेकर छह मास पर्यन्त का काल अद्धाशब्द से लिया गया है । अर्थात् चतुथ ( एक उपवास ) में लेकर छह मास तक के उपवास को अद्धानशन कहते हैं । अद्धानशन को मुनि शीघ्राधारण करने के समय में लेकर जब तक सन्न्यास ग्रहण नहीं करता है तब तक अपना उच्छ्वा एव आश्रयकतानुसार व्रतादि भ्रं उत्पन्न हुए दोषों की निवृत्ति के प्रायश्चित्त रूप धारण करता है । इस प्रकार शील की मर्यादा पूर्वक धारणा किये जाने वाले उपवास को अद्धानशन कहते हैं । सन्न्यास के समय चारों प्रकार के आहार का त्याग करना सवानशन तप कहलाता है ।

अवमौल्यतप—किसी समय मुनि अवमौल्य तप करते हैं । जिसकी जितनी खुराक हो उस खुराक से कम भोजन करने को अवमौल्य कहते हैं । पुरुषों का अधिक तप अविक भोजन ( खुराक ) व्रतान प्राप्त माना गया है और महिलाओं का भोजन अठारहस प्राप्त कहा गया है । पुरुष में एक हस्तार चावलों का माना गया है । अर्थात् एक दिन चारों चावलों का जितना बड़ा मिड होता है उतना बड़ा एक प्राप्त का परिणाम होता है । उससे कम पत्र चावल क तान तक के आहार ही प्रमाण्य कहते हैं । यथा—

“प्रासोऽश्रावि सहस्रनदुलमितो द्वात्रिंशद्वेतेऽशनम् ।

पु सो वैश्वसिक स्त्रिया विचतुर्गस्तद्धानिरीचिव्यत ॥

प्रास यावदथैकसिक्थमवमौदौय तगस्तचरे—

दर्मावश्यकयोगधातुसमता निद्राजयाद्यासये ॥” ( भग० आ० टीका २११ )

अर्थान—प्राचीन शास्त्रों में प्रास एक ह्जार चौबल प्रमाण कहा गया है । पुरुषों के एक प्रमाण वाले प्रास बत्तीस होसकते हैं और स्त्रियों के अठ्ठाईस अथात् पुरुष के लिए अधिक से अधिक बत्तीस प्रास प्रमाण भोजन और स्त्रियों के अठ्ठाईस प्रास प्रमाण भोजन होता है । इसस प्रासिक भोजन नहीं करना चाहिये । साधु का यह अधिक से अधिक आहार है । उसका आशय यह है कि करने आहार में स एक प्रास दो प्रास आदि की कमी करते हुए एक प्रास या एक चारल के आहार तक पहुच जाना अवमौदौय तर होता है । आवश्यक क्रियाओं में समाभाव अथवा उमाह अल्ल होन के लिए योग साधन के लिए स्वाध्याय म्दि के लिए वात पित्त कक की बिमता को दूर क ने के लिए और निगपर िच प्रास करने कालप साधु इस तर का आचरण करते हैं । यथ —

निद्राजय समाधान स्वाध्याय मयम पर ।

हृषीकनिर्जय साधोरवमौदयान गुणा ॥ २१ ॥ ( संस्कृत० भग० )

रमपि त्याग—स लेखना का आर षडरम परित्याग नाम कथ भी करता है । दूर २० घृत तैल गुड न सच रमों का अथवा इन में स कभी फिसा रस का और कभा फिसो रम का त्याग करता है । अथवा पुण पत्र शाक नमक जल अ कि क त्याग करने को भी रम त्याग माना गया है ।

स लेखना का आराधक साधु भोजन ने स्वादकी अपेक्षा नहीं रखता अपितु रसासूत्र) जैसा भोजन मिलन ता है नैसा ही कलेना है । शास्त्रों में कहा है —

अशन नीरस शुद्ध शुष्कमस्वादु शीतलम् ।

भुजते समभावेन साधवो निजितेन्द्रिया ॥ २१५ ॥ ( संस्कृत० भग० आ० )

अर्थ—जिन्होंने शत्रुओं को वश में कर लिया है वेने समयमी नीरस रुखा सुखा स्वादहीन ठंडा लक्षण घृत दुग्धानि से रहित शुद्ध भात चन्ना रोटी आदि अन्न का भोजन करते हैं ।

वृत्तिपरिसंख्यान तप—किसी समय सल्लेखना का भाग एक वृत्तिपरिसंख्यान तप का आचरण करता है । अनेक प्रकारके अभिन्न (अखंडी नियम व प्रतिज्ञा) करने को वृत्तिपरिसंख्यान कते हैं । वृत्तिपरिसंख्यान तप का मेहन करने वाला संयम निश्चयी करता है कि आज मैं एक या दो मुद्दलजा मे भोजन के लिए जाऊंगा और वहाँ अहार मिनगया तो प्रण्य करूंगा अथवा आज मेरे भोजन का त्याग है । आज मैं एक पोल या गुग्गुली में ही जाऊंगा और वहाँ आहार की विधि मिलेगी तो ठाक है अन्यथा आहार का त्याग है । आज मैं अमुक् मुद्दल्ले म जाऊंगा और उसके प्रारंभ के घर में आहार की योग्य विधि मिलेगी तो अहार प्रण्य करूंगा अथवा आज आहार का त्याग है । एक बार भोजन जो परोसा जायगा वही लूगा दुबारा परोसा हुआ भोजन प्रण्य न करूंगा । आज पढिगाहन में एक आदमी होगा या दो होंगे तो आहार करूंगा । आज मैं इतने मास ही भोजन करूंगा । अत्रिडरु (मास रूप) जा भोजन होगा उसका प्रण्य करूंगा रवही दूध आदि द्रव पदार्थ न खाने न करूंगा । आज त्रवरु पशुध का ही ग्रहण करूंगा । आज उसी पशुध का योग मिलेगा तो भोजन लूगा जो न तो कपल त्रवरु होगा और न कवल त्रिडरु नम रुही आदि । आज चना चरला मसूर मूग आदि धान अन्न का ही आहार लूगा । आज मैं केवल जलमात्र पाऊंगा । अमुक् वस्तु हाथ में लिए हुए पढिगाहेंगे तो आहार लूगा अथवा आज मर आहार प्रण्य करने का त्याग है । आज शाक के साथ मूग या कुल्ल म माठ भात आदि । मात्रत हागे ता मैं आहार लूगा अन्यथा आहार का त्याग है । थालाके मध्य में भात रख कर उसके चारों ओर शाक रखी होगी तो आहार लूगा । आज मध्य म अन्न रखा हो और उसके एक तरफ गाल शाक आदि रखे गये होंगे तो आहार लूगा । चन्नी आदि से संयुक्त भात रोटी आदि होगी तो आहार प्रण्य करूंगा । कपल शुद्ध जल से युक्त भात होगा तो आज प्रण्य करूंगा । हाथ में चिपकने वाला कोई अन्न मिलेगा तो लूगा । आज हाथ में नहीं चिपकने वाला अन्न मिलेगा तो लूगा । आज घुले चावल आदि का आहार लूगा । अथवा विना घुले लवः चावल हागे तो अहार प्रण्य करूंगा । यदि अनेक प्रकार की प्रतिज्ञा ले कर सावु गोबरों को निम्नलेते हैं । की हुई भातज्ञा के अनुसार वि. गुरुक यदि आहार । मजता है तो ग्रहण करते हैं अन्यथा उस दिन अनशन करते हैं । इसके वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं ।

पचस्स दायगस्स य अवग्गहा बहुविहा ससत्तए ।

इन्धेवमादिविधिषा खादन्वा वुत्तिपारसत्ता ॥ २२१॥ ( भग० आ० )

अर्थ—सुषण के पात्र में चादी के भाजन में कसे के बत्तन म या मिट्टी के पात्र में परोसागया भोजन ही आज ग्रहण करूंगा ।

आ। म को कहा म आहार उग। व खा बा याव मा जानी होगी का बढ़ा होगा या झलकार रहत होगा या ब्राह्मणा होगा या वय वषा का हागा या रात्रपत्री होगा। तो उनक हाथ म आहार लगा अन्यथा नहीं। न्यायि पात्र जाता भायवस्तु गृहादि क विचार से अपनी शारीरिक मानासक शक्ति का पूरी नाच कर जो प्रतिष्ठा का जाती है उसे वृत्तिपरिमख्यान तप क ने है।

कायकलशातप—कभा मुान अपनी आमीयशक्ति को विकसित करने लिए शरीर स समय योग कर अनेक प्रकार के कायकलेश कभी नपों का आचरण करते हैं। कायकलेशतप करने वाला संयमा अपनी शक्ति को लय में रखकर तपश्चरण करता है। जिस त के आचरण करने म उत्तरीचर तप म अनुराग और समाह की वृद्धि होती रहे चलता तप वमी की निचरा करनेवाला माना गया है। कायकलेश तप कई प्रकार का होता है।

कोई कायकलेश गमन म होता है। जिस समय ऐश्वर्य वैशाख मास की कडी रू हा उसममय वृत्तशास (सूय क मस्तुख) पश्चिम दिशा मे गमन करना म यह क समय प्रचण्ड सूय का प्रखर किरणों स सतत भुतल पर गमग करना पश्चिमदिशा से (सूय क मस्तुख) पूव दिशा म गमन करना सूय को पसवाड म रुक गमन करना एक ग्राम म पांच कर बिना विश्र म लिए दूसर ग्राम की ओर गमन करना एक ग्राम का जाकर वहा स। बिना विश्रम लिए वापस लाट आना यह सब गमन निमित्तक कायकलेश तप है।

रोड का यत्रलेशत गगन (खडरहन) का वपयक होता है—पयार्जित शतम्भ ग। भीत क महार खड रहना पहले क रान म दूसरे स्थान म जाकर वहा पर क पहर एक दिन आर। क ल का नियम लेकर खड रहना अपने रान पर ही निरचल होकर खड रहना रायो सग करना अ। न समान अतर मे पाव खकर भू म पर खड रहना एक पाव स खड रहना आकाश में उन्नतममय गभ्र पत्ता के त्रेम पाव फैलते हैं त्रेम नोनों वाहु फलान पर रहना पाँव क अप्रभाग क बल खड रहना पाँव क अगूठ क बल खड रहना न्यादि अनेक प्रकार स काल का मयाना पू क र रहना स्थान-कायकलेश तप कता है।

अनेक आसन माडकर त अरण करने को आसन कायकलेश तप कहते हैं। एक पहर दोपहर आदि का प्रमाण कर पाली माडकर त्रे रहना पयकासन कायकलेश तप है। नितम्ब भाग ( चूतड ) के पाँव लगाकर बैठना समपत्तमन कायकलेश तप है। गाय क मोहने समय ण्डियो को उठाकर पाव क अप्रभाग ( पात्रो ) के बल चमा बठते हैं वैसा बठना गोमोहासन कायकलेश तप है। भूमि को नही छूते हुए नोनों पात्रों को मिलाकर और शरीर क ऊपर क माग का सिहोडकर बैठना उकुटिकामन कायकलेश तप है। मगर के मुख समान नोनों पात्रों की आकान बनाकर बैठना मगर मुख मन कायकलेश तप है। चर्म हागी सू को फैलाना है त्रेमे एक पाव को फनाकर बैठना अ। वा एक हाव को फलाकर पठना हस्तिशुण्डामन पायलशातप है। नोना जवाओ को सिहोड कर गी जिस प्रकार बैठती है वसे बैठन

को गवासन कायकलेश तप कहते हैं। मोना जापो पर मोना पाँच रखकर बठना अथवा मोना पिडलियों को दूर अंतर पर स्थापन करना बीरासन कायकलेश तप कहा जाता है। स प्रकार अनेक आसन लगाकर ध्यान करने का आसननामत्तक कायकलेश तप कहते हैं।

अब शयन स जो कायकलेश तप हाता है उम कन्ते हैं। उह ममान शरीर को लम्ब करक मोना दूह यतशयन कायकलेशतप है। खड स्वन् मोना उी भूशयन स यकलेशतप है। अवयवोंको मुकोह कर सोना लगुहशयन कायकलेशतप कहते हैं। मुखको ऊँचा रखकर चित मोन को उलानशयन कायकलेशतप कहते हैं। मुखको नीच रखकर औं ग सोने को अवममन कशयन कायकलेश तप कहते हैं। बाई या ग्राहना कर बगो म म किमा करवत म साना प रवशयन कायकलेश तप माना गया है। मृतक क ममान बिना हिलचने चेष्टा रहित मोन को मृतकशयन कायकलेश तप रहा जाता है। वार अनगवण प्रणम (सुन म न मे) मोन को अत्रावकाशशयन कायकलेश तप कहते हैं। रस प्रकार अनेक प्रकार क शयन हैं उनम स अपनी गति व मुविधा क अनुसार जिम प्रकार मोय हो वम ही नियत समय तक सोते रहना शयन का पारवचन (बन्ला बन्ला) न करने स शयन निमित्तक कायकलेश तप होता है। अब अय कायकलेशों का कहते हैं।

मृक्त नो आवश्यक । होने पर भी नगी मृक्तना शरीर में खुजली का व या उपासन होने पर भी शरीर का नहीं खुजलाना मत्व लण क उपर पाठ क पत्र पर पत्र की शिला पर तथा भूम पर शयन करना कशा का लोच करना (उखाडना) रात्रि में न सोना नागरण करना स्नान नहीं करना ताता को नहीं मानना आतशान गर्मी तथा जलवृष्टि आदि को वाग सहना शरीर को क्लेश पहुचाने वाले अनेक साधनों को जुटाकर शरीर सम्बन्धी कष्टों का शान्ति म सहन करना कायकलेश तप कहा गया है।

पत्रिक शय्यासन तप—जो प्रासुफ हो जिम वसतिहा मे राग तथा व्रष भाव को उपासन करने वाले मनोहल्ल अमनोहल्लर रस गंध स्पर्श और शान्त न पाय जाव तथा चहा पर स्वाध्याय और ध्यान मे विन उपस्थित न होना हो उम वसतिहा को पत्रिक कहते हैं। वहा वसतिहा मुनि के योग्य मनी गइ है। ऐमा वसतिहा मे मोने या रू न नो पत्रिक श यासन तप कहते हैं।

स पत्रिक शय्यासन म स्त्रिया नपुंसकों असामयों और शुभा का संचार नहीं होना चाहए। इनप उनक यानाध्ययन म वाचा उपस्थित हाता है और अपन रुत य कम का निर्दि न रूप से नहीं कर सकत। अ महाविधियां क ताल पकात और पवित्र स्थान की अनिवाय आवश्यकता है इमालिए पत्रिक श यासन नो एक तप का स्थान दिया गया है।

वसतिहा क बारे म यह ख्याल रखना भी नितन आवश्यक है कि वह उन्नम उपासन व एषणा दोषों स रहित हो अन्यथा ह नान अथवा रहन यो य नहीं है। उन्म उपासन और प्रणा नोषे स भयकर एक ताप और है जिमका नाम अध कर्म है। अधः कर्म अर्थात् मत्र म नीचा कर्म (काय)।

(१) आधाकम दोष—यह सब दोषों से महान दोष है। इस दोष से मुनि के महाव्रतों का नारा होता है। बुद्धों को काट कर जाना ईशों को पकाना पृथ्वी खादना नीच आदि को पथर मिट्टी आदि से भरना पृथ्वी को कूटना कीबड़ करना खंभे तैयार करना अग्नि से जोड़े को तपाना बघनों से कूटना करौत से काठ चीरना बसोलें से छीनना फरमस छेदन करना त्यागि नाना प्रकार की क्रियाओं से छह काय के जीवों को पीछा देकर बन्तिका खय बनाई हो या दूसरे से बनवाई हो अथवा बनाने वाले का अनुमोदन किया गया हो तो वह आधाकम दोष है। यह महादोष है। इसका सेवन करने से मुनिपना नष्ट होता है।

### उदुगम णय

(१) गृहशोष—जितने भी ग्नेन अनाथ कंगाल या भेष धारी हैं उन सब के लिए बनाई गई धमशाला आदि हो या पाल्हो साधुओं के लिए बनवाये गये मठ गौरेद अथवा बौद्ध साधुओं के लिए या निम्न य साधुओं के लिए बनवाये गये अश्रमाणि हो वे सब उद्देशा वसति कहलाते हैं। अथात् किसी पाल्हो आदि के उद्देश से बनवाई गई वसति में रहने से उद्देश शोष होता है।

(२) अश्याध दोष—गृहस्थ अपने उग्रभोग के लिए मकान बनवाता हो तब पथर ईंट चूना आदि अधिक मगवाकर साधुओं के लिए भी एक दो कमरे बनवाते और उसमें मुनि ठहरें तो अश्याधि दोष होता है।

(३) पूतिशोष—गृहस्थ ने अपने लिए मकान बनवाने के निमित्त बहुत से पथर ईंट काष्ठ आदि एकत्र कर रखे हों उनमें थोड़े से पथर ईंट काष्ठ आदि मुनि की वसति के निमित्त मिलावे तो पूति दोष होता है।

(४) मिश्रशोष—पाल्हियों या गृहस्थों के ठहरने के लिए मकान बनवाते हुए गृहस्थ के मनमें विचार उपन्न हो जावे कि सयमोजनों के ठहरने के लिए भी वसति मकान बनवावे तब उद्देश से पाल्हें रूढों की गई पथर चूना आदि सामग्रों में थोड़ा पथर चूना काठ आदि सामग्रों और मिला वे तो मिश्र दोष होता है।

(५) स्थापित शोष—अपने लिए कोई प्र० भवनवादि बनवाया और पश्चात् विचार किया कि यह सयमियों के लिए ही नियत है ऐसा सकल्प करने से स्थापित दोष होता है।

(६) प्राभृतक दोष—जिस ग्नेन साधु आरोग्य उस ग्नेन स वसति के की सफेदो पुताई वगैरह करवावेंगे ऐसा विचार करके मुनिके आने पर वसति के का संस्कार ( पुताई पुताई आदि ) करवाने से प्राभृतशोष होता है। अथवा साधु के आने के काल को लक्ष्य में रखकर वसति के संस्कारने में विलम्ब करना इसको भी प्राभृतक दोष कहते हैं।

( ७ ) प्रादुष्कार दोष—जिस मकान में अचकार बहुत है उसमें प्रकाश लाने के लिए ( मुनियों के निमित्त ) भीत कोढ़कर खिड़की या जाली निकालना ऊपर के फूट के तल्ले आदि हटाना दीपक जलाना—यह सब प्रादुष्कार दोष है।

( ८ ) क्रीतदोष—गाय भेंस बेल आदि सच्चित्त ( सजीव ) द्रव्य देकर अथवा गुड, शक्कर घृतादि अचित्त द्रव्य देकर संयमी के लिए वसतिना खरादना क्रीतदोष है।

( ९ ) भावक्रीतदोष—विद्या मन्त्रादि देकर मुनि के लिए वसतिना स्वोचना भावक्रीत दोष है।

( १० ) पामिञ्ज ( प्रामिञ्ज ) दोष—भाडा या व्यज देकर मुनि के लिए वसतिकर लेना वह पामिञ्ज ( प्रामिञ्ज ) दोष है।

( ११ ) परिव्रत्त दोष—आवना मकान मुनियों के ठहरने के लिए दो और मर मकान में आप रहो इस प्रकार विनियम ( बध्ना ) करके मुनियों के निवास के लिए मकान लेन सं परिव्रत्त दोष होता है।

( १२ ) अभिघट दोष—अपने मकान का नीवाल आदि के लिए जो छप्पर स्तम्भ चटाई आदि सामग्री बनवाई भी वह मुनियों की वसतिका के लिए लाना अभिघट दोष है। इस दोष के दो भेद हैं—१ आचरित अभिघट और १ अनाचरित अभिघट दोष जो सामग्री दूर देश से अथवा दूसरे गांव से लाई गई हो तो अनाचरित अभिघट दोष होता है अन्यथा आचरित अभिघट दोष कहलाता है।

( १३ ) उद्भिन्न दोष—जो मकान इतने से मट्टी के पिंड से कागों को बाह से या किवाड़ों से टका हो उस पर स उनको हटाकर वह मकान मुनियों को दाना उद्भिन्न दोष होता है।

( १४ ) मालाराह दोष—मिथैनी आदि सब्दकर आप यहा पधारय आपका विभ्रम करन लिए यह स्थान दिया जाता है ऐसा कहकर सयामया का दुमाजजा या तान मजिल पर मकान देना मालाराह दोष है।

( १५ ) आछय दोष—राजा मन्त्रा या अन्य किन्ही प्रधान पुरुषों का भय गिखला कर दूसरे के स्थान को मुनि के ठहरने के लिए दिलाना वह आछय दोष है।

( १६ ) आनमृष्ट दोष—जनकाय में अनियुक्त वसतिका के स्वामी से अथवा बालक से या परबरा हुए स्वामी से जो वसतिका दी जाती है वह अनिमृष्ट दोष से युक्त होता है।

इस प्रकार सोलह उद्गम दोष हैं। ये दोष गृहमय के आश्रित हैं। मुनि को इन दोषों में से किसी एक दोष का भी भान हो जावे तो उस वसतिक्रम में मुनि को नहीं ठहरना चाहिए। मालूम हो जान पर यदि साधु उस दूषित वसतिक्रम में ठहरता है तो वह दोष का भागी होता है।

### उत्पादन दोष

अब उत्पादन दोष को कहते हैं। यह दोष साधु के आश्रित है। इन के भी सोलह भेद हैं। इन भेदों का संक्षेप स्वरूप यह है।

(१) धात्री दोष—संसार में धात्री कम पाच हैं। इनमें से किसी एक के निमित्त से वसतिका की प्राप्ति करना धात्री दोष है। (१) कोई धात्री (धाय) बालक का स्नान कराती है। (२) कोई बालक को क्रीडा कराता है। (३) कोई बालक को वस्त्र अलङ्कारादि से सजाती है। (४) कोई बालक को खिलाता खिलाती है। (५) कोई बालक को सुलाना है। ऐसी पाच धात्रिया (धाय) होती हैं। जब कोई गृहस्थ अपने बालक को मुनि के निकट लाव तब मुनि बालक के माता पिता को कहे कि बालक को इस प्रकार स्नान करना चाहिए, इस तरह क्रीडा करवाने से बालक प्रफुल्लित रहता है। इस तरह के वस्त्र व अलङ्कारादि से अलङ्कृत करने से बालक सुन्दर लगता है बालक को अशुभ २ पण्य का सबन करवाने से उनकी शारीरिक व मानसिक शक्ति का विकास होता है तथा अशुभ राति से बालक को सुलाना चाहिए—इस प्रकार धात्री कम का उपदेश देकर साधु गृहस्थ को अपने ऊपर अनुरक्त करके यदि वसतिका प्राप्त करता है तो उसके धात्री दोष उत्पन्न होता है।

(२) नन्कम दोष—अन्य ग्राम नगर या देश में रहने वाले गृहस्थ के पुत्र पुत्री नामात्र या अन्य सम्बन्धियों के सन्देश समाचार आदि कहकर वसतिका प्राप्त करने से दूतकर्म दोष होता है।

(३) निमित्त दोष—अङ्ग व्ययन लक्षण द्विज भूमि स्वप्न आतरीक्ष और शत्रु के भेद में आठ प्रकार के निमित्त ज्ञान होता है। से निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है। अथान् शरीर के अङ्ग उपाग का आकार एवं स्वरूप देखकर तिल मूले आदि व्ययन का अवलोकन कर शरीर में रहने वाले स्वप्न भ्रू गार कलश स्पण भौरी आदि लक्षणों को जानकर वस्त्र हस्त आसनादि को चुन कर आदि से अथवा शत्रु अग्नि आदि से द्विज भिन्न देख कर या सुनकर तथा भूमि की कलाई चिकनाई रङ्ग रूपादि देखकर शुभ या अशुभ स्वप्न का स्वप्न या सुनकर आदि में प्रह नक्षत्रादि की आकृति उपापात निरा का रूपादि देखकर एवं चेतन अचेतन के स्वर (१८) का अवलोकन कर जो भूत भविष्यत वाचमान में घटित होने वाले शुभ अशुभ सुख दुःख जय पराजय सुमिच्छ दुमिच्छादि को चक्षुः आदि निमित्त ज्ञान से जानकर गृहस्थ को कहना कि पहले ऐसा हुआ था इस समय ऐसा होने वाला है और भविष्य में ऐसा होगा—इस प्रकार निमित्त ज्ञान द्वारा वसतिका प्राप्त करना निमित्त दोष है।

( ४ ) आजीव दोष—अपना जाति कुल ऐश्वर्य आदि द्वारा अपनी महिमा ( बहूपन ) प्रकट करके बसतिक्रम की प्राप्ति करना आजीव दोष है ।

( ५ ) वनीपक दोष—कोई गृहस्थ साधु स पूछे कि हे भगवान् ! दीन अनाथ या पाखंडी भेष धारी आदि सबको आहार दान करने स या ठहरन को स्थान देने स पुण्य होता है या नहीं ? इस प्रकार पूछने पर साधु विचारे कि यदि पुण्य नहीं होता है ऐसा कईगा तो यह गृहस्थ अप्रसन्न हो जावेगा और बसतिक्रम न वेगा ऐसा सोचकर गृहस्थ के अनुकूल उत्तर देकर बसतिक्रम की प्राप्ति करने वाले साधु के वनीपक दोष होता है ।

( ६ ) चिकित्सा दोष—आठ प्रकार को चिकित्सा ( वैद्य \* विद्या ) से बसतिक्रम प्राप्त करना वह चिकित्सा दोष है ।

( ७ ) क्रोध दोष—क्रोध निस्कार बसतिक्रम प्राप्त करना क्रोध दोष है ।

( ८ ) मान दोष—मैं इतना बड़ा तपस्वी हूँ मैं बड़ा विद्वान् हूँ मेरी आत्मा में शापानुग्रह शक्ति है—इत्यादि अभिमान दिखकर बसतिक्रम प्राप्त कर मान दोष है ।

( ९ ) माया दोष—द्रव्य कपट का प्रयोग करके बसतिक्रम प्राप्त करना माया दोष है ।

( १० ) लोभ दोष—किसी प्रकार का लोभ निस्कार बसतिक्रम प्राप्त करना लोभ दोष है ।

( ११ ) पूवस्तुति दोष—मुनियों के लिए आपका घर ही आश्रय है ऐसी बात हमने दूर दूर देशों में सुनी है इस प्रकार पहले गृहस्थ की स्तुति करके बसतिक्रम प्राप्त करना पूव स्तुति दोष है ।

( १२ ) पश्चात् स्तुति दोष—कुल कुल बसतिक्रम में रह कर जाते समय गृहस्थ की प्रशंसा इस अभिप्राय से करना कि भविष्य में जब कभी यहा आवेंगे तो बसतिक्रम की प्राप्ति होगी तो वह पश्चात् स्तुतिदोष मानागया है ।

( १३ ) विद्यादोष—विद्या के प्रयोग स अथवा विद्या का जालंधं देकर गृहस्थ को बश में कर बसतिक्रम की प्राप्ति करना विद्यादोष है ।

\* शब्द शालाक्य कार त्वाकत्सा भूतत्रिया कोमारभूय अगदतत्र रत्तवन और वाजीकरव वह आठ प्रकार को साधुसँद चिकित्सा है ।

( १४ ) मन्त्रदोष—मन्त्र का प्रयोग करके या मन्त्र का लोभ देकर वसतिक्रम प्राप्त करना मन्त्र दोष है ।

( १५ ) चूल्ह दोष—नेत्रांजन शरीरसंस्कार चूल्ह बशीकरणादि चूल्ह का लोभ देकर वसतिक्रम प्राप्त करना चूल्ह दोष है ।

( १६ ) मूलकम दोष—विरक्तों को अनुरक्त करने का प्रयोग निस्वाकर वसतिका प्राप्त करना मूल कम दोष है ।

य सोलह दोष पात्र ( मुनि ) के आश्रित हैं इसलिए साधुओं को इन सब दोषों से रहित वसतिक्रम का सेवन करना चाहिये ।

### एषया दाप

अत्र एषया दोष को कहते हैं । इसके चार भेद निम्न प्रकार हैं —

( १ ) शक्ति दोष—यह वसतिका साधु के ठहरने योग्य है या नहीं ? इस प्रकार शक्ति जिस वसतिका में उपलब्ध हो जावे वह शक्ति दोष से दूषित मानी गई है ।

( २ ) अशुद्ध दाप—जो वसतिका तत्काल लोपी पोती गई अथवा सींची गई हो जलका पात्र लुढ़काकर उसी समय धोई गई हो वह वसतिका अशुद्ध दोष युक्त है ।

( ३ ) निक्षिप्त दोष—सचित्त पृथ्वी जल हरितकम्य बीज या त्रसत्रोषों के ऊपर पट्टा ( तस्ला आदि ) फलक ( काठका पट्टा रखकर यहा आप शय्या कीजिए ऐसा कहकर जो वसतिका दी गई हो वह निक्षिप्त दोष से दूषित होती है ।

( ४ ) पिहित दोष—हारतकाय काटे सचित्त मिट्टी आदि के आवरण को हटाकर जो वसतिका दीजावे वह पिहित दोष वाली मानी गई है ।

( ५ ) साधारण दोष—काष्ठ वस्त्र काटे आदि को घसीटते हुए अग्रगामी मनुष्य के द्वारा दी जानवाली वसतिका साधारण दोष वाली कही गई है ।

( ६ ) दायक दोष—जो मनुष्य सूतक या पातक ( अन्न या मरण की अशुद्धि ) से अशुद्ध हो अथवा पागल हो, या नपुंसक हो भूतप्रेतादि की बाधावाला हो या नग्न हो ऐसे पुरुष से दी गई वसतिका दायक दोष से युक्त मानी गई है ।

( ७ ) उमिन्न दोष—जो पृथिवी जलानि ग्यावरजीवों और चींटी खटमल आदि त्रसजीवों से युक्त वसतिक्र हो वह उमिन्न दोष स दूषित कही गई है ।

( ८ ) अपरिणत दोष—जो स्थान किमी के गमनागमन से मर्दित नहीं हुआ है वह घर मकान आदि वसतिक्र का स्थान अपरिणत दोष युक्त होता है ।

( ९ ) लिप्तदोष—जिस मकान में गुड़ शक्कर घृत तैलानि लिप्त हो जिसमें चींटी आनि जीव बिपक जायें—इस वसतिक्र को लिप्तदोष स सबुक्त समझना चाहिए ।

( १ ) परित्यजनदोष—जिस वसतिक्र क अ र भाग का शय्या व आसन ( मोने बठने ) के कार्यों में उपयोग हो और फिर भी उसका बहुत भाग रोकना पड़े तो उसे पारित्यजन दोष कहते हैं ।

य दश दोष एपणा क हैं ये जिस वसतिक्र में पाये जायें उस वसतिक्र में सयमी को नहीं ठहरना चाहिए ।

### अगारगदि चार दोष

इन उक्तदोषों के अतिरिक्त १ अगार २ धूम ३ सयोजना और प्रमाणातिरक ये चार दोष और हैं ।

( १ ) अ गारदोष—यह वसतिक्र सर्दी गर्मी वायु आदि उपद्रवों स रहित है । यह न तो अति उष्ण है और न अतिशीत है तथा वायु के उपद्रव से रहित बड़ा सुहावनी और विशाल है—इस प्रकार आसक्ति पूर्वक वसतिक्र मे निवास करने वाले साधु के अ गार दोष होता है ।

( २ ) धूमदोष—यह वसतिक्र सर्दी गर्मी तथा वायु आदि के उपद्रवों से युक्त है, इस प्रकार निंदा करता हुआ वसतिक्र में नरहने वाले साधु के धूम दोष होता है ।

( ३ ) संयोजनादोष—जो सयमी के काम मे आने वाली वसतिक्र असंयमी पुरुषों के बाग बगीचे या रहने के निवास स्थान से मिली हुई हो तो वह संयोजना दोष स युक्त कही गई है ।

( ४ ) प्रमाणातिरक—जो वसतिका साधु के शयनामन ( सोने बेंठने ) आदि कार्यों के उपयोग में तो अल्प आये और बहुत सी भूमि प्रदण्य कर तो उस साधु को प्रमाणातिरक दोष प्राप्त होता है।

ऊपर विवेचन किये गये द्विचालीस ढोबो स रहित वसतिका में निवास करने वाले मुनि के विविक्त शय्यासन तप होता है। विविक्त शयनासन करने वाले मुनि को उस वसतिका में भी नहीं ठहरना चाहिए जिसके प्रमाजन में विवेक से काम नहीं लिया गया है जो प्र धाधुध बिना दखे माले मझकी बुहारी यालीपी पोती गई हो, तथा जिसमें जीवों की उत्पत्ति और कीडे मकोड़े आदि जन्तुओं की अत्यधिकता हो। तथा जिस में राग इष युक्त भेषवारी या असयमियों का शय्या आसन हो—ऐसी वसतिका संयामियों के योग्य नहीं मानी गई है। आगे उक्त प्रकार विविक्त स्थान में शय्यासन करने वाले सयमी के निवास करने के लिए योग्य वसतिकाएँ कौनसी हैं इस लिखाते हैं—

सुएकधरगिरिगुहाराकृत्वमूलभागतुगारदेवकुले ।

अकल्पमारासामधरादीणि य विचिच्छाह ॥ २३१ ॥ ( भग० आ )

अर्थ—मूलाधर पर्वतों की गुफाएँ वृक्षा मूलभाग देशदेशांतर स आने वाले यावारी बगानि के मनुष्यों के लिए ठहरने के मकान देवकुले ( देवले-देव देत्री के मन्दि ) स्वत बना हुआ शिलागृह—अर्थात् किसी मनुष्य के द्वारा जिसका निर्माण नहीं हुआ हो ऐसा पत्थर की शिलाओं का बना हुआ घर झोका करने के लिए आने वाले मनुष्यों के लिए बनाये गये उपवन गृह ( बाग बगीचों के घर ) मठ आदि ये सब स्थान सयमियों के ठहरने योग्य विविक्त वसतिकाएँ हैं।

इन स्थानों में विश्राम करने वाले साधुओं को किसी प्रकार का शोष नहीं लगता। वे तृप्त में हैं तथा यह वसतिका मेरी है यह तेरी है इ यात्रि कलह स दूर रहते हैं। ऐसी एकान्त वसतिकाओं में रहने स मन को क्षोभित करने वाले मनुष्यों के रोले नहीं सुनाई देते हैं परिणामों में सक्लेश ता नहीं होती चित्तम यमता नहीं होती। असयमी मनुष्यों का अनुचित ससग नहीं होने से ध्यान और अध्ययन में याघात नहीं होता।

शका—ध्यान और अध्ययन में क्या अन्तर है ? क्योंकि बाह्य विषयों से चित्त की निवृत्ति तो दोनों में समान है।

समाधान—एक विषय में ज्ञान की सन्तान को स्थिर करना ध्यान कहलाता है। पर स्वाध्याय में ऐसा नहीं होता। स्वाध्याय में ज्ञान का अनेक विषयों म संचार होता है। अध्यान् जब ज्ञान परम्परा एक विषय में कुछ समय तक स्थिर हो जाती है तब तो ध्यान होता है और जब ज्ञान धारा विषय स विषयांतर एक प्रमयस दूसर प्रमय में शाप्र बल्लती रहती है तब स्वाध्याय होता है।

शंका—कहीं शास्त्रों में स्वाध्याय का शुभ ध्यान कहा है सोकसे ?

समाधान—स्वाध्याय ध्यान का कारण है इसलिए कारण में काय का उपचार करके स्वाध्याय को भी ध्यान कह दिया गया है ।

एकान्त वसति का में निवास करन वाला मुनि बिना क्लेश के सुख पूर्वक अनरानादि बाह्य तप तथा स्वाध्याय ध्यानादि अभ्यन्तर तप में प्रवृत्त हुआ आम स्वरूप में लवलान रहता है । उसके चित्त को तथा इंद्रियों को आवर्षित करने वाले प्रतिकूल संयोगों का सम्पर्क न होन स चित्त में शान्ति और इन्द्रियों का दमन सुलभता स होता है । एकान्त में रहने के कारण उसके पाच समितियों का पालन सहज न होजाता है । वह मन वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति रुकजाने से आमहित के कुर्यों में लवलान रहता है । उसके स्वाध्याय ध्यानात् में विघ्न करने वाले रागद्वेषाद भाव उत्पन्न नहीं होते हैं । परिणामों में सक्लेशा नही होने से चित्त में परम विशुद्धि होती है । आत्म स्वभाव में स्थिर रहन स कर्मों क आसन्न का अभाव होकर सबर और निजरा होती है । शास्त्र में कहा है—

जो शिञ्जरादि कम्म असवुडो सुमहदावि कालेष्ण ।

त सवुडो तवस्मी खवेदि अतोमुहुत्त ष ॥ २३४ ॥ ( भग० आ० )

अर्थ—जो साधु बाह्य विषयो म दौडते हुए मन वचन काय को न रोककर मासोपयासादि कायक्लेशकारी उग्रोप्र बाह्य तपस्या क द्वारा बहुत काल में जितने कर्मा की निजरा करता है गुप्ति समिति धम अनुपेक्षा तथा परिषदजय में तपर रहने वाला साधु उतने कर्मों की निजरा अन्तमुहुत्त में करता है । क्योंकि गुप्ति आदि स जो कर्मों को निजरा होती है वह संवर पूर्वक होती है और समिति गुप्ति आदि रहित केवल बाह्य तपस जो निजरा होती है वह संवर रहित होती है । संवर रहित निजरा मोक्ष में उपयोगी नहीं होती है । क्योंकि संवररहित बाह्य तप से निजरा करन वाला साधु जसी पुरान कर्मों की निजरा करता है वैसे ही नवीन कर्मों का बन्ध भी करता है । और संवर पूर्वक निजरा करन वाला साधु पुरान कर्मों की निजरा भी करता है और नवीन कर्मों के आसन्न को भी रोकता है । अत आगम में संवर पूर्वक निजरा को ही महत्त्व दिया गया है । निजरा को संवर पूर्वक बनाने के लिए साधु को ऐसे तपश्चरण का आचरण करन चाहिए जिससे मन दुष्कृत्यों की ओर प्रवृत्त न हो । नैस इन्द्रियों के विषयों का सबन करना दुष्कर्म है वैसा ही अथवा उससे अधिक दुष्कर्म क्रोधादि कषायों के बश में होना है । इंद्रियों और मन को बश में रखकर प्रायश्चित्त स्वाध्यायादि तप की निर्बाध सिद्धि करने के लिए अनरानादि तप कियाजाता है । क्रोधादि क आवेशा बड़ जान पर आत्मा प्रायश्चित्त स्वाध्यायादि तपस्या को करने में असमर्थ हो जाता है इसलिए तप की वृद्धि के साथ क्रोधादि कषायों का उपशम भी होना परमावश्यक है । जिस तपस्वी के क्रोध मान माया या लोभ का आवेशा होता है, वह

तपस्या जो कलकित और नरप्ल कर देता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि तपस्या वही श्रेष्ठ मानी गई है जिससे चारित्र्य के पालन में समय के आराधन में उत्साह व रम्य उत्तराचर बनता रहे तथा पूव के चरण किये व्रत और नियमों का दृढ़ता से पालन होता रहे।

### बाह्यतप के गुण

सके लए बाह्यतप भी बहुत जरूरी है। बाह्यतप आत्म्य को सन्माग में तत्पर करने का अर्थ साधन है। इस तप से जीवक आत्मस्य नष्ट होता है तथा सुख्या स्वभाव दूर हाता है। कष्ट सहिष्णुता बढ़ती है और परिषद सहन करने की प्रकृति बनती है। शरीर से न चूटकर वैराग्य भाव में हस्ता आती है और ससार स चित्त उद्विग्न होकर आत्म-धम में प्रवृत्त होता है।

यद्यपि संसार स भयभीत हुए बिना तपश्चरण स तत्परता नहीं होती है तथापि बाह्यतप के आचरण करने वाले का आगम के पठन पाठन मनन स सलज्ज होता है और निरन्तर ज्ञानाप्तन का पान करने रहने में आत्मा स पात्रता आजाती है। तब ससार से उद्विग्न क्षता है और उस ससार की असारता निश्चय हाजाती है इसलिए वह तपस्वी संसार के दुखों स चबराकर आत्महितकर म में लग जाता है।

न ब्रह्म तर्कों का उपयोग यहा है कि अनजान अवमान्य वृत्तिपरिमंखजन आर रसारावाग इन चार तर्कों के द्वारा जहा हृदय का जमन हाता है। विवक शयनामन औ काय क्लेश तपके द्वारा स्पर्शन घ्राण चक्षु और कर्णेंद्रिय का दमन होता है। मनका दमन तो मभा में होता है। एकान वसातका म स्पर्शन नि इन्द्रियों को लुभान लि विषयों का अभाव होता है अत विवक वसतिका में निवास करने स स्पर्शनानि गत्या आ मा क वरा में रहती हैं।

आहारान्त का योग करने स विषय प्रेम घटता है और रत्नत्रय में स्थिरता बनती है। क्योंकि विषयों में व्याकुल हुआ चिप रत्नत्रय में स्थिर नहीं रहकर विषय सम्बन्धी अशुभ विचारो-संख्य विकल्पों क जाल में गोता लगाता रहता है। बाह्य तप के कारण विषयों स उदासीनता बनती है और उत्तम क्रिया ( स्वाध्यायि ) में प्रेम बढ़ता है।

बाह्यतप न आचरण स शरीर में कुराता आता है और आत्मशाक्ति विकसित होती है। इससे शुनि की जीवित रहने की आशा व तुष्णा का क्षय होत है। तबनवर शरीर से मोह हटकर आत्मीय गुणों ( क्षमादि ) में अनुराग उत्पन्न होता है। जो शरीर से मोह रखता है वह मनुष्य बाह्य तप का अनप्यान करने स भय खता है। उसकी आहारानि सम्बन्धा लम्पन्ता नहीं छूटती है। तथा वह असंयमादि का आचरण करके भी शरीर को सुखी रखन तथा प्राण धारण किय रहने की इच्छा रखता है। और वह रत्नत्रय के आराधन में उपेक्षा धारण

करता है। अतः शरीर का मोह का सम्बन्ध शिथिल करने के लिए बाह्यतप का आचरण करना चाहिए। शरीर विषयक मोह के घटने पर आत्म गुणों में प्रेम भी वृद्ध होती है। समय पर स्थिर रहने की भावना दृढ़ होती है तथा विनश्वर शरीर का उत्तम कार्यों में उपयोग करने की सच्ची लगन उसके मन में पैदा होती है।

भरण काल में जो सम्पूर्ण आहार का परि याग करना पड़ता है उसका अभ्यास बाह्यतप के आचरण करने से ही होता है। जिसने पहले अनशानादि तप का अभ्यास किया है वह समाप्ति मरण के अवसर पर सुगमता से आहार का त्याग कर सकता है और जिसने अनशानादि बाह्य तप का आराधन नहीं किया है वह सहसा आहार का त्याग करने में कृतक्रय नहीं होता है उसे आहार का त्याग करने में भय उत्पन्न होता है। क्षुधा-तृषा की बाधा सहन करने का अभ्यास न होने से वह एकत्र आहार का त्याग करने से व्याकुल चित्त हो जाता है। उसकी आँखों के सामने अचेरा सा आ जाता है सिर चक्कर खान लगता है और उसका मन अशान्त हो जाता है। अतः मरण को सुधारन के लिए अनशानादि तप का आचरण बराबर करते रहना चाहिए।

बाह्यतप के आचरण से निम्नलिखित गुण व्यक्त होते हैं —

निद्रागृद्धिमन्स्नेहलोभमाहपराजय

ध्यानस्वाध्याययोष्टुद्धि सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥ ( स भग आ )

अर्थ—नित्य आत्मा को ज्ञानोपयोग से रहित जड़ बना देती है। निद्रा के वशीभूत हुआ मुनि सामायिक प्रतिक्रमण, स्वाध्याय ध्यान स पराडमुख होता है। निद्रा मनुष्य को सूतक समान बना देती है और दरान्नवरणादि कर्मों का बन्ध करती है। उस पर विजय प्राप्त करने का मुख्य साधन अनशन अवमौन्यादि बाह्य तप हैं। निद्राविजयी बनने के लिए यथार्थक तपस्या करना परमावश्यक है। जो नित्य भरण भोजन करता है मरम आहार करता है वह शूद्रस्पर्शयुक्त निकृष्ट सुखप्रद स्थान में निद्रा राक्षसी का प्रास बनता है। उसको सामायिक स्वाध्याय व ध्यान करते समय नित्य घेरलेती है। भ्रसक प्रयत्न करने पर भी वह अपने चित्त को सामायिक स्वाध्यायादि में नहीं लगा सकता है। नींद पर नीन्द आने लगती है और वह चेतना शून्य होकर अशुभ विचारों के प्रवाह में बहने लगता है अतएव निद्रा का त्याग करने के लिए बाह्यतप का नित्य यथार्थक अवश्य आचरण करना चाहिए।

गृद्धि ( आहारादि की आसक्ति ) समयी को संयम से ढकेलती है। जिस साधु के मन में आहार की लम्पटता होती है, वह भक्ष्य अभक्ष्य का प्रासुक अप्रासुक का सदोष निर्दोष का विचार नहीं करता है। वह तो अपनी लालसा को शान्त करना चाहता है जो वह

जिज्ञा न्त्रिय के बराबर होकर अपने समय रत्न को खो देता है। जा तप का आकासी है अनशादि तप का अनुष्ठान करने वाला है, उनके आहारानि का लालसा नहीं होती है। वह तब शरीर स भी मोह नहीं रखता है तब आहारानि म आसक्ति में कर सकता है ? अतः बाह्य तप क आचरण करने वाले क आहारानि की लालसा भी नहीं होती है।

बाह्य तप के द्वारा ही मन्त्रय अथान् न्त्रियो का मनन होता है। उपवास उनोदर रसयाग आनि यथायाग्य तपस्या को जो समयी करता रहना है उसकी इन्द्रियों स्पृहीन हो जाती हैं। उनमें विषय मवन की जो उसुकता होती है वह उपशात हो जाती है। न्त्रियो की प्रकृति है कि जब उनको बल दन वाले अनुकूल विषयों का सम्पर्क मलता है तो उनक वप ( मन् ) की वृद्ध होती है और उनका बरा म करना कष्ट सा य होता है। किन्तु उपवासानि तप के कारण अनुकूल सामग्री न मिलन स वे शक्तिहीन हो जाती हैं तब उनका मड नष्ट होजाता है और व मन्त्र कालित सप की भाति मन्हीन ढाकर समयी के अज्ञान रहती हैं। इन्त्रियो क दमन करने का निम्निय प्रधान साधन तप क अतिरिक्त कोई नहीं है।

मनेह लोभ आ माह का पराजय करन क लि अमोप शस्त्र एक बाह्यतप है। तपस्या करने वाला अपने शरीर म भी स्नेह नहीं करता। उनको तब अज्ञान चीवन का भी लोभ नहीं होता तब शरीर स मोह क्या करगा ? और ऐसी नशा में उसके स्त्री पुत्र व अन्त्र वस्तुओं म स्नेह लाभ या मोह कैसे हो सकता है ? क्यानि चित्तनी भा बाह्य वस्तु हैं उनका साक्षात् सम्बन्ध शरीर क साथ है। शरीर द्वारा ही उनका परस्पर सम्बन्ध आत्मा क माय है। निमन शरीर म स्नेहान् सम्बन्ध तोड दिया है उसक स्त्री पुत्र धन या शिष्यानि वग क मध्य स्नेहानि सम्बन्ध स्वत ही टूट गया। अत जो अत्मीय तप मनुष्य अति कठिन मोहान् शत्रुओं म अपना पिण्ड छुडाना चाहते हैं उनको अनिशानि तप का आचरण अवश्य ही करना चाहिए।

यान की सिद्धि व वृद्धि चित्त की एकाग्रता म होती है। चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करने के लिए अनशन अवमौन्यान् बाह्य तप व आचरण परमोपयोगी माना गया है। कारण कि उपवास या उनोदर आनि तपस्या के द्वारा अशक्त हुई इन्द्रियों अपने विषयों स उन्मत्त होजाता है। और न्त्रियों को उन्मत्त होन स मन भी मुक्त जाना है। वह विषयों म उन्मत्त होजा आत्मीय ध्यानान् कार्यों मे लवलीन होता है। इन्द्रियों चित्त प्रवृत्त होते हैं मन भी उधर चित्त जाता है। जब न्त्रियों चञ्चलता का परिहास कर मित्तता धारण कर लती हैं तब असहाय हुआ मन भी स्वत श्चर हान लगता है। आर चित्त की मित्तता को ही ध्यान कहते हैं। अत यान की सिद्धि व उमको उत्तरोत्तर वाढगत करन के लिए अनशन अवमौन्य रमपरिहास व विविक्तशयनासन का आचरण करना नितान्त आवश्यक है।

स्वाध्याय वृद्धि के लिए भी बाह्य तप नितान्त आवश्यक है। जो बहुत भोजन करने वाला है या पुष्ट और गरिष्ठ रसिले आ ।

का सवन करता है उसे आत्मस्थ घेर लता है निरा आने लगती है और स्वाध्याय स चित्त ऊब जाता है। जिसने उपवास अवमौन्यात् तप स आत्मस्थ और निरा को दूर कर लिया है वह निबाध होकर स्वाध्याय म रम सकता है। अतः स्वाध्याय की सिद्धि व वृद्धि के लिए बाह्य तप अपूव साधन है।

बाह्य तप का आचरण करने वाले मुनि क मुख दुःख म समभाव होता है। अथान् उसक न्दिय जय सुख में राग और क्षु शात्त बनना स उत्पन्न हुए दुःख म वष भाव नही हाता है। अतः वह मुख दुःख म समभाव आरण करने वाला होता है।

तात्पर्य य है कि ब्रह्मतप मुनि को बाह्य विषया स पृथक् करता है और आत्मा क गुणों के विकास करने में प्रवृत्त करता है। समय का ता निष्कलक अलकार तप है। मुक्ति अङ्गना उमा क गले म पर माला डालती है जो तप रूप भूषण स भूषित होता है। कयोनि ससार क मूल कारण कर्मों का समूल नाश तपश्चरण स ही हो । है।

दूसर मुनि का तपस्था को देखकर नये कामलाग मुनियों का भी तपस्या म अनुराग उत्पन्न हाता है। उनके वैराग्य की वृद्धि हाता है शरीर स प्रेम नष्ट होना है ससार में आसक्त हुए रोगी तन भी तस्वी मुनि के तपश्चरण म अवलोकन कर ससार स भयभीत होत हैं। व विचारन लगते हैं देखो! यह मुनिराज ससार स भयभीत हाकर अपन शरीर स भी त्रितन विरक्त हैं धन्य है इनको जो ऐम दुःख तपश्चरण का आचरण करते हैं। धिक्कार दे हमका जा सनार से तनडर होकर शरीर क ताम बन हुए हैं हमका अपन कल्याण क अथ अचरय तपश्चरण करना योग्य है। ऐसा च तन कर तपस्या करन मे प्रवृत्त हात हैं। जिन धर्म म विमुक्त प्राणो भा तपस्वी साधुओं क त्रशन कर उनके दुःख तप से प्रभावित होते हैं और धम क प्रति अद्धा व पन्न पर अपना वन्याण करन म तपार हो जाते हैं।

अनशानात् तप क अनुष्ठान से आमीय गुणों क विकास के साथ शरीर भी स्वस्थ होता है शरीर का भारीपन मिन्ता है मन्ना ( चर्बी ) का वृद्धि रुकती है वात और कफ की वषमता त्र होती है अपच की बामारी का नश होता है आत्मस्थ त्र होकर स्फूर्ति उत्पन्न है काय करन की क्षमता प्राप्त होती है वृद्धि का त्रिजाम हाता है।

मुनि को यान् सर्वापरि ज्ञान प्राप्त करना है अपनी वृद्धि और मधा शक्ति की वृद्धि करना है, विश्व को आश्चय चकित करने वाले शास्त्रीय ज्ञान तथा न्दिय ज्ञान को उपलब्ध करन ता तपस्या रूप औपधि का सवन करो। तस तप रूप रसायन का सेवन कर जड वृद्धि साधु अलौकिक न्दिय ज्ञान के धारक होगये हैं। ब्रान्शाङ्ग बाणो का पूरण ज्ञान तथा अवधि मन पयाय और केवलज्ञान तपश्चरण स ही प्रकट होते हैं। य ज्ञान शास्त्रों क अभ्यास से नही उपन्न होते हैं ननका उपात्तक तपश्चरण ही है।

पूण श्रुतज्ञानानि तो तपस्या स होते ही हैं किन्तु जड़-बुद्धि मनुष्य के ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव भी तपस्या के आचरण से हो सकता है। बहुत स अल्प बुद्धि मनुष्यों के ज्ञानावरण का चमत्कारी क्षयोपशम तपश्चरणा स हुआ है। यह नि सन्देह है कि तपस्या से अक्षय ही ज्ञानावरणाणि कर्मों का क्षयोपशम उपशम या क्षय होता है। अत यत्नि ज्ञानवान् मेधावान् विद्यावान् आनि बनना हो तो तप का अभ्यास करना चाहिए। इसीसे तेजस्विता चाग्मिता और विद्वत्ता उत्पन्न होती है।

मन्त्रलेखना के आगवन् का फल यह है कि मय और कषाय को क्रश करने म पयत हुआ सयमी अनशानानि तप की क्रमश उद्व करता है। अ शीत एक उपवास क वान् तो उपवास ( बेला ) करता है। नत्वश्रान् तीन उपवास ( तेल ) बोला आदि अनशन तप को उपाता है। मुनियों के अधिक म अधिक आहार का प्रमाण वृत्तिसमास कहा है। उसमें एकग्राम तोमास तीनमास आनि की न्यूनत ( कमी ) करने हुए अमो य तप की वृद्धि करता है। एक रमका तो रमो तीन रसो आनि का त्याग क्रमय करते हुए रसपरित्याग तप को बढ़ाता है। आज मैं एक मुन न मे ही आहार क लिए भ्रमण करूंगा अथवा सात घणों में या तीन घणों में ही आहार के लिए प्रवेश करूंगा। आज एकमास या ो चार म वीस या क्तास ग्राम हो प्र य करू ॥ इस प्रकार प्रास के प्रमाण का नियम कर वृत्तिपरिसंख्यान तप की उद्धि करना है। दिनम आत न याग करके रात्रि में प्रतिमायोग धारण करने का नियम करता हुआ कायक्लेश तप की उद्धति करता है। सुने घर पनत नी गुफा वनादि क वसतिा में आश्रय लेकर क विकश यासन तपको वृद्धिगत करता है। इस प्रकार तपो की वृद्धि करते हुए सयमी के शकावन् मालुम होता है तब वह उक्त अनशानानि तप का क्रम म न्यून ( कम ) करता है। वने हुई तपस्या को शनै श चटाने को तप नी हानि कहत हैं। अथवा सब प्रकार वने हुए तपक्ष ण स रूस व रसहीन आहार का अ प करत हुए शरीर को क्रश करता है।

अथवा मन्त्रलेखना का दूसरा प्रकार यह है कि कषाय आर काय क्रश करने को उगमी सयमी एरुदिन अनशन ( उपवास ) प्रदण करता है दूसरे दिन व्रात्तपरिसंख्यान तप धारण करता है तीसर दिन अवमी य तप अगीकार करता है। अथवा प्रतिदिन आहार म कमी करता हुआ अपन शरीर को और कषाय का घटाता जाता है।

### मन्त्रलेखना का आराधन अथ २ प्रयोगों से

जस लेखना करन वाले मयमी के आयुष्य शेष हो तथा शरीर में योग्य सामग्य विद्यमान हो तब वह अनगार के शास्त्रोक्त बारह प्रतिमायोगों को अगीकार करता है। उस शास्त्रशास्त्री साधु के उन प्रतिमाओं के स्वीकार करने से शरीर ब मन में पोडा नहीं होता है। वह प्रसन्नता पूर्वक अपने शरीर व कषाय को क्रश करने के लिए प्रतिमायोग अङ्गीकर करता है। जो साधु अपने उल को तुलना किये बिना पतिमायोग धारण करता है उसक योग का भंग होता है और चित्त में संक्लेशा परिराम उत्पन्न होते हैं।

### प्रतिमायोग

प्रातमायोग का धारण साधारण शक्तिशाली मुनि नहीं कर सकता है। उनका धारण करने वाला मुनि उत्तम सहनन का धारक होना चाहिए। जो धैर्य और शरीर बल में बलिष्ठ होता है तथा आत्मीय शक्ति से सम्पन्न होता है और परिपक्व पर विजय करने में शूरता रखता है जो धर्म्य यान और शुक्ल ध्यान को परिपूर्ण करने वाला है जिसे देश में वह स्थित है वहां पर बड़ी कठिनाता से प्राप्त होने वाले आहार ग्रहण करने में नियम लेता है कि यदि एक मास के भातर अमुक दुलभ आहार मिलेगा तो उसका आहार लूगा उसके अतिरिक्त एक महान तक अथ भोजन का त्याग है। इस प्रकार एक मास का प्रतिज्ञा करता है और उस मास के अन्तिम दिन में वह प्रतिमा योग धारण करता है। यह एक प्रातमा है।

### भिष्णु प्रतिमा और उसके ७ भेद

बड़े समय में एक पूर्वांक आहार में सौगुने उत्कृष्ट और दुलभ भिष्ण प्रकार के आहार की दो मास की प्रतिज्ञा लेकर दो मास के अन्तिम दिन में प्रतिमा योग धारण करता है। वह दूसरी भिष्णुप्रतिमा होती है।

पूर्व कथित आहार से सौगुने उत्कृष्ट और दुलभ आहार की तीन मास पर्यंत प्रतिज्ञा धारण करता है। यदि तीन माह के भीतर अमुक भोजन मिलेगा तो ग्रहण करेगा अन्यथा सब भोजन का तीन माह तक त्याग है। उस तीन माह के अन्तिम दिन में प्रतिमा योग धारण करता है। उस तामरी भिष्णु प्रतिमा कहते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर सौ सौगुने उत्कृष्ट और दुलभ (कठिनाता से मिलने वाले) भोजन की प्रतिज्ञा चार पांच छह व सात माह तक की क्रम से अंगीकार करता है और चार माह पांच माह तथा छह माह और सात माह के अन्तिम तिथि में प्रतिमा योग स्वीकार करता है यह क्रमगत् चौथी पांचवीं छठी और सातवीं भिष्णु प्रतिमा हाती है। तत् तत्सम्बन्धी योग को तत् तत् प्रतिमा योग कहते हैं। इस प्रकार सात प्रतिमाओं के सम्पन्न होने पर पूर्वांक आहार से उत्कृष्ट और दुलभ भोजन की सात सात दिन तक की प्रतिज्ञा तीन बार अंगीकार करता है। प्रतिज्ञा के अनुसार भोजन की प्राप्ति होने पर यथाक्रम तीन प्रास दो प्रास और एक प्रास ग्रहण करता है। ये आत्मीय नववीं और दशवीं तान भिष्णु प्रतिमाएँ हैं। इसके अनन्तर रात और दिन प्रतिमा योग में खड़ा रहता है, यह ग्याह्वरी और उमक वात् रात्रि में यान्त्रिक रहता है यह बारहवीं-प्रतिमा तन्निष्ठा प्रथम शक्तिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। और पश्चात् सूर्य का उदय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है। यही कहा है —

‘मामिय दुय दिय चउ फामाम छम्मास सत्तमासीय ।

तिग्णे व सत्तराह राडदिय राहपडिमाओ ॥ १ ॥”

### आचाम्ल तप

प्रश्न—मल्लेखना के कारण भूत उक्त जितने तप बखान किये गये हैं उनमें सबसे ब्रह्म कौन है ?

उत्तर—शरीर को कुश करने के निमित्त भूत जो तप हैं वे अनेक हैं किन्तु उनमें 'आचाम्ल तप' सब श्रेष्ठ है।

प्रश्न—आचाम्ल तप की विधि क्या है ?

उत्तर—बला तेला चोला और पचोला तक के उपवास के अनन्तर पारण्ये के दिन परिमित और शीघ्र पचने वाला काजी का आश्रय प्रायः माधु किया करते हैं। अर्थात् आमा में सकलेश उपन्न न हो इस प्रकार अपना शक्ति के अनुसार बेला ( दो दिन का उपवास ) तेला ( तीन दिन का उपवास ) चोला ( चार दिन का उपवास ) और अधिक से अधिक पचोला ( पाच दिन का उपवास ) करे। जिस दिन पारणा करना हो उस दिन परिमित और लघु ( शीघ्र पचने वाला ) काजी भोजन करे। इस आचाम्ल भोजन कहते हैं। कहा भी है—

‘ममाऽथषष्ठाष्टमकैस्तपोऽधिकैस्ततो विप्रकृष्टैश्च दशमै शमन्तक ।  
तथा लघुद्वात्रशकैश्च सेवने मितमृत्वाऽऽचाम्लमनाविलोलघु ॥’

अर्थात्—आचाम्ल तपस्या का इच्छुक संयमी प्रथम दो दिन का उपवास करे और अपने वित्त में सकलेश न हो शक्ति का अनुभव होवे तब तीन दिन का उपवास करे। उतने उपवास स भी आत्मा में सकलेश भाव न हो तो चार दिन का उपवास करे। पश्चात् पाच दिन के उपवास की प्रातःकाल करे। प्रत्येक पारण्ये के दिन परिमित और लघु काजी का भोजन करे।

प्रश्न—तना विवेचन आपने समाधिभरण के समय जो भक्तप्रत्याख्यान के विषय में किया है उस भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक कितना होता है ?

### भक्त प्रत्याख्यान का काल

उत्तर—जब आयु बहुत बाकी हो तब भक्तप्रत्याख्यान का काल अधिक से अधिक बारह वर्ष का बताया गया है। अर्थात् आयु के अधिक होते हुए भी किसी ने पहले ब्रतलाये गये समाधिभरण के कारणों में से किसी कारण के उपस्थित होने पर भक्तप्रत्याख्यान प्रारम्भ कर दिया हो तो उसके भक्तप्रत्याख्यान का काल बारह वर्ष तक हो सकता है इससे अधिक नहीं।

### भक्तप्रत्याख्यान काल की यापन विधि

प्रश्न—भक्तप्रत्याख्यान के एक बारह वर्ष के काल को सयमी किस प्रकार बिताने ?

उत्तर—बारह वर्ष के काल में से प्रथम चार वर्ष सयमी अनेक प्रकार के तपश्चरण में बिताने। उन चार वर्षों में अपने परिणामों को उज्वल रखते हुए नाग प्रकार के कायक्लेश तप का आचरण करे। चार वर्षों के बीत जाने पर अगले चार वर्षों में सयमी दूध दही घृत गुह आदि सम्पूर्ण रसों का त्याग कर रूखा सूखा व स्वरूप भोजन पान स्वाकार करता हुआ अपने शरीर को कुरा करता रहे। इस प्रकार करन स उसका शरीर तो कुरा होता है। किन्तु परिणामों में निमलना की वृद्धि होती है। इस तरह आठ वर्ष व्यतीत करता है।

अवशिष्ट चार वर्षों में स पहले नौ वर्षों को आचाम्ल ( काजी ) भोजन तथा षटनी शाकादि स्वादिष्ट रस व्यंजनादि से रहित भाजन स यतीत करता है। उन नौ वर्षों के अनन्तर एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन से बिताना है। अन्तिम एक वर्ष प्रथम छह मास में स यम तपस्या का अनुष्ठान कर शरीर को कुरा करता है और अन्तिम छह मास में उच्छ्रोत्रकृष्ट कायक्लेश तपश्चर्या का आचरण कर शरीर को क्षीण करता है। इस तरह वह सयमी अपना आयु के अन्तिम बारह वर्षों में सल्लेखना का आराधन करता है।

प्रश्न—क्या सल्लेखना करन वाले सयमी को अपन आयु के अन्तिम वर्ष तक विधि के अनुसार ही बिताने योग्य हैं अथवा ओर कोई दूसरा भी प्रकार है ?

उत्तर—उक्त विधि स ही तपश्चरण करने का नियम नहीं है किन्तु द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अनुकूलता और प्रतिकूलता स तपश्चर्या का अनुष्ठान तथा आहारानि का ग्रहण व त्याग करना चाहिये। शास्त्रों में कहा है —

भक्त खेत्त काल घाटु च पदुञ्च तह तव कुञ्जा ।

वादो पित्ता सिमो व जहा खोभश्च उवयति ॥ २५५ ॥ ( भग आ )

अर्थ—भोजन अनेक तरह का होता है। कोई भोजन ऐसा होता है जिसमें शाक अधिक होती है किसी में दूध या दही या घृतानि अथवा मात्रा में होते हैं। किसी में जी चना मूग मोठ कुलथी आदि घास का भाग अधिक होता है। कोई भोजन शाक दास आदि रहित होता है। इत्यादि अनेक प्रकार के भाजन होते हैं। क्षेत्र भी अनेक प्रकार के होते हैं—कोई अनूप देश होता है ( जिस देश में जल बहुत होता है—जल पय अधिक होते हैं उस अनूप देश कहते हैं ) कोई देश जागल होता है ( जिसमें वृष्टि कम होती है और नदी आदि नहरों

से कृषि होती है उसे जागच देरा कहते हैं ), कोई देरा साधारण होता है ( जिसमें उक्त दोनों लक्षण पाये जाते हैं उसे साधारण देरा कहते हैं )।

माल के शीतकाल प्रीष्मकाल और वर्षाकाल ये भेद होते हैं।

अपन शरीर की प्रकृति को धातु कहते हैं। किसी की शरीर-प्रकृति बात पथान होती है किसी की कफ प्रधान और किसी की पित्त प्रधान होती है। अपना प्रकृति को लक्ष्य में रखकर बात पित्त और कफ की समता रखने हुए योग्य भोजन का सेवन करना चाहिए अनूप देरा में बात और कफ बंधक आहार का सेवन करना ठीक नहीं। जागल देश में पित्त प्रकुपित करने वाले आहार का ग्रहण अहितकर है। मा प्रकर शीतकाल प्रीष्मकाल वर्षाकाल व योग्य भोजन का ग्रहण और नक अयोग्य भोजन का त्याग करना सयमी का कर्तव्य है।

म प्रफार न्ध्य ( भोजन ) क्षेत्र और काल के अनुकूल तपश्चरण और भोजन का ग्रहण करने वाला सयमी अपने भावों की उत्तरात्तर विशुद्धि करत हुआ मन्त्रलेखना की सिद्ध करन म कृतकाय हाता है।

यह यन में रक्षना चाहिए कि यह सब प्रयास तभी सफल है जबकि भावों में उच्चलता वृद्धिगत होती रहे। चाहे मन्त्रलेखना की विधि का किसी भा प्रकार आचरण किया जाय यह अपनी न्द्रा पर निर्भर है। परन्तु अपने भावों में मनीनता उदासीनता और सकलेशा न आव सा का ज्ञान रखना चाहिए। चित्तनी भी मन्त्रलेखना की विधिया हैं व परिणामों में उज्वलता उत्पन्न करने के लिए हैं। इसलिए सयमी को उचित है कि वह एक जणमात्र भी आत्मा की विशुद्धि का त्याग न करे। आत्मा की विशुद्धि के बिना जितना भी तप किया जाता है वह सब निरर्थक है क्योंकि उससे आत्मा प्राप्ति नहीं होता। जो आत्म हित के उद्देश्य के बिना तप करता है उसे चाहे लोक में आपर सम्मान म पूजा प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो जाय पर तुप खण्डनबन्ध है उसकी यह आकांक्षा उसको अधोगति में ले जाने वाली है। भाव रहित क यक्लेशा तप से उसको न्द्राधिनि देवगति भा प्राप्ति हा जावे तो भी उसका आत्म परिणाम कुगति है। इसलिए आत्मा का ( अपना ) हित करने का न्द्रा रखन काल का सामारिह विषयों की आभलापाओं के लात माग कर कर्मों की निजरा और आत्म-गुणों को प्रकाशमान करने का लक्षण तस्या करना चाहिए क्योंकि कर्मों के लय होन म आत्म सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। वृत्त के मूल में जल विचन करने वाला मनुष्य टून क हर भर पत्तों की शीतल ज्ञाया आर उसक पुणों की मकरन् का अनुभव करता हुआ उसके मृदु, स्निग्ध और दिव्य फलों का अनुभव करता है। वैसे ही कर्मों की सत्तर पूर निजरा करने वाला मात्तमाग का पथिक महामा अनुभूतिक रूप से प्राप्त होने वाले नर लोक और न्बलाहक क सुदो का अनुभव करता हुआ शाश्वत दिव्य अनुभय सुखों को प्राप्त होता है।

## कषाय से बचने के उपाय

उक्त प्रकार काय को कुरा करने का उपाय दिखाकर अब कषाय को कुरा करने के उपायों का बखान करते हैं। साधक को विचार करना चाहिए कि काय को कुरा करना तभी कायकारी होता है जबकि काय के साथ कषाय भी कुरा हो जावे। क्योंकि कषाय को कुरा (भेद) विषय विना केवल काय को कुरा करना निष्फल है। ऐसी निष्फलता सिद्धवाचि गति में अनेक बार इस जीव ने की है। उससे क्या लाभ हुआ? अन्न क्रोधादि कषायों का उपशम करने का भरसक प्रयत्न करना ही आवश्यक है क्योंकि सब दुःखों की जनक कषाय ही है। ससार में जीव का रात्र अन्ध कोई नहीं यह क्रोधादि कषाय ही सबके शत्रु हैं।

अन्न क्रोधाग्नि को क्षमा जल से शान्त करो। मान रूपी पवत का म दव (विनय) रूपी वज्र से पतन करो। माया की कठोर प्रिय (गाठ का आजव (सरलता) रूपी सूचिका (सूई) से भवन करो। लोभ-समुद्र क प्रवाह को सतोष-सुय की प्रलर किरणों से सुखा दो।

प्रवर्जित हुई कषाय रूप अग्नि जीवन का सार तत्त्व जो चाग्नि है उसे क्षण भर में भस्म कर देती है। इतना ही नहीं वृद्धि को प्राप्त हुई यह कषाय अग्नि दुर्लभ सम्यक्त्व पीयूष को भी सुखा कर आपा को अनन्त संसारी बना देती है। इसलिए इस कषाय को हृत्पथ से थाड़ा सा भी स्थान नहीं देना चाहिए। क्योंकि थोड़ी सी रूप य अग्नि प्रातःकूल वचन का संयोग रूपी ईंधन और असहनशीलता रूपी अनुकूल वायु का ससग पात्ररूप धारण करलेता है इसलिए कषाय को उत्तेजित करने वाले बाह्य संयोगों से भा सदा दूर रहना चाहिए। यदि कषाय को उत्तजना दन वाले बह्य निर्मित प्राप्त होजाव तो अन्तःस बचने की चेष्टा करना ही श्रेयस्कर है।

जिस समय क्रोधान् कषयाग्नि अन्तःकरण म प्रादुर्भूत हो उसी समय हे भगवन् मैं आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हूँ मेरा यह (कषाय जन्य) पातक मिथ्या (निष्फल) हो मैं आपका नमस्कार करता हूँ। यदि वचन रूप जल स उसको शान्त करने को आश्रयकता है। इस कषाय रूप भयानक विषधर के विष को दूर करने का यह गाकड़ा मात्र नै। जिस आत्मा में इस गाकड़ी मात्र का सङ्ग रहता है उस आत्मा पर उपाय रूपा विष को कुञ्ज भी असर नहीं होता है। अतः जहां तक बन सके कषाय के उत्पादक कारणों के समर्क से दूर रहना चाहिए। यदि उनका संयोग बलात्कार से उपस्थित हो जावे तो क्षमा मादव आजव और सतोष आदि स उनका शमन करना उचित है।

ऊपर लिखे कषाय रोग नाशक नुस्खे (प्रयोग) क सेवन करने वाले को निम्नोक्त अपथ्य से सवथा बचना चाहिये।

हाय रति अरति शाक भयादि नव नोक्वय और चार संज्ञाएँ (आहार भय मैथुन और परिग्रह की बाधा) हैं। इनसे सदा

दूर रहना चाहिए। क्योंकि हास्य (अट्टहास हसी मजाक) क्रोधादि के विकार को उत्तेजित करता है। रति (विषय प्रेम) और अरति (सत्कार्यों से विषय की उद्धिगता) तथा शोक मय ग्लानि और अममकीटा के भाव रागादिव के जनक हैं। तथा आहारादि सखा भी आत्मा में लोभादि कषायों को अकुशित करती है।

इनके अतिरिक्त श्रद्धि रस और सात इन तीन गारबों का भी त्याग करना आवश्यक है। श्रद्धि में तीव्र अभिलाषा श्रद्धि गारव रसों में तीव्र अभिलाषा रस गारव और सुख की तीव्र अभिलाषा सात गारव है। इनसे भी क्रोधमानादि कषय रूप विकार भाव उत्पन्न होते हैं। साधुओं को कषाय की शान्ति के लिए इनका भी त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

कषाय को कुश करने में तत्पर हुए समयी को अशुभ लेश्याओं का भी परित्याग करना चाहिए। कृष्य नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। जिस आत्मा में यह ३ पत्र होती हैं उसके चारित्र का विघात कर उस चारित्रहीन असयमी बना देती हैं। उनका द्वारा तीव्र अशुभ कर्मों का बाध होता है अतः उनका आत्मा से समूल उच्छेद कर देना चाहिए।

इस प्रकार जिस समयी ने बाह्य सल्लेखना (शरीर को दृश करना) और आन्तरिक सल्लेखना (कषाय को कुश करना) इन दोनों सल्लेखनाओं की सिद्धि के लिए पूर्वोक्त बाध तप आदि का आचरण किया है सत्कार का त्याग करने में जिसने अपनी बुद्धि को लगाया है वह समयी सम्पूर्ण वर्षा में उत्कृष्ट तप जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान हैं उनकी प्राप्ति करने में तत्पर रहता है। अर्थात् ऊपर की सब क्रियाओं का पालन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए ही किया जाता है। क्योंकि उक्त क्रियाएँ साधन हैं और धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान साध्य हैं। इस प्रकार सल्लेखना का निरूपण किया।

### सल्लेखना के आराधक आचार्य का कर्तव्य

सल्लेखना के आराधक (यदि वह स्वयं आचार्य है तो) का क्या कर्तव्य होता है उसका प्रतिपादन करते हैं।

सल्लेखना करने में उद्युक्त हुए आचार्य को गण की हित कामना का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। अपना आत्म हित करने के लिए सल्लेखना का आराधन जैसा मुख्य कृत्य है वैसा ही आगे के लिए सब का सुप्रबन्ध करना भी उनका प्रधान कर्तव्य होता है। बर्मेतीर्थ का विच्छेद न हो सम्पददान सम्पन्नान और सम्पत्क चारित्र की अविच्छिन्न परिपाटी चलती रहे, इसके लिए वह आचार्य अपनी आयु का विचार कर अपने शिष्य समूह को तथा अपने स्थान में जिन बालाचार्य को स्थापित किया था उन्हें बुलाकर सौम्य विधि, करण नञ्ज और शुभ लभ मुहूर्त दत्तकर शुभ प्रदेश में सहा का सर्वथा त्याग करते हैं। तथा अपने समान आचार्य गुरु से भूविषय सम्पूर्ण सहा की रक्षा शिष्यादि

काय-सञ्ज्ञान करने में समर्थ बालाचार्य को अपना भार सौंपते हैं। उस समय उनको परिमित शब्दों में ज़ोटा सा उपदेश देते हैं। इसके बाद वह बालाचार्य सम्पूर्ण सङ्ग का आचार्य माना जाता है। उस समय वे पूर्वाचार्य उस बालाचार्य के सामने अपने समस्त सङ्ग को भी सूचित करते हैं—हे भोक्तृभाग के वात्रियो, तुम्हारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य रूप रत्नत्रय निर्विघ्न चल रहा है उसपर सतत आगे बढ़ते रहो, अतः तुम्हारे मार्ग में विघ्न बाधाओंको दूर करने के लिए इस रत्नत्रय धर्म की परिपाटी अविच्छिन्न चलती रहे इसके निमित्त इस बालाचार्य को साथबाह-संघपति—आचार्य नियत करता हूँ। आज स यह तुम्हारा आचार्य है। इसकी आज्ञा के अनुकूल चलना तुम्हारा परम कर्तव्य है। इसप्रकार समस्त सघ के समस्त बालाचार्य को आचार्य पद पर नियुक्त करते हैं और आप सम्पूर्ण सङ्ग से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं।

तदनन्तर सम्पूर्ण सङ्ग और उस नवीन आचार्य तथा बालमुनि से लेकर बृद्ध मुनि पबन्त सम्पूर्ण साधुओं से मन वचन काय द्वारा ज्ञमा मांगते हैं। मेरा तुम्हारे साथ दाघकाल तक सहवास हुआ है मैंने तुम्हारी इच्छा के अनुकूल प्रतिकूल हितकामना से जो शासन किया उसमें तुम्हारे चित्त को दुःखित किया हो तो उस अपराध को श्रम क्षमा करो। इस तरह पूर्वाचार्य के ज्ञमा याचना करने के पश्चात् सम्पूर्ण सङ्ग के साधु व नवीन आचार्य ससार के दुःखों से रक्षण करने वाले सबपर प्रेमाभूत की वर्षा करने वाले उत्तम ज्ञमादि दश धर्मों का तथा रत्नत्रय धर्म का स्वयं पालन करने वाले और समस्त सङ्ग को पालन कराने वाले अपन पूर्वाचार्य की प्रथम बन्दना करते हैं पश्चात् पश्चात् द्वारा मन वचन और काय से नमस्कार करते हैं। और मन वचन काय से पूर्वाचार्य को ज्ञमा प्रदान करते हैं तथा आप भी अपने पूर्व कृत अपराधों की क्षमा याचना करते हैं।

### शिष्य समूह आचार्य के लिए परिग्रह स्वरूप है

जिस प्रकार जो पुत्रादि परिग्रह हैं उनसे ही सल्लेखना के आराधक आचार्य के शिष्य समूह भी उनके लिए परिग्रह है। जब तक उनका त्याग नहीं किया जाता है आत्मा पर उनको रक्षा शिक्षादि के प्रबन्ध का बोझ बना पर रहता है। अतः सब जीवादि तत्त्वों के रहस्य के वेत्ता तथा प्रायश्चित्तादि शास्त्रों के अनुभवी आचार्य अपनी आत्मा के कल्याण करने में तत्पर हुए पूर्वाचार्य उस भार को उतार कर अपनी आत्मा को तत्सम्बन्धी रागद्वेषसे मुक्त कर परम आनन्द का अनुभव करते हैं और योग्य प्रायश्चित्त क्षेत्र अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने में प्रवृत्त होते हैं। कारण कि आचार्य को सङ्ग के शिष्यों के हित के लिए अनेक प्रकार से शासन करना पड़ता है उनको कटु कठोर किन्तु परिश्रम में हितकारी वचन भी कहने पड़ते हैं इत्यादि बातों से आचार्य को जो दोष उत्पन्न होता है उसकी निवृत्ति करने के लिए वे वचित प्रायश्चित्त का भी आचरण करते हैं।

### सङ्ग का परित्याग करते समय आचार्य का उपदेश

गच्छ (सङ्ग) का परित्यग करते समय आचार्य सङ्ग को जो उपदेश देते हैं वह निम्न प्रकार है :—

हे कल्याण के इच्छुक मुनीश्वरो ! तुमने शान्ति सुख की प्राप्ति के लिए घन धान्य गृह पुत्र कलात्रादि का परित्याग कर जिनेन्द्र सहस्र जगत्पूय मुनिपद धारण किया है। इसकी शोभा रत्नत्रय रूप भूषण से है। अतः इसकी उत्तरोत्तर निमलता प्राप्त करना तुम्हारा मुख्य कर्तव्य है। दशनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्र्याराधना को उन्नत बनाने वाली प्रवृत्ति करने में तुम्हारा सच्चा हित है।

हे सङ्ग नायक ! महानदी जहाँ से निकलती है वहाँ पर तो अल्पविस्तारवाली होती है किन्तु आगे बढ़ते ही विस्तृत होती हुई महान् रूप धारण कर समुद्र में मिलती है। वैसे ही तुम भी प्रारम्भ में गुण व शील को अल्प प्रमाण में धारण कर उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि करते हुए गुण और शील को विशाल रूप देने का पूण प्रयत्न करो—सी में तुम्हारा बल्यार्ण है।

तुम मार्जार के शब्द के सपान चारित्र्य तप को मत आचरण करो। जैसे मार्जार ( बिल्ली ) का शब्द प्रारम्भ में महान् और पश्चान् मत् होता जाता है वैसे ही प्रारम्भ में अति दुःख चारित्र्य और तप की भावना ( अनुष्ठान ) में प्रवृत्त होकर पश्चान् उसमें क्रमशः मन्दता ( क्षीण पना ) धारण करना तुम्हें उचित नहीं है। यदि तुमन ऐसा किया तो तुम अपना और सङ्ग का विनाश करोगे। क्योंकि जो आलसी अग्नि से जलते हुए अपने घर को भी नहीं बुझ सकता वह दूसरे के घर की रक्षा करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? तुमको चारित्र्य और तप से गिरते हुए देखकर दूसरे उत्कृष्ट तपस्वी और दृढ सयमा भी शिथिल होने लगेंगे। अतः हे गणाधिप ! तप्य क्षेत्र कालादि को ध्यान में रखते हुए तुम क्रमशः चारित्र्य और तपश्चरण को वृद्धि की ओर ले जाओ। हे सङ्ग की उन्नति के इच्छुक ! तुम ज्ञान दर्शन और चारित्र्य में अतिचार्य मत आने दो अतिचार्य का स्वरूप निम्नोक्त प्रकार है।

### ज्ञान के ८ अतिचार

अस्वाभाविक काल में गणधरानि कथित सूत्र ( आगम ) का स्वाध्याय करना क्षेत्र शुद्धि त्रय शुद्धि और भाव शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना अपने गुरु के नाम को द्विपाना आगम के मूल पाठ में तथा उसके अर्थ में अज्ञान लोगों में अशुद्धि करना अर्थात् अशुद्ध पाठ उच्चारण करना तथा आगम के यथोचित अर्थ का प्रकाशन कर उन्में हीनाधिक या विपरीत अर्थ समझना या दूमरों को समझना आगम का आगम के वेत्ताओं का बहुमान न करना—आदर सकार न करना—ये ज्ञान के आठ अतिचार हैं।

### दर्शन के ५ अतिचार

राज्ञा काज्ञा, विचिकित्सा अथ दृष्टि प्रशंसा और संस्तवन ये पांच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनका विवेचन दर्शनविषय में हो चुका है।

### चारित्र के अतिचार

समिति का व भावनाओं का अभाव होना आदि चारित्र के अतिचार हैं। चारित्र के अतिचारों का बर्णन चारित्राचार के विवेचन के अन्तसर पर कर आया है उन सब अतिचारों का तुम त्याग करो। देखो स्वर्गाय जैन धम पर आरूढ मुनिगण से तथा परपत्नीय तर्ग धमात्रायो प्राणियों स कर्नापि वैर विरोध मत करो। अन्त करण की शान्ति का भङ्ग करने वाले वाद विवाद का भी परत्याग करो। कर्थाकि वात्तानवात्त में प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने जय के उपायों और पर के पराजय के उपायों को ही दूढता है किन्तु वस्तु के तप्य स्वरूप को प्रकट कर समाधान करना नहीं चाहता है। असम काधानि कर्पायों की जागृति होती है जो कि आत्मा का परम शत्रु है। अत इनसे सदा उचना चाहिए। हा तत्रवज्जिज्ञामा से कोई प्रश्न कर तो शान्ति से उसका समाधान करना आवश्यक है।

### आचार्य के लिए ध्यान देने योग्य विषय

हे गणधर! सम्यग्ज्ञान सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में जो अपने को और गण-सङ्घ को स्थापित करे, रत्नत्रय को आप धारण कर और गण को धारण कर व वह गणधर कहनाता है। जो उसके अनुकूल प्रवृत्त न करे वह गणधर पद के योग्य नहीं माना गया है। अन तुम अपने कर्त्तव्य पर आरूढ रहो। बहुत मुनिगण भरे अधीन हैं इसलिए मैं गणधर ( आचार्य ) हूँ ऐसा अभिमान तुम्हारे हृदय में कभी नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम्हें यह विचार निरन्तर करते रहना चाहिये कि मुझे सङ्घ की सेवा का सौभाग्य मिला है, अत मैं इस सेवा के कर्त्तव्य का पूरण रूप स पालन करूँ। कर्त्तव्य पालन म तुम्हारा थोड़ा सा प्रमाण अनेक पत्रित्रात्माओं को महती हानि का कारण होगा, सल्लिए तुम्हें प्रतिक्षेप सावधान रहना चाहिए।

जो साधु आहार पिच्छो कर्मदलु और वसतिका का शोधन न कर ग्रहण करता है वह मूलस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् वह मुनिपद से पतित हो जाता है उसको पुन मुनि दीक्षा लेनी पड़ती है। लेकिन जो साधु उद्रम, उत्पादन पृथगादि दोषों से रहित आहार, पिच्छी, कमदलु और वसतिका को चारित्र की रक्षा के लिए स्वीकार करता है वह उत्तम चारित्र का धारक माना जाता है।

ज्ञानाचारानि पञ्चाचार मे स्थिर रहने वाले तथा उनका निरतिचार स्वयं पालन करने वाले और अन्य मुनियों को पालन करने वाले आचार्यों की जिनागम में उक्त मर्यादा उरण की गई है। परन्तु जो लोकानुवर्त्ती तथा सुखेच्छु हैं उनका आचारण आगम मर्यादा का उल्लंघन करने वाला होता है। आगम मे असंयमी जनों के साथ सम्यक् रखने मिष्ट तथा रसोले भोजन करने कोमल शय्या में शयनासन करने सब ऋतुओं में रमणीय स्थानों में निवास करने आदि में आसक्त रहने वाले साधुओं की यथेच्छप्रवृत्ति का निषेध किया है। उनमें रत

रहने वाले मुनि आचार्य पद के सबया अयोग्य हैं। वे अपने मुनि पद को दूषित करते हैं।

हे आचार्य ! जो साधु आगम निषिद्ध उन्मादि दोषों से दूषित आहार वसतिक्रमि का उपभोग करता है उसके इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम नष्ट हो जाता है। वह दुबुद्धि साधु मूलस्थान को प्राप्त होता है। वह केवल नम द्रव्यलिंगी है। वह वास्तविक मुनि नहीं है तो फिर वह आचार्य कैसे हो सकता है ?

जो साधु कुल ग्राम नगर और राज्य से अपना मन्त्रध त्याग चुका है और फिर भी उनसे ममत्व रखता है—यह मेरा कुल है यह मेरा ग्राम नगर और राज्य है इस प्रकार का संकल्प करता है—वह संयम से शून्य नम प्रकृष मात्र है। क्योंकि जिस पशुध में जो ममत्व रखता है वह उसके मयोग में दूषित और वियोग में दुःखित होता है अतः जो रागद्वेष और लोभ में तप रहता है वह असंयमी होता है ऐसा ध्रुव सत्य मानना चाहिए।

हे मुनिनायक ! किमी साधु के अपराधों को किमी तप पर प्रकट मत करना। उसने अपने संयम जीवन की बागडोर तुम्हें सौंप रखी है अतः वह तुम पर विश्वास रखकर अपने गुण स गुण दोषों को प्रकाशित कर देता है। तुम्हारा परम कर्तव्य है कि तुम उनको कभी प्रकाशित न करो। तुम सब कार्यों में मन्त्रक प्रति समन्वयी रहो नया बाल मुनि स लेकर बुद्धि मुनि तक समस्त मङ्गलस्थित मुनियों का अपने नम के बाल के समान मत्त लण करो।

हे सङ्घातिपते ! चिम नेश में कोई राजा न हो अथवा राज विसृत हो रहा हो या दुष्ट राजा का शासन हो वहा पर कर्णपि मन रहो। जहा पर धर्मपरम्यण श्रावक जन न ह। या तुम्हारे संयम का विधात होता हो उस देश में विहार मत करो। इस प्रकार सत्तेप से तुम्हें शिक्षा ली गई है। अतः अपना तथा सङ्घ का योग ज्ञेय साधन करते हुए धार्मिक जनता को धर्म में स्थिर करना और धर्म के पात्र सरल चित्त मनुष्यों को धर्म पर लगाना अपना कर्तव्य समझो। आय प्रश्न में आगमोक्त विधि का पालन करते हुए स प्रकार निरन्तर विहार करना ही मङ्गलकारी है।

हे मुनियो ! तुमने मुनि पद को धारण किया है। उसके आवश्यक कर्तव्यों का पालन और सामायिकानि वहावश्यक क्रियाओं का पालन करना तुम्हारा आवश्यक कर्तव्य है। क्योंकि ये आवश्यक क्रियाएँ तप और संयम की आधारभूत होती हैं। जब मुनि सामायिकानि आवश्यक क्रियाओं में तत्पर रहता है उस समय उसके इन्द्रिय संयम और प्राणी-संयम दोनों संयमों का पालन होता है और असंयम का परिहार होता है। तथा सम्पूर्ण सावध क्रियाओं स निवृत्त होने के कारण कर्मों का सबर और आत्मीय कार्यों में लक्ष्मी रहने से कर्मों की निवृत्त होती है इसलए तप की भी सिद्धि होती है क्योंकि जो कर्मों को तपता है नष्ट करता है उसे तप कहते हैं। ऐसे तप का

स्वरूप आवश्यक क्रियाओं में पाया जाता है। 'तपसा निर्जरा च तपस्या से कर्मों का सबर और निर्जरा होती है। यह तप का अर्थ आवश्यक क्रियाओं के सङ्ग्रह में पाया जाता है अतः आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में कभी प्रमाद मत करो।

देखो! यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुःख है किन्तु विनारा के उन्मुख है और निस्सार है। तुमने मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए अति दुःख जिन दौषा ग्रहण की है यह बड़े पुत्र के उदय से सुन्दर अनुपम अवसर मिला है। जिन दौषा धारण करना संसार में अत्यु दिव्य लाभ है, अतः इसको सार्थक बनाने के लिए आवश्यक क्रियाओं में सदा सावधान रहो।

हे महात्माओ! जिस समय तुम आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अवकाश पाओ उस समय तुमको अपने संयम चारित्र्य की रक्षार्थ गार्हो के लिए आचरकों के गृहों में पर्या करनी पड़े घम के पिपासुओं को घमों-पदेश देना अवकाश उनके साथ घम सम्बन्धी वात्साह्य करना पड़े उस समय तुमको ईर्ष्या भाषा पणखा आदि पाच समितियों का पालन करना आवश्यक है। ऋद्धि में रसों, में और सुख में तीव्र अनुराग व अभिलाषा नहीं रखना चाहिए। तीन गुणों का पालन करने में निरन्तर वृत्तचिच रहना चाहिए। जिनाज्ञा के विरुद्ध अपनी बुद्धि का उपयोग कदापि न करना चाहिए।

हे आत्मा का साधन करने वाले साधुओ! आहारपदि चार संज्ञाओं और चार कषायों तथा आर्चष्वान और रौद्रष्वान का परिहार करो। ये आत्मा को गिराने वाले हैं। संयम और तप के विराधक हैं। इनमें से किसी एक के बरायीत हुआ आत्मा संयम व चारित्र्य को खो देता है। तथा पांचों इन्द्रियों की दुष्ट प्रवृत्त को रोको। ये लुटेरे के समान तुम्हारे संयम व व्रत को लूटने वाले हैं अतः इनको जीतो अथात् अपने अधीन रखो। वे पुत्र पुत्रा घन्य हैं जो शस्त्रसाधि इन्द्रियों के विषयों से ब्याप्त इस लोक में आसक्ति रहित हैं। स्पर्शादि विषय जिनके अतः करण को आकृषित नहीं कर सकते हैं, वे ही सचे आत्म-गवेदी हैं। ज्ञान और चारित्र्य में लक्ष्मीन रहने वाले ऐसे ही महामा सङ्घ के आदर के पात्र होते हैं।

हे साधुओ! जो सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य में बड़े हैं वे गुरु कहलाते हैं। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु वे गुरु हैं। आप लोभ, उनकी सेवा शुभ्रपा करो। सेवा शुभ्रपा करके लाभ कीर्ति और आदर-सत्कार की इच्छा मत रखो। केवल गुणोंमें भक्ति अर्थात् रत्नकर सेवा शुभ्रपा करो। जो जिसकी भक्ति करता है उसके गुणों का प्रभाव मत्त अज्ञानु की आत्मा पर अवश्य अकित होता है। यह मत्त भी कुल समय के अनन्तर वैसा ही गुणी हो जाता है। तथा गुरुओं की शुभ्रपा करने से उनके रत्नत्रय के प्रति अनुभोदना होती है। और अनुभोदना से बिना परिश्रम के पुत्र की उत्पत्ति होती है जिससे सब सुखोन्मय साधनों की प्राप्ति हो जाती है।

हे मुनियो ! यद्यपि तुम्हारा क्लेश्य आदर्शयक क्रियाओं का आचरण स्वाध्याय ध्यानादि हैं अहन्त और सिद्ध की प्रतिमा का ज्ञान तुम्हारा लिए आवश्यक नहीं है चैसा कि गृहस्थ ( ब्राह्मण ) को आवश्यक है किन्तु इनका सुयोग मिलन पर प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में कृत्रिम आर अकृत्रिम अहन्त व सिद्ध-प्रतिमा की भक्ति आवश्यक करनी चाहिए । जैसे मित्र तथा शत्रु का चित्र या मूर्ति आत्मा में शीघ्र रागद्वेष भा ना को जन्म देती है और जैसे मित्र या शत्रु का चित्र या मूर्ति ने तो तुम्हारा उस समय कोई उपकार या अपकार नहीं किया है तो भी उनका गुण स्मरण हो जान स प्रेम व वैरभाव उदित हो जाता है । वैस ही अहन्त और सिद्ध की प्रतिमा के दर्शन व भक्ति करन से उनके गुणों व स्वरूप होने पर आत्मा क बीतराग भाव की उत्पत्ति या पुष्टि होती है । रत्नत्रय के पालने मे त-परता होती है । उनकी भक्ति सवर और पूज ब-वे हुए कर्मों की अपूज अनजरा की करने वाली है । असलिप चत्यभक्ति अत्यंत उपयोगी है, उसको नित्य करो ।

### आचार्यों के लिए आवश्यक विनय और उमके भेद

ज्ञान ज्ञान चाित्र तप का और उनके पालक साधु महात्माओं का विनय करो । विलय नयति कममलमिति विनय जो कर्म मल ना नाशक है उसे विनय कहत है ।

दर्शनविनय—शङ्का कात्ता विचिकित्स आद आठ मल-गेष द्ब भूतादि तीन मुदता छह अनायतन और आठ मद इन पक्षीम दोषों का परित्याग कर सम्यग्ज्ञान को निमल करो । न पक्षीम दोषों में से जिम शङ्कानि दोष की उत्पत्ति की सम्भावना तुम्हारी आत्मा में हो उसको दूर करो । सम तन्मारा सम्यग्ज्ञान अत्यंत निमल होकर तुम्हें मोक्ष के अतिनिकट पहुंचावेगा ।

ज्ञानविनय—आगम में सूत्रों के वाचनादि का जो काल कहा गया उसका विवेचन ज्ञानविनयाचार के प्रकरण में कर आये हैं उमके अनुसर योय काल मे स्वाध्याय करो । श्रुत का अध्ययन कराने वाले गुरु का नाम मत लिपाओ उनकी भक्ति करो । कुल तपस्या ग्रहण कर श्रुत का आत्न पूर्वक अ ययन करो । श्रतज्ञान का शब्दशुद्धि अथशुद्धि और उभयशुद्धि के साथ अध्ययन करो । इम तरह विनय पूर्वक अध्ययन किया गया श्रतज्ञान कर्मों का सवर और निर्जरा करता है । किन्तु विनय रहित अध्ययन किया गया श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्म का बध करता है ।

चारत्रविनय—अनन्त काल स नीच का इन्त्यों के प्रिय व अप्रिय स्वर्शादि विषयों में रागद्वेष करने का अभ्यास हो रहा है । कोवादि कपायों का भा सब जीवों के उत्पन्न है बाह्य निमित्त को पाकर वे प्रकट आ जानी है उनके उत्पन्न से चारित्र का घात होता है । मन बचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति स तथा रागद्वेष के आविर्भाव से कम आते हैं और चिपटते हैं । पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति

चारित्र्य के पाच स्थावर जीव और द्विचरित्रिय त्रिसतीव इन छह वय के जीवों को बाधा पड़वाने वाला यमनागमन करना मिथ्यात्व का आसयम में प्रवृत्ति करने वाले वचन बालना साक्षात् या परम्परा जीवों की पीड़ा पड़वाने वाले भोजन का ग्रहण करना किसी वस्तु को बिना देखे और बिना पिच्छी स पीछे भूमि पर धरना या उठना भूमि को बिना देखे मल मूत्रादि क्रिया करना ये सब क्रियाएँ पाप जनक हैं इनका त्याग करने से चारित्र्य विनय होता है। ऊपर की गई अशुभ क्रियाओं के त्याग के बिना चारित्र्य नहीं होता है। उक्त क्रियाएँ आरम्भ जनक हैं। और आरम्भ करने वाले क चारित्र्य का अभाव होता है। इसलिए यत्नपूर्वक उन सब क्रियाओं का त्याग करके अपने चारित्र्य को उज्वल बनाया।

तपोविनय—अनशन ( उपवास ) अमौन्य ( ऊनोर ) आदि तप के करने से उत्पन्न शारीरिक व मानसिक कष्ट को सहन कर लेना तपोविनय है। यदि तप क द्वारा आत्मा में सक्लेश भाव उत्पन्न हों तो उससे महान् कम बाध होता है और अल्प निर्जरा होती है। इसलिए उतनी ही तपस्या करना योग्य है जिससे तपश्चरण का उत्साह बुद्धिगत होता रहे।

उपचार विनय—गुरु आदि पूज्य पुरुषों का प्रत्यक्ष व प्रगोच आन्तर मत्कार नमन वदनादि करना उपचार विनय है। जो गुरु आदि का यशयोग्य विनय करता है उसकी सब प्रशंसा करते हैं और उसको उत्तम समझकर बुद्धिमान पूजते हैं और जो विनय नहीं करते हैं उसको सब लोग निन्दा व अहेलना करते हैं। जो साधु अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों की मन वचन काय म विनय नहीं करता है अर्थात् जो गुरु आदि की मन से अविज्ञा करता है उनका आसन से उठने पर या गृह से आने पर नहीं उठता है जाते हुए के पीछे कुछ दूर तक नहीं जाता है उनको हाथ जाड़कर नमस्कार नहीं करता है उनकी स्तुति नहीं करता है उनसे आश्चर्य नहीं लेता है उनके सामने आसन पर बैठा रहता है आते हुए सम्मुख नहीं जाता है उनके आगे आगे चलता है उनकी निन्दा करता है कठोर वचन कहता है गाली आदि अपमान जनक वचन बोलता है वह साधु नीच गोत्र कम का बाध करता है। उसके फलस्वरूप वह समार में निन्दनीय कुल में जन्म लेता है। अथवा कूकर शूद्रादि योनि म उत्पन्न होता है। अविनीत शिष्य को गुरु से रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है। विनीत शिष्य को गुरु प्रेम से शिक्षा देते हैं उसका सम्मान करते हैं सल्लिख नुमको विनय म त र रहना चाहिए। अविनय म महान् दोष है और विनय में महान् गुण है ऐसा समझकर विनय में तत्परता धारण करो। और नित्य स्वाध्याय में अर्थात् जीवादि तत्त्वों के मनन में उनके प्ररूपक शास्त्रों के अध्ययन में लवलीन रहो। नि । हास्य कांडा आत्मस्य और लौकिक वार्तालाप का त्याग करो। शास्त्र में कहा है —

“शिद्द या बहु मण्योज्ज हास खेड विवज्जण ।

जोग्ग ममणधम्मस्स नु जे अणालमो सदा ॥ १ ॥”

अथ—निद्रा को बहुमान मत दो अर्थात् अन्य निद्रा को कारण कि निद्रा आत्मा को चेतना ( उपयोग ) हीन अज्ञानमय बना देती है और शुभ क्रियाओं से वंचित कर प्रमादी करती है। स्वनी नींद को जिससे दिन भर का स्वाध्यायादि से जन्य भ्रम दूर हो जाये। हसी मखोल मत करो। पूव्य पुरुषों ( साधुओं ) को असयमी जन के समान हसन्त शोभा नहीं देता है। किसी प्रकार की क्रीडा न करो। अर्थात् बालक के समान 'यथ के कामों में मन को मत बहलाओ। तुम्हें तो आगम में ही क्रीडा करनी चाहिए। तुम आलस्यहीन होकर मुनि धम के योग्य क्रयों में अपने चित को लगाते रहो।

हे धम धुरधरो। तुम धम के प्रवक्तृ हो अन छुवा पिपासा आदि परीषद के प्राप्त होने पर तथा अशिश्ट श्रामीय पुरुषों के अनु चत भाषण से या दुजनों के कटु कठोर गाली आदि सुनकर आत्मा में ग्लानि उत्पन्न कर धर्म का कदापि त्याग न कर देना। कभी २ दुजन व क्रूर प्राणी ऐसे ममभेदी दुःखियों का प्रहार करते हैं। न ग महन करना अति कठिन हो जाता है परन्तु बस्तुस्वरूप का चिन्तन कर मनको समझना चाहिये।

हे मुनिवृन्द। देखो जो देवेन्द्रा स पूजनीय हैं चार ज्ञान क धारक हैं। उनको उसी पर्याय में मोक्ष की प्राप्ति का पूर्ण निश्चय है ऐश तीर्थकर भा अपने बल बोग को न द्विपाकर तप में पूण उद्योग करते हैं लह २ मास तक के उपवास और आतपन योगादि कायकलेश तप ४ करने में सदा तप रहते हैं तो अन्य साधुओं का क्या कहना ? उनको तो अपने महान् कर्मों का स्य करना है। अत उनको ता इसमें अधिक तत्पर रहना चा डए।

हे आम हिन चिन्तको। तुम्हारी आयु शरीर बल और आरोग्य का विनाश न जाने कब हो जावेगा। इसका काल नियत तो है नहीं। क्योंकि मृत्यु दावानल के समान है न जाने किस समय इस जगत् रूपी वन को भस्म करदे। हमको इसका ज्ञान नहीं कि मृत्यु कब आयगी ? काल की गति अति तीव्र है एक क्षण भर में इस शरीर का विध्वंस कर सकती है। जब तक काल का आगमन नहीं हुआ तब तक इस शरीर से तपस्या करलो काल के निवास करने का कोई क्षेत्र नियत नहीं है। जैसे गाड़ी रथादि भूतल पर ही गमन कर सकते हैं स्य चन्द्र ग्रहादि आकाश में ही भ्रमण करते हैं मगर मच्छादि जल में ही गति करते हैं वैसे मृत्यु के गमन प्रवेश निश्चित नहीं है। वह तो जल स्थल आर आकाश सचत्र अप्रतिहत गति है। ऐसे स्थान भी हैं जहा अग्नि चन्द्र व स्य की किरण शीत उष्ण वात और वर्षा का प्रवेश नहीं हो सकता है कि 'तु ऐसा कोई स्थान ( क्षेत्र ) नहीं है। जहा काल का प्रवेश नहीं है वात पित्त कफ शीत वर्षा घाम आदि का प्रतीकार किया जा सकता है किन्तु संसार में काल ( स्य ) का प्रतीकार करना अशक्य है। रोगों की उत्पत्ति के कारण वात पित्त कफ की विषमता तथा प्रकृति विकृत् आहार विहारदि हैं। परन्तु अकाल मृत्यु के तो कारण संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ के निमित्त स आणियों का मरण हो सकता है।

हे ससार भीरुओ ! काल का कोई समय भी नियत नहीं है । वर्षा शीत और गर्मी का समय नियत है वैसे मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है । जैसे जनशूय महा अरण्य में सिंह के मुख में प्रविष्ट खरगोश की रक्षा करने में कोई समय नहीं है, वैसे ही काल के मुख में प्रविष्ट हुए इस प्राणी की रक्षा करने वाला इस ससार में कोई नहीं है । मृत्यु के बिना भी अन्य वस्तुओं से भी उसे भय लगा ही रहता है । कभी रोग का भय होता है तो कभी वज्रपातादि से भीति लानी रहती है । जैसे वज्र अचानक आकाश स गिर पड़ता है अचानक व्याधि उत्पन्न होकर शरीर को त्रस्त कर देती है वैसे ही मृत्यु अकस्मान् आकर प्राणी को दबोच लेती है ।

हे मुनिवृन्द ! बाल और वृद्ध मुनियों से परिपूरण इस मुनि सभ का वैयावृत्त्य भक्ति पूवक करो । इस महान् काय में अपनी शक्ति को न छिपाओ । क्योंकि वैयावृत्त्य करना मुनि का परम कर्तव्य है । यह अनेक सदगुणों को उत्पन्न करने वाला है ऐसी जिनेन्द्र देव की आज्ञा है । यह वैयावृत्त्य स्व पर के रत्नत्रय को वशील करने वाला है तथा कम की निजरा करने वाला परम तप है । इसलिए वैयावृत्त्य करने में उदासीनता मत धारण करो । प्रतिदिन उत्साह और उमङ्ग से वैयावृत्त्य करने में तत्पर रहो ।

यदि मुनि रोगादि स अशक्त हों या वृद्ध हों उनके शयन स्थान बैठने का स्थान, उपकरण-पिच्छी, कुमखड्डु, पुस्तकादि का प्रतिलेखन (माजन शोधन) करो । निर्दोष शास्त्रोक्त विधि सहित आहार व औषध की योजना करो । उनके आत्मा के भावों को निमल बनाने के लिए योग्य शास्त्र का स्वाध्याय या उपदेश (व्याख्यान) करो । शक्ति ह न या रोग प्रस्त मुनियों के मलमूत्र को उठा कर खच्छ करो । उन शक्ति हीन साधु पों को उठाकर क वट बन्लाओ सुलावो बैठे करो ।

जो मुनि माग के भ्रम से थक गये हों उनकी पगचम्पी करो हस्तादि का मदन करो । जिनपर चारों प्रकारों में से किसी प्रकार का उपद्रव हुआ हो दुष्ट पशुओं स पीड़ा हुई हो, जो अपनीतिपरायण दुष्ट राजाओं से सताये गये हों नदी के द्वारा या बंदी करने वाले अन्यायी पुरुषों के द्वारा कष्ट पा रहे हों जो हैजा प्लेग आदि मशामारी क शिकार हो गये हों, उन मुनियों का कष्ट अपनी विद्यादि के बल से दूर करो । यदि कोई मुनि दुर्भिक्ष के कारण पीड़ा पा रहे हों तो उनको सुभिक्ष देश में लेजा कर उनकी पीड़ा का निवारण करो । अथौर मुनियों को वैय बंधाओ कि हे महात्माओ ! आप किसी बात का भय न करो हम आपको हर तरह सबा टहल करंगे आपको किसी प्रकार का क्लेश न होने देंगे । ऐसे कोमल व सान्त्वना के वचन कहकर उनको वीरज बंधाओ । इस प्रकार वैयावृत्त्य करने से मुनि धम की रक्षा होती है धम में उत्साह बढ़ता है और मुनियों का संरक्षण होता है । जिस सङ्ग में वैयावृत्त्य करने में परायण और सेवा चतुर साधु होते हैं, उस सङ्ग के मुनियों को ससार में स्थिति होती है, जनता की उनपर स्वाभाविक भक्ति होती है एव मुनि-धर्म के प्रति श्रद्धि बढ़ती है ।

किंतु हे साधुओ ! वैद्यावृत्त्य वही प्रशस्त और कल्याण का करने वाला है जो आगम के अनुकूल है। मुनियों को वैद्यावृत्त्य की जिनैश्वर देव ने जैसी आज्ञा दी है उसके अनुसार किया गया वैद्यावृत्त्य धम की वृद्धि करने वाला होता है। जो साधु अपनी राक्ति को न क्षिणकर पूण भ्रम से वैद्यावृत्त्य करता है लेकिन वह भगवान की आज्ञा के प्रतिकूल करता है तो उसको धम का चातक धमहीन माना है।

जो साधु अपने मुनिपन्त की अवहेलना कर असयमी जनों की पदचम्पी करता है उनके हस्त मस्तकादि अंगों और उपागों का मन्त्र करता है या उनकी औषधि आदि का समीप प्रयत्न करता है वह जिनेन्द्र के शासन का तिरस्कार करने वाला तथा मुनिधर्म की मद्रिमा का विनाश करने वाला है। साधुओं का भी वैद्यावृत्त्य करते समय आगम विधिपर ध्यान रखना चाहिए। दोष पूण वैद्यावृत्त्य करने वाला सयमी अपना तत्रा दूसरे का ( जिसकी वैद्यावृत्त्य कर रहा है उसका ) अकल्याण करता है। इसलिए हे साधुओ ! वैद्यावृत्त्य अवश्य करो यह तुम्हारा प्रधान कर्त्तव्य है किन्तु उचित व जिनन्द्र के आज्ञा के अनुकूल करो।

हे जिनाज्ञापालक मुनयो ! तुमन तो साक्षात् जिनन्द्र समान लिंग ( भय ) धारण कर लिया है अत यदि तुमने जिनेन्द्र का आज्ञा का पालन न किया तो तुम मन्त्र अपराधी सिद्ध होओगे। क्योंकि तुम धम क ध्वज हो जिनन्द्र देव के पश्चात् तुम ही धम की धुरा के धारक हो। वैद्यावृत्त्य करन स मुनिधम की रक्षा होता है। अत धम की आज्ञाधना होती है। जो साधु वैद्यावृत्त्य करन में उन्नीसीनता विस्वाता है वह आज्ञाज्ञा का लोपक है। अनधम क विराधक है। यह मुनि के आचार का नाशक है। वैद्यावृत्त्य त मे उद्योग हीन साधु इतर मुनियों का महयोग नहीं पाता है। उसको वैद्यावृत्त्य करन स विमुख हुआ दखकर तर साधु भी मुनि सध स पर डमुख होजाते हैं। इससे सङ्ग का भङ्ग होता है। सङ्ग में सहायता न करन ज्ञान मुनि का सय वाग त्याग करते हैं। उसपर सङ्कट आन पर इतर साधुजन भी उसकी अपेक्षा करने लगते हैं। उसका महत्त्व गिर जाता है। सब लोग उसका अनान्तर करने लगते हैं। धम की अवहेलना होती है। वह इस उचम क्तव्य स चचित रहने के कारण अपनी आत्मा का भी शत्रु सिद्ध होता है।

हे साधुओ ! स्व ध्याय करना परमोत्तम काय है तथापि वैद्यावृत्त्य करना उसस भी महान् काय है। क्योंकि स्वाध्याय करने वाला साधु केवल अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है किन्तु वैद्यावृत्त्य करने वाला सयमी अपनी व दूसरे की उन्नति करता है। गुण-परिणामादि जिनका कि तृतीय किरण में वरण कर भाये हैं वैद्यावृत्त्य करने वाले के आत्मा में स्वत आकर निवास करते हैं। स्वाध्याय करने वाले पर आई हुई विपत्ति का निवारण वयावृत्त्य करने वाला ही करता है। स्वाध्यायी भी वैद्यावृत्त्य करने वाले के मुँह की ओर ताकता है उसकी सहायता की अपेक्षा रखता है। अतएव स्वाध्याय करने वाले म भी श्रेष्ठ वैद्यावृत्त्य करने वाला महात्मा है।

हे मुनियो ! तुम ब्रह्मचर्यरत्न की रक्षा करने में दत्तचित्त रहो । यद्यपि तुम्हारा आत्मा सवेग वैराग्य से परिपूरा है, तथा तुम्हारी दिनचर्या भी ऐसी है जिसका पूरातया पालन करते रहने से उसका पोषण होता है तथापि बाह्य सम्पत्त बड़ा बलवान् होता है । वह बलात्कार इस कम परतत्र आत्मा को अपने उत्तम कर्तव्य से विमुख कर देता है । इसलिए तुमको ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए तथा रत्नत्रय भावना में लवलोन रहने के लिए आर्यिकाओं का सम्पर्क न होने देना चाहिए । क्योंकि आर्यिका का ससग अग्नि के समान चित्त में सन्ताप उत्पन्न करने वाला है तथा विष के समान मयम जीवन का विषात करने वाला है । वह अपकीर्ति की कालिमा लगाने वाली कज्जल की कोठरी है । आर्यिका के ससग से सभब होने वाले चित्त-सकलेश और सयम जीवन का रक्षण तो दुधर तपस्वी कर भी सकते हैं किन्तु जनापवाद से उत्पन्न होने वाली अपकीर्ति से बचना असंभव है ।

मुनियों को जनापवाद के माग पर ही न जाना चाहिए । शास्त्रों में कहा है —

“काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् ।  
नर पतितकायोऽपि यश कायेन धार्यते ॥ १ ॥”

अर्थात्— यह विनश्वर शरीर तो अवश्य गगन वाला है नष्ट होने वाला है इसकी रक्षा कैसे हो सकती है ? इसकी रक्षा का प्रयत्न करना निष्फल है । इसके द्वारा तो स्थायी रहने वाला यश उपाजन करना चाहिए । क्योंकि भौतिक शरीर का नारा होने पर भी यह शरीर स्थिर रहता है । इसलिए अपने यश का सदा ध्यान रखना चाहिए । जिम्को अपने आत्मीय गुणों की उन्नता का विचार नहीं है वह कभी आत्मोन्नति करने में कटिबद्ध नहीं रह सकता । वह अपने आत्मा को पतन से नहीं बचा सकता है । अतः अपने ब्रह्मचर्य गुण की महत्ता का रक्षण करने के लिए कभी आर्यिका आदि स्त्रियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए ।

हे ससार मोहभो ! तुमने ससार से डर कर एकान्त निवास किया है । अतः इस एकान्त में भी भय का कारण आर्यिका का सम्पर्क है । इससे स्थविर ( बुद्ध ) अनशानादि तपस्या में निरन्तर उद्यत रहने वाले तपस्वी बहु श्रुत ( अनेक शास्त्रों के वेत्ता ) और जगत् में माननीय प्रभावशाली साधु भी निन्दा के पात्र होते हैं तो शास्त्र के तत्त्व ज्ञान से शून्य साधारण चारित्र का पालक तक्षु ( जवान ) साधु इस अपवाद ( निन्दा ) से अपने को किस तरह बचा सकता है ? उसकी निन्दा होमा अनिवार्य है । यदि कोई साधु अपने आत्मा को बलवान् व पूरा जितेंद्रिय समझ कर निरर्गल आर्यिकाओं से सम्पर्क बढ़ाता रहे तो उसे अपनी आत्मा का पातक ही समझना चाहिए । क्योंकि कितना भी कठिन जमा हुआ घृत क्यों न हो वह अग्नि का सम्बन्ध पाकर अवश्य पिघल जाता है । आर्यिका का संसग आत्मा को बाधने वा । दृढ बन्धन बन सकता है ।

सं प्र

पृ. कि ३

हे संवभियो ! परम वैराग्य की मूर्ति तपस्या में रत शृगार हीन सयम परायण आर्थिकार्थों का ससग भी साधु के ऋषय व्रत में विघ्न उपस्थित करने वाला माना है तो सयम हीन शृगार रस में रङ्गी हुई ससार के भोग विलास में रत रहने वाली स्त्रियों का ससर्ग साधुओं के लिए कितना घातक हो सकता है ? इसमें प्रमाण व युक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

इसलिए हे व्रतियो ! यदि तुमको अपने पुनीत व्रतों की रक्षा करनी है ससार के दुःख से उद्धार करने वाले इस मुनिधम का पालन करना है अपने आत्मा को पाप कालिमा से बचाना है तो तुम किसी भी स्त्री के साथ वार्त्तालाप तक मत करो उसकी तरफ मत देखो । मुचङ्गनी से भी स्त्री वो महा भयानक समझो । भुजगनी का विष तो म्पश करने ( हसने ) से शरीर में अस्सर करता है किन्तु स्त्री तो देखने मात्र स ही शरीर और अत करण को तत्काल विषाक्त कर देती है और क्षण भर में सयम से रहित करके अनेक भवों में दुःख का अनुभव कराती है । सलिय भूलकर भी स्त्री का सम्बन्ध न होने दो । यदि वह तुम्हारे निकट घम भावना से भी आकर बैठे तो तुम उस स्थान से अलग हो जाओ । निमित्त करण बढ़ा बलवान् होता है वह अपना अस्सर किये बिना नहीं रहता है । बहुत दूर पड़े हुए नीबू में इतनी शक्ति होती है कि वह देखने वाले मनुष्य के मुख में पानी उत्पन्न कर देता है । तीव्र शोक अथवा ऊकट मुख के कारणों का समागम होते ही आँसुओं से अश्रुधारा बहने लगती है । ठीक ही है बाष्प निमित्त के सयोग से वस्तु में परिवर्तन हो जाता है । इसी प्रकार स्त्री का सम्पर्क भी मानसिक त्रिचरों में तत्काल परिवर्तन कर देता है । इसलिए जो तुम अपना हित चाहते हो तो स्त्री का सम्पर्क न होने दो स्त्री में तुम्हारा कल्याण है । जो सयमा स्त्री का सम्पर्क करके भी अपने व्रत को अक्षुण्ण बनाये रखने की सम्भावना करता है वह सप के मुख में हाथ ठेकर जीने की उद्धार रत है ।

हे व्रतियो ! स्मक अतिरिक्त रूपसे पैसा आग्नि पन्थाये जो तुम्हारे व्रत संयम के नाशक हैं उनका भी अवश्य दूर से परिहार करो । उनका शरश तक न करो । व्रतों की रक्षा उसी सयमी क होती है जो उनमें विघ्न बाधा पडवाने वाले कारणों से सम्पर्क नहीं रखता है । व्रत बाधक पन्थायों का सयोग रखने वाला सयमी अपने सयम व्रत से अवश्य गिर जाता है । इसलिए तुम्हें उन सब विपरीत कारणों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना च हिए ।

हे विचित्र चारित्र के पालको ! सङ्ग में चारित्रहीन साधुओं का सम्पर्क मत होने दो । पार्वश्य अवसन्न कुरील, संसक्त और मृग चारित्र य पाच प्रकार के अष्ट साधु हैं । इन पतित साधुओं का दूर स ही परित्याग करो । ससगजा दोष गुणा भवन्ति जिसका संसर्ग होता है उस यत्कि के गुण व दोष ससग करने वाले में अवश्य आते हैं । जैसे कस्तूरी के ससग ने वस्त्र में सुगन्ध और लहसन के सगम से दुग्न्ध स्वत आती है । स्मसे अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है । इसी प्रकार हीनाचारी पुष्यों के समागम से आचार में

हीनता स्वतः आजाती है। इसलिए अपने चारित्र का निमल व उन्नत बनाने वाले साधुओं को मलिन व भ्रष्ट चारित्र वाले साधुओं का समागम न करना चाहिए। पारवस्थादि साध्वाभासों का स्वरूप पहन वएणन कर दिया गया है। वहा से उनका स्वरूप जान कर उनकी सङ्गति का परित्यग करना चाहिए।

पारवस्थादि साधुओं की सङ्गति करने वाले माधु का किस तरह पतन होता है—इसके विषय में भगवती आराधना में निम्न प्रकार कहा है—

लज्ज तदो विहिंस पारम शिखिसङ्गद चेव ।

पियधम्मो वि कमेणारुहतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

अथ—पारवस्थादि साध्वाभासों की सङ्गति करने वाले मुनि को पहले पदल तो लज्जा आती है। उसके यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे इन पतित साधुओं के साथ में देवकर अथ लो ग क्या कहेंगे ? पश्चात् मनमें ग्लानि भी होती है कि मैं आत्मा के पतन कराने वाले इस व्रत भङ्ग कारक कुट्टव्य को कैसे करूँ ? सम मेग महान पतन होगा। तन्तर चारित्र मोह के उन्मत्त से व्रत भङ्ग कारक काय का प्रारम्भ करता है। व्रत भङ्ग करने के बाद साधु नि शङ्क होकर आरम्भ परिग्रहादि पाप कृत्यों में प्रवृत्ति करता है। जो साधु पारवस्थादि के ससग होने के पहले धर्म प्रिय था। धर्म को प्रेणों से भी प्यारा मानता था वही साधु चारित्र हीन साधुओं के सम्पर्क से क्रमशः लज्जा ग्लानि पाप कार्यों में प्रवृत्ति तथा उसमें शङ्का रहित होकर पारवस्थादि साध्वाभासों के समान चारित्र हीन बन जाता है।

यद्यपि कोई संसार से भय भीत साधु पारवस्थादि के ससग स वचन और काय द्वारा आगम विपरीत कोई काय नहीं करता है तथापि पारवस्थादि का समागम उनके प्रति प्रेम की वृद्धि करता है। कारण कि अनादिकाल से इस जीव ने संसार में पतन करने वाले इन्द्रिय सुख को अच्छा मान रखा है और उसी का सतत अनुभव करता रहा है। चारित्र मोहनीय कर्म का मन्त्र उन्मत्त होने पर सद्गुरु के संयोग से उसने संयम ग्रहण किया है किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले इन्द्रियों के तस पारवस्थादि का संसग पाकर पुन वह सासारिक सुख में मुक्त जाता है और उनसे स्नेह बढ़ जाता है। स्नेह के बढ़ने से उनमें विश्वास होने लगता है। पश्चात् वह साधु स्वर्ग पारवस्थादि बन जाता है। जैसे नूतन मिट्टी के पात्र में सुगन्ध पदार्थ रखने से वह सुगन्ध मय हो जाता है एवं मिट्टी का तैल भरने पर उसमें वैसी ही दुग्ध आने लगती है। वैसे ही पारवस्थादि के ससग से उस साधु में पारवस्थादि के गुणों का सक्रमण उत्पन्न हो जाता है। यह उचित ही है जो वस्तु जिसका संसग करती है वह कुछ समय में तन्मय हो जाती है। जैसे कसैला आवला शकर के रस का संसग पाकर अपने कसैले स्वभाव को छोड़कर मोठा हो जाता है। और अग्नि के संयोग स शीतल तल अपने स्वभाव का त्याग कर उष्ण हो जाता है। वैसे दुःख मनुष्यों के संसर्ग से सख्त

प्रकृति का मनुष्य भी दुःखन जन जाता है। अब एव है साधुओं। रत्नत्रय से पतित आरम्भ परिग्रहादि में आसक्त चारित्र हीन पारवस्थादि की सङ्गति न करा। तुम ऐसा न समझो कि हम शुद्ध हैं तो वन ( पारवस्थादि ) का ससग हमारा क्या कर सकता है क्योंकि निमित्तों की प्रबलता कम नहीं होती।

हे सयमिचो ! तुममें स कई साधु ऐसा भी प्ररन कर सकते हैं कि जो मुनीश्वर अति दृढ संयमी हैं, त्रिनका चित्त मेह समान अचल है। यदि वे पारवस्थादि के साथ सम्पक रखें तो उनको क्या हानि हो सकती है ?

इसका उत्तर यह है कि निमित्त में आचिन्त्य शाक्त है। प्राचीन काल के अनेक धीर वीर महर्षि भी विपरीत निमित्त को पाकर चारित्र स पतित हो गये हैं। श्री माधनन्दी समान महामुनि भा प्रतिकूल निमित्त को पाकर संयम से हाथ धो बैठे थे तो आधुनिक अल्पराष्ट्रिक क धारक साधुओं की कहा चली। मान भी लें कि अब भी इसी महा मनस्वा तीव्र तपस्वी पर पत्रवस्थादि का ससग कुद् भी असर नहीं कर सकता तथापि उनका लोकापवाद तो अवश्य भावो है। साथ रग लोग समझन लगते हैं कि पारवस्थादि संयम अत्र साधुओं का सङ्ग करने वाला यह साधु भी संयमहीन प्रतीत होता है अथवा यह पारवस्थादि के साथ सम्पक क्यों रखता।

कुत्सित आचरण वाले व्यक्ति का ससग उम तपस्वी निमल चारित्र के पालक मुनि को भी दोषो प्रसिद्ध करता है और दुःखन के दोष का फल सज्जन को भोगना पड़ता है। जैसे किसी वीर के साथ सम्बन्ध रखने वाला साहूकार भी वीर के अपराध स दोषी माना जाता है। पुलिस चोगी के आभयो। में साहूकार को गिरफ्तार कर लेती है। तथा अमयमी ( अष्ट संयमी ) के साथ रहने से संयमी का भी चारित्र लुप्त जाता है। जैसे किसी धनिक के साथ लुटेरों के द्वारा निधन मनुष्य भी लुप्त जाता है। जब मनुष्य दुश्चरित्र मनुष्यों के साथ रम जाता है तब उम सज्जन पुरुषों का साथ नहीं सुहाता है जैसे पिता-पुत्र के रोगी को मिश्री मिला दूध भी कड़वा लगता है। इसलिए दुःखनों का सङ्ग कर्णाप मन करो। सदा सत्पुरुषों के सङ्ग में ही रहो। देखो सत्पुरुषों के सङ्ग में रहन वाला दुःखन भी पूजा जाता है प्रतिष्ठा पाता है। जैसे कि पुष्प माला में पिरोया हुआ सूत का होरा भी बड़े २ राजा महार जाओं और देवी देवताओं के गले में शोभा आदर पाता है।

यद्यपि तुम समार के दुःखों से भयभीत हो और संयम के पालन में रत हो तथापि तुम को अपने सवेग व संयम गुण की वृद्धि करने के लिए सच्चर और संयमी मुनिराजों के साथ ही रहना चाहिए। देखो सङ्ग की शोभा साधु सच्चा से नहीं होती, किन्तु सञ्चारित्र से होती है। इसलिए लाखों पास-थावि ( पारवस्थादि ) चारित्र शूय साधुओं की अपेक्षा एक सुरील मुनि अति श्रेष्ठ है। क्योंकि सुरील संयम-हान शिथिलाचारी साधुओं के आश्रय से दशन शीलानि का हास होता है और सुरील साधु के निमित्त से सङ्ग में शील दशन ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अत उत्तम शील व संयम के धारक मुनि का ही आश्रय करो। देखो कड़ुवी तृष्णी में रखा हुआ मिर्ची

मिश्रित दुग्ध भी बड़वा हो जाता है। और मनुकी जड़ में सींचा गया खार जल भी मिष्ट हो जाता है क्योंकि बस्तु को जैसा आश्रय मिलता है वह वैसी ही परिणत होती है। अतः तुम भी सत्पुरुषों की ही सङ्गति करो।

तुमको सदा हित मित व प्रिय वचन ही बोलना उचित है। कभी किसी के प्रति अप्रिय तथा अहितकर वचन उच्चारण मत करो। किन्तु ऐसा प्रिय वचन भी न कहो जिससे दूसरे की अवनति या दुःखों की वृद्धि की सम्भावना हो। यदि किसी के हित के लिए अप्रिय वचन बोलना आवश्यक हो तो उसकी उपेक्षा न करो। जीण ज्वर से पीड़ित रोगी के लिए कटुक औषधि ही पण्य (हितकर) होती है वैसे ही तुम्हारा कटु भाषण भी उसके दुःखों का नाश करने वाला होगा। अतः दूसरे के उपकार की ओर भी तुम्हारा ध्यान रहना चाहिए।

परम भट्टारक देवाधिदेव तीर्थंकर भी भय प्राणियों के कल्याण के लिए धमविहार करते हैं। उन्होंने दूसरों के दुःखोद्धार करने की उच्च भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का वच किया है। स्वपर के आध्यात्मिकोद्यान के लिए कर्म करते रहना महान् पुरुषों का परम कर्तव्य है और परोपकार ही महत्ता का लक्षण है। किसी ने कहा है—

“सुता सन्ति सहस्रश स्वमरुख्यापारमात्रोद्यता ।  
स्वारथो यस्य परार्थ एव स पुमानेक सतामग्रणी ॥  
दुष्पूरोदरपूरुखाय पिबति स्रोत पति बाढवो ।  
जीमूतसुतु निदावमभृतजगत्सतापविच्छिद्ये ॥ १ ॥”

अ —ऐसे क्षुद्र प्राणी इस ससार में हजारों हैं जो अपने भरण पोषणदि (स्वाथ सिद्धि) करने मात्र में तत्पर हैं। किन्तु जो पराथ को ही स्वाथ मानते हैं, ऐसे सत्पुरुषों में अग्रणी (अग्रसर) पुरुष पुंगव एक आध ही होते हैं। वे ही धन्य हैं। वद्वानस्य अपने विशाल चर को भरने के लिए सदा समुद्र का जल पीता है। वह क्षुद्र मानव के समान स्वाथ परायण है। परन्तु मेघ प्रीण्य काल के सताप से पीड़ित समस्त ससार के प्राणियों के सताप को मिटाने के लिए ही समुद्र के जल को पीता है। वह जगत् में महान् माना जाता है और उसकी ओर समस्त ससार का आशा भरी दृष्टि लगी रहती है तथा उसके दरान मात्र से जगत् के जन्तु आनन्द का अनुभव करते हैं। इसलिये हे मुनियो! तुम्हें सदा स्वपर कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए।

तुम्हारा सब आचरण व कर्तव्य ही ऐसा होना चाहिए जिसका निर्दोष फलन करने से जगत् के प्राणियों का स्वतः उपकार हो

जाता हो। तुम्हारे परम कीतरागना का उद्योग करने वाले ङिगम्बर भय के स्थान मात्र स जीवों के अत करण म धम पर श्रद्धा उत्पन्न होनी है। तुम्हारा स्थित्य समय की पराकाष्ठा लोगों को समय का पाठ सिखाती है। तथा तुम्हारा प्राणो समय ( ब्रह्म कायक नाम की रत्ना का त्रय ) अखिल त्रैलोक्य के छोटे बड़ सब जीवा को अभयदान देता है तथा तुम पर अटूट श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार कराता है। तुम्हारा ङिगम्बर शुद्ध स्वरूप ही सब प्राणियों क प्रतीति का कारण है। तुमन जो अहिंसादि व्रत धारण कर रक्ते हैं उनक कारण तुम्हारा आत्मा म निरन्तर अत निर्मल त्वचार धारा बढा करता है। क्या क्षमा निर्लोभता की पराकाष्ठा तुम मे ही नजर आता है। मालए तुम अपनी पन्मयाग को कभा मत भूजो।

यान तुम मे भी सयो। श को शैथिय आनावे या तुम्हारा व्रतनि म काइ ब्राट तिसाइ द आर गुरु आनि तुमको कटु कठार शत्रुओं स समाग म प्रवृत्त करन क लिए न्यत हो ता तुम्हें उनका उपकार मननर हतु होना चाहिए। गुरु आनि न अपन कयाण क क य स्व याय ध्यानानि म विधन करक नो मर हिन की कामना स य शशा नो हे यह त्नाका महान अनुग्रह है बडा भारी उपकार है शजा को शरोचार्य करना मरा परम कृत्य है- त्याग साचकर तुम्हें परिणाम म हितकर कटु कठार भाषण का उत्तम आपधि क समान आनर करना उचित है।

ह साधुवग तुम आत्म प्रशसा कभी मत करो। जो अपन मुह से अपनी प्रशामा करता है वह अपन यश का नाश करता है। वन मन्त्रों का भोग्यो म तृण क समान लघु ( हल्का ) माना जाता है। उनका यश नष्ट होता है। नैस खनाइ म दूध फल जाता है वेम ही आम प्रशसा स यश अपयश का स्थान ग्रहण कर लेता है।

नो अपनी आप प्रशसा करता है उमक गुणों में लोगों को सते होन लगता है। कम्बरी की सुगन्ध बचन स प्रक नही की जानी है। वह तो स्वय फैलकर अपना स्वरूप व गुण प्रक कर देत है। यनि कस्तूरी का व्यापारी अपनी कस्तूरी की सुगन्ध की प्रशामा का पुल वाधने लगता है तो लागो को उसकी कस्तूरी म मन्द पैग हो जाना है कि सकी कस्तूरी नकली मालूम देती है। कोई नपुसक नैस खा म भेष धारण कर खी क समान हाव भाव करता है किन्तु वह खी नही हो पाता है।

गुणवान सत्पुरुष का स्वभाव होता है कि कोई गुणमयी सज्जन उसके गुण की प्रशामा करने लगता है तो उमका मुग्य न खे मुक्त जाता है। वह अपन गुणों का वणन अपने मुख स कैस कर सकता है ? जो अपने गुण की स्वय प्रशामा नही करता है और अपन काय द्वारा गुण प्रकाशित करता है वह ससार में भूरि भूरि प्रशामा का पात्र होता है। विद्वाना न कहा है —

“यदि सात गुणास्तस्य निकषे मन्ति त स्वयम् ।  
न हि कस्त्रिकामघ शपथन विभाव्यते ॥ १ ॥”

अर्थ—किसी व्यक्ति में यदि गुण विद्यमान हैं तो गुणवाणी मनुष्या क परोक्षा रूची कसौती पर कसे जाने से वे स्वय ही प्रगट हो जाते हैं । क्योंकि कल्मूरी की गंध सागंध स्थान से नहीं मानी जानी किन्तु वह स्वय प्रकाश में आजाती है ।

अपन गुणा का वचन द्वारा कथन करना तो उनका नाश करना है और गुणों के अनुकूल प्रवृत्ति करना ही उनको प्रकाशित करना है । इसलिए हे मुनियो ! तुम कभी अपने मुह से अपने गुणों का कीतन न करो । तुम्हारा मन्त्राचार में प्रवृत्त ही तुम्हारे गुणों को प्रकाशित करने वालो दुःखदा है । यदि गुणहीन पुरुष तुम्हारे गुण को न समझ पावे तो कोई हानि नहीं है । उनके सामने तुम अपने गुणों का कीतन करने पर भी महत्ता नहीं पा सकते क्योंकि वे तुम्हारे गुणों का महत्व ही नहीं समझते हैं । और गुणवानो व गुणज्ञो के मध्य में तुम्हारे गुणों का महत्ता प्रगट हो जावेगी । अतः कभी भी तबह अपन गुण वचन द्वारा कभी प्रगट मत करो । वचन से अपने गुण प्रगट करने व ला महत्ता न पाकर लघुता ही पाता है । कहा है —

निगुणा गुणिना मध्य ब्रुवाण स्वगुण नर ।  
मगुणाऽप्यन्ति वाक्येन निगुणानामव ब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ—गुणहीन मनुष्य भी जैसे गुणहीन मनुष्या में वचन द्वारा अपन गुणों का बयान करता हुआ अन्तर पाता है । जैसा ही गुणहीन मनुष्य गुणवानों में अपन गुणों का बयान करके अपमान पाता है ।

इसका आशय यह है कि गुणवान मनुष्य को अपनी प्रशंसा अपन आप कभी नहीं करना चाहिये । अपन मुह से अपना नामान्तर करने वाले की माहमा घटती है और निराश्रित होता है ।

हे मुनियो ! तुम अपने सङ्ग के अथवा परमहृ के किसी मुनि की निन्दा मत करो । क्य कि परनिन्दन समार वृत्त को बन्धन करने में जल के समान है । इस प्रकार परनिन्दन परभव में दुःख उत्पन्न करने वाली है । तथा परनिन्दन से न भव में अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं । नैर उत्पन्न होता है । दुःख व शोक होता है । परनिन्दन करने वाल का सदा भय बना रहता है चर्मरी लोके में लघुता ( हलक्षणपन ) प्रगट होती है तथा सज्जन पुरुषों का अप्रिय बन जाता है ।

स प्र

प्राण मनुष्य अपने को अच्छा प्रगट करने के लिए दूसरों की निन्दा करता है। किन्तु उसकी यह निन्द्य प्रवृत्ति निरन्तर सुखसा को प्रगट करता है। क्या कोई रोग। दूसरे को कडुवी औषधि पिलाकर उस रोग से मुक्त हो सकता है। जो पर निन्दा करके अपने गुण का प्रकाश करने का चेष्टा करता है वह मनुष्य अपने को उन्नत बनाने की चेष्टा से अपने शरीर के चारों तरफ कज्जल की वृष्टि करता है। अधान् नैम कज्जल को चारों ओर उड़ाने वाला स्वयं अछूता नहीं बचता है उसी प्रकार दूसरों की निन्दा करने वाला स्वयं निन्द्य का प्राण होता है। तुम सत्यरूप हो। स प्रकृप उस कहते हैं जो संपुरुष का लक्षण धारण करे। शास्त्रकारों ने बताया है कि —

“अप्यो वि परम्स गुणो संपुरिस पप्य बहुदरो होदि ।  
उदय व तेजर्विद् किह मां जपिहिदि परदोम ॥”

अथ—परकीय स्वप गुण भी सत्यरूप को पाकर विशाल रूप धारण कर लेता है। जैसे जल में गिरी हुई तैल की बूद विशाल काय हो जाती है। अधान् नैम जल के सम्बन्ध को प्राप्त हुई तैल की बूद को जल चारों ओर विस्तृत कर देता है वैसे ही सत्यरूप छोटे से परकीय गुण की प्रशंसा करके उस महान् बना देता है।

अतएव हे मुनियो! तुम सत्। ऐसा प्रयत्न करो जिसके कारण समार के समस्त विवेकी मनुष्य तुम्हें धन्य धन्य कहे और मुक्त बण्ट स कर्न लग कि ये मुनि अखण्ड ब्रह्मचय के धारक हैं। ये प्रकाण्ड विद्वान् अनेक शास्त्रों के वेत्ता हैं स्वमत और पर मतों के रहस्य के ज्ञाता हैं। ये किसी भी प्राणो को लेशमात्र दु ख नहीं दते हैं। इनका अनुपम चारत्र गङ्गा नदी के जल के समान निमल है। ये अपने गुणों का पूण पालन करते हैं। धन्य है उन महामात्रों का जो ससारी प्राणियों को अपना अन्तरा स्वरूप दिवाकर धम में जागृति उत्पन्न कर रहे हैं। इस प्रकार का तुम्हारा धवलयश ससार में फैल कर धम प्राण जनता को सन्माग में प्रवृत्ति कराने वाला सिद्ध होता है। यही जैन धम की उत्तम से उत्तम प्रभावना है। तथा तुम्हारे आत्म कल्याण का मुख्य उपाय है।

इस प्रकार पूव आचाय ने सङ्ग के नवीन आचाय और सम्पूर्ण मुनिराजों को उपदेश दिया।

“स उपदेशो मुनकर सम्पूर्ण सङ्ग के मुनि समूह ने एक स्वर से कहा—हे स्वामिन् आपके इस मङ्गलमय उपदेश का हम सब हृदय से स्वागत करते हैं। यह अमृतमय कल्याण करने वाली शिक्षा इत्य पटल पर जीवन भर अङ्कित रहेगी तथा मोक्ष माग की यात्रा में नीपक का नाम करगी।” इस प्रकार कहकर आत्म हिन करत के लिए समस्त सङ्ग से पृथक् होने वाले गुहदेव के गुणों का स्मरण करके यदि वे आत्मचित होकर सम्पूर्ण माधुओं के नेत्रों से आनन्दप्र की धारा बहने लगती है और हाथ जोड़कर गुहदेव के सम्मुख खड़े होकर प्राथना स प्र

करते हैं—

हे भगवन् ! आपके उपकार का वशुन करने के लिए हमारे शब्द कोशामें कोई शब्द नहीं है। हम इसे कभी नहीं भूल सकते। अमुक काय करो अमुक काय मत करो ऐसी शिक्षा देकर आपने हमको सत्य पर लगाया है। ऐसी शिक्षा भाग्यवान् पुरुष ही पाता है। जिसने पूर्व भव में तपस्या की है उसे ही आप समान गुरुदेव का शरण मिलता है। हम जगत में परम धन्य हैं जिन्हें ऐसा लोह पारस का सा सम्बन्ध उपलब्ध हुआ है। लोह समान अधम हमारे आत्मा ने पारस मणि समान आपके सयोग को पाकर सुवर्णवत् उत्तम बनने की योग्यता प्राप्त की है। आपने ससार सागर के अगाध पापमय जल में डूबते हुए हमको हस्तावलम्बन देकर उबारा है।

हे प्रभो ! हमन अज्ञान से, प्रमाद से अथवा रोग द्वेषादि विकारों के आवेश में आकर जो आपकी आज्ञा का लोप किया हो परिणाम में हितान्ध आपके आदेश की अवहेलना कर जो प्रातःकूल प्रवृत्ति की हो, उन सब अपराधों की हम हाथ जोड़ कर क्षमा याचना करते हैं।

हे स्वामिन् ! आपने हम हृन्त्य हानों को सन्त्य बनाया है। आपके सदुपदेश ने हमारे अत करण में विवेक सूय का उन्त्य किया है। जिससे हम आम हित व अहित को समझन लगे हैं। आपने हमको शास्त्रों का अध्ययन करवाकर सकण और सनेत्र बनाया है। अथात् शास्त्रों को पढाकर ज्ञान सूय का प्रकाश कर रण और नेत्रों को सफल बनाया है। तथा मोक्ष माग में चनाकर और जीव रक्षा की निमित्त भूत प्रतिलेखान् क्रियाओं में वृत्ति करवाकर हमारे चरण और हस्त को कृताय किया है। इस प्रकार मनुष्य जीवन को सफल करने वाले मन्माग ( मोक्षमाग ) से लगाकर आपन हमको कृताय किया है।

हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों के हित कर्ता हैं। आप ज्ञान और तप में महान हैं। आप समस्त जगत के जीवों के स्वामी हैं। आप अब प्रवास करने वाले हैं अथवा सन्यास मरण को अङ्गीकार करने वाले हैं। अत हमको सब देश शून्य निखार्द दे रहे हैं तथा सब क्षेत्र अधिकार मय प्रतीत हो रहे हैं। हे स्वामिन् ! आप शील स मण्डित अर गुणों से भूषित हैं और ज्ञान के भण्डार हैं। आप सब जीवों को दु ख स छुटाकर सुख प्रदान करने वाले हैं। अब आप प्रवास करने वाले अथवा समाधिमरण धारण करने वाले हैं। ऐसे समय मे हमको सब देश शरण हीन प्रतीत हो रहे हैं।

इस प्रकार विचोग पीडित साधुओं के हृन्त्य द्रवक करणान्न वचन को सुनकर वस्तु स्वरूप के ज्ञाता आचाय समस्त को सान्त्वना दकर आत्महित कारक रत्नत्रय में अतिशय प्रवृत्त करन में वसुत हुए आराधना के लिए परसङ्ग में गमन करने की अभिलाषा करते हैं।

शङ्का—सङ्ग क आचाय सन्यास प्रहण करने के लिए पर सङ्ग में क्यों जाते हैं अपने सङ्ग में ही क्यों नहीं रहते हैं ?

सं प्र

पू कि ५

समाधान—यदि आचार्य अपने सङ्ग में रहकर ही सन्यास ग्रहण करें तो आज्ञा भङ्ग कठोर भाषण कलह विषाद खेद निभयता स्नेह वरुणा और ध्यान विघ्न आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। वह इस तरह है —

यदि आचार्य सङ्ग में रहें और वृद्ध साधु अथवा जनक कथ कर बैठें तथा गृहस्थ की ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक क्षुल्लक कलह करने में प्रवृत्त हो जाय तथा समाधि मरण की विधि के अज्ञाता शिष्य मुनि तीव्र स्वभाव वाले हों और आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन करने लग जायें ता आचार्य क चित्त में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो सकता है।

शङ्का—परसङ्ग में शिथिलाचारी वृद्ध मुनि कल कारी क्षुल्लक गृहस्थ तथा सन्यास विधि के अज्ञाता शिष्य साधु हो सकते हैं। वहा पर भी आचार्य के चित्त में क्षोभ उत्पन्न होने का सम्भावना बनी रह सकती है।

समाधान—परसङ्ग में जाकर सन्यास मरण विधि या आचरण करने वाले आचार्य वहा के साधुओं को आज्ञा नहीं देते हैं। उन साधुओं को आज्ञा देने का कर्त्तव्य उस सङ्ग के आचार्य का है। "संनित्प वहा आज्ञा भङ्ग की सम्भावना नहीं है। यदि किसी समय आज्ञा करने का प्रसङ्ग उपस्थित होजावे और साधु या क्षुल्लक आज्ञा न माने तो आचार्य क चित्त में क्षोभ नहीं होता है। आचार्य को उसी समय विचार है। न लगता है कि मैंने "नमः काँडे उपहार तो किया नहीं मेरे आदर्श का पालन ये क्यों करने लगे ? "स प्रकार चित्त में समाधान हो जाता है।

शिवर मुनि कलह म तपर क्षुल्लक गृहस्थ तथा मार्गानभिङ्ग शिष्य मुनि को सखम विरुद्ध आचरण करते हुए देखकर आचार्य उनके प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करेगे। और बहुत काल का परिचय होने से वे वृद्ध मुनि क्षुल्लक व शिष्य साधु भी आचार्य के प्रति कठोर वचन उच्चारण करने लग जावे तो आचार्य के चित्त में अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। इसी प्रकार—वृद्ध साधु क्षुल्लक गृहस्थ या छोटे २ साधुओं को परस्पर कलह शोक संतापादि उत्पन्न करते हुए देखकर आचार्य के चित्त में अशान्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा छुद्र या महान रोग या भयानक याधि से पीड़ित सङ्ग के शिष्यों को देखकर आचार्य के मन में मोह जय संताप उत्पन्न हो सकता है तथा उनपर स्नेह का प्रादुर्भाव होने से महान दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है।

समाधिमरण में तपर हुए आचार्य को क्षुधा पिपासा आदि की बाधा को शान्ति से सहन करना चाहिए। किन्तु वे अपने सङ्ग में निभय हुए आहार जलानि की याचना करने लगेंगे। अथवा स्वत आहारादि का सेवन करने लगेंगे तथा परित्यक्त भोजन पान के पदार्थों का भी सेवन करने लगेंगे उस समय उनकी निवारण करने में कौन समय होगा? अपने सङ्ग में रहने से ऐसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए आचार्य का अपने सङ्ग में रहकर समाधि मरण का साधन करना आगम में निषेध किया गया है।

जिनका आचाय ने बा-यागरा स पालन किया है ऐसे बाल मुनियों को वृद्ध मुनियों को और अनाथ आर्यिकाओं को देखकर अब इनसे मेरा अत्यंत वियोग होगा ऐसा विचार होने से आचाय के मनम स्नेह का आविर्भाव हो सकता है। तथा समाधि मरण के लिए उत्थमशील आचाय को देखकर छोटे २ बाल मुनि ब्रह्मचारी शुद्ध आर्यिका आदि वियोग जन्य दुःख से आचनान्न करने लगते हैं। उनकी दुःख भरी रीने की ध्वनि को सुनकर और नेत्रों स बहती हुई अखिल अश्रुधारा को देखकर आचाय के अन्त करण में काश्य का उदय हो आता है और उसीसे उनके धन्यध्यान या शुक्लध्यान के स्थान में आत्तध्यान उत्पन्न हो सकता है।

उपयुक्त सब दोष अपने सब में रहकर समाधिमरण की साधना करनेवाले आचाय को ही नहीं होते हैं बल्कि जो आचाय समान उपाध्याय और प्रवक्तक मुन होते हैं उनके आत्मा में भी इन दोषों की सम्भावना रहती है। अतएव इन दोषों से बचने के लिए आचार्यादि समाधि मरण का साधन करने के लिए परसघ मे प्रवेश करते हैं।

समाधि मरण की साधना के लिए आय हुए आचायादि को देखकर परसघ के आचाय व अन्य साधुवर्ग के मनमें उत्कट आल्हाद उत्पन्न होता है। हमारा अहोभाग्य है जो हम पर प्रेम व अनुग्रह करके अपने सघ व परित्याग कर ये महाभाग हमारे संघ में पचारे हैं ऐसे प्रेम से पूरित चित्त परसघ स्थित मुनिगज आगन्तुक की सवा करने के लिए तपरता दिखाते हैं और दत्तचित्त होकर आगन्तुक की परिचर्या करते हैं।

जो आगन्तुक आचायादि साधु के समाधिमरण की व्यवस्था करने वाला नियर्थाचाय होता है वह शास्त्र का वेत्ता और शुद्ध चरित्र का पालन करने वाला होना चाहिए। तथा उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह आगन्तुक सपक (साधु) का पूण आदर-सत्कार करे।

निर्यापकाचाय आगम का वेत्ता ससार से भयभीत पाप कर्मों से डरने वाला चरित्र का सुषाक्षता से पालन करने वाला और स-यास विधि की व्यवस्था करने में निपुण होता है। ऐम आचाय के पाद मूल में समाधि मरण का साधक साधु रहकर अपनी आराधना की सिद्धि क्कता है। जिसमें उक्त गुण नहीं हैं वह निर्यापकाचाय होने योग्य नहीं माना गया है इसलिए समाधिमरण की सिद्धि के अभिलाषी को अपनी अपूव आराधना को सफल करने के लिए निर्यापकाचाय के स्वभाव गुण आदि की परीक्षा करके उसकी शरण ग्रहण करना उचित है।

### निर्यापकाचार्य के अन्वेषण का क्रम

प्रश्न— समाधिमरण का अभिलाषी यदि निर्यापकाचाय का अन्वेषण करता है, उसका समय प्रमाण क्या है ? तथा किस विधि से अन्वेषण करता है वह विधिक्रम क्या है ?

उत्तर—समाधिमरण का आकाङ्क्षी आचार्य अथवा अन्य साधु समाधिमरण की साधना के लिए निर्यापकाचार्य का अन्वेषण ( तलाश ) एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष अधिक स अधिक बारह वर्ष तक करता है। आगम में उसका क्रम विधान निरूपण किया गया है। भगवती आराधना में कहा है—

एक व दो व त्रिंशत् व वारसवरिसांशु व अयरिसतो ।

त्रिंशद्वयस्यमणुषाद् गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४ २ ॥ भग अ

अर्थ—समाधिमरण की कामना करने वाला साधु या आचार्य जिनागम के रहस्य के वेत्ता निर्यापकाचार्य की गवेषणा ( तलाश ) करता है। उसका काल एक वर्ष दो वर्ष तीन वर्ष उत्कृष्ट बारह वर्ष पर्यन्त कहा गया है। अर्थात् निर्यापकाचार्य की तलाश करने में साधु खेद रहित होकर बारह वर्ष तक भ्रमण कर सकता है।

भावार्थ—आचारवान् आदि गुणों से मण्डित आचार्य हा निर्यापकाचार्य समाधिमरण की साधना करवाने में समर्थ हो सकते हैं। उनको ढूढने के लिये साधु सातसौ योजन पर्यन्त अथवा इससे भी अधिक दूर क्षेत्र में विहार करता है। इस विहार काल का परिमाण बारह वर्ष तक का हो सकता है। निर्यापकाचार्य को ढूढने में साधु बारह वर्ष तक व्यतीत कर सकता है।

प्रश्न—निर्यापकाचार्य की गवेषणा करने के लिये विहार करने वाले साधु का क्रम विधान क्या है ? किस विधि से वह साधु निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य के अन्वेषण करने के लिए विहार करने वाले की विधि पाच प्रकार की है। १ एक रात्रि प्रतिमा कुशल २ स्वाध्याय कुशल ३ प्रश्न कुशल ४ स्थविलशापी और ५ आसक्ति रहित ये पाच विधियाँ हैं।

प्रश्न—एक रात्रि प्रतिमा कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—निर्यापकाचार्य की तलाश में निकलने वाला साधु तीन उपवास करता है और चतुर्थ रात्रि में भ्रम या नगरादि के बाहर प्रदेश में अथवा श्मशान में पूव दिशा या उत्तर दिशा में अथवा जिधर जिन प्रतिमा हो उचर मुह करके दोनों पावों के मध्य चार अंगुल का अन्तर रखकर खडा हुआ नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को निश्चल करके शरीर से ममत्त्व का परित्याग करता है। अर्थात् चित्त को स्थिर कर काया-सग करता है। मनुष्य तिर्यंच दब तथा अचेतन द्वारा किये गये उपसग का शान्ति से सहन करता है। सूर्योदय तक वह मुनि भय स उस स्थान को छोड कर न तो अग पीछे होता है और न नीचे गिरता है। यह एक रात्रि की प्रतिमा है। इसमें जो कुशल होता है उसे

उसको एक रात्रि प्रतिमा कुशल कहते हैं ।

प्रश्न—स्वाध्याय-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु स्वाध्याय करके दो कारा चलकर जिस क्षेत्र में आहार मिलने की योग्यता हो ऐसे क्षेत्र की बसतिका में जाकर ठहरता है अथवा यदि माग अधिक हो तो सूत्र पौकरी या अथ पौकरी के समय मङ्गल करके आगे भोजन के लिए विहार करता है उस साधु को स्वाध्याय कुशल कहते हैं ।

प्रश्न—प्रश्न-कुशल किसे कहते हैं ?

उत्तर—माग में पढ़ने वाले स्थानों में विहार करते हुए सुनियों आर्यिकाओं बाल बुद्ध युवक आदिकों को पूजता हुआ साधु निर्यापकाचाय का अक्षय्य करता है । उस प्रश्न कुशल कहते हैं ।

प्रश्न—स्थितिलयायी किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहां भिक्षा भोजन उपलब्ध हुआ वहां काय शोधन के लिए ( मलादि का त्याग करने के लिए ) स्थितिलयुग्मि ( प्रासुक स्थान ) का अक्षय्य करता है रात्रि को स्थितिलयुग्मि पर सोता है उस स्थितिलयायी कहते हैं ।

प्रश्न—आसक्ति रहित किसको कहते हैं ।

उत्तर—जो साधु निर्यापकाचाय का अन्वेषण करने को निकला है वह किसी देश, नगर मनुष्य या भोजनादि में आसक्ति रहित होकर विहार करता है अथवा अपने संभोग के योग्य साधुओं के साथ में मिलकर विहार करता है । अथवा एक दो साधु को अपने साथ मिलकर विहार करता है उस आसक्ति रहित कहते हैं ।

प्रश्न—समाधिमरण करने की अभिलाषा से कोई साधु या आचार्य विहार कर रहा है और अकस्मात् बाष्पीभङ्ग हो जावे, अर्थात् मूकबास्था प्राप्त होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो क्या वह आराधक माना जाता है ?

उत्तर—उसका उद्देश्य यह था कि गुरु या आचार्य के निकट जाकर अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करूंगा, इस अभिप्राय से निकल कर साधु विहार करते हुए गुरु होजावे या मृत्यु को प्राप्त होजावे तो वे आराधक ही माने गये हैं ।

शुद्धा—जिन्होंने गुरु के ममीप आलोचना नहीं की है तथा गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त वा भी आचरण नहीं किया है वे साधु या आचार्य आराधक कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—अपराध करके जो साधु आलोचना नहीं करता है वह मायावी होता है और जिसके हृदय में माया शाय रहती है, उसके रत्नत्रय की निमलता नहीं होती है। ऐसा सोचकर जिन्होंने अपने अन्त करण में शल्य का उद्धार करने का निश्चय किया है जिनके चित्त में दुःख से परिपूर्ण ससार से भय उत्पन्न हुआ है यह शरीर अपवित्र विनश्वर नि सार और सत्ता दुःख देने वाला है तब नित्य सुख आयात ( प्रारम्भ में ) रमणीय अग्नि जनक और तृष्णा को बढ़ाने वाला है ऐसा विचार कर जो शरीर और इन्द्रिय सुख से विरक्त हुए हैं जिनके मनमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य में अतिउत्कृष्ट श्रद्धा उत्पन्न हुई है तथा जो अपराध निवृत्त करने के लिए गुरु के निकट जा रहे हैं ऐसे साधु या आचार्य के वचन शक्ति का विनया माग में ही होजावे या मरण को प्राप्त होजावे तो वे आलोचना किये बिना भी आलोचना करन क निमल भाव होने क कारण रत्नत्रय क आराधक मान गये हैं।

गुरु का अवेपण करने के लिए आग्रह हुए साधु या आचार्य को दूषक नियापनाचार्य सघ के साधु आर्त्ति का क्या कर्त्तव्य कर्म होता है उस लिखाते हैं।

आराम एज्जत अशुद्धिंति महमा हुत्तुं ख ।

आशा समह वच्छलनाए चरणे य खादु च ॥ ४१ ॥ भग आ )

अर्थ—नियापकाचार्य सघ के साधु अर्त्ति साधु को आते हुए देखकर शीघ्र गूडे होजाते हैं। खडे होजाने से जिनाज्ञा क पालन होता है। आगत आर्त्ति क स्वागत व सम्रह होता है। वामल्य प्रदर्शन होता है। और आगत अर्त्ति के आचार यद्धार का ज्ञान होता है।

सघ स्थित मुनि आर आग तु क मुनि एक दूसरे की प्रतिलेखनादि क्रियाओं की परीक्षा करते हैं। कारण कि आचार्यों के आश्रय व उपदेश भिन्न भिन्न हात हैं। सलिय उनके आचार म भन्न पाया जाता है। अतएव एक दूसरे की प्रातलेखनादि आवश्यक क्रियाओं का आचरण देखते हैं। गुप्ति और ममिति का पालन सूत्रम दृष्टि स अवलोकन करते हैं।

आशय यह है कि अपने सघ को छोडकर जो साधु अपने चारित्र्य को उज्ज्वल करने आया है वह भी संघ के मुनियों के स्वभाव उनके समय पालन व आवश्यक क्रियाओं के आचरणदि की परीक्षा करता है। तथा सघ के साधु भी आगतनुक के स्वभाव उसके नित्य विजय रूप सयम और प्राणियों की रक्षा रूप सयम का निरीक्षण करते हैं। यह साधु प्रतिलेखनादि क्रियाओं में किस प्रकार जीव रक्षा

पर ध्यान देत है तथा इसने इन्द्रियों के विषयों पर कितना विजय प्राप्त किया है तथा यह सामायिकादि आवश्यक क्रियाओं का यथा समय प्रमाद रहित होकर आचरण करता है या नहीं ? मन वचन काय की चंचलता को रोकने की इसकी शक्ति कैसी है ? इसका गमन, भाषण, भोजनादि आगम के अनुकूल है या नहीं ? इत्यादि बातों की परीक्षा करते हैं । शास्त्रों में कहा है —

वास्तायागन्तुका सम्यग्बिबिधै प्रतिलेखनै ।

क्रियाचारित्रबोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥

आवासयथागादिसु पडिलेहणवयस्यगहणशिक्षेवे ।

सज्भाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छति ॥ ४१२ ॥ (भग आ )

अर्थात्—उस सच में नवास करने वाले व आगन्तुक मुनि परस्पर आचरण में आने वाली क्रिया व चारित्र का पालन कैसा है इसकी परीक्षा करते हैं । एव आवास स्थान प्रतिलेखन वचन प्रहण निक्षेप स्वाध्याय विहार और भिक्षा प्रहण की भी जांच करती है ।

अवश्य कत्तय को आवश्यक कहते हैं । अर्थात् सवर और निररा के अभिलाषी साधु सामायिक प्रतिक्रमणानि क्रियाओं का अवश्य आचरण करते हैं । अतः उनको आवश्यक कहते हैं । उसका पालन समय पर और विधिपूर्वक करते हैं या नहीं करते ? इसका परस्पर परीक्षण करते हैं । मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक दो नमस्कार बारह आंचत तथा प्रत्येक दिशा की ओर एक एक नमस्कार करने से ४ नमस्कार करना त्यावि क्रियाओं का पालन ठीक ऽ रीति स करते हैं या नहीं ? त्मका सूत्रम दृष्टि से अवलोकन करते हैं । नेत्रों स उपकरणों का शोधन कर पिच्छो स माजन कगन देख शोध कर व पिच्छिका से माजन कर उपकरणादि को उठाना व रखना हितमित प्रिय वचन बोलना नत्रों से चार हाय भूम देखकर गमन करना । नदोंष भिक्षा का प्रहण करना इत्यानि क्रियाओं में सच में रहने वाले मुनि और आगन्तुक मुनि परस्पर परीक्षा करते हैं । योग्य काल में और विधि पूजक सामायिकानि कत्तयों का पालन करते हैं या नहीं ? केवल द्रव्य सामायिक में ही प्रवृत्त करते हैं या भाव सामायिकादि में भी प्रवृत्त हाते हैं ? मुख से केवल सामायिकादि आवश्यक का पाठ ( उच्चारण ) करना तथा काय द्वारा सामायिकादि क्रिया करना यह द्रव्य सामायिकादि वहे जाते हैं ? अशुभ मन वचन काय योग का त्याग करना तीक्ष्णों के गुणा तथा आचाय उपाध्यायाद पूय पुरुषों क गुणों का स्मरण चि तन करना, अपने व्रत मे लगे हुए त्पों की गहरी व निदा करना त्याग करने योग्य पत्न्या का त्याग करना शरीर स ममत्व का त्याग करना इत्यादि आवश्यकों क पालन में जो तद्धीनता दिखाई देती है उसे आवश्यक परिणति कहते हैं । इस आ श्यक परिणत की जांच परस्पर वास्तव्य और आगन्तुक साधु ध्यान पूजक करते हैं ।

### प्रतिलेखन परीक्षा

यह साधु प्रतिलेखन क्रिया करने क पूर्व यह प्रतिलेखन ( पिच्छिका ) योग्य है या नहीं ? इस प्रकार देख भाव करता है या नहीं ? स्रु लघु और सुकुमार प्रतिलेखन ( पिच्छिका ) से यत्नपूर्वक प्रमाजन करता है या नहीं ? शीघ्र २ माजन करता हुआ दूर के जीवों को नीचे तो नहीं गिरा देता उनको पीड़ा तो नहीं पहुचाता या परस्पर बिरोधी जीवों का सम्मिश्रण तो नहीं ( सम्बन्ध ) करता ? आहार करते हुए आहार करने में प्रवृत्ति करते हुए अर्हों को लकर निकलते हुए अपने निवास स्थान में बडे हुए या मूर्खों को प्राप्त हुए जीवों का तो प्रमाजन नहीं करता है ? अर्थात् पिच्छिका स उर्हें तितर बितर करक पीडा तो नहीं देता है ? इसकी जाच करते हैं ।

### वचन परीक्षा

यह साधु कठोर वचन परनिन्दा आर आम प्रशंसा कारक वचन आरम्भ व परिग्रह में प्रवृत्ति करने वाले वचन मिथ्यात्व के पोषक वचन मिथ्याज्ञान क उपादक वचन अमत्य वचन या गृहों के उच्चारण करने योग्य वचन तो नहीं बोलता है ? जिसको उठाना या रखना हो उस वस्तु का तथा उनके आधार भूत स्थान का ( दोनों का ) प्रमाणन करके उठाता या रखता है ? या बिना प्रमाजन किये ही उठाता चरता है ? न बानों का परीक्षण करते हैं ।

### स्वाध्याय परीक्षा

यह कालादि की अशुद्धि का परिहार करके स्वा याय काल में ही सूत्र ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है या अस्वाध्याय कालादि में भी सूत्र ग्रन्थों का स्वा याय करता है ? अथवा ग्रन्थ का उच्चारण व अर्थ का व्याख्यान किस प्रकार करता है ? इत्यादि स्वाध्याय की जाच करते हैं ।

### मलमूत्र क्षण परीक्षा

मल मूत्रादि के त्याग करने की जाच इस प्रकार करते हैं कि मुनि अपने निवास स्थान से दूर प्रदेश में एक हाथ या इससे अधिक परिमाण युक्त जीव जन्तु रहित जीवों के त्रिलानि स वर्जित समतल स्थण्डिल भूमि ( जिसमें किसी का निषेध नहीं हो तथा जो माग में चलते हुए मनुष्यों की दृष्टि के अगोचर हो ऐसे ) पर मलमूत्र का त्याग करता है या इसके विपरीत स्थान में करता है ? इस प्रकार संघ के मुनि आगन्तुक साधु की व आगन्तुक मुनि संघ के साधुओं की परस्पर परीक्षा करते हैं-जाच करते हैं ।

## भिक्षा परीक्षा

भिक्षा की परीक्षा इस प्रकार करते हैं—आमरी करते समय अर्थात् गोबरी में निम्ना हुआ वह मुनि विना परीक्षा किये शुद्ध अशुद्ध सब का प्रहण करता है या नवकोटि से शुद्ध आगमोक्त भिक्षा करता है ?

प्रश्न—समाधिमरण की साधना के लिए आये हुए अतिथि मुनि को सच के आचाय अपने सच में शामिल करते हैं या नहीं ?

उत्तर—आगन्तुक मुनि वनय पूवक सच के आचाय की वन्दना करके अपने उद्देश्य को प्रकट कर उनसे सच में सम्मिलित करने की प्रार्थना करता है। तब आचाय योग्य आचरण वाले उस साधु को तीन दिन तक ठहरने को स्थान देते हैं तथा चलाई आदि देकर सहायता करते हैं। किन्तु उसके साथ सभोग ( साधु योग्य आचरण ) का सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तीन दिन पयन्त उसकी पूज कथित रीति से परीक्षा करने के लिए योग्य मुनियों को नियत करते हैं। वे मुनि आगत साधु की तीन दिन में आचरणादि की जाब करके आचाय महाराज स निवेदन करते हैं। उनका वचन सुनकर यदि मुनि आश्रय देने योग्य नहीं होता है तो उसको सघाटक दान ( सच में सम्मिलित ) नहीं करते हैं और वसतिका ( ठहरन के लिए स्थान ) और चलाई आदि की सहायता भी नहीं करते हैं।

## आचारहीन साधु को आश्रय देने में हानि

प्रश्न—अयुक्त आचरणवाले आगत साधु को आश्रय देने में क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो मुनि उद्गम उपादान एव एषणा के दोषों को नहीं बचाता है तथा अपने लगे हुए दोषों की आलोचना नहीं करता है ये मुनि के साथ जो आचाय रहता है अथवा अश्रय मुनियों को उसके साथ रहने की आज्ञा व अनुमति प्रदान करना है वह भी आगत मुनि के समान दोषी माना जाता है। अतः उस अयुक्त आचरण वाले आगन्तुक को सच में स्थानादि नहीं देकर संघ से सत्रथा पृथक् कर देना ही उचित है। क्योंकि उसके ससग से सच के मुनियों में भी आचार हीनता अथवा आचार में शिथिलता आने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न—योग्य आचार का पालक आगत साधु आचाय की विना परीक्षा किये ही सच में सम्मिलित होता है कि वह भी आचाय की परीक्षा करता है। यदि परीक्षा किये विना ही सङ्ग में मिल जाता है तो उसके उत्पन्न काय ( समाधिमरण ) में विना उपस्थित होने की भी पूर्ण सम्भावना बनी रहती है। यदि आचाय की परीक्षा करके सङ्ग में सम्मिलित होता है तो उस निर्यापकाचाय के किन २ गुणों की परीक्षा करनी चाहिए जिससे उसको इष्ट काय में सफलता मिले।

उत्तर—समाधिमरण को निर्दिष्ट सम्पन्न करने के इच्छुक आगन्तुः मुनि को आचार्य के गुणों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए जिसमें निम्नोक्त आठ गुण विद्यमान हो वह नियापकाचार्य समाधिमरण काय का भले प्रकार सम्पादन करने में शक्तिमान् हो सकता है। इन गुणों का वरण आचार्य के गुणों का वरण करते समय द्वितीय किरण म कर आये हैं फिर भी प्रसङ्गवशा यहाँ भी थोड़ा सा वरण किया जाता है।

### नियापकाचार्य के गुण

१ आचारवान् २ आधारवान् ३ यवहारवान् ४ प्रकारक ५ आयापायःशानोद्यत ६ उत्पीडक ७ अपरिस्त्रवी ८ नि १पक ( सुप्रकारी ) न आठो गुणों स युक्त प्रसिद्ध कीर्ति आचार्य आगत अतिथि के मनोरथ को पूरा कर सकता है।

भगवती आराधना म वही कहा है —

आयारव च आधारव च वरहारव पकुब्धीय ।

आयावायविदसा तहेव उप्पीलगा चेव ॥ ४१७ ॥

अपरिस्त्रमाई शिवावओ शिजनावओ पहिन्किली ।

शिज्जवशगुणोवेणे एरिसआ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥ ( भग आ )

अ१—जो महात्मा आचारवान् आधारवान् यवहारान् प्रकृत आयापायःशानोद्यत उत्पीडक अपरिस्त्रवी निर्वायक इन आठ गुणों म भूषण होता है वह प्रख्यातकीर्ति आचार्य निर्यापक होता है। अथान् आचार्य के यह प्रधान आठ गुण हैं। वे जिसमें पूरा रूप म पाय जात है वह नियापकाचार्य आगन्तुक मुनि के समाधिमरण का निवाह करने में समर्थ होता है।

### आचारवान् आचार्य का स्वरूप

प्रश्न—१ आचारवान् किसे कहते हैं ? उसका विशद विवेचन करके स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर—आचार्य का प्रथम गुण आचारवान् है शानाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार इन पांच प्रकार के आचार का जो स्वयं पालन करते हैं तथा अन्य शिष्यों को पालन करवाते हैं उन्हें आचारवान् कहते हैं।

इसका आराय यह है कि जो आचाराग ग्रन्थ के तथा उसके रहस्य के वेत्ता हैं आर पांच प्रकार के आचार के पालन में स्वयं

प्रवृत्त करते हैं और दूसरे मुनियो ने भी प्रवृत्ति कराते हैं उन्हें आचारवान कहते हैं ।

जीव अजीवादि तत्त्वों का निमल श्रद्धान रूप जो परिणाम है उसे दर्शनाचार कहते हैं । पाच प्रकार के स्वाध्याय में दोष वर्जित प्रवृत्ति करने को ज्ञानाचार कहते हैं । हिंसानि मे निवृत्ति रूप आम-परिणाम को चारित्राचार कहते हैं । चार प्रकार के आहार का त्याग करना भूय स कम भोजन करना दाता गृह आहार वर्त्तन आदि की अटपटी प्रतिज्ञा लेना रसों का त्याग करना कायको कष्ट देना एकान्त स्थान मे निवास करना त्यागि तपस्या करने को तपआचार कहते हैं । तपश्चरण करने में आमा की शक्ति को न छिपाना वीर्याचार कहलाता है य पाच प्रकार के आचार हैं ।

शङ्का—विनय और आचार मे क्या भेद है ? क्योंकि सम्यग्दर्शनादि को निमल करना विनय है और उसी को आचार नाम मे आपने कह लिया है ।

समाधान—सम्यग्दर्शन ज्ञानानि को निमल करने के लिए जो यत्न किया जाता है वह तो विनय है और निमल किये गये सम्यग्दर्शनानि मे यत्नशक्ति प्रवृत्ति करना आचार है । स प्रकार विनय और आचार में भेद है । शास्त्र में कहा है —

“सह ग्धीवृत्ततपसा मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ ।  
यत्नो विनय आचारा वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥”

इसका तात्पर्य ऊपर आ गया है ।

आचारवान् का अन्य प्रकार से विवेचन

दूसरी तरह भी आचारव व गुण का विवेचन निम्नोक्त प्रकार है—

दमविह १ऽदिकृप्ये वा हवेज्ज जा मुदिहो सयायग्निओ ।

आचारव खु एमो पवयश्चमादासु आउचो ॥ ४२० ॥ ( भग आ )

अर्थ—अचेलकतानि दश प्रकार का स्थिति कल्प है उसमें जो उत्तमता से स्थिर है । तथा पाच सगिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता का पालक है वह अर्थाय आचारवान् गुण युक्त होता है ।

## स्थिति कल्प के दस भेद

परम—दश प्रकार के स्थिति कल्प में स्थिर रहने वाले आत्मा को आचारवान् कहा है। वह स्थिति कल्प कौन सा है ?

उत्तर—१ ब्रह्मादि परिग्रह का त्याग करना अर्थात् नग्नपना धारण करना २ उद्दिष्ट भोजनानि का त्याग ३ शय्याघर के पियूजक त्याग ४ राजपिंड त्याग ५ कृतिकर्म ६ मूलोत्तर गुण परिपालन ७ ज्येष्ठत्व ८ प्रतिक्रमण ९ एक निवास और १ पञ्च वर्षा अर्थात् वर्षा काल में आनुपूर्विक निवास। इस प्रकार स्थिति कल्प के दश भेद आगम में कहे गये हैं। इनका वरण निम्न प्रकार जानना चाहिए।

### नग्नत्व स्थिति कल्प

( १ ) सम्पूर्ण ब्रह्मादि परिग्रह के त्याग करने को अग्न्याग्नत मात्र को प्रथम स्थिति कल्प कहा है। उसके बिना मुनिपना सम्पन्न नहीं होता है। समस्त वस्त्रादि का परिहार करने से या नग्नता धारण करने से संयम में विशुद्धता आती है। कारण कि वस्त्रानि धारण करने से उनको धोने से जलानि के जीवों का घात होता है। इससे संयम का विनाश अवश्यभावी है। नग्नता धारण करने से अशुद्धियों पर विजय होता है। वस्त्रादि का परित्याग करने से लोभादि कषाय का अभाव सिद्ध होता है तथा ध्यान और स्वाध्याय भी निर्विघ्न सिद्धि होती है। परिग्रह का अभाव होने से निम्नप्रयत्न और वीतरागता का पोषण होता है। शरीर में अनादर भाव (अप्रीति) तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है। चित्त में विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है तथा मनोमालिन्य का अभाव तथा अज्ञान धारण की निर्विकारता प्रकट होती है। सत्ता निर्भीकता रहती है। परिग्रह का त्याग करने से सब जीवों को विश्वास उत्पन्न होता है। प्रचलनानि आरम्भ जन्म पाप से निवृत्त उत्पन्न होती है। शरीर की लभ्यता और मूर्खा का अभाव होता है। परिग्रह रूप भार के उतर जाने से आत्मा में लघुता (दृक्कपन) आती है। तीर्थकर भगवान् के समान आचरण का सङ्ग सिद्ध होता है। शारीरिक शक्ति और आभोग्य पराक्रम का प्रकाश होता है। ऐसे ही और भी अपारमित गुणों का उपलब्धि होती है। इसलिए इस स्थिति कल्प रूप से भगवान् न निरूपण किया है।

भगवती आराधना की संस्कृत टिंकानुसार इसका वरण यह है—वस्त्र पहनने या ओढ़ने से पत्नी से जीवों की उत्पत्ति होती है और उनको धोने से उन जीवों की हिंसा होती है अतः वस्त्र का त्याग करने पर एक दोष का अभाव होने से संयम में विशुद्धि उत्पन्न होती है। लज्जाजनक शरीर के विकार को रोकने से न्द्रिय विजय सिद्ध होता है। चौरादि पर क्रोधादि उत्पन्न करने का कारण वस्त्रादि परिग्रह है। उसको सबध अभाव होने से कषाय का अभाव सम्पन्न होता है। वस्त्र फटजाने पर उसको धोने के लिए सूई धागा कपड़ा आदि प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है उससे ध्यान और स्वाध्याय में विघ्न बाधा उपस्थित होती है। वस्त्र के त्यागी के ध्यान व स्वाध्याय की निर्विघ्न

सिद्ध होती है। वस्त्राणि में ममत्व होने पर ही मनुष्य उसे पहनना व ओढ़ता है। वायु के कारण शरीर से वस्त्र हट जाने पर पुन उसे हाथ स सभाल कर यथास्थान पर करते हैं। इन बातों स वस्त्र धारक क मूर्त्ता भाव सिद्ध होता है। दिग्म्बर ( नम्र ) मुनि इस महा दूषण से सदा मुक्त रहते हैं। मनोह्व व अमनोह्व सब प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करने स रागद्वेष का अभाव (बीतराग भाव) सिद्ध होता है। नम्र मुनि शीत वात और आतापादि की बाधाओं का सहन करते हैं अत उनक शरीर स निगृहता सिद्ध होती है। निग्रथों को देशान्तर में गमन करते समय दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती ३ सालए उनके स्वतन्त्रपना सिद्ध होता है। विकार भाव को छिपाने के लिए लंगोटी आदि पहनी जाती है। पिसन लंगोटी आदि का परित्याग करान्या है उमक चित्त की निर्विकारता प्रकट होती है। वस्त्रादि परिग्रह रखने वालों को चौगादि स मासख न इनादि सम्बन्धी भय लगा रहता है। दिग्म्बर ( नम्र ) मुनि इस भय से सना विमुक्त रहते हैं। वे सवदा निभय होकर विचरते हैं। नम्र मुनि को किसी द्रव्य स प्रयोजन नहीं होता है। जब कि वे शरीर पर लेशमात्र वस्त्र भी नहीं रखते हैं तब वे अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे करेंगे ऐसा ममक कर मसार के सब प्राणी उन पर विश्वास करते हैं। चौदह प्रकार के करण रूप परिग्रह के धारक श्वेताम्बर साधुओं क समान निगम्बर मुनियों को बहुत प्रति लेखन नहीं करना पड़ता है तथा वस्त्रों का प्रचालन और बहुत भार का बहन आदि नहीं करना पबता है। वही कहा है—

‘ म्लान जालनत कुत कृतजलाधारभन सयम ।

नप्टे पाकुनचित्ताथ महतामप्ययन प्राथनम् ॥ १ ॥

कालानऽपि हृते परैश्च भागति क्राव ममुत्पद्यते ।

तभित्य शुचि रागहृच्छमयता वस्त्र ककुम्मएडलम् ॥ २ ॥

विकार विदुषां द्र पा नाविकारानुवच न ।

तन्नप्रत्वे निसर्गोत्ये का नगम द्र वकन्मप ॥

नैष्ठिकञ्चन्यमहिमा च कुत सपमिर्ना भवेत् ।

ये सगाय पदोहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥’

भाष्य—शरीर के स्वप्न से तथा धूलि आदि के सयोग से वस्त्र मैला हो जाता है। यदि उसे न धोया जावे तो उसमें सम्मूह्यन जीवों की उत्पत्ति होती है। और तल स धोने पर जलाणि के जीवों की हिंसा अवर्यभावी होने से सयम की रक्षा कैसे हो सकती है ? तथा

वस्त्र के खोपाने या नष्ट हो जाना पर चिन्त में व्याकुलता उत्पन्न होती है। महान् पुरुषों को भी अन्त्ये स वस्त्र की याचना करनी पड़ती है। यान् चांग लुन्तर एक कौषान ( लंगोटी ) को चुरालें या छीनने लगें तो उन पर जल्मी से क्रोध उत्पन्न होता है। वस्त्र के निमित्त से अनेक नाप पेंग मान हैं मल्लिए परम शान्त रागाद प क विजेता मुनीरवर्तों ने निगमएडल को ही स्थायी और पवित्र वस्त्र माना है।

विद्वानों न इहान्ये वकार का सद्भाव होने पर ही नम्रता धारण करना निन्दनीय माना है। किन्तु चिनकी बालक के समान स्वानावकानिर्विना घृत्त है उनकी नम्रता आदरणीय होता है। विवेकी मनुष्य निर्विकार नम्र स्वभाव पर रोप नहीं करते हैं।

चा मनुष्य वृत्तों की छाल तजा चमान के वस्त्र की इच्छा रखत हैं। अर्थान् किसी प्रकार के वस्त्र स शरीर ढकते हैं उन मयमिया क आचिन्य आर अना का सद्भाव केंस हो सकता है? कर्नाकि वस्त्र क कारण हिंसा और परिग्रह ( मूर्खा ) उपन्न होती है।

### उत्पन्न भाजनात्ति त्याग कल्प

( १ ) उदरप भ वसाना का नृग—अ ग म तथा न हृष्ट भोजन वसतिका और उपकरण का त्याग करने पर उदरप त्याग नामक द्वितीय त्ति कल्प जाता है। अभ्यास म आधा कम महान रोप है। मका स्वरूप पिंड शुद्धि अधिकार में कद आये हैं। साधुओं को नृ य नृक बन या गया आहार नल त जा वसतिका और कमण्डलु आत्ति उपकरण मुनियों क लिए अग्रह माने गये हैं। इसलिए मुनि नृ हृष्ट भोजन उपकरण का त्याग करते हैं और अनुदृष्ट निरर्थ आहार नल वसतिका और उपकरणों का प्रहण करते हैं।

### शय्याघर क पिंड का त्याग

( २ ) शय्याघर गृह—पिंड त्याग—वसतिका का बनवाने वाला तथा उसका सस्कार ( लिपाने पोताने तथा मरम्मत ) करवाने वाला आर आप यहा नृगारय इस प्रकार वसतिका में ठहरन की आह्ला देने वाला ये तीनों शय्याघर माने गये हैं। साधु इनके धर का आहार प्रण्य नहीं करत हैं। यान् मुनि नका आहार प्रहण करने लगें तो लोक में निन्दा होने की सम्भावना रहती है। लोग कहने लगते हैं कि मुनि उनकी वसतिका म रहते हैं मल्लिए य धम क लाभ स चुपचाप गुप्त रूप स उनके लिए आहार की योजना कर देते हैं। तथा दूसरा वाप यह उपन्न होता है कि यान् मुनि शय्याघर का आहार लेने लगें तो जो आहार लेने में असमर्थ हैं नृगारय से पीडित हैं—वह लोकापवाद क मय स मुनियों को निवास करन के लिए वसाना नहीं करे। नृगारय कि लोग कहने लगते हैं देखो मुनि इनकी वसतिका में रहते हैं और नृ भाग्यहीन उनको आहार नहीं दते हैं। यान् लोक निन्दा का भय उड्हे वसतिका प्रणय करने स वचित रखेगा।

शय्या पर का भोजन पान ग्रहण करने से तीसरा शेष यह उत्पन्न होता है कि वसति कर और आहार देने वाले बहुत उपकार के कृता ज्ञाता के लिए मुनि के चित्त म स्नह का आविर्भाव होने लगेगा। ये तीन शेष शय्याघर का आहार प्रणय करने से उत्पन्न होते हैं इसलिये वानरागो साधु एक शेषोपास मुक्त रहन क लिए शय्याघर के घर का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

अथ कोइ आचाय शय्याघर पिढत्याग के स्थान में शय्या-गृह-पिढत्याग ऐसा पाठ मान कर उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि राग में गमन करते हुए मुनि रात्रि क समय जिस घर म शयन करते हैं उसी घर मे दूसर निन आहार का परिहार करते हैं। उस घर मा भोजन ग्रहण नहीं करते हैं।

कोइ आचय इसका वसति का सम्बन्धी शय्य के निमित्त से उत्पन्न हुए भोजन का त्याग ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वसति का स सम्पन्न रखन वाले शय्य के निमित्त स जो आहार बना हो उसका ग्रहण मुनि नहीं करते हैं। इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

### राज पिढ त्याग

( ४ ) राजपिढ त्याग—इत्वाक्क आदि राजवश म उत्पन्न हुए राजा महाराजा के घर का तथा राजा लोगों के समान महर्द्धिक आमात्यादि के घर का आहार मुनि लोगों के लिए वर्जित माना है। इसका कारण निम्नोक्त प्रकार है। राजा महाराजाओं के या उनके समान मगन भव सम्पन्न आमात्यादि के घर म आहार के निमित्त मुनि जावें तो वहा पर स्वच्छन्द विचरन वाले कुत्ते आदि दुष्ट जीवों के द्वारा तथा मुनि क रूप को देखकर बन्धन तुडाकर उचर उचर भागते हुए घाड़ आदि के द्वारा मुनि पर उपद्रव हाने की सभावना रहती है। तथा राज भवन म निवास करन वाले गविष्ट दास दासी आदि मुनि का परिहास करन लगते हैं। और रोक रखी हुई मैथुन संज्ञा स पाण्डित भोग पानना ( पासवान ) तथा पुत्र की कामना रखने वाली वहा की स्त्रिया बलात्कार मुनि को उपभोग की कामना से घर में प्रवेश करवा लेती हैं। मम मुनि क अनिष्ट की सभावना बनी रहती है। राज भवन में रत्न सुवर्ण आदि द्रव्य इषर उचर बिल्लरे पड़े रहते हैं उनको दूसरा कोई चुरा लेता भा सयमी पर लाइन आता है। लाग कहन लगते हैं कि यहा अमुक मुनि के सिवा अन्य कोई नहीं आया है वे ही चुरा ले गये हांग। इस प्रकार चोरी या अपवाद होता है। राजा स मुनि का विश्वास करके राय का विश्वास कर दगा इस प्रकार क्रुद्ध हुए आमात्यादि मुनि का बध या बधन करन म च्यत हात दख गये हैं। राजादि के घर में झीर आदि की विकृति का सेवन होता है। तथा द्रिष्ट कुलोत्पन्न साधु क मन म राज भवन के बहु मूल्य रत्नात् को देख कर लोभ कषाय का उदय होने पर उनका अपहरण करने की इच्छा क प्रादुर्भाव हो सकता है। सुन्दर दवागना समान उत्तम स्त्रियों का अवलाकन हाने से मुनि क चित्त म राग का उद्रेक हो सकता है। इन्द्र तुल्य राज भवन की अभूत क दखकर मोह क वशीभूत हुआ मुनि भावष्य में मुझे ऐसी विभूत मिले ऐसा निदान करने में प्रवृत्त हो जाता है। इन दोषों की

संभावना जहा बनी रहती है उनके घर का आहार मुनि के लिए निषिद्ध माना गया है। और जहा एक दोषों में से किसी दोष की संभावना न हो और अन्य स्थान में आहार की योग्यता न मिले तो स्वाध्याय के विच्छेद का निवारण करने के लिए अर्थात् स्वाध्याय व ध्यान सम्पादन करने के लिए राजा के महलों का भोजन भी निषिद्ध नहीं माना गया है।

### कृति कर्म

( ५ ) कृतिकर्म—पाच नमस्कार छद्म आवश्यक आसिका और नियेधिका इन तेरह प्रकार के कृत्य कम का परिपालन करना कृतिकर्म कहलाता है।

अथवा गुरु का विनय करना तथा महान् पूज्य पुरुषों की शुश्रुषा करना कृतिकर्म है।

### मूलोत्तर गुण परिपालन

( ६ ) मूलगुणों और उत्तरगुणों का सुचारु रूप से पालन करना ब्रूठा स्थिति कल्प है। इसी को व्रतारोपणयोग्यता नाम का ब्रूठा स्थिति कल्प माना है।

जिस समय जो पीलों का यथाथ स्वरूप ज्ञात होगया हो उसीको नियम से मुनिय क व्रत देना यह व्रतारोपण योग्यता नामक स्थिति कल्प है।

जिसने पूण निम्न अवस्था धारण की है तथा उर्दिष्ट आहारादि का तथा राजपिंडग्रहण करने का त्याग किया है और जो गुरु भक्त एवं विनय शाल है उसका मुनि-व्रत के योग्य माना है।

व्रत प्रदान करने का क्रम निम्न प्रकार है—जिस समय गुरु आसन पर विराजमान हो उस समय आर्यिकाएँ सम्मुख बैठी हों उनसे तथा श्रावक और श्राविकाओं को व्रत न्ये जाते हैं। आसन पर बटे हुए गुरु के वाम भाग में बटे हुए मुनि को व्रत देते हैं। अर्थात् दीक्ष ग्रहण करने समय साधु को आचार्य के बाये हाथ की और बैठना चाहिए।

अर्द्धिसादि का स्वरूप समझ कर द्विसान्नि पापों से बिरक्त होने को व्रत कहते हैं।

प्रथम और अन्तिम ताथरदेव ने रात्रि भोजन त्याग और पंच महाव्रतों का उपदेश लिया है। प्रसन्न योग से अर्थात् कथाय

युक्त परिणाम से प्राणियों का प्राणों को पीड़ा पहुँचाने को हिंसा कहते हैं। इसके त्याग करने को प्रथम आत्मा महाव्रत कर्ता है। असत्य भाषण से प्राणियों को दुःख होता है तथा अपनी आत्मा के सत्य परिणाम का घात होता है ऐसा समझकर स्व पर की न्याय करने वाले दयालु मुनि असत्य भाषण का त्याग करते हैं। यह उनका द्वितीय सत्य महाव्रत है। यह मेरा है ऐसा मङ्गल्य जिस वस्तु पर जिसने कर रखा है उस वस्तु का स्वामी की बना आज्ञा प्रणय करने से उस क्लेश होता है उसके विचोग से वह दास्य दुःख का अनुभव करता है। तथा ग्रहण करने वाले का परिणामों में मालिन्य उत्पन्न होता है इसलिए स्वपर के कल्याण की कामना करने वाले मुनि चोरी का परित्याग करते हैं। यह उनके तृतीय अचौथ महाव्रत होता है। जैसे सरसों से नरी हुई नाली में अग्नि से तपी हुई लोहे की शलाका (सलाई) डालने से सम्पूर्ण सरसों कुतस जाती है इसी प्रकार चोरी में पुरुषान्तर का प्रवेश होने पर उसमें के सब सम्बुद्धन सुप्त जीव नष्ट हो जाते हैं। इस मैथुन से तीव्रराग उत्पन्न होता है। जो कम वचन का प्रबल कारण है। ऐसा विचार कर दयालु मुनि उसका पूरा रूप से त्याग करते हैं। यह उनका चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रह के निमित्त से पट्कय के जीवों की विराधना होती है। तथा यह ममत्व भाव उत्पन्न करने में मुख्य कारण है इसलिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना परिग्रह त्याग नाम का पाचवा महाव्रत होता है।

न महाव्रतों की पालना करने के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना छूटा व्रत है।

अहिंसा महाव्रत सब जीव मात्र को विषय करता है। अर्थात् सम्पूर्ण जीवों की हिंसा का त्याग करने अथवा उनकी रक्षा करने से अहिंसा महाव्रत सम्पन्न होता है। अचौथ महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत सम्पूर्ण पदार्थों से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् वस्तु के स्वामी की आज्ञा बिना किसी भी पर पदाय का ग्रहण न करने से अचौथ महाव्रत तथा सम्पूर्ण भूमि महल मकान धन धान्य वस्त्रादि का त्याग करने से परिग्रह त्याग महाव्रत सिद्ध होता है। तथा देश से य महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत द्वयोः क एक देश को विषय करते हैं। कारण कि सत्य महाव्रत में सत्य वचन का उच्चारण और असत्य वचन का त्याग किया जाता है और ब्रह्मचर्य व्रत में समस्त स्त्री वग सम्बन्धी विषय वचन का त्याग मन वचन काय से किया जाता है। अतः ये दोनों समस्त जगत् के पदार्थों का एक भाग से सम्बन्ध रखते हैं।

### ज्येष्ठत्व

(७) ज्येष्ठत्व—सबसे मुनि माता-पिता गृहस्थ उपाध्याय तथा आर्थिकाओं से महान होता है। यद्यपि गृहस्थ अवस्था में माता पिता और गृहस्थ-गुरु पूज्य होते हैं तथापि संयम धारण करने के परचात् पुत्र भी माता पिता तथा गृहस्थ-गुरु के पूजनीय हो जाता है। क्योंकि चारित्र्य में पृथक्ता मानी गई है।

एक स्नि का दीक्षित मुनि चिरकाल को दीक्षित आर्यिका से महान् होता है पूय मृत्यु और वन्नीय होता है। इस प्रकार मुनि की श्रेष्ठता चोतन करन वाला यह सातवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् स्त्रिया पुरुषों मे लघु मानी गई हैं। उसका हेतु यह है कि वे परमुखापेक्षी होती हैं। वे अपना रक्षण आप नहीं कर सकती। आत्म-रक्षा में पुरुष का साहाय्य चाहती हैं। पुरुष द्वारा कामना किये जाने पर वे उसका प्रताकार करने में असमय होती हैं। वे स्वभाव से भोद होती हैं। उनका हृन्म कमजोर होता है। पुरुष में ये शक्त प्राय नहीं होती हैं। इसलिए पुरुष महिलाओं स श्रेष्ठ माना गया है।

### प्रतिक्रमण

( ८ ) प्रतिक्रमण—नम्रत्व आनि कल्प में मित्र मुनि के व्रतों में जो अनिचार लगते हैं उन शोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। यह आठवा स्थिति कल्प है।

अर्थात् धारण किये गये व्रतानि में अज्ञान प्रमादनि स जय अपराध का निगकरण करने के लिए साधु ऐर्यापथिक रात्रिक वैवसिक पाक्षिक चानुमासिक मावत्सरिक और उत्तमाथ ये सात प्रकार के प्रतिक्रमण करते हैं। इनका मन्थक प्रकार आचरण करने को प्रतिक्रमण नामक आठवा स्थिति कल्प माना गया है।

आनि तीर्थंकर श्री ऋषभ ऋषि भगवान् और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने अपराध हों या न हों मुनियों को प्रतिदिन यथासमय प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया है। और मध्य के बार्हस तीर्थंकरों न अपराध होने पर ही मुनियों को प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ के मुनि भोले और महावीर स्वामी के तीर्थ के मुनि बक होते हैं। इसलिए उन शोषों तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ के मुनियों को ईर्यापथिक रात्रिक वैवसिकानि प्रतिक्रमण अपराध होने पर या न होने पर यथासमय अवश्य करने का विधान दिया है। और अजितनाथ आनि मध्यवर्ती बार्हस तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ के मुनियों को अपराध लगने पर प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। कारण कि उनके तीर्थ वर्षी मुनि विचक्षण और स्मरण शील होते हैं। वे अपराध को स्मरण रखकर किसी समय अपने अपराध का शोषन कर लेते हैं। इसलिए उन्हें ईर्यापथ स गमन करते हुए अपराध लगन पर उसका निवारण करन के लिए ऐयापायक प्रतिक्रमण ही कर लेने का आदेश दिया है। रात्रि में अनिचार लगने पर रात्रिक प्रातक्रमण और दिन में दोष लगन पर वैवसिक प्रातक्रमण करन का उपदेश दिया है। उनको सब प्रतिक्रमण करना आवश्यक नहीं बतलाया है।

### एक मास निवास

( ६ ) एक मास निवास—वसन्तादि छह ऋतुओं में एक एक ऋतु में मुनि एक स्थान पर एक मास तक रह सकते हैं इससे अधिक एक स्थान में निवास करना वर्जित है। क्योंकि एक ही स्थान पर चिरकाल पयत्त निवास करने से भोजनादि में उद्गमादि दोषों का परिहार करना आवश्यक हो जाता है। बध्निका म मोह हो जाता है। सुखिया स्वभाव हो जाता है। कष्ट सहिष्णुता दूर हो जाती है। आलस्य घर कर लेता है। सुप्रमत्ता की भावना उत्पन्न होती है। बहुत जिन एक जगह रहने से जिन आबकों के घर पहले आगर कर चुके हैं फिर भी वन्ही के घर आहार लेना पड़ता है। न्यायि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। नसलिए मुनीश्वर चिरकाल पयत्त एक ही स्थान पर नहीं ठहरते हैं।

### पञ्ज

( १० ) पञ्ज—वर्षाकाल में भ्रमण का त्याग कर चार मास पयन्त एक ही स्थान में निवास करने को पर्या नामक वरावा स्थिति कल्प कहा है। वर्षाकाल में चार मास तक मुनि विहार का त्याग करते हैं। तथा एक मील या दो मील आदि क्षेत्र का परिमाण कर उस क्षेत्र के भीतर गोचरी आदि आवश्यक कार्य के लिए गमनागमन करते हैं।

वर्षाकाल में भूमि त्रस और भागर नीचे में आहुल ( १५ ) नीचे नीचे में सम समय यदि एक स्थान न ठहर कर विहार करे तो वह कार्य के जीवों की विराधना होने से मग्न अमयम जाना है। जल का उष्णता तथा शत। युक्त चलने से शरीर को अत्यन्त बाधा पहुँचती है। निमोनिया आदि अनेक रोगों का उत्पत्ति होना सम्भव है। मग्न जलमग्न रहने से माग स्थित कुप बावड़ी में गिर जाने की सम्भावना रहती है। जल या कीचड़ में दिपे हुए कान्ते पत्तों तथा प्यायु आदि का बाधा होता है। माला मुनीश्वर एक सौ बीस जिन तक एक स्थान में ही निवास करते हैं। यह उत्सग ( सामान्य ) नियम है। कारण वरा इस हीन या अधिक काल भी माना गया है। अषाढ शुक्ला वरामी स लेकर कार्तिक की पूर्णिमा के आग तीस दिन तक और सुान एक स्थान पर ठहर सकते हैं। अध्ययन करने के लिए वृष्टि की बहुलता से विहार करने की शक्ति कम होने से किसी साधु की वैयावृत्त्य करन के निमित्त न्यायि प्रयोजन वरा मुनि अधिक समय अथान् कार्तिक की पूर्णिमा के बाद तास दिन अधिक ठहर सकते हैं। उक्त कारणा का वना अधिक जिन निवास करना आगम वरुद्ध है।

प्लेग हैजा आदि सक्लमक रोगों का प्रकोप होने पर दुर्भिक्ष हो जाने पर देश या गाव पर महान् सङ्कट आजाने पर सङ्घ पर विपत्ति की सम्भावना होने पर मुनि वर्षाकाल में भी अयत्र जा सकते हैं। यदि उक्त परिस्थिति में भी मुनि वहा से विहार न करे तो रत्नत्रय की विराधना हो सकती है अत आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के यतीत होने पर आबण कृष्णा प्रतिपत्ता आदि तिथि म मुनि अन्य स्थान में चले

जाते हैं। इसलिए एक सौ बास दिनों में बीस दिन कम किये गये हैं। यह वर्षाकाल में निवास करने का हीन काल है। इस सबको दरावा स्थिति कल्प कहते हैं।

जो आचार्य इन उपयुक्त दश प्रकार के आचरणों में सदा तत्पर रहते हैं जो सत् पाप कृत्यों से भयभीत रहते हैं वे आचार्य आगमोक्त आचरण का साधुओं से पालन करवाते हैं—साधुओं के आचरण में दोष दिखा कर उनको शुद्धाचरणी बनाते हैं।

### आचारवान् आचार्य से क्षपक को लाभ

प्रश्न—आपने आचार्य का आचारवत्त्व गुण वखन किया है। आचार्य के आचारवान् होने से क्षपक साधु को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जो आचार्य दशानाचारानि पचाचार म स्वयं तत्पर रहते हैं समस्त गमनानि क्रियाओं में सम्यक् प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक को भी पचाचार म सम्यक् प्रवृत्त करवाते हैं।

प्रश्न—यदि आचार्य स्वयं आचारवान् न हो तो उससे क्या हानि होती है ?

उत्तर—जो आचार्य दशानाचार पचाचार क पालन करने में शिथिल हस्त है जिसका आचरण भ्रष्ट होता है वह आचार्य क्षपक को दूरमान् दीप युक्त आहार वस्त्रानि और पत्रिक पुस्तकानि उपकरण की योजना करेगा। अथवा क्षपक की परिचर्या में वैराग्य राहत मुनिना का नियुक्त करेगा। जो स्वयं सदोष होता है वह साधुओं क दोषों को दूर करने में सफल मनोरथ नहीं होता है। समाधिभरण क कार्य में उद्यमशील मुनि वा हित सत्कार से भयभीत और वैराग्य भाव से भरे हुए साधुना क ससग से ही होता है। इसका स्वयं आचार हीन आचार्य को नहीं हाता है। वसका परिणाम यह होता है कि क्षपक की शुभ्रवा करने की योग्य व्यवस्था न कर सकने के कारण क्षपक वा समाधिभरण विगड जाता है। उसका यह महान् आनष्ट आचार हीन आचार्य द्वारा होता है। वह आचार्य क्षपक की सन्ध्यास विधि को लोक म प्रकट कर देगा समय विरोधी गार्थ पुष्प मालादि क्षपक के लिए लाने के लिए साधुओं का अनुमति प्रदान करेगा क्षपक के परिणामों में बिचार उत्पन्न करने वाली कथा करेगा क्षपक क हितहित का विचार न कर मन चाहे जैसा बकन लगेगा। पतित आचरण वाला आचार्य रत्नत्रय में प्रवृत्त कर ने वाला उपदेशा नहीं देगा रत्नत्रय से गिरते हुए मुनि को न रोकेगा जिन क्रियाओं में महान् आरम्भ होता है ऐसी पूजा रथयात्रान् करवाने की लोगों को प्रेरणा करेगा। तात्पर्य यह है कि शिथिलआचारा आचार्य के सहवास से क्षपक का अहित होता है। वह अपन उद्देश्य से गिर जाता है। सतिए आचारहीन आचार्य के सहवास का आत्म-हित के इच्छुक क्षपक को त्याग करना ही अयस्कुर है।

आचार गुण म भूपित आचार्य का आश्रय करने वाला ज्ञपक अपने समाधिमरण रूप उत्तम काय को भले प्रकार साधन कर सद्गति का पात्र बनता है अत आचार्य क आचारव व गुण का वर्णन किया गया है। अब आचार्य के अमर आधारवत्व गुण का विवेचन करते हैं।

### आचार्य का आधारवत्वगुण

चाह्य-दस-खव पु-वी महामन्त्र मायरोज्व गभागे ।

कल्पववहारधारां हादि हु आधारव श्याम ॥ ४ ८ ॥ ( भग आ )

अर्थ—जो चोन्हपूज या नशापूज अथवा नवपूज का वेत्ता होता है जो दूरदर्शी-समुद्र क ममान गम्भीर ज्ञानवाला है प्रायश्चित्त शास्त्रा का सम्यक् प्रकार ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुकूल प्रयोगो का अनुसरण करता है वह सम्यग्ज्ञान-ज्ञान-चारित्र और तप की उपायन सि ति शुद्धि और रक्षा का आश्रय हाता है। वह आधारवत्व गुण युक्त आचार्य नित्य प्रति मातुवग को आगम का उपदेश देकर पापाश्रव क कारण अशुभ परिणामों म हटाकर पुण्याश्रव के कारण शुभोपयोग में तया सवर जननग क कारण शुद्धोपयोग में प्रवृत्त करता है। अत आचार्य का आगम का ज्ञान अवश्य होना चाहए।

प्रश्न—चारित्र का आराधन आम-लयाण का साधन मन्ना गय है। वन जिसम पाया जावे वह आचार्य सध के साधुओं का आर्थिकओं का व उनके सम्पक म रहन वाले आत्रक भावकाओं का द्वार स्तर म समथ हो भकता है? अथवा आगम का ज्ञान न होने म भी आचार्य स्व पर का दित करने म कुशल हो सकता है। अत आचार व गुण चारित्र स सम्पन्न रखना है न कि ज्ञान स। आपने आगम का ज्ञान हान पर हा आधारव व गुण का होना बताया है सका क्या कारण है ?

उत्तर - जिसको आगम का ज्ञान नहीं है वह आचार्य भोज माग के अङ्गभूत ज्ञान ज्ञान चारित्र और तप क स्वरूप को तथा व क भन् प्रभयों को और उनमें उत्पन्न होने वाले दोषों को कैसे जान सकगा? सध में स्थित मुनाश्रुओं को कल नशाना के स्वरूप को समझ कर उनम लगने वाले अताचारों स कैसे निवृत्त कर सकगा? ब्रतानि म लगे हुए अतिचारों की निवृत्ति ( शुद्धि ) के लिए प्रायश्चित्त का विधान कैसे करगा? समाधिमरण क लिए तयत हुए ज्ञपक को समय समय पर जीवान् तत्त्वों का यथाथ उपदेश देकर आत्मा म वैराग्य भाव किस प्रकार उत्पन्न कर सकगा? समाज में भ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व असयम दुध्यानाद् का स्वरूप लिखा कर सम्यक्तर समय उ धन्यध्यान शुक्लध्यान की मईत्ता समझकर उनका पालन करवान म कैसे सफल होगा ?

### सयम की सफलता

अनन्त दुःख रूप जल से परिपूर्ण इस ससार सागर में चक्कर लगाते हुए म जीव ने अनन्त काल बिताया है। भयानक शारीरिक मानसिक क्लेशों को भोगते हुए इस जीव ने बड़ी कठिनाई में मनुष्य जन्म को प्राप्त किया है। जैसे साधु पुरुष के मुख से कठोर वचन के समान सूय मण्डल में अ-वकार के समान अत्यन्त क्रोधा मनुष्य के मन में न्या भाव के समान अति लोभी मनुष्य के मुख में सत्य वचन के समान महाभिमान के मुख से परगुण की प्रशंसा के समान खा वग में सरल चित्तता के समान दुष्ट मनुष्य में कृतज्ञता के समान आत्माभाम द्वारा निरूपित मत में तत्त्वज्ञान के समान इम पंचपरिवर्तन रूप ससार में मनुष्य जन्म की प्राप्ति अति दुर्लभ है। आगम में अति दुर्लभता के विषय में एक दश दृष्टांत मिलते हैं। उनमें भी मनुष्य जन्म पाना अति दुर्लभ है। महान् पुरुष के उत्पत्ति से किसी तरह मनुष्य जन्म पा लिया तो तपस्या के योग्य उत्तम धर्म-प्रधान देश का मिलना अति दुर्लभ है। उत्तम देश का योग होने पर उत्तम कुल व उत्तम जाति का मिलना अति दुष्प्राप्य है। माता के वश को जानि और पिता के वश को कुल नहीं है। उनके पश्चात् उत्तम शरीर की आकृति ( इन्द्रियों की परिपूर्णता ) व शरीर में उत्तम सन्तान का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। शरीर के नाशान्ता लीवायु उत्तम बुद्धि हितोपदेश का श्रवण सन्तुष्ट कथित तथ का ज्ञान तथा जन्म से श्रद्धा की उत्पत्ति उत्तम अति दुर्लभ है। उत्तम मयम का प्राप्त करना है। समस्त दुर्लभ पदार्थों में दुर्लभतम सयम है। उसकी सफलता समाधिपरायण के आराधन से होता है।

### ज्ञपक की सिद्धान्त के वेत्ता आचाय की आवश्यकता

उस अत्यन्त दुर्लभ समाधिपरायण के साधन के लिए ज्ञपक ने रागद्वेष को जीतने की यद्यपि प्रतिज्ञा की है त गपि शरीर की सलेखना करने वाले उस ज्ञपक के क्षुधाति परीयह के प्राप्त होने पर अल्प पराक्रम के कारण रागद्वेष की उत्पत्ति व क्रोधादि कषाय का प्रादुर्भाव हो सकता है। उसकी निवृत्ति अथवा कषाय का उपशम रागद्वेष की अनुत्पत्ति चारित्र्य की मर्म्यक् आराधना अल्पज्ञ-सिद्धांत के अज्ञता-आचाय के ससग से नहीं हो सकती है। क्योंकि कम-पक्षश हुआ यह प्राणी अज्ञ के आश्रय से अपना जीवन यापन कर रहा है। उस अज्ञ का त्याग करने से यह अज्ञाश्रित जीव अतर्लमला जाता है। उसकी आखों के सामने अचेरा छा जाता है। सिर चक्कर खाने लगता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञ बिना यह प्राणी आस रौद्रध्यान से आकुलित हो जाता है। उस समय उसके दर्शन ज्ञान चारित्र्य व तप की आराधना कैसे हो सकती है यदि उमम स्थिर करने के लिए सिद्धांत वेत्ता आचाय न हो ? यही कहा है —

“अयमन्नमयाजीवस्त्याज्यमानोऽधसा कदा  
अतिरौद्राकुली भूतश्चतुरंगे प्रवर्तते ॥”

अर्थान्—यह जीव अन्नमय है। भोजन के आधार इसकी सभ शारीरिक मानसिक प्रवृत्त होती है। अन्न के अभाव में आर्त व रौद्रध्यान से आकुलित हुए इस जीव का दशन ज्ञान चारित्र्य व तप रूप चतुरंग में प्रवृत्ति करना अति कठिन हो जाता है।

ऐसे अवसर में बहु श्रुत पारगामी आचार्य अनेक आगम निरूपित उपदेश को सुनाकर मृदु मनोहर व अनेक शिक्षा पूण वचनों का उच्चारण कर ससार के भयानक स्वरूप का वर्णन कर तथा शरीर की अनित्यता को समझकर क्षपक के संवेग और वैराग्य की वृद्धि करता है और क्षुधा तथा स उत्पन्न हुई भोजन पान की कामना को शान्तकर आत्मध्यान में व धन्यध्यान में तत्पर करता है।

आगम ज्ञान से शून्य आचार्य क्षुधा तथा तृप्ति की पीडा स याकुल-चित्त क्षपक को आत्म-अनात्म का जड़-चेतन का भेद विज्ञान करवाकर आगम के अनुकूल हित शिक्षा नहीं दे सकता है ससार न भय और शरीर से विरक्तता उत्पन्न नहीं कर सकता है। अत-क्षुधा और तथा की पीडा से क्षपक की भोजन पान की अभिलाषा बढ़कर आत्त व गौन्यध्यान की वृद्धि करती है। उसस क्षपक का समाधिभरण विगड जाता है। क्षुधा और पिपासा स पीडित मनुष्य के इत्य स विवेक बुद्धि निकल जाती है।

जिस क्षपक ने अपने शरीर को अत्यन्त कृश कर दिया है शक्ति हीन कर दिया है उसको जिस समय क्षुधादि की बाधा सताती है और वह बाधा इतनी बढ़ जाती है कि वह असह्य हो जाती है उस समय विवेकहीन हुआ जीव कठणाजनक आकन्दन करने लगता है। भोजन की याचना करता है और दीनता प्रदर्शित करता है। तथा बैठकर अयोग्य काल में अपने हाथों से भोजन पान करने लगता है। अर्थान् क्षुधा तथा स पीडित हाकर आगम विरुद्ध आहार पान ग्रहण करता है।

क्षुधादि क वष्ट को सहन न करक वह क्षपक धम से विमुख होता है। मिथ्या-व भाव को प्राप्त होकर असमाधि युक्त मरण को प्राप्त होता है।

क्षुधादि स पीडित साधु के रोदन को सुनकर यत्नि आगमहीन आचार्य उसकी निंदा करने जगोगा तो वह सङ्ग का परित्याग कर भाग भावेगा। इसस धम का अपवाद होगा। अथवा उसको योग्य उपदेश न मिलने पर उसका आत्तनाद बढ़कर जन साधारण के चित्त से कठ्या और क्षोभ उत्पन्न कर देगा। समाधिभरण के स्वरूप का न समझन वाले मनुष्य साधुओं को कठ्या हीन व आत्मघाती कहने लगेंगे। यह सब दाष ज्ञान हीन आचार्य के योग स होने हैं।

### क्षपक को परिषहों की बाधा से कैसे दूर किया जाय ?

प्रश्न—युल व प्यास से पीडित क्षपक की बाधा को आगम के ज्ञाता आचार्य किस प्रकार दूर करते हैं ?

उपर—आगम के ज्ञाना आचार्य ऋषिक का समागिरण के समय के अनुकूल आगमोक्त क्रियाओं का आचरण करवाने हैं। यथासर उस हितकर प्रिय मधुर वचना से शिक्षा देकर उनके परिष्कारों को उज्ज्वल करते होते हैं। धर्म्य यान और शुक्ल यान म लगाये रह्यन वा सत्व प्रकृत करने रते हैं। शुभ ५ शुद्ध ध्यान रूग अग्नि की सदुपदेश रूग आह्वानियों द्वारा निरंतर वृद्धिगत करते रहते हैं। जिन समय ऋषिक को क्षुधादि पीडा असह्य होने लगती है तब गीताथ आचार्य उनकी मन्त्रा रू अनुकूल ऐस मजुन और विश्राम बनन वचना का उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर उसको भोजन व पान करने म मसा वृत्ति होती है वेंसी वृत्ति व मनाप उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन मुनीश्वरों के उपसग परीषद विजय की कथाओं को सुनाकर उसक अ नक ए म धैर्य ५ साहस को म्पन्न क ते ह। तिर्यच गति व नरक गति में इस जीव ने कैसी २ क्षुधा और तृषा की पीडा स सहन किया है। म समय की पीडा तो उनके सामने कुन भी नहीं है। वन बाबा तुमको परवशा होकर सहन करनी पडो थी और यह तुम म्पन आत्म हिन के लिए म न र रह हा। यदि तुम अपने चित्त में सकलेश भाव म्पन्न करोगे तो तुम्हें पुन पुन वै तिर्यच व नरक गाव के पार दक्ष सन करन पडगे। फिर ऐसा क्लेश निवारण करन का मग क लिए उन शक्य दु खों स पीडा क्षुदान स अवसर न मिलगा। इसलिए हे मदनुद्ध ऋषिक ! तुमको म्पन पीडा स दुःखित न होना चाहए। इत्यत्र उपदेश द्वारा गीताथ आचार्य ऋषिक क धम भावना द्वारा धमध्यान में लवलिन करते हैं।

ऋषिक की कावमय प्रकृति स ऊच कर परिचार म्पन ऋषिक स छोडकर अलग ह तते हैं। वे ऋषिक के निकट जाना भा पसन् नहीं करते हैं। उस समय आचार्य अपने मुद्ध पाराल स म्पन की कावमय प्रकृति को शिक्षा पग वाक्यों द्वारा शान्त करते हैं। उसको सब प्रकार का आश्रय तते हैं। उसके साहम हीन व अधा स्वभाव को न कर उसको आत्मा म्पन माहम और वय का सचार करते हैं। वैवाक्य करन स मुख हए परिचारक साधुओं को य वश्य क स्वरूप और मन्त्र को समझकर उ र्गे पुन वय वश्य क काय म सलप करते हैं।

हे मुनियो ! यह ऋषिक महापुरुष है। मुधात की पीडा स याकुल हीनर यात इमन तुमको कणाचन अयुक्त वचन कह न्यिे हो तो तुम्हारा क्तन्य है कि तुम म म्पु वचना स शान्त र।। याधन्य ( सवा धम ) का यथोचित पालन करन वाले क तीर्थंकर प्रकृति का वध होता है। सभी वैवाक्य करन वाले को कडु वचन अमृतमय और शस्त्रपहार पुष्पमाला ममान भामते हैं। वैवाक्य करने का सौभाग्य महापुरुषवान को ही मलता है। क्योंकि ये वचन रने वाला अपने और जिसकी वैवाक्य करता है उसके रानत्रय की रक्षा और वृद्धि करता है। सलिए ह साधुओं ! तुम्ह म्पन वचन य स विमुख न होकर तन और मन स इस मुक्य म तपर रहना चाहिए। देखो शरीर और आहार ये न पन्थ समार म दुःखाज्य हैं। इनका त्याग साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। म्पन्न इसने त्याग किया है। सलिए यह महात्मा सवा करन योग्य है। ऐसा कहकर साधुओं को ऋषिक का सवा करने म इत्साहित करते हैं।

हे क्षपक ! तुम विचार तो रगो । तुमने किस महान् मुकृत्य का प्रारम्भ किया है । तुमने कषाय और काय को कुरा करने की छद्म प्रतिज्ञा ली है । और उसका पालन करने के लिए तुमन आग कदम बनाया है । क्या इस समय तुमको कषाय करना उचित है । क्या तुम्हें इस काय में सहायता देने वाले महात्माओं को कटु कणोर वचन उच्चारण करना चाहिए । तुमको तो उनका कृतज्ञ होना चाहिए । क्योंकि वे तुम्हारे निज धन रत्नत्रय की रक्षा करने का उद्योग कर रहे हैं । तुमको किसी प्रकार की चिन्ता न कर शान्ति धारण करना उचित है । हम तुम्हारी सवा में सना तत्पर हैं । तुम अपने कर्त्तव्य पर आगूढ़ रहो और तुम्हारा वैयवृत्त्य करने वाले साधुओं का उपकार मानकर उनका विनय करो । इस प्रकार शिक्षा-वचनों द्वारा क्षपक को कर्त्तव्य मार्ग पर हट करते हैं ।

आगम वेत्ता आचार्य साधु के लिए उपाय प्रसुक मन्तु जानसी है ? इसका ध्यान रखते हैं ।

सुधारण की लक्षण वेदना स-यथित मुनि को आगम क उपाय रूप पेय पदार्थ और शिक्षा वचन रूपी आहार देकर उसकी बुद्धि और पिपासा को शांत करते हैं । स उपदेश और शिक्षा रूपी भोज्य और पान का आस्वादन कर क्षपक सतुष्ट हुआ आत्मध्यान में वृत्तावत हो जाता है ।

शीतार्थ आचार्य अवसर पाकर क्षपक को समार अग्रतः पंच परावृत्तन का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं । त्वयपरिवर्त्तन क्षेत्र परिवृत्तन शलपारवृत्तन भवपरिवृत्तन और भावपारवृत्तन आदि विषय वचन कर उसको मसार से भयभीत करते हैं । इसका विशाल विवेचन पहले किया जा चुका है ।

हे क्षपक ! यह शरीर आत्मा का धनीग्रह है । आद्यु में या कामाण कर्त्तन स आमा को शरीर में कृत कर रखा है । आमा का असली निवास स्थान मेषु है । उसमें वचित रहने वाला यह शरीर रूपी काराग्रह है । यह शरीर अपवित्र अशुचि पदार्थों का निधान है । इसमें मुख नाममा आदि अचयव अशुचि दुग्ध धमज पदार्थों से ही निर्मित हैं । इसमें पर भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है । यह अनेक क्लेश और आपत्तियों का निवास स्थान है । यह रोगरूपा धार्य की उत्पत्ति का क्षेत्र ( खेत ) है । अथवा रोग रूपी शत्रुओं का निवास स्थान है । बुद्धावस्था रूपी पिशाचिनी का यह शरणान ग्रह है । जगद्गद्य कुल में उत्पन्न हुआ धरल व विशाल कीर्तिवाला अनेक महनीय गुणों से भूषित मनुष्य भी ता रत्य स पीडित होकर इस शरीर का पोषण करने के लिए अत्यन्त नीचक्रम का आचरण करता है । धनवानों की अपमान तापन सवा करता है । अपन मान-अपमान को भूलकर नहीं करन याग्य कृत्यों को करत है । स शरीर की रक्षा के लिए उच्छिष्ट भोजन को स्वीकर अपन धम कम स विमुख होता है । आचार्यों ने कहा है—

“नान्तगतोऽथनवहिनं च तस्य मध्ये, सारोस्ति येन मनमा परिगम्यमान ।  
तस्मिन्नमारजनकश्चित-कामसारं कोऽन्य करिष्यति मन प्रतिबद्धमार ॥”

अर्थ—“स नखर शरीर के भीतर बाहर और मध्य में ऐसा कोई सारभूत पदार्थ नहीं है जिसे अन्तरात्मा लीकर करसके । इसलिए सार तत्त्व के ज्ञाता विवेकी जन तुच्छ अविवेकी जनो के द्वारा कामपुर्ति के निमित्त अज्ञीकार किये गये इस तुच्छ शरीर पर प्रेम नहीं करते हैं ।

“वायु प्रकोप जनितै कफपित्तजैश्च रागै सन्ना दुरितजै प्रविभज्यमान ।  
दहोऽयमेवमनिदु खनिामत्तभूतो नाश प्रयाति बहधति कुरुष्व धर्मम् ॥”

अर्थ—असाता वैतनीय कम का उदय होने पर किसी समय वायु के प्रकोप स कोई वातजन्य रोग उत्पन्न होता है तो कभी कफ की वृद्धि स और कभी पित्त के प्रकोप स किसी रोग का आविर्भाव होता है । उनस यह शरीर पीड़ित होता रहता है । यह शरीर दु खों का कारण है । इसलिए हे क्षपक नू स नखर और दु ख जनक शरीर स धम का आचरण र ।

‘मघातञ्ज प्रशिथिलाग्धिरुप्रगात् स्नायुप्रबद्धमशुभ प्रगत शिरामि ।  
लिपि च मामरुधिरोत्ककन्मन रोगाहित स्पृशति दहविशीखणेहम् ॥’

अर्थ—हे क्षपक ! जिस घर में निवास कर रहा है वह शरीर-गृह रज व बीज के संयोग स बना है । इसी रूपी खभों से इसकी रचना हुई है । चारों तरफ स द्रोण और बड़ा नखों स जकड़ा हुआ है । मास और रुचिर के कीचक स लीपा पोता गया है । और सको रोगा न अपना आश्रय बना रखा है । एम अशुभ अर्पावत्र व दु ख शरीर को अज्ञानी माही आत्मा के सिवा अन्य कौन पशर करना चाहगा ? हे क्षपक तुमस आवका पुरुषों को इस शरीर पर क्या अनुराग करना उचित है ? इत्यादि अनेक वैराग्य जनक उपदेश द्वारा माताथ आचाय क्षपक का शरीर स बराबर उत्पन्न कर सुधात् वेत्ना जय कष्ट का निवारण करते हैं और आम-भावना में प्रवृत्त करते हैं ।

आगम क ज्ञाता आचाय क पान मूल म निवास करन वाले क्षपक के चित्त में उक्त उपदेश द्वारा संक्लेश परिणामों की निवृत्ति होती है और रत्नत्रय क आराधन म किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है । इसलिए उक्त आचार गुण विशिष्ट अर्थात् आगमक आचार्य का शरण प्रप्त करना ही क्षपक क क्षिप कल्याणकारी है ।

## आचार्य का व्यवहारज्ञत्व गुण

प्रश्न—व्यवहारज्ञता नामक आचार्य के तीसरे गुण का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो पाच प्रकार के व्यवहार ( प्रायश्चित्त ) का स्वरूप विस्तार पूर्वक भले प्रकार जानते हैं जिन्होंने प्रायश्चित्त वेत्ते हुए आचार्यों को देखा है और स्वयं अन्य मातृओं को प्रायश्चित्त निया है ऐसे प्रायश्चित्त शास्त्र के वेत्ता अनुभवों आचार्य को व्यवहारवत्त्व गुण वाला कहते हैं।

### व्यवहार के भेद

प्रश्न—पाच प्रकार के व्यवहार ( प्रायश्चित्त ) कौन से हैं ?

उत्तर—व्यवहार ( प्रायश्चित्त ) के आगम श्रत आज्ञा जीन और धारणा ये पांच भन्त हैं। यथा —

यवहाराम्ते मता जीदश्रुताज्ञागम धारणा ।

एतया सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विम्नारवणना ॥ ४६१ ॥

अथ—१ आगम २ श्रत ३ आज्ञा ४ जीन और ५ धारणा ये पांच प्रकार का व्यवहार ( प्रायश्चित्त ) माना गया है। इसका विस्तार मैं न बणन सूत्रों में किया गया है। सालिए वहा स जान लेना चाहिए।

भावाय—ग्यारह अगों में प्रतिपादन किये गये प्रायश्चित्त को आगम व्यवहार कहते हैं। चौदह पूर्व प्रन्नों में कायत प्रायश्चित्त को श्रत व्यवहार कहते हैं। अथत्र विचरन वाले आचार्य द्वारा अपन महान् गीय की आलोचना करके अपन ज्येष्ठ शिष्य के हाथ अन्य आचार्य के पास भजे हुए प्रायश्चित्त को आज्ञा प्रायश्चित्त कहते हैं। एकाकी ( एकल विहारी ) साधु चलकर आचार्य के निकट जाने की शक्ति न होन स वही ही अपन स्थान पर र ता हुआ पूर्व धारणा के अनुसार अपन दोषों का प्रायश्चित्त लेता है उस धारणा व्यवहार कहते हैं। बहतर प्रकार के पुरुषों के स्वरूप को जानकर उनकी अपनेना स अधुनक आचार्यों न जो शास्त्रा म प्रायश्चित्त का वणन किया है उम जोन व्यवहार कहते हैं। नकर विशेष विवचन शास्त्रातर म किया है। उस विवचन करन व सुनन का अधिकार सब साधारण को नहीं वताया है। इसललिए यहा उनका विशेष वणन नहीं किया जाता है।

प्रश्न—प्रायश्चित्त का विवेचन सब साधारण के सम्मुख नहीं करना चाहिए। सम क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अनुभवी आगम वेत्ता आचार्य द्रव्य क्षेत्र प्रकृति और लोप के स्वरूप को तथा अथ सब परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त दिया करते हैं। यान् वह प्रायश्चित्त सब साधारण को प्रकट कर लिया जावे तो सयमा दोषों का आचरण करने से भयभीत न हांग। अमुक प्रायश्चित्त लेकर दाप स निवृत्त होजावेंगे ऐसा विचार करके वे उच्छ्वल होकर दोषों का आचरण करलेंगे। इसलिय प्रायश्चित्त विधान का श्रवण करना सब साधारण के लिए निषिद्ध है। यथा —

“मन्वेण वि जिखवयण मोदव सदिदेण पुरिसेण ।

छेन्सुद्धमं हु अत्थो ण होदि सन्वेण सा दव्वो ॥ १ ॥”

अथ—सब श्रद्धालु पुरुष जिन २। चन का श्रवण कर सकते हैं किन्तु प्रायश्चित्त शास्त्र का अथ सब लोगों को सुनने का है।

प्रश्न—यव रवान ( प्रायश्चित्त शास्त्र वेत्ता ) आचार्य प प्रकाशत दोष का प्रायश्चित्त इन २ बातों पर लक्ष्य रखकर देते हैं। इन अपराध होने पर सबको एकसा प्रायश्चित्त देने हैं अथवा उम्म कुल्ल अन्तर भी रहता है ?

उत्तर—द्रव्य क्षेत्र काल भाव तथा सयमी के उन्माह शारीरिक शक्ति, दीक्षा काल आगमज्ञान वैराग्यादि का विचार करके न देते हैं। यथा —

दव खंच काल भाव करणपरिणाममुच्छाह ।

सघदण परिणाय आगमपुरिस च विण्णाय ॥ ४५० ॥

मोत्त ण रामदोसे ववहार षड्वेह सो तस्स ।

ववहारकरण कुसलो जिखवयणविसारदो घीरा ॥ ४५१ ॥ ( भग आ )

अथ—जिनागम में निपुण प्रायश्चित्त देने म कुशल धैर्यवान् आचार्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव, प्रायश्चित्त आचरण करने का परिणाम ( नतीजा ) प्रायश्चित्त लेने वाले का उत्साह उसका शरीर बल दीक्षा की अवधि आगम का परिज्ञान इतनी बातों को लक्ष्य में रखकर रागद्वेष का परित्याग कर प्रायश्चित्त देता है।

भाबाध—आचार्य प्रथम सयमा के द्वारा विद्ये गये अपराध के निदान ( कारण ) का अन्वेषण करते हैं। यह अपराध यदि

ऋष्य की प्रतिसे ना से उत्पन्न हुआ है तो वह पृथिवीकाय अपराय तेजकाय प्रायुकाय प्रत्येक वनस्पतिकाय अततकाय तथा वसकाय रूप सचिक्त ऋष्य की प्रतिसवना स हुआ है अथवा तृण फलक ( काष्ठ के पट्टे ) वटाई आदि उचित ऋष्य की प्रतिसेवना स हुआ है या जीव युक्त वायु फलक तृणान्त्रि की प्रतिसवना स उन्नत हुआ है उसका विचार करते हैं।

यद्यपि क्षेत्र कानिमित्त स यह अपराध हुआ हो तो उसपर निम्न प्रकार विचार करते हैं। मुनि वर्षाकाल में आधाकोश कोश या दो कोश पयत गमन कर सकते हैं। यदि वे उससे अधिक क्षेत्र गमन कर तो क्षेत्र प्रतिसेवना होती है। उक्त प्रतिसवना करने वाला प्रयत्न क शीघ्र हीता है। जहा पर गमन करना निषिद्ध है अथवा क्षेत्र में गमन करने से राज्यविरुद्ध क्षेत्र (स्थान) में गमन करने से उन्नत गमन गमन करने स जहा पर माग टूट गया है उधर ।। में गमन करने स अतः पुर में प्रवेश करने स जहाँ जाने का अनुमति नहीं है या मन है वहा जान स क्षेत्र गतिभवना हाती है।

अथ शर्षा ना जो काल नियत है उसका उल्लंघन करके गमायक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक का आचरण करने स वर्षायोग काल में उल्लंघन करने स तथा भी प्रकार उचित काल में नीने वाला क्रियाया का कालातिक्रम करने से काल प्रतिसवना होती है।

द्वार प्रमाण (अम प्रज्ञानता) उन्मात्त गन्सा तय व पाण परिणामा म प्रकृति करने स भाव प्रतिसवना होती है अर्थान् भाव क निमित्त स अपराध उन्नत होता है।

इस प्रकार ऋष्य नेत्रात्रि के द्वारा जय अपराध भला भाति जानकर प्रायश्चित्त करहस्य के ज्ञाता आचार्य प्रायश्चित्त दिया करते हैं।

प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य को आहार ऋष्य का ज्ञान भी आवश्यक है। कोई आहार द्रव्य रस प्रचुर होता है कोई धान्य प्रचुर या शक बहुल होता है। तथा किसी मलरि तथा शान का मुत्पत्ता होती है। कोई पण्य पेय (पीन योग्य पतला) होता है। इत्यदि आहार क पदार्थों के स्वस्व और प्रकृति का ज्ञान प्रायश्चित्त दाता को हाना आश्चर्य है।

प्रायश्चित्त लेने वाले और देने वाले को क्षेत्र (देश) का भी ज्ञान रखना चाहिए। यह देश अनूप (जल बहुल प्रदेश) है या जागल (अल्प जलबाल) है अथवा साधारण है।

प्रायश्चित्त देने समय आचार्य को वर्षाकाल शीतकाल और शीतकाल का ध्यान रखकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा प्रायश्चित्त प्रहण करने वाले क क्षमा भादव, आजव, सतोषादि भाषों का तथा प्रायश्चित्त दान क परिणाम का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित्त आचार बरन में त-पर हुआ यह साधु क्या सङ्ग में सहवाम करन के उद्देश से अथवा यश के लोभ से अथवा कर्मा की निजरा करने के लिए प्रवृत्ति करता है इसका ध्यान भी आचार्य को रखना आवश्यक है।

आचार्य को प्रायश्चित्त का नियुक्त करने समय प्रायश्चित्त लेने वाले के उ-साह और शारीरिक बल की ओर भी दृष्टि रखना परमावश्यक है। जिम प्रायश्चित्त में अपराध शुद्धि के साथ उत्साह की वृद्धि होती रहे तथा उसका शरीर उस प्रायश्चित्त का सहन करले वैसा ही योग्य प्रायश्चित्त अवदान आचार्य दिया करते हैं।

जो चिरकाल का दीक्षित है तथा जो नवीन दीक्षित है उनके ममान अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त में अन्तर होता है। चिरकाल के दीक्षित की सहिष्णुता और नवीन दीक्षित की सहन शीलता एकसा नहीं होती है अत आचार्य उनके प्रायश्चित्त में भी अन्तर रखते हैं।

आगम के ज्ञाना व आगमयान ज्ञान क प्रायश्चित्त में भी विभेयना होनी है। कोई भय से प्रायश्चित्त का प्रहण करता है और कोई आन्तर मुक्ति में अपना कर्त्तव्य समझकर प्रायश्चित्त का प्रहण करता है। इत्या सब व नों को लक्ष्य में रखकर सम्भारता व दूर-शिता में विचार कर आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं और मुनिग को शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—प्रायश्चित्त शास्त्रों क ज्ञान स शून्य जो आचार्य अपन सङ्ग स्थित साधुवग को त ग आवक आर्यिका आदि को शुद्ध करने के हेतु प्रायश्चित्त देने हैं उसमें क्या ज्ञान हो । है ?

उत्तर—जिसको प्रायश्चित्त शास्त्रों का ज्ञान नहीं है त ग जसन आचार्यों के प्रायश्चित्त देने के क्रम को नहीं जाना है वह आचार्य पत्र के योग्य नहीं है। क्योंकि आचार्य के गुणों में यद्वहरवच नाम का तीमरा गुण माना गया है। वह गुण उसमें अवश्य होना चाहिए उसके बिना कोई आचार्य नहीं जन सकता है। जो साधु आचार्य योग्य गुण क न होने पर भी आचार्य बन बैठता है वह अनन्त ससाग का भोगा होता है यथा —

ववहारमयास्ततो ववहरथिज्ज च ववहरतो सु ।

उत्सीयदि भवपके अयस कम्म च आदि यदि ॥ ४५२ ॥ ( भग आ )

व्यवहारापरिच्छेदी व्यवहाग ददाति य ।

अवाप्येषोऽयशो घोर ससारमवगाहते ॥ ४६४ ॥ ( स भग आ )

अथ—जिसको प्रायश्चित्त का निरूपण करने वाले प्रयोगों का उनके अर्थ का तथा प्रायश्चित्त कर्म का ज्ञान नहीं है और जो आलोचनात्मक नव प्रकार के प्रायश्चित्त का आचरण अपनी मन कल्पना से करवाता है वह तुल्यभावाय (मन कल्पित मुख से प्रायश्चित्त देने वाला) दूसरे को शुद्ध नहीं करता है। स्वयं ससार रूपी गहन पक में फंमता है। संसार से भयभीत यतीश्वरों को व्यथ क्लेश देता है। कारण कि किस अपराध का कौनसा प्रायश्चित्त होता है ऐसा ज्ञान उसको नहीं होता है और साधु वग को अनुचित दण्ड देकर बुधा सताता है। आगमविपरीत उन्माग का अपदेश व समाग का विनाश करने का कारण वह आचाय्य दर्शन मोहनीय कर्म का बाध करके अनन्त ससार की वृद्धि करता है। उसका लोक में घोर अयशा होता है। इसलिए ससार स हरन वाले को प्रायश्चित्त शास्त्रों का ज्ञान न होने पर अपने को शूठे आचाय्य पद से कलकित न करना चाहिए। हम आचाय्य हैं हमने जिस प्रायश्चित्त का आचरण करने का आदेश दि । है उसे तुमको पालन करना होगा ऐसा खेच्छा स कभी न बोलना चाहिए।

हे ऋषक ! जो मूल्य व नवीन शिष्य मल्लगी को बनाकर अन्न मनुष्यों से आदर पाकर अहंकार को प्राप्त होगया है। उसके निकट आत्म शुद्धि की आशा स मत जाओ। उसका वाक् जाळ व ऊपर के निखावे में आकर अपनी आ मा का विनाश न करो। जो वैद्य रोग का स्वरूप नहीं समझता है वह अन्न वैद्य रोग की चिकित्सा करने में समथ नहीं हो सकता है। वैसे ही जो आचाय्य प्रायश्चित्त शास्त्रों के ज्ञान से शून्य है वह रानत्रय को निमल करने की अभिलाषा रखते हुए भी उसको निमल करने में कृतकाय नहीं होता है। इसलिए हे ऋषक ! तुम्हें प्रायश्चित्त शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता आचाय्य के पादमूल में ही निवास करना उचित है। उनके सम्पर्क में रहने से ही तुम्हारे दरान की विशुद्धि ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि और चारित्र्य की उत्पत्ति हो सकती है। धर्मध्यान व शुक्लध्यान की सिद्धि और आत्मा की विशुद्धि भी उनकी शरण लेने से ही हो सकती है।

### आचार्य का प्रकारत्व गुण

जब ऋषक साधु बसंतिका में प्रवेश करता है, उस समय आचार्य उस उचित स्थान देता है। जब बाहर जाना चाहता है तब उसके अनुकूल परिस्थिति की योजना करता है। शय्या संस्तर और उपकरण की आवश्यकता की पूर्ति करता है, तथा बसंतिका शय्या उपकरणों के शोचन करने में तथा कम्पावस्था में अथवा उठने बैठने की सामर्थ्य न रहने पर साधु को हस्तावर्जन देकर या अन्य साधुओं को बैधावृत्त के लिए नियत करके अशक्त साधु को उठाने बैठाने शय्या पर सुलाने, पाद चम्पन, शरीर के मलमूत्रादि की शुद्धि करने में अनुग्रह करता है। तथा आहार पानादि की अनुकूलता सम्पादन करके समस्त सङ्ग का उपकार करता है। ऐसे उचित और आवश्यक साधनों द्वारा ऋषक का उपकार करने वाले आचाय्य को प्रकारक (प्रकृर्दी) कहते हैं।

प्रकारत्व गुण के धारक आचाय अवसर आने पर छोटे से छोटे और बड़े से बड़े विद्वान् या अल्पज्ञ समस्त साधुओं की सब प्रकार की सेवा करने में स्वयं तत्पर रहने हैं। सबा सुश्रवा करने में अत्यधिक परिश्रम होने पर स्निग्ध चित नहीं होते हैं। सदा प्रसन्नचित होकर सबा में संलग्न रहते हैं। वह आचाय उक्त गुण से अलंकृत होते हैं। सल्लिप क्षपक को प्रकारक गुरु की इत्रद्वारा में ही निवास करना चाहिए।

### आचार्य का आयोपयदर्शित्व गुण

जो क्षपक (समापचमरण का इच्छुक साधु) आम-विशुद्धि करने में प्रयत्नशील हो रहा है आहार का त्याग करके काय को कृश कर रहा है। मद्भावना और सुभ्यान का आश्रय लेकर कषय को भी मन्त्र करने में तत्पर है जो मोक्ष प्राप्ति के निकट पहुँच रहा है। अथवा मनुष्य पथाय के अतः क सन्निकट प्राप्त हो गया है उस क्षपक को भी क्षुधा गति की अमल्य वेदना के उपस्थित होने पर रागद्वेष उत्पन्न हान की संभावना होती है। क्योंकि जब वह क्षुधा तृषा का अरुण वेदना में पीड़ित हो जाता है उस समय मोहनीय कम के उन्मत्त में उसकी परिणति मलीन हो जाती है। तत्समाधमरण का तत्र पारम्भ करते समय उसने प्रतिज्ञा की थी कि मुनि जी का प्रहण करने के काल से लेकर अत्र तत्पर नत्रय में जो अतिवाग उपांग्रहण है उन सबको गुरु महाराज के निरन्तर प्रकृत करूँगा। किन्तु पश्चात् उसके लज्जा तथा मान का उन्मत्त होने पर वह तपो की स्था आलोचना करने में हिचकावने लगता है। वह अभिमान वशा सोचता है कि यदि मेरे अपराध आचाय को बलि हो जाय तो वे मेरी अवहेलना करंगे। या अथ मुनि जो मेरी वन्दना करते हैं आन्तर से काग करते हैं मेरे दोष प्रकट हो जायेंगे पर ये मेरा वन्दना व आन्तर से काग न करेंगे। मुझे घृणा से त्रास से देखने लगेंगे इत्यादि कल्पना करक अन्त को निर्भीक शर उच्च सिद्ध करने के अभिप्राय से गुरुदेव के समीप अपने दोषों की आलोचना करने के लिए पीछे हटता है। उन यह भय लगा रहता है कि यदि मैं अपने सब अपराधों के दण्ड का ता कृपाचिन् आचाय मुझे मन्त्र त बहिष्कृत कर द्या। त्यागि अनेक आशंकाएँ उस क्षपक के अन्त करण में घर बनाय रहती हैं। इसलिए यह उन्नत विचार वला पवित्रा मा शरीर का उत्सर्ग करने काल पर उद्यत हुआ भी क्षपक अपने दोष गुरु से निवेदन नहीं करता है। उसको आयोपयदर्शन गुण के धारक आचाय दोषों की आलोचना करने से होने वाले लाभ को और आलोचना न करने में उन्नत हानि ज्ञानियों की भलीभाँति दिव्यता है। क्षपक को मधुर और हितकर शब्दों में समझाते हैं।

हे महामन! यदि तुम अपने अपराधों को प्रकाशित न कराओ तो तुम्हारा यह दुःख भयानक रूप में उत्पन्न हो जायगा। जैसे किसी के गुण अज्ञ में निपात (जड़र ला) फोड़ा हो जावे और वह चिकित्सक से लज्जादि के वश न कहे तो वह विनाश का कारण होता है। उसी प्रकार जो क्षपक अपने रत्नत्रय को मलीन करने वाले अनिचारों (अपराधों) का रत्नत्रय के विशेषक आचार्य के समीप नहीं कहता है तो वह रत्नत्रय रूप अपने दुःख भयानक का हत्या करता है। और जो निवृत्त भाव से अपने दोषों का खोज कर देता है, वह

रत्नत्रय जीवन को विशुद्ध और अमर बनाता है। इसलिए हे पवित्र-हृदय महापुरुष ! तुमको अपने कल्याण के निमित्त रत्नत्रय रूप चिन्तामणि रत्न को उज्ज्वल बनाने के लिए लज्जा मान व भय का परित्याग कर तीव्र काल से लेकर आज तक क सब अपराधों का यथाथ प्रकाशन करो।

हे साधो ! तुमने अपार-आर अनन्त संसार का उच्छेद करने के लिए सयम का आराधन किया है। अनन्त काल से यह जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण कर रहा है। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों में विरले ही भाग्यशाली जीव हैं जिनको यह दुर्लभ सयमरत्न मिलता है। देवयोग से तुमको यह सयमरत्न प्राप्त हो गया है। वीन ऐसा मूल मनुष्य होगा जो शल्य सहित मरण कर इसे प्राप्त हुए सयमरत्न का नष्ट करेगा। क्योंकि जिस आत्मा में शल्य का निवास होता है उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। जैसे जहां आचकार का सांख्य है वहां प्रकाश नहीं रहता है। वैसे ही जिसको आत्मा में शल्य रहता है उसमें रत्नत्रय नहीं रहता है। इसलिए रत्नत्रय के शत्रु मायाशल्य का सदा परित्याग कर देना ही तुम्हारे लिए अहतावह है।

हे क्षपक ! कटा बाण आदि व्य शल्य जस शरीर क पाय आदि म प्रवेश करके प्रथम छिद्र करता है मांस और नाड़ी में घुस कर पीड़ा देता है पश्चात् शरीर के अग्रयव को सदा कर उस निकम्मा बना देता है। उसी प्रकार मायादि भावशल्य भी आत्मा को दुःखित करता है। तथा प्रव शीलादि गुणों का विनाश करता है। लज्जा भय और अभिमान उपपन्न होने पर माया शल्य उपपन्न होता है। और मायाशल्य के व न होने पर साधु अभ्यास द्विपान का प्रयत्न करता है।

हे महत्भन ! यदि तुमने मायाशल्य धारण कर दुर्लभ बोधि रत्न को गुमा दिया तो याद रखो जन्ममरण रूपी भवर स अति गम्भीर महा भयानक चौरासी लाख यानि से आकुल इस अनन्त संसार में भ्रमण करते हुए कुयोनियों में पक्षते हुए तुमको अनगिनत काल तक हृदय विदारक दुःख व सताप भोगन पड़ेगे।

इस प्रकार आचार्य क्षपक को अपराध प्रकट करने से उपपन्न होने वाले गुण को और द्विपाने से अनन्त संसार ( अर्धपुद्गल परावतन काल तक ) भ्रमण रूप महान् दुःख को अनेक युक्तियों से समझते हैं जिससे क्षपक मायाशल्य का त्याग कर अपने दोषों की आलोचना द्वारा रत्नत्रय की विशुद्ध करता हुआ भय भ्रमण के दुःख से मुक्त होता है। इसलिए जिसमें आबोपायदशकता नामक गुण पाया जावे उस आचार्य के पादमूल का आश्रय लेकर रत्नत्रय की आराधना को परिपूर्ण करना चाहिए।

### आचार्य में अवपीडकत्व गुण

प्रश्न—यदि कोई क्षपक आलोचना के गुण व दोष का भली भाँति निरूपण करने एवं अनेक शिक्षा देने पर भी आचार्य के समीप मान लज्जा भय तथा क्लेश सहन करने की सामर्थ्य का अभाव इत्यादि कारणों से अपने दोषों को व्यक्त करने में प्रवृत्त न हो तो नियोजक आचार्य क्या करें ?

उत्तर—आचार्य में अवपीडकत्व नाम का गुण होता है। उसके बल से आचार्य साधु के हृदय में छिपे हुए गुण अपराधों को प्रकट करवा लेते हैं। जैसे सिंह के सामने शृगाळ ( सियार ) उन्मत्त मांस को वमन कर देता है उसी प्रकार आचार्य की तेजस्विता और प्रभाव से प्रभावित हुआ साधु अपने सब अपराधों को थक कर देता है।

प्रश्न—आचार्य क्षपक के अपराध यत्न करवाने के लिए प्रथम ही इस प्रभाव जनक अवपीडकत्व गुण का उपयोग क्यों नहीं करते ?

उत्तर—राजा की नीति के समान आचार्य की नीति होती है। राजा अपनी प्रजा के सुख व शान्ति के लिए जैसे अनेक प्रकार की नीति का अंश लक्षण करता है वैसे ही सङ्ग के कल्याण के लिए आचार्य को भा विविध साधना का प्रयोग करना पड़ता है। आवश्यकता अनुसार ही उनक अवपीडकत्व गुण का प्रयोग होता है।

प्रश्न—आचार्य प्रथमतः क्षपक को अपराध प्रकट करने के लिए किस प्रकार सान्त्वना देकर उसाहित करते हैं ?

उत्तर—जब आचार्य क्षपक को अपराध के अति यत्न करने से लाभ और अति यत्न करने से हानि दिखाकर अपने को सफल मनोरथ नहीं पाते हैं अर्थात् हानि लाभ आन्वान पर भी क्षपक जब लज्जा भय मानादि का दबा कर अपने अपराधों की आलोचना नहीं करता है तब नियोजक आचार्य क्षपक के प्रति स्नेहपूर्ण आ मीयता प्रकट करने वाले कण मधुर हृदयस्पर्शी मनोज्ञ भाषण करते हैं।

क्षपक के अन्त करण को सुखी बनाने वाला उद्देश आचार्य जिस प्रकार देते हैं उसका अभिप्रेक्षण निम्न प्रकार किया जाता है।

हे आयुष्मन् ! तुमने समाग को अङ्गीकार किया है। और तुम अन्त करण से रत्नत्रय को निमल करने के लिए सदा वृत्तचित्त रहते हो। इसलिए मैं महामन् । तुम लज्जा भय और गौरव को तिलाजलि देकर अपने दोषों का त्यों का त्यों प्रकारान करो। गुरुजन तो माता पिता के तुल्य होते हैं। उनक सामने अपराध प्रकट करने में लज्जा कौनसी ? गुरुजन मत्ता शिष्य की उन्नति और गौरव की कामना करते हैं। वे शिष्य के अपराध को अपना समझते हैं। वे किस तरह तुम्हारे दोषों को दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। जैसे पुत्र अपने

भयङ्कर अपराध को माता पिता के समक्ष करने में नहीं हिचकता वह समझता है कि माता पिता मेरे हितचिन्तक हैं तथा मेरे कल्याण करने में प्रयत्नरत्न रहते हैं। इसलिए वह लज्जा को ताक में रखकर गुप्त अपराध निवेदन कर देता है। वैसे ही उत्तम शिष्य अपने गुरु को ससारा में सबसे अधिक हितकता समझता है। क्योंकि वे सत्ता अपने आत्म कल्याण के काय की उपेक्षा कर शिष्यों के कल्याण की साधना में अहर्निश लगे रहते हैं। माता पिता तो स्वार्थवश पुत्र के रक्षण शिष्टाणां काय में प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु गुरुदेव शिष्य के परलोक सम्बन्धी सुख की प्राप्ति के लिए निस्वार्थ हितचिन्तन में उद्यत रहते हैं। उनके समक्ष लज्जा करना उचित नहीं है।

लज्जा भी सब जगह रखाचनीय नहीं मानी गई है यथा —

“नधान्यप्रयोगेषु विद्यासप्रहसेषु च ।  
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज मुखी भवेत् ॥”

अर्थ—घन और धा य का उचित प्रयोग करने में विद्या का प्रद्वेष (अध्ययन) करने में तथा आहार और व्यवहार में जो लज्जा नहीं करता है वह सुख्य होता है।

हे लपक। तुम्हें कटाक्ष यह भय हो कि मेर द्वारा आलोचना किया गया श्लेष (आचार्य) प्रकाशित कर दूँगे तो ऐसा भय मुझमें तुम्हें न करना चाहिए। क्योंकि उमाचर्य ममर में घम के प्रवर्तक हाते हैं। वे सत्ता मुनियों की और मुनि घम की निन्दा व अपमान को दूर करने में काटवद्ध रहते हैं। वे समाधि का सिद्धि के लिए उपस्थित हुए आप सरोखे महात्माओं द्वारा निवेदन किये गये दोषों को किस प्रकार प्रकट करोगे ? महर्षी व पुत्र का दोष प्रकाशित करना मन्व्यगणन का दुषण माना गया है और परनिन्दा करने से नीच गोत्र का बाध होता है। नरा परनिन्दा करने वाला जगत् में निन्दनीय होता है और वह दूसरे के चित्त में असह्य सताप उत्पन्न करने के कारण दारुण दुःख का जनक असातावेदनीय कम का बाध करता है। सच के साधु तथा अन्य साधु जन ऐम आचार्य की अवहेलना करते हैं। क्या मैं अपने घम रूपी उज्वलरत्न को इस प्रकार पापपट्ट से मलिन करूँगा ? क्या पूर्णिमा के चांद्र के समान धवलयश पर अपयश रूपी कज्जल की कालिमा पोतूँगा ? कान सुमुद्धि इस महान् अनन्ध के मूल परदोष प्रकाशन को करक अपन उन्नत मस्तक पर कालिमा का टीका लगावेगा। इसलिए हे सुमुद्धि। देवयोग स अज्ञा प्रमाद या अज्ञान से जो सम्यक्त्वानि म अतिवार हो गये हैं वे क्षिप्ताने योग्य नहीं है। निमल हुआ रत्नत्रय महा माहमा को प्राप्त होता है। और वह शाश्वत लोकोत्तर ( मोक्ष ) पत्त दता है। इसलिए अन्त सब दोषों को निभय होकर मुझपर प्रकट करो। पूण विश्वास रखो वे दाष किसी के सामन कभी प्रकट न किय जावेंगे।

इस प्रकार आचाय के आवरतनीय सुमधुग भाषण की भी अवहेलना करके जब स्वयं अपने कुन अपराधों को सम्यक् प्रकार प्रकट नहीं करता है तब आचाय स्वयं को कल्याण कामना से प्रेरित हुए अवपीठक गुण द्वारा उसके अतन्म्य में छिपे हुए दोषों को अपनी तेजस्विता के बल में बाहर निकाल लेते हैं। जैसे सिं शृगल के चरमस्थित माम को बाहर दमन करवा लेता है। व स्वयं को इस प्रकार बहते हैं।

हे माघो! अपराध शरीर के प्रल के समान या मड हुए फोड़े के समान हैं। उनको बाहर निकाल फेंकने से ही हित साधन होता है। भीतर छिपा रहना म दुर्गाधि फलती है और समस्त अनरु हानियां हाती हैं। तुम उन में छिपा रहे हो। सल्लिए हमारे यहां से हट जाओ। वगैरे क शैक निरुद्ध प्रही गानी जात है जिम अपना म मीमन की च्छा म है। तथा निमल जलाशय के समीप वगैरे गमन रत म जमको जलकी आश्रयकता होती। एम ही र नत्रय म लगे हुए मीषा का निरा रण करने क लिए गुरुओं का आश्रय लया जात है। और तुम रत्नत्रय मी। शुद्धि वरन में न परवा हो तो फिर तुमने इम समाधिमरण का आहम्बर क्यों रचा है? सल्लेखना (सम विमरण) का मिद्धि चतुर्वि र आहार का त्याग करने मात्र मीतो है। मितु उनकी मिद्धि क लिए कपायों का त्याग करना भी परमावश्य है। व मी का त्याग क न वाले के सत्र आर नित्त मी है। मग्यों सन न म्यों म रसत्र और स्थिति बध होता है। त म्भु उमम निग्रह मरते हैं। काधानि वपथो म माया मय अति न तनीय है। म्यों म माया म तिय व योनि का बध होता है। उस माया मी न म तुम असमय हो। तुमन तो तिय च यानि म प्रवश करन का सा न जुग रखा है। ममार स निवृत्त होने का तुम्हारा मय म म माथक होगा? समार रूप महापद्ध से उद्धार मी अति दु र है। वरु फेंक देन मात्र स निग्र मने क अभिमान करना माय गता नहीं है। यन्नि नम्र होने ही निग्र मता प्राप्त हो जाती है ऐम मान लिया जावे तो तिय व भा निग्र म माने जायेंगे। परम मट्टारक तीथ कर बने दश प्रार के बह्य और मी प्रकर क अतर्गु पारम्रह को गाठ मी उतार फेंचन पर मुनिपना बताया है। और वही मोक्ष या अमोय उपाय है। मर्दान क्षेत्र वस्तु आनि दश प्रार पारम म त्याग क्रिय विना भाव मुन पना नहीं होता है मत्रापि भाव मुनित्र को मिग्द काल वाद्य पारम्रह के त्याग क साथ कषायवाद का भी त्याग करना आवश्यक है।

हे मुमुक्षो! जो कर्मा का बध होता है। ड जीव मीर पुद्गल मय के सम्बध मात्र स नहीं हाता है किन्तु जीव के कषायानि परिणाम म होता है। वह कषाय भाव (माया कषाय) म मी आ मा म जावलयमान हो रहा है अत कम बच से निवृत्त होने का तुम्हारा प्रयास विहम्बना मात्र है।

हे रत्नत्रय के पालक! आनचाय स दूषत सम्यक्तरा मुक्त क करण नहीं हो सकते हैं। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्य मोक्षमाग यह आगम बचन तुम्हारे कणगाचर नहीं दृष्टा है? ममम निवृत्तिचार दशानादि वी ही मुक्ति का माग (उपाय) बताया है।

अविचार सहित दर्शनानि को सम्यग्दर्शनानि नहीं बताया है। और वह सम्यग्दर्शनानि की निरतिचारता गुरु द्वारा बताये गये प्रायश्चित्त का आचरण करने से ही प्राप्त होती है। गुरु उसी को प्रायश्चित्त देते हैं जो उनके समक्ष अपने अपराधों की आलोचना करता है। तुमको अपराधों की आलोचना नहीं कर रहे हो इसलिए तुम दूरभय या अभय प्रतीत होते हो। अथवा ऐसी महान् मायाशाल्य को इदृश्य में स्थान कैसे देते और मुनियों के बन्ना के पात्र भी कैसे होते ? अर्थात् मायाचार से दूषित होने के कारण मुनि द्वारा अवन्नीय होकर भी तुमने मुनियों से बन्ना करवाई है अतः तुम दूरभय या अभय ज्ञात होते हो।

‘समस्य वदिज्ज मेधावी सज्ज सुममाहिद ।’

अर्थान्—विचारवान् साधु को उचित है कि वह उसी साधु की बन्ना करे जो समचित्तता का धारक हो।

जो साधु जीवन और मरण में प्रशंसा और निन्दा में लाभ और अलाभ में समान बुद्धि रखता है उसे समचित्त कहते हैं। मैं अविचार की आलोचना करूँगा तो मेरी सब मुनि निन्दा करेंगे प्रशंसा न करेंगे—ऐसा तुम मन में विचार कर रहे हो तुम सम-बुद्धि नहीं हो अतः वदना योग्य कम हो सकते हो ? तुम शायद यह समझकर आलोचना नहीं कर रहे हो कि मेरे लोगों को ससार में कोई नहीं जानता है। यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे अपराधों को मैं जानता हूँ और अथ मुनीश्वर भी जानते हैं। इस प्रकार युक्ति सज्जत भोजस्वी भाषण द्वारा उसक अन्त करण मैं अपना वचस्व स्थापित करके उसक अन्त करण क पद्धति अपराधों को प्रशासन करवा लेते हैं जैसे सिंह के समक्ष शृगाल अथन उन्मथित मासानि को बाहर निकाल देता है। ऐसी गुण के धारक आचार्य को अवपीडक गुण विशिष्ट कहते हैं।

अवपीडक आचार्य का लक्षण

उज्जस्सो तेजस्सो वचस्सो पहिदकित्तियायस्सो ।

सीहाणुस्सो य भस्सियो जिणेहि उप्पोलगा खाम ॥ ४८७ ॥

कठीरव इवौर्जस्सो तेजस्वी भानुमानिव ।

चक्रवर्चीव वचस्वी घुरित्पीडकोऽकथि ॥ ४६२ ॥ ( भग आ )

अर्थ—उपीडक गुण के धारक आचार्य सिंह के समान भोजस्वी ( प्रभावशाली बलवान् ) होत हैं। सूर्य के समान तेजस्वी ( प्रतापी ) होते हैं। जिनके आगे सब कापते हैं और जो किसी के प्रभाव ( रोब ) में नहीं आते हैं वही तेजस्वी कहते हैं। अर्थात् सब बतीश्वरों से प्र

र उनका प्रभाव होता है। जो चक्रवर्ती के समान अर्थात् तहत शासन होने हैं स्वकीय सङ्घ के और अन्य सङ्घ के मुनि जिनकी आज्ञा का लक्षण नहीं करते हैं उन्हें चक्रवर्ती कहते हैं। वे प्रभु का उत्तर देने में निपुण होते हैं। उनका ध्यान यथा संसार में विस्तृत होता है। और वे सिद्ध के समान अभ्युद्य (ज्ञोभरहित) होते हैं।

अवपीडक गुण के आधार आचार्य हितचाहने वाली उस माता के समान होते हैं जो रोते हुए बालक के मुँह को बलाकार से खोलकर उस दुग्ध पिनाती है। आचार्य भी माया शून्य संहित करने दोषों की आलोचना न करने वाले साधु की बलाकार से दोषों की आलोचना करने के लिए प्राण्य करते हैं। यद्यपि बहुवी औषधि रोगी को बुरी लगती है तथापि परिणाम में सुखप्रद होती है। वैसे ही दोषों का प्रकाशन क्षणिक को बुरा लगता है किन्तु भाग्य में कल्याण का कर्ता होता है। अर्थात् दोषों की आलोचना करने पर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त का आचरण कर क्षणिक भविष्य में संसार परिभ्रमण के दुःख से मुक्त होता है।

जो गुरु शिष्यों के प्रति मृदु भाषणादि सत्यवहार तो रखते हैं लाकिन उनका दोषों का निराकरण नहीं करते हैं उनकी अपेक्षा वे गुरु दुर्लभ हैं जो शिष्यों की हितसामना में शत्रुप्रहार करके भी उनका दोषों का निवारण करते हैं। कारण कि इस लोक में अपने हितकर माय में तप्य रहने वाले तथा परहित माय में उपेक्षा करने वाले ही मनुष्य बहुत पाये जाते हैं। अपने हित के समान परहित का चिन्तन करने वाले बहुत कम मिले हैं। अर्थात् जो आत्महित करते हुए परहित में निरत रहते हैं वे ही नरपुंगव कटुकटोर अप्रियवचन बोलकर भा शिष्य का कल्याण करते हैं। ऐम जगत्तु ह्यगुरु म लोक मे अतिशय दुर्लभ हैं।

शङ्का—यदि कोई शिष्य अपने पूज्य दोषों की आलोचना न करे तो वह भविष्य में निर्दोष सत्य का पालन करने में कठिबद्ध रह सकता है या नहीं ?

समाधान—जो साधु अपने दोषों से निवृत्त नहीं होता है वह भविष्य में निर्दोष आचरण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे कि मनुष्य के त्रण (घात) सङ्ग गया है उस सब भाग का अपरेशन या इजेक्शन आदि के प्रयोग से जब तक शोधन नहीं किया जाता है तब तक उसको प्रवृत्ति (चेष्टा) सुखमय नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक पूज्य अपराधों (दोषों) का शोधन नहीं किया जाता है, तब तक उसका अन्त करण में दोषों की वासना बनी रहने के कारण गुणों में अप्रतिहत प्रवृत्ति नहीं होती है।

जब तक आत्मा में दोषों का संश्लेष रहता है तब तक रत्नत्रय की शुद्धि नहीं होती है और रत्नत्रय की शुद्धि के बिना ससार चक्र में निवृत्त मोक्ष के निकट पहुँचना असंभव है इसलिए अवपीडक गुण के धारक आचार्य जैसे बने वैसे क्षणिक (समाधि के आधारक) के हृदय से दोषों का वमन करवाकर उसका कल्याण करते हैं।

## आचार्य की विशिष्टता

प्रश्न—साधु को अपने दोष गुरु महाराज के निकट मायाराहत होकर स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है। तथा उसके निवेदन करने पर आचार्य प्रथम मधुर स्नेह युक्त वचन स और पश्चात् कटु कठोर प्रभावशाली वचन से ज्ञापक को अपने दोष प्रकट करने के लिए बाध्य करते हैं। लेकिन आचार्य साधु के गुण लोभों को यदि प्रकरण पाकर या वृ पवश मुनि समाज में प्रकट कर दें तो ज्ञापक की महती हानि होने की सम्भावना रहती है। अतएव आचार्य का उभ समय क्या कतव्य-धर्म होना चाहिए ?

उत्तर—आचार्य वही हो सकता है जिम्का हृदय गभीर होता है। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी का शोषण करता है शोषण किया हुआ पानी उससे कभी बाहर नहीं निकलता है वैसे ही आचार्य के अतः करण में रखा हुआ साधु का दोष जीवन पथन्त कभी बाहर प्रकट नहीं होता है। उसकी हवा भी किसी निकटवर्ती मुनि को नहीं मिलती है। आचार्य के मुख से तो क्या उनके इगिताकार से (चेष्टा स) भी कोई डागतज्ञ पता नहीं चला सकता है। ऐसे गभीर हृदय वाले आचार्य को अपरिखावी गुण का शरक कहा है। जिन्म यह गुण नहीं है वह आचार्य पद के योग्य नहीं होता है। आचार्य पर विश्वास करके साधु अपने भ्रान्तक दोषों को भी स्पष्ट प्रकट कर देता है। यदि वह साधु क लोभों को प्रकट कर दे तो उसे आगम में धम से पतित माना है वही कहा है।

आयरियाण वीसत्थदाय भिक्खु कहेदि सगदोसे।

कोई पुण्ण सिद्धम्भो अण्णोसि कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

अथ—साधु आचार्य पर विश्वास कर अपने दोषों का प्रकाशन करते हैं और यदि वह आचार्य उन दोषों को अन्य साधुओं पर प्रकट कर दे तो वह आचार्य जिनोक्त धम से बहिमुख हुआ समझा जाता है। अर्थात् जिनागम में आचार्य के लिए साधु के आलोचना किये गये दोषों को किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं करने की आज्ञा है। यदि वह इसके विपरीत आचार्य करता है तो वह जिनाज्ञा का उल्लंघन करनवाला धम-भ्रष्ट माना गया है तथा विश्वासघात के महापाप से दूषित कहा गया है।

प्रश्न—कोई आचार्य यदि साधु का अपराध अन्य के समक्ष व्यक्त कर दे तो उसस साधु की क्या हानि होती है ?

उत्तर—जिस साधु के दोष आचार्य ने अन्य साधु आदि पर प्रकट किये हैं वह लज्जा या मान के वश क्रुद्ध होकर आचार्य का ही नहीं कभी २ रत्नत्रय का भी त्यग कर नेता है। और यदि वह साधु यशस्वी और जगमान्य हो तो कभी २ आगमहत्या तक कर बैठता है वह बलकित जीवन स मृत्यु का अन्न समझकर क्रोध से अन्या हुआ महापाप जनक आत्मघात करने में भी प्रवृत्त हो ज ता है।

साधु के आलोचित दोष प्रकट करने वाले आचार्य का वह साधु तथा अन्य सङ्घ के साधु परित्याग कर उसके शासन की उपेक्षा करने लगते हैं। सङ्घ में खलबली मच जाती है। जिस साधु का आलोचित दोष आचार्य ने प्रकट किया है वह मुनि सब साधुओं को आज इसन मरे दोष सबके सम्मुख प्रकट किये हैं कल तुम्हारे भी करेगा ऐसा कहकर आचार्य के प्रति विरुद्ध और भद्रहीन कर देता है। आचार्य के प्रति विपरीत हुए साधु उस आचार्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

इतना ही नहीं मुनि आर्थिका आवक आविका यह चतुर्विध सङ्घ भी उस आचार्य का परित्याग करता है।

परदोष का प्रकाशक आचार्य अपना और साधुओं का तथा सङ्घ का ही अनिष्ट नहीं करता बल्कि पवित्र जैन धर्म का और साधु धर्म का अपवाद करने वाला होता है। लोग कहने लगते हैं कि—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विदम्बनाम् ।

धिक् धिक् निधर्मा साधूनिति वक्ति जनोखिल ॥ ५ ६ ॥

विश्वासघातका एव दुष्टा सन्ति दिगम्बरा ।

ईदृशी कुर्वते निन्दा मिथ्यात्वाकूलिता जना ॥ ५१ ॥ (स भग आ )

अर्थान—जिस सम्प्रदाय में आचार्य शिष्य की विदम्बना करने हैं शिष्य का दूषण प्रकट करते हैं उस सम्प्रदाय के साधुओं को सम्पूर्ण जनता धिक्कार देती है। निगम्बर साधु विश्वास घातक और दुष्ट होते हैं ऐसी निम्न मिथ्यात्र दूषित मनुष्य करने लगते हैं।

अपरिच्छावी गुण के धारक आचार्य दोष प्रकट करने से उत्पन्न होने वाले इस प्रकार के सब दूषणों को भली भाँति जानते हैं। बिना पूछे वे दोष का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं। किसी के पूछने पर भी अपने मुँह से कभी दोष प्रकाशित नहीं करते हैं। इसलिए हे सपक साधुओं! दोष का निगूहन करने वाले रहस्य का भेदन न करने वाले आचार्य का आश्रय करो।

### आचार्य का सुखकारी गुण

परम—आचार्य में एक सुखकारी गुण माना गया है उसका स्वरूप क्या है। सपक के लिए आचार्य किस प्रकार के सुखों का साधन करते हैं ?

उत्तर—सूपक क योग्य भोजन पान की योग्यता को मिलाकर आचाय उसे शान्ति पहुँचाते हैं। उचित परिवारकों को वैयावृत्त्य में नियुक्त करके मृग क संस्तर आमनादि की अनुकूल व्यवस्था करके उस आराम देते हैं। सूपक के चित्त में क्षुधा के कारण क्षोभ उत्पन्न होने पर वा परिवारकों के प्रमाद से अथवा शीतादि की परोपह से या रोग की तीव्र वेदना से अति सक्लेशा उपन्न होनाने पर उसके चित्त में मर्यादा भङ्ग करने की परिणति होने लगती है। ऐसे समय शांतचित्त क्षमाशील धैर्य धारण कर नियॉपकाचाय क्षोभ रहित होकर स्नेह युक्त मधुर चित्त प्रसन्न करने वाली कण-प्रिय कथाओं को कहकर सूपक के चित्त में शान्ति और सुख का सञ्चार करते हैं। और उसको संयम में दृढ करते हैं। यथा —

सुखकारी दधात्येन मज्जन्त दुस्तरे भवे ।

पूतरत्नभृत पोत कषाधार इवार्षवे ॥ ५१६ ॥

शीलमयमरत्नादय यतिनाव भवार्षवे ।

निम्मज्जन्ती महाप्राज्ञो विभर्ति सूरिनाविक ॥ ५२ ॥ ( स भग आ )

अथ—जैसे समुद्र की गहराई उतराई का ज्ञाता कुशल वणधार रत्नों से भरे हुए जहाज को समुद्र के भीतर भँवर बट्टान आदि से बचाकर सायात्रिकों ( जहाजी यापरियों ) को मधुर आर प्रिय व कर्णों से धैर्य बंधाता हुआ अभीष्ट स्थान पर सुख से ले जाता है वैसे ही सच वा नायक आचाय ससार समुद्र में दृढवती हुई शील सयमादि गुण रत्नों से परिपूय यति नाक को अपनी बुद्धि की पटुता से मोक्ष नगर के निकट पहुँचाता है ।

आवाध—रत्नाद बहु मूल्य से भरे हुए जहाज का खेचटिया बढी हो सकता है, जिसन अथाह समुद्र में ऊची उड़लती हुई तरंगों में जहाज को निरन्तराय पार करने का पूण अभ्यास किया हो तथा जिसको प्राप्त होने वाली विघ्न बाधाओं का तथा उनके निवारण करने के उपायों का पूण अनुभव ज्ञान प्राप्त हो। उसी प्रकार नियॉपकाचाय भी वे ही हो सकते हैं जिन्होंने जिनागम के रहस्य का पूण अनुभव किया है। सयम से परिपूय यति पोत ( मुनि रूप जहाज ) क्षुधा पिपासादि तरङ्गों के आघात से जब उड़लने लगता है संसार समुद्र में दृढवने के उन्मुख हो जाता है ऐसे समय में वह आचार्य बुद्धि कीशाल स हृदयप्राही मधुर वचन से उसको बचाकर लक्ष्य स्थान पर ले जाते हैं। उनकी वाणी में अजि होता है। धैर्य और साहस उसमें उत्पन्न करने की शक्ति होती है। दु खित हन्य में आनन्द का सोत बहाती है। नीरस जीवन में सरसता उत्पन्न करती है। उसकी मधुरता कण और अत करण में मधुरिमा की वृष्टि कर देती है। शरीर से परम वैराग्य उत्पन्न कर मुक्ति अज्ञाना के अनुपम और अविनष्टर सहजानन् की मल्लक का अनुभव कराती है। ऐसी वाणी के धारक आमानुभव रस के

आख्यान करने वाले ज्ञानामृत के अवगाहक चारित्र्य न करने में रमण करने वाले महात्मा ही आचार्य पद को सुशोभित कर शरणागत शिष्य जनों को उक्त गुणों का अपने आचरण और मधुर भाषण से आस्वादन कराकर उन्हें दुःखी से सुखी बनाते हैं।

उक्त आचार्यान् खे लंकर मुखरारी पयत्त छाठ गुणों का सद्भाव जिसमें पाया जाता है उस आचार्य का अवेक्षण कर शरण लेने से ही माधव के चदेश्य की पूर्ति होगी और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

### सगुण आचार्य की प्राप्ति कैसे हो

प्रश्न—सुमधु माधु को उक्त गुण रत्ना से अलंकृत आचार्य की शरण प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

उत्तर—परहित-निरत आगमासूत भोक्ता चारित्र्य पीयूष पान से सत्तम आचार्य की प्राप्ति गुरुकुल ( मुनि मठ ) को आम समर्पण करने से अर्थात् आचार्य के शमन को शोषण कर उनके पाद मूल से आरास करने से हाती है।

गुरुकुल ( मुनि मठ ) का आम-समर्पण करने का समाचार-क्रम निम्न प्रकार है—

### छापक गुरुकुल का आत्म समर्पण कैसे कर ?

नव माधु आचार्य के चरणों की शरण में जावे तब प्रथमतः मन वचन आर काय से सामायिकोक्ति छह आवश्यक को पूरा करके योग्य शोध कर म तर्क नराकर बह्यन्ता कर।

सामायिक प्रतिक्रमण उत्तुवशांति सस्तव रत्ना पत्यान्गन आर कायोसग-एन छह आवश्यक क्रियाओं को मन वचन और काय से करना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक आवश्यक मनोयोग वचनयोग आर काययोग के भेद से तान तान प्रकार का हो जाता है। मन द्वारा मन मात्रण योगों का त्याग करने मनोयोग सामायिक में स्फुटण मात्रण योगों का त्याग करता है। ऐसा वचन उच्चारण करना वचन योग से मायिक काय से मन सावध योग। कथा का त्याग करना काय योग सामायिक इस प्रकार सामायिक के तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार प्रतिक्रमण क भी तान भेद हाते है। पूर्वकृत आतचारों का मन से त्याग करना हाय हाय मैंने अमुकर पाप काय किया है। ऐसा चिन्तन कर मनम पक्ष ताप करना मन प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना वचन प्रतिक्रमण और काय द्वारा उन अतिचारों का आचरण न करना काय प्रतिक्रमण है।

मनस चौबीस तीर्थरुगों के गुणों का स्मरण करना वचन से लोगस्मोज्जोगरे इत्यादि पाठ पढ़कर तीर्थरुगों की स्तुति करना, मस्तक पर हाथ जोड़ कर चिन्ते के वक्र को नमस्कार करना ये चतुर्विंशति सस्त्र के तीन भेद हैं।

वन्दना करने योग्य गुरुओं के गुणों का स्मरण करना मनो वन्दना वचन द्वारा उनके गुणों की महिमा बखानना वचन वन्दना और प्रार्थना देना मस्तक झुका कर नमस्कार करना यह काय वन्दना है।

भविष्य में मैं मनमें अतिचार न करूँगा ऐसा चिन्तन करना यह मन प्रत्याख्यान है वचन से भविष्य में अतिचार न करूँगा यह वचन प्रत्यख्यान और मन में भविष्य काल में अतिचार का आचरण करना काय प्रत्याख्यान है।

यह शरीर भोग नहीं है ऐसा मन में विचार कर मन से शरीर प्रेम को दूर करना मन कायोसग मैं शरीर से प्रेम का त्याग करना मैं ऐसा वचन बखानना वचन कायोसग तथा हाथों को नीचे लटकाकर दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर नासाग्रदृष्टि क्रिय हुए शरीर सग या अनसग मगान द्वारा विप्ल बाधा उपस्थित होने पर भी निश्चल खड़े रहना काय द्वारा कायोसग है।

प्रसन्न चित्त गुरु चरणों पर विराजमान होने उस समय शान शान ( विनय पूर्वक ) आकर शरीर और भूमि का प्रतिलेखन कर ( शिरो द्वारा प्रमाण कर ) आचायक न तो अधिक निकट और न बहुत दूर बैठकर हाथ जोड़ कर हे भगवन् मैं कृतिकम वन्दना करना चना हूँ ऐसी आलोचना कर। गुरु चरणों में अनुत्था प्राप्त होने पर धीरे से उठकर मस्तक पर हाथ जोड़ कर न तो अधिक शीघ्र और न बहुत धीरे मध्यम धृति सामयिक पाठ का उच्चारण कर।

सूत्र के अनुसार निश्चल प्रकार रहित खड़ा होने शयोसग कर। पश्चात् चतुर्विंशति सस्त्र ( चौबीस तीर्थरुगों की स्तुति ) पढ़कर प्रार्थना पर अनुसारा धारणा करता हुआ गुरु की म्नात पत् । म कृतिकम वन्दना कते हैं। वन्दना करने के बाद आचायक से हाथ जोड़ कर निवेदन कर।

तु श्लेथ वारमगमदपारया सवणमपणिज्जवया ।

तुज्ज सु पाठमूने सामएण उज्जवेज्जाम ॥ ५१ ॥

पवज्जादा सव कादशालापण सुपरिमद्द ।

दसणणाणचरित्ते णिसण्लो विहागदु इच्छे ॥ ५११ ॥ ( भग आ )

अथ—हे गुरुदेव ! आप द्वादशशत श्रुतज्ञानरूपी सागर के पारगामी हैं । तपस्वी मुनिश्वरों को सुख पूर्वक समाधिमरण कराने में कुशल हैं । मैं आपके पाठपद्धति का शरण प्राप्त कर अपने मुनि धम को उज्वल करना चाहता हूँ । दीक्षा धारण करने से लेकर आज तक जो अपराध हुए हैं उनकी आकम्पित अनुमानितादि दश दोष रहित आलोचना करके दर्शन ज्ञान और चारित्र्य में निरालय प्रवृत्ति करना चाहता हूँ।

इस प्रकार क्षपक जब अपना अभिप्राय आचार्य के निकट प्रकट करता है तब आचार्य कहते हैं—हे मुमुक्षो ! तुमने बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग किया है अतएव अब तुम निर्विघ्न उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय को सिद्ध करो ।

हे महाभाग ! तुम जगत् में धन्य हो जो नारकादि चतुर्गति में भ्रमण कराने वाले दुष्कर्मों का तथा ससार में उत्पन्न होने वाले जन्म जरा मरण आधि-याधि जय असह्य दुःखों का सहार करने वाली रत्नत्रय की साधना रूप समाधिमरण-आराधना के ग्रहण करने का निश्चय किया है । इससे कर्मों का क्षय होता है । और कर्मों के क्षय होने पर उससे उत्पन्न होने वाले दुःखों का निवारण होता है ।

हे महामन ! तुम निराह्व होकर हमारे सध में निवास करो । अपन मन से सम्पूर्ण व्याकुलता को दूर करो । हम तुम्हारे प्रयोजन व विषय में परिचारकों के साथ विमर्श करके निश्चय करेंगे ।

स प्रकार आचार्य आगन्तुक समाधिमरण के अभिलाषी मुनि को कहकर उसे गुरुकुल में निवास करने की अनुमति देते हैं । तपश्चान् आचार्य क्षपक के समाधिमरण की निर्विघ्न साधना के लिए राय क्षेत्र देश गाव नगर तथा उसके अधिपति सध और स्वयं अपनी योग्यता की परीक्षा ( जाच ) करते हैं । क्योंकि उनके अनुकूल होने पर सम्यक्त्वान् की वृद्धि होती है । और प्रतिकूल होने पर प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है । तथा कभी व विपरीत परिणाम भी हो जाता है ।

सबसे प्रथम आचार्य आगन्तुक क्षपक की परीक्षा करते हैं—उसकी आहार में लम्पटता है या नहीं ? इसकी जाच करते हैं । यदि क्षपक आहार का लम्पटी हुआ तो वह अहर्निश आहार का चिन्तन करता रहेगा वह आराधना को सफल कैसे बना सकेगा ? उसकी क्षुधा तृप्ति के सहन करने का सामर्थ्य की भी परीक्षा करते हैं । यदि उसमें सहन शक्ति न हुई तो क्षुधान् से पीडित होकर चिह्नाने लगेगा और धर्म को दूषित करेगा ? क्षपक की आराधना में विघ्न उपस्थित होगा या न नहीं होगा ? आचार्य इसका विचार किये बिना यदि क्षपक को ग्रहण कर लेगा तो विघ्न उपस्थित होने पर बीच में ही उसे त्याग करना पड़ेगा इससे क्षपक का भी प्रयोजन सिद्ध न होगा और आचार्य की भी लोक में निम्ना होगी ।

इसका विचार करने के अनन्तर आचार्य राज्य क्षेत्र देश नगर गाव आदि की परीक्षा करके निश्चय करते हैं कि यह रायादि स प्र

इस क्षपक के काय के साधक नहीं हैं तो अन्यत्र राय क्षेत्र देशादि का आश्रय लेते हैं। वहा पर क्षपक की कायसिद्धि गण्य ( सच ) की शान्ति ( उपद्रवादि का अभाव ) तथा स्वयं अपने सब कार्यों में सुलभता पाते हैं तब क्षपक के समाधिमरण काय का प्रारम्भ करते हैं। जो आचाय इन सब साधन सामग्री का परीक्षण न करके क्षय प्रारम्भ करते हैं वह क्षपक का उपकार करने में तथा अपने हित साधन में विफल होकर क्लेश के भाजन होते हैं।

### क्षपक के लिए सधस्य परिवारक साधुओं की सम्मति

प्रश्न—राज्य देश नगरादि के शुभ अशुभ की परीक्षा करने के बाद आचाये क्या करते हैं ?

उत्तर—आचाय क्षपक की प्रकृति तथा क्षपक के उत्तम प्रयोजन के अनुकूल देशादि की परीक्षा ( जाच ) करने के अनन्तर परिवारक साधुओं से पूछताछ करते हैं। उनकी इस काय में क्या सम्मति है ? और वे इसमें उसाह पूवक सहयोग वे सचेंगे या नहीं ? यह सब जानने के लिए उनसे पूछते हैं—

हे वैयावृत्त्य परायण महात्माओ ! यह आगन्तुक साधु समाधिमरण का आराधन करने के लिए हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैयावृत्त्य करना तीथकर प्रकृति के बच का कारण है इसका आपको भली भांति निश्चय है। इसलिए आप सोच विचार कर उत्तर दें ? क्या इस साधु पर अनुग्रह किया जाय या नहीं ? लोक यवहारी मनुष्य भी प्रायः परहित साधन में कटिबद्ध रहते हैं तो यदि महात्माओं के लिए क्या कहना है ? वे तो समस्त निकट भयंजनों का ससार समुद्र से उद्धार करने में उद्यत रहते हैं। 'आदहिदकाद्वव जइसकह परहिद क काद्वव ऐसा आचार्यों का बचन है। इसलिए हमको इस शरणागत साधु पर अवश्य अनुग्रह करना चाहिए। इस प्रकार परिवारक साधुओं को पूछने पर उनकी स्वीकारता मिलने पर आचाय आगन्तुक साधु को अङ्गीकार करते हैं। परिवारकों से पूछे बिना यदि आचाय आगन्तुक साधु का काय प्रारम्भ कर दें तो आचार्य क्षपक तथा समस्त सध को संक्लेश उत्पन्न होने की संभावना रहती है। मैंने इस क्षपक का काय प्रारम्भ कर दिया है और ये साधु परिचर्या द्वारा सहायता नहीं करते हैं, इस प्रकार आचाय को संक्लेश उत्पन्न हो सकता है। हम लोगों से आचाय ने इस काय में सम्मति नहीं ली है ऐसा विचार कर क्षपक की परिचर्या ( वैयावृत्त्य ) में तपस्या न रखने के कारण क्षपक के मन में मेरी ये साधु उचिच परिचर्या व भक्ति नहीं करते हैं ऐसा संक्लेश आव उत्पन्न होता है। इस काय में बहुत जनों की आवश्यकता होती है अकेला कोई इसे नहीं कर सकता है गुरु महाराज ने इसमें हमारी अनुमति नहीं ली न हमारे बल अबल की परीक्षा की और इस काय को प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार परिवारकों के अन्त करण में संक्लेशभाव उत्पन्न हो सकता है।

इसलिए स्व परहित में निपुण आचार्य क्षपक का काय प्रारम्भ करने के पूर्व परिचारक साधुओं की सम्मति प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् समाधिभरण के काय का प्रारम्भ करते हैं।

**एक आचार्य के पास कितने क्षपक समाधिकरण करते हैं ?**

प्रश्न—एक आचार्य के संरक्षण में कितने क्षपक समाधिभरण काय का प्रारम्भ कर सकते हैं ?

उत्तर—जिनेन्द्र देव के उपदेशानुसार एक निर्यायकआचार्य की शरण में एक क्षपक संस्तर पर आरूढ़ हुआ तपरूपी अग्नि में अपने शरीर का हवन करता है और एक साधु उग्र अनशानादि तप द्वारा अपने शरीर का शोषण करता है।

अर्थात्—संघ की अनुमति मिलने पर भी आचार्य एक साधु को ही समाधिभरण काय के लिए, दो साधुओं पर अनुग्रह कर सकता है। उनमें से एक तो संस्तर पर आरूढ़ हुआ जिनेन्द्र देव के आदेशानुसार तपश्चरणाग्नि में अपने शरीर की आहुति देता है और दूसरा उग्र उग्र अनशानादि तपश्चरण का आचरण कर अपने शरीर को कुश करता है। इन दो साधुओं के अतिरिक्त एक आचार्य के रक्षण में तीसरे साधु को समाधिभरण काय प्रारम्भ करने की जिन शासन में आज्ञा नहीं है। क्योंकि जो या तीन साधु समाधिभरण के लिए संस्तर पर आरूढ़ हो जावें तो उनके अन्त करण को धम में स्थिर रखने के लिए विनय वैयावृत्त्यानि काय यथायोग्य नहीं हो सकने के कारण उनके चित्त में सकलेश होना अवश्ययभावी है। इसलिए एक क्षपक संस्तरारूढ़ हो सकता है और एक उग्र तपस्या कर सकता है।

इस प्रकार आचार्य संघ की सम्मति से उक्त प्रकार क्षपक साधु को स्वीकार कर सच के मध्य उसको उपदेश देते हैं।

**आचार्य का क्षपक के प्रति उपदेश**

प्रश्न—क्षपक को एकान्त में उपदेश न देकर आचार्य समस्त सच के मध्य उपदेश क्यों देते हैं ? इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर—सम्पूर्ण सच के बीच क्षपक को उपदेश देने का कारण यह है कि सच को भी समाधि का स्वरूप विदित हो जावे, तथा आगन्तुक क्षपक का भी सबको परिचय हो जावे और इस उत्तम काय में सबकी साक्षी भी हो जावे।

प्रश्न—आचार्य क्षपक को क्या उपदेश देते हैं उसका अभिप्राय प्रकट करने की कृपा करें।

उत्तर—निर्यायकआचार्य समाधिभरण का काय प्रारम्भ करने वाले साधु को इस प्रकार शिक्षा देते हैं—हे क्षपक ! तुम सुखिया सं प्र

स्वभाव का परित्याग कर चारित्र्य का पालन करो। सुख स्वभाव से चारित्र्य में शिथिलता आती है। मुखिया प्रकृति का मुनि आहार उपकरण और वसतिका की शुद्धि के विषय में उदासीन रहता है। क्योंकि मनोज्ञ आहार का लम्पटी भिन्ना शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है। जिह्वा की लोलुपता उस उच्छिष्टादि दूषित आहार का ग्रहण करने में भी प्रेरित करती है। सुन्दर उपकरण का अभिलाषी उद्गमादि दोषों का निवारण नहीं करता है और कष्टसहिष्णु जिस किसी की सच्ची सजाई वसति में ठहर जाता है। इसलिए मुखिया स्वभाव का परित्याग करो और धैर्य व साहस का आश्रय लेकर सम्पूर्ण परीषद् सना पर विजय प्राप्त कर चारित्र्य का संरक्षण करो।

हे क्षपक! यह अज्ञानी जीव मोह के वश इन्द्रियों के अधीन हुआ स्पर्श रस गन्ध वण और शब्द इन विषयों में प्रेम उत्पन्न करता है। तुमने ज्ञान और वैराग्य प्राप्त किया है इसलिए ज्ञान और वैराग्य के बल से इन पर विजय प्राप्त करो। तथा क्षमा मार्दव आज्ञा और शौच षण्णना के बल से क्रोध मान माया और लोभ का निग्रह करो।

हे इन्द्रिय विजयी साधो! जो जिसके वश में नहीं होता है वह उसका विजेता कहलाता है। जैसे जो स्त्री पुरुष के वश में नहीं रहती है वह पुरुष विजयिनी कही जाती है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जो शब्दादि विषयों के तथा क्रोधादि कषायों के अधीन नहीं होता है वह शास्त्रादि का तथा कषायों का विजेता कहा जाता है। अतएव हे साधो! तुम इन्द्रियों के तथा कषाय के अधीन न होकर इन्द्रिय विजेता और क्षमादि धर्म का आराधक बनोगे।

प्रश्न—गुरु का उपदेश सुनकर क्षपक प्रश्न करता है हे भगवन् इन्द्रिय विजय और कषाय निग्रह करने का अनन्तर मेरा क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—हे क्षपक! त्वयि पर विजय और कषाय का निग्रह करके तुम श्रद्धिगारव, रसगारव और सातगारव को जीतो। उसके पश्चात् राग द्वेष का मदन कर आलोचना शुद्धि करो। राग द्वेष असत्य वचन का जनक हैं इसलिए उनका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा राग भाव से मनुष्य के दोष दृष्टि गोचर नहीं होते हैं। आर द्वेष वशा वह सद्गुणों का ग्रहण नहीं करता है। जिसको अपने अपराधों ( दोषों ) का त्याग और सद्गुणों का ग्रहण करने की अभिलाषा है जो अपने आत्मा से कषाय मल धोना चाहता है, उसे राग द्वेष को तिलाजलि देकर अपना काय से धन करना चाहिए।

प्रश्न—यक्षा क्षपक गुरु महाराज के प्रति कहता है कि हे गुरुदेव! मरुतों में अतिचार उपन्न नहीं हुए अतः मैं अपने अपराधों की आलोचना कैसे करूँ ?

उत्तर—हे क्षपक! प्रायश्चित्त शास्त्रों के वेत्ता हत्तीस गुणक धारक आचार्य को भी आत्म शुद्धि के लिए अथ आचार्यों के निकट सं प्र पू कि ५

अपराधों की आलोचना करने पड़ती है। बिना आलोचना के रत्नत्रय में लगे दोष शुद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न—आचार्यों के छत्तीस गुण कौन २ से हैं ?

उत्तर—आचार्य के छत्तीस गुण के विषय में भगवती आराधना में संस्कृत विजयोदया टीका आठ ज्ञानाचार आठ दरानाचार बारह प्रकार के तप पाच समिति और तीन गुण इस प्रकार छत्तीस गुण वर्णन करती है। तथा प्राकृत टीका में साधु के अठाईस मूल गुण और आचारवान् आधारवान् आ ८ आठ गुण इस प्रकार छत्तीस गुण प्रतिपादन किये गये हैं। दूसरी जाह वरा आलोचना गुण दश प्रायश्चित्त गुण दश स्थिति कल्प और छह जीत गुण इस प्रकार छत्तीस गुण बताये हैं।

आचार्य के छत्तीस गुणों का निरूपण करने वाली भगवती आराधना में एक गाथा भी है वह निम्न प्रकार है—

आयारवमोदीया अद्गुणा न्मविधो य ठिदिकण्पो ।

वारस तव छावासय छत्तीसगुणा गुण्येयव्वा ॥ ५२६ ॥ मग आ

अर्थ—आचारवान् आठ गुण दश प्रकार का स्थित कप बारह प्रकार का तपश्चरण और छह आवश्यक ये आचार्य के छत्तीस गुण हैं।

इस गाथा को श्री पंडित प्रवर आशावरजी ने प्रक्षिप्त बताया है।

समस्त तीर्थंकर अन्तत केवली तथा मण्या व अनतानुबन्धी आदि बारह कथायो पर विजय पाने वाले आचार्य उपाध्याय और सब साधुओं की आज्ञा भी यही है कि आचार्य के समीप अपने अपराधों का निवेदन कर उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है। इसलिए ब्रह्मरथ मुनियों को आचार्यों के निकट आलोचना कर प्रायश्चित्त का आचरण करना उचित है।

प्रायश्चित्तादि का ज्ञाता अपराधों को दूसरों को क्यों कहे ?

प्रश्न—जो साधु अतिचारों के निवारण का क्रम नहीं जानता है उस तो दूसरों को अपने अतिचार निवेदन करना चाहिए किन्तु जो अपराधों के प्रायश्चित्त का स्वयं ज्ञाता है, वह अपने अपराध दूसरों को क्यों कहे और उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त का आचरण क्यों करे ?

उत्तर—जैस उत्तम वैद्य या चिकित्सक भी अपने रोग या 'याधि' की उपत्ति के कारण चिह्न व चिकित्सा तथा पुनरुत्पत्ति के निरोध करने में प्रबोध होने पर भी उसकी चिकित्सानि दूमरों से ही करवाता है उसको अपने रोग या 'याधि' का हाल कहकर उसस चिकित्सा करने की प्रार्थना करता है वैसे ही प्रायश्चित्त के ज्ञाता मुनीश्वर को भी अपनी उत्तम विशुद्धि करने के लिए आमसाक्षी और पर साक्षी से प्रायश्चित्त लेना चाहिए । इसी को उत्कृष्ट विशुद्धि माना है ।

“प्राय हृत्युच्यते लोकश्चित्त तस्य मनो भवेत् ।  
तश्चित्तप्राहक कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥”

अथ—प्राय शब्द का अर्थ लोक ( लोग ) है और उसके मनको चित्त कहा है । लोगों के चित्त को निर्मल करने वाले कर्म को प्रायश्चित्त कहते हैं । अर्थात् परसाक्षी से अपराध का दण्ड लेने पर लोग समझते हैं कि हमने आत्म-विशुद्धि की है । अर्थात् आचार्यादि विश्व मुनीश्वरों के द्वारा लिये गये ऋह रूप प्रायश्चित्त स ही आत्म-शुद्धि होती है ।

यदि प्रायश्चित्त शास्त्रों के रहस्य वेत्ता किमी मुनिश्रेष्ठ या आचार्य को अपने आप प्रायश्चित्त लने हुए देखेंगे तो दूसरे मुनि भी अपने आप प्रायश्चित्त लने लगेंगे क्योंकि प्राय लोग गतानुगतिक होते हैं । इस प्रकार प्रवृत्ति होजाने पर माग मलीन हो जायगा आत्म-विशुद्धि का माग लुप्त हो जायगा । सलिए परसाक्षी स प्रायश्चित्त करने का आगमानुमोदित ( चिनोक्त ) माग है । कहा है —

तम्हा पण्वज्जादी दसख्खाण्णचरणादिचारो जो ।

त मण्व आलोचेहिं खिरवसेस पखिदिदप्या ॥ ५३ ॥ भग आ

अर्थ—हे क्षपक ! आत्म-विशुद्धि परसाक्षी स प्रायश्चित्त का आचरण करने स ही होती है इसलिए सम्यग्द्वरान ज्ञान और चारित्र में दीक्षा काल स लेकर आज तक जो अपराध हुए हों उन सब दोषों की एकामचित्त दो र गुरु के निकट परिपूण आलोचना करो ।

आलोचना का स्वरूप और मेद

प्रश्न—परिपूण आलोचना किसे कहते हैं ?

उत्तर—मन से, वचन स और काय से अमुक देश में अमुक काल में अमुक भाव से जो दोष जिस प्रकार हुए हों उनका गुरु के स प्र

निकट सरल चित्त होकर 'यों' के लिये निवेदन करने का परिपूर्ण आलोचना कहते हैं।

आलोचना दो प्रकार का होता है। एक सामान्य चर्चा और दूसरी विशेषआलोचना।

सामान्य आलोचना—निम्नो मूल प्रायश्चित्त आता है। अर्थात् व्रतभंगान्ति महा अपराध करने पर दीक्षा का छेदन कर जिसको नवीन मुनि दीक्षा दी जाती है वह मुनि तपो की सामान्य आलोचना करता है। हे भगवन्! मुझसे अमुक व्रत का भंग या मिथ्यात्व का सबन हुआ है। इस प्रकार सामान्य रूप से अपराध का निवेदन करता है। यथा —

श्रोत्रेण भाषतेऽनन्यतपो वा सर्वघातक ।

इत् प्रभृति वाङ्मामि त्वत्तोऽह सयम गुरो ॥ ५५४ ॥ ( भग आ सं )

अर्थ—हे गुरुदेव! मुनि धर्म का घातक व्रत भंग या मिथ्यात्व सेवन रूप महान् अपराध मुझसे हो गया है। हे स्वामिन्! मैं आपसे नवीन दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए आज मैं मुझ नव दीक्षित कीजिए।

परन्तु—विशेष आलोचना किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस काल में जिस देश में जिस परिणाम से जिस प्रकार अपराध हुआ हो उसका उसी प्रकार निःशल्य रूप से निवेदन करना विशेष आलोचना है।

तापय यह है कि मन वचन काय से जिस समय जिस जगह जाने अनजाने स्ववश या परवश होकर जो अपराध हुआ हो उसको शल्य निकालकर निवेदन करने से ही आलोचना शुद्ध मानी गई है। शल्य रखकर जो आलोचना का जाती है वह आम-शुद्धि का कारण नहीं होती है। जैसे जिसके हस्तपाद आदि में काटा लगा है वह दुःख से पीड़ित रहता है उसके सम्पूर्ण शरीर में वेदना होती है। वैसे ही जिसके अन्त करण में मायाशय है वह सम्यक्त्वान्ति में लगे हुए दोषों का प्रकाशन नली भाति न करने के कारण छिपाये हुए दोष से मलीन चित्त रहता है। वह तपो रूपी दुःख उसको आत्मा का सदा दुःखी रखता है। जब वह अपने तपो को बाफ साफ गुरु के निकट निवेदन कर देता है उसका चित्त निर्मल हो जाने से आनन्द का अनुभव करने लगता है।

शल्य के भेद

परन्तु—शल्य के कितने भेद हैं ? उसका भी निरूपण यदि स्पष्ट कर लिया जावे तो ठीक हो।

उत्तर—शाल्य के दो भेद हैं—भावशाल्य और त्र्यशाल्य ।

प्रश्न—भावशाल्य किस कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा को दुःख देने वाले भाव को भावशाल्य कहते हैं ।

प्रश्न—भावशाल्य कितने हैं ?

उत्तर—भावशाल्य तीन हैं १ मायाशाल्य २ मिथ्यात्वशाल्य और ३ निदानशाल्य । तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र और तप को मलिन करने वाले भावों को भावशाल्य कहते हैं ।

दरानशाल्य—शङ्काकाक्षादि संशयदरान के दोषों को दरान शाल्य कहते हैं ।

ज्ञानशाल्य—अकाल में सूत्रों का अध्ययन व अभिनयादि को ज्ञानशाल्य कहते हैं ।

चारित्रशाल्य—समित और गुप्त के आचरण में अनोदर करने को चारित्रशाल्य कहते हैं ।

तप शाल्य—अनशानादि तप में अतिचार लगाने को तप शाल्य कहते हैं । तप का चारित्र में अन्तर्भाव होता है; इसलिये दर्शन-शाल्य ज्ञानशाल्य और चारित्रशाल्य इस प्रकार शाल्य के तीन भेद ही होते हैं ।

प्रश्न—द्र्यशाल्य कितने प्रकार का है ?

उत्तर—द्रव्यशाल्य भी तीन प्रकार का है । १ सचित्त द्र्यशाल्य २ अचित्त द्र्यशाल्य और ३ मिश्र द्रव्यशाल्य ।

सचित्तद्रव्यशाल्य—दास्यादि सचित्त द्रव्य शाल्य हैं ।

अचित्त द्र्यशाल्य—सुवण रजतादि पदार्थ अचित्त द्रव्यशाल्य हैं ।

मिश्रद्र्यशाल्य—प्राणादि मिश्रद्र्यशाल्य हैं ।

ये सब द्रव्यशाल्य चारित्राचार सम्बन्धी भाव शल्य के कारण हैं। क्योंकि इनके निमित्त स चारित्र में दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—भावशाल्य का उद्धार न करने से अर्थात् भावशाल्य का त्याग न करने से क्या हानि होती है ?

उत्तर—जैसा कटा बाण की नोक आदि द्रव्यशाल्य शरीर के भीतर जब तक रहते हैं तब तक मुख की सामग्री के उपरिष्ठ रहते हुए भी प्राणों को सुख नहीं होता है। वैस ही भय, लज्जा व प्रमाद का जनक भावशाल्य ( माया मिथ्या निदान ) आत्मा स तब तक पृथक् नहीं होता है तब तक उसे मलीन करता रहता है और मन्व्यन्तःशान्ति की आराधना में बाधक होता है। द्रव्यशाल्य एक जन्म में ही दुःख देता है परन्तु भावशाल्य जन्म-जन्मान्तर में दाक्षिण दुःख का जनक होता है।

इसलिए आचार्यों ने आराधना की सिद्धि के लिए अतिचारों का तत्काल शोधन करने का उपदेश दिया है। आज अपरा र उत्पन्न हुआ है उसका शोधन करने के लिए उसी क्षण गुरु के निः निवेदन करना चाहिए। कल परमों या परले निन गुरु के चरणों में जाकर निवेदन करगे ऐसा विचार करना उचित नहीं है। आयुष्य मितना गेप रहा है इसका किसको जान है ? न जान आयु का अन्तिम क्षण अति निकट आ लगा हो और दोषों की आलोचना किये बिना यन् मरण हो गया और नोप साहत अवस्था में आयु का बन्ध हुआ तो मायाशाल्य के कारण तियब आयु का बन्ध होगा। अत दोष के हात हां उमकी गुरु के निकट आलोचना कर गुरु प्रन्त प्रार्थक्षित का आचरण कर शुद्ध हा जाना चाहिए। क्योंकि रोग शत्रु और नोपा की उपेक्षा करन स ब न्दमूब हो जाते हैं। जब उनकी जड जम जाती है तब उनका उच्छेद करना जब से उच्छाद फकना अति कठिन हो जाता है। अथवा बहुत नि बीत जान पर आतचार का विस्मरण हो जाता है। तथा उमके काल ( सध्या रात्रि या दिनादि ) का ठीक स्मरण नहीं रहता है। वैस हा क्षेत्र भाव और अतचार के कारण का भी यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् बहुत समय बीत जाने पर आचार्य के पूछने पर शिष्य अतिचार का न्य क्षेत्र काल भाव और कारण यथाथ निवेदन नहीं कर सकते हैं। सलिए अतिचार के होते ही अवसर पाकर गुरु के निकट दोषों की आलोचना कर लेना चाहिए। काल बीतने पर मायाशाल्य अत करण में प्रविष्ट होकर आत्मा को उसकी आलोचना स विमुख कर देती है।

प्रश्न—अतिचार का शोधन किये बिना मरजाने से क्या हानि है।

उत्तर—जो बपक राग या द्वेष के बश होकर दोषों की आलोचना किये बिना मरण करते हैं। वे दुःख रूपी शल्यों स परिपूसा इस ससार कान्तर ( बन ) में परिभ्रमण करते हैं। कहा है —

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये भ्रियन्ते सशन्यका ।

दुःखशन्याकुले भीमे भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥ ५६४ ॥ (स भग आ)

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र सम्बन्धी श्रेष्ठता के उद्भव करने वाले हैं । इसलिए श्रद्धा गौरव रस गौरव और सात गौरव सहित होकर सम्यग्दर्शनादि का निरतिचार पालन करना ही दुःखों के विनाश का कारण है ।

जइ बालो जपता कज्जमकज्ज व उज्जुअ भणइ ।

तह आलोचेदव्व मायामोम च मोत्तूख ॥ ५४७ ॥ भग आ

अर्थ—जिस प्रकार भय मान असत्य और माया रहित हुआ बालक सरल हृदय से अपने पिता के सामने अपने भले बुरे कार्य का स्पष्ट रूप से निवेदन करता है उसी प्रकार साधु को भी भय-मान-लज्जा और असत्य का परित्याग कर सरल स्वभाव होकर अपने कृत्यों अकृत्यों की स्पष्ट आलोचना गुरु क समीप ज्यों वी ज्यों करनी चाहिए ।

इस प्रकार आलोचना सम्बन्धी उपदेश को सुनकर समाधिग्रहण का अभिलाषी भिक्षु हृषातिरेक से रोमांचित हो जाता है ।

ज्ञपक कायोत्सर्ग कैसे कर ?

पाचीशोटाचिसुहो चैदियहुत्तो व कुण्णदि एगते ।

आलोपयण्णत्तीय काउत्सग्ग अण्णवाधे ॥ ५५० ॥ भग आ

अर्थ—ज्ञपक आलोचना की निर्विघ्न प्राप्ति क लिए पूव या उत्तर दिशा की ओर मुख करके अथवा जिन प्रतिमा के सम्मुख खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है । कायोत्सर्ग में अपने पूव उत्पन्न हुए श्रेष्ठों को याद करता है । यह कायोत्सर्ग वाधारहित एकान्त में तथा माग छोड़ कर कर । है । क्योंकि जिन समूह में तथा अपने ज्ञान क माग में कायोत्सर्ग करने स चित्त एकाग्र न होने क कारण दोषों का स्मरण करने मे बाधा उपस्थित होती है । प्राकृत टीका में कायोत्सर्ग का सामायिक दृष्टक स्तुति पूवक बुद्धत् सिद्ध भक्ति करके बैठकर सिद्ध-भक्ति करना ऐसा अर्थ किया है । गुरु आज्ञाय भद्र से समाचार विधि में कहीं २ भेद हो जाता है ।

## आलोचना के लिए कालवादि का विधान

प्रश्न—कायासग कर दोषों का स्मरण करने के पश्चान् क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—उक्त प्रकार सगल स्वभाव को प्राप्त हुआ क्षपक तीन बार दोषों का स्मरण कर त्रिशुद्ध लेख्या धारण करता हुआ अति चांगो का उद्धार करने क नापस्त आचाय महाराज क निकट गमन करता है ।

उज्ज्वल परिण म बाल स क्षपक की आलोचना प्रतिक्रमणात् क्रियाए दिन मं आर शुद्ध स्थान में होता हैं । दिन के पूवभाग ( प्रथम पहर ) म या अपराह्न ( १ न क तीसरे उहर ) म सौम्य तिथि सोम्य नक्षत्र और शुभ काल मे होती है । आशय यह है कि आलोचना कालए परिणामो मे शुद्धि क साज क्षेत्र ( स्थान ) कालान्ति की शुद्धि का भी यान रखा जाता है ।

प्रश्न—आलोचना क लिए प्रशस्त स्थान होना आवश्यक माना गया है तो कौन स्थान प्रशस्त है और कौन अप्रशस्त है ? उनका विचयन करना चाहिए । प्रथम अप्रशस्त स्थानों का विवेचन कीजिए ?

उत्तर— जो स्थान पत्रयुक्त वृक्षों म हान हो कटकाकीण हो बिजली गिरने म जा फट गया हो जहा सूखे वृक्ष हों जो कटुरस माल तथा जला दृष्टा हो शूय घन या दृक् का मन्त्र हो जहा नैत्रो या पाशों क देव हों । जिसमें वृण सूखे पत्ते और काठ के पुज हो तथा रात हो हो अपवित्र वस्तुआ स युक्त भूमि तथा श्मशान भूमि हो जहा पर दूरे फूटे वस्तन तथा गिरे पडे मरान हों चण्डिका भवानी आन्ति मुत्त त्त आ क स्थान हा व नव वननीय मान गये हैं । नके अतिरिक्त ऐस हा अय अशुभ स्थान आलोचना के अयोग्य अप्रशस्त क गये हैं । क्योंकि ये स्थान अल चना करने वाले साधु और मुनने वाले आचाय के असमाधान के कारण हैं । इन स्थानों मे आलोचना करन म क्षपक क काय मे मिद्धि नहीं होती है । इसलिए आचाय ऐमे स्थानो में क्षपक की आलोचना नहीं सुनते हैं ।

प्रश्न—आलोचना क लिए कौन स स्थान प्रशस्त माने गये हैं जहा पर आचाय क्षपक की आलोचना सुनते हैं ।

उत्तर—अरहत और सिद्ध चेत्यालय समुत् तथा तालाब आन्ति जलाशय के समीपवर्ती स्थान जहा वट वृक्ष अशोकादि के वृक्ष तथा पुषो या फलों स भरे हए वृक्ष हो ऐस स्थान उद्यान व अय सुखकर स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य प्रशस्त माने गये हैं ।

प्रश्न—आचाय किस प्रकार बैठकर क्षपक की आलोचना सुनते हैं ?

उत्तर—पूव दिशा तथा उत्तर दिशा की ओर मुख करके तथा चैत्य ( जिन प्रतिमा ) अथवा जिनालय के सम्मुख एकांत में बठकर आचाय एक क्षपक की आलोचना सुनते हैं ।

प्रश्न—आचकार को दूर कर जगत् म प्रकाश करन वाले स्य का उच्य पूव दिशा में होता है, अत वह निशा उच्य दिशा कही जाती है । काय की उन्नति का अभिलक्षण मनुष्य पूव निशा की ओर मुख करके कार्य करता है । स्वयंप्रभादि तीथकर बिदेह क्षेत्र में विराजमान हैं ऐसा चित्त में विचार करके उनकी तरफ मुख करने से मेरे काय की सिद्धि होगी इस अभिप्राय से उत्तराभिमुख होकर काय प्रारम्भ करता है तथा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके स्थित होने से परिणामों में निर्मलता आती है और वह निर्मलता पुण्य की बुद्धि करके प्रारम्भ कार्य की सिद्धि में कारण होता है । किन्तु आचाय को कौनसा काय सिद्ध करना है जो पूव निशा उत्तर दिशा या जिन प्रतिमा की तरफ मुख करके बैठते हैं ?

उत्तर—आचाय क्षपक की आलोचना सुनकर भविष्य में दिये जाने वाले प्रयश्चित रूप काय की निर्बिघ्न समाप्ति हो ऐसी क्षपक के लिए शुभ कामना धारण कर उत्तर या पूव दिशा के सम्मुख अथवा जिन प्रतिमा के सामने मुख करके बैठते हैं ।

प्रश्न—जब आचाय आलोचना सुनने के लिए निर्वाकुल चित्त हो कर बैठते हैं उस समय गुह बा पूव्य पुरुष रहें तो क्या हानि होती है ?

उत्तर—अन्य व्यक्तियों के उस समय वहा उपस्थित रहने से आचाय का चित्त एकाग्र नहीं रहने से क्षपक के प्रति अनान्द भाव प्रकट होता है । दूसरा बात यह है कि अनेक पुरुष सुनने वाले होंगे तो क्षपक के अत करण में लज्जा उत्पन्न होगी जिससे वह अपने दोषों को स्पष्ट निवेदन करन का इच्छुक होता हुआ भी मन में लेनस्त्रिम होगा और सब अपराध को स्पष्ट न कह सकेगा । इसलिए आलोचना के समय एकाकी आचाय ही श्रोता होना चाहिए । आगम में भी यही बताया है कि आलोचना सुनने के लिए आचार्य के सिवा अन्ध न रहें । आलोचना से गुप्त रखन की आज्ञा है । यदि अनेक सुनने वाले होंगे तो वह गुप्त नहीं रह सकती । कहा है—

पट्टकणोभिद्यते मात्रं ब्रह्म तयोर्गो में गई हुई गुप्त बात अवश्य प्रकट हुए बिना नहीं रहती है । इसलिए आगम में एकाकी आचाय को एकान्त में एक क्षपक की आलोचना सुनने के लिए कहा है ।

प्रश्न—क्षपक जब गुह के निकट आलोचना करने के लिए उपस्थित हो उस समय उसको क्या करना चाहिए । वह किस विधि से आलोचना प्रारम्भ करे ? उस विधि पर प्रकाश डालने की कृपा करें ?

उत्तर—आलोचना करने वाला रूपक प्रथम गुरु आचार्य की वन्दना करे। वह वन्दना सिद्ध भक्ति और योग भक्ति पढ़कर करे ऐसा बृद्धाचार्यों का मत है। श्री ब्रह्माचार्य तो सिद्धभक्ति चारित्र्यभक्ति और शक्तिभक्ति पढ़कर वन्दना करना कहते हैं। वन्दना कर चुकने के बाद दक्षिण पाख ( दाहिनी बगल ) में पिच्छी लेकर भाल प्रदेश में दोनों हाथ जोड़ कर मन बचन और काय से शुद्ध हुआ आगमोक्त दोषों से रहित आलोचना करे।

### आलोचना के दस दोष

प्रश्न—आलोचना क त्रा दोष कौन से हैं ?

उत्तर—आवृत्तिय अणुमाणिय ज णिष्ठ वादर च सुहृम च । छरण सहावल्य बहुजण अवच तत्सवी ॥ १ २ ॥ [ ग आ ]

१ आकम्पित २ अनुमानित ३ दृष्ट ४ वादर ५ सूहृम ६ छत्र ७ शङ्काकुलित ८ -हुजन ९ अव्यक्त और १० तत्सवी ये आलोचना के दस दोष हैं। इनका सक्षिप्त सा बखान नो पहले कर आये हैं। फर भी थोड़ा सा सुलासा कर दिया जाता है।

( १ ) आकम्पित दोष—शिक्षा प्राप्त होने के कारण स्वयं प्रयत्नक बनकर आचार्य महाराज की उद्दमादि समस्त दोष रहित आहार जल से वैश्यावृत्त्य करके तथा उनको निर्गोष पिच्छी कमण्डलु पुस्तमादि उपकरण त्रेत्रर विशेष विनयादि पूर्वक वन्दनाम कृतिकम करक गुरु के अन्त करण म अपन विषय में कहणा उ अ करने के पश्चात् अपने दोषों का आलोचना करना यह आकम्पित दोष है।

आलोचक शिष्य का गुरु के चित्त में अनुकम्पा उत्पन्न करने का अभिप्राय यह है कि गुरु आहारानि द्वारा चचित वैश्यावृत्त्य से सन्तुष्ट होकर मुझे गुह्यतर प्रायश्चित्त न दगे लघु प्रायश्चित्त नगे इसलिय मैं सूहृम और ग्थूल सब अपराधों का निवेदन कर सकूगा। मेरी सम्पूर्ण दोषों की आलोचना भी हो जावेगी और महान प्रायश्चित्त स वच जाऊगा। इस प्रकार शिष्य गुरु को आहारादि लोभ का असहोपासरोपण कर मानसिक अविनय का आचरण करता है। तथा अपने अन्त करण म मायाचार की उत्पत्ति करता है। अत यह सदोष आलोचना मानी गई है।

( २ ) अनुमानित दोष—शिविल्लाचार का पालक सुखिया साधु गुरु से प्रायना करता है —हे भगवन् ! धीर पुरुषों से आचरण किये गये सब प्रकार के तप जो मुनि करते हैं वे भाग्यवान हैं धाय हैं और महामा हैं। इस प्रकार अपनी धार्मिकता प्रकट करता हुआ कहता है —हे दयाला ! मुझ में जितना शारीरिक बल है वह आप से द्विधा नहीं है। मेरी जठराग्नि अति दुर्बल है। मैं सदा किसी न किसी रोग से ग्रस्त रहता हूँ इसलिय मैं उत्कृष्ट तप का आचरण करने में असमथ हूँ यदि आप मुझ पर अनुग्रह कर अह्न प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने समस्त

अपराधों को निवेदन करूंगा और आपकी महर्त कृपा से सब दोषों से रहित होकर शुद्ध हो जाऊंगा।

ऐसा कहकर और गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अनुमान ज्ञान से जानकर पश्चात् जो मुनि अपने अपराधों की आलोचना करता है उसके अनुमानित दोष हांता है।

यह आलोचना परिणाम में उस प्रकार दुःख देने वाली है जैसे सुखाभिलाषी दुःख देने वाले अप्रप्य आहार का सेवन कर उसे सुख देने वाला समझता है किन्तु वह परिणाम में दुःख प्रप्त होता है। अर्थात् उक्त आलोचना से रत्नत्रय की शुद्धि कदापि नहीं होती है। जैसे अल्प आहार से सुप्त की प्राप्ति नहीं होती।

( ३ ) दृष्ट दोष—जिसी देखे हों या न देखे हों सम्पूर्ण दोषों को निकटपट भाव से गुरु के समीप निवेदन करना चाहिए। किन्तु ऐसा न कर जो मुनि उही दोषों को गुरु के निकट प्रवर्णित करता है, जिनको दूसरों ने देख लिया है उसे दृष्ट दोष कहते हैं।

जैसे—बालु रेत के मीठान में किसी मनुष्य ने खड़ा खोदने का प्रयास किया। किन्तु वह खड़ा खोदते खोदते ही बालु रेत से भर गया। खोदने वाले का परिश्रम व्यर्थ हुआ। उसी प्रकार जो पुरुष प्रथम मायाशक्त्य से रहित होकर आलोचना करने के लिए उद्यत हुआ और पश्चात् माया का आश्रय लेकर अदृष्ट दोषों को द्विपा कर कवन दृष्ट दोषों का प्रकाशन करने लगा उसके अन्त करण में मायाशक्त्य उद्यो का लोभ बना रहने के कारण बड़े रत्नत्रय का शुद्धि से उचित रहता है।

( ४ ) बाह्य दोष—जो साधु स्थूल ( बड़े ) दोषों का तो गुरु के निकट प्रकाशन करता है और सूक्ष्म दोषों को द्विपाता है वह जिनेन्द्र भगवान् के वचनों की अवहेलना करता है इसलिए वह दोषी होता है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश स्थूल और सूक्ष्म दोषों को गुरु के पाठपद्य में निवेदन करने का है। उसका पालन न कर केवल बादर दोषों का प्रकाश करने वाला बादर दोष नामक दोष से दूषित माना गया है।

चौले कास का कलश ऊपर से खच्छ होने पर भी भीतर से नीला होने से मलीन होता है वैसे ही इस आलोचना करने वाले के अन्तरङ्ग में माया दोष विद्यमान होने से उसकी आलोचना सदोष होती है।

( ५ ) सूक्ष्म दोष—जो साधु भय गव और माया से सूक्ष्म दोषों को द्विपा कर स्थूल दोषों का निवेदन करता है वह आलोचना के सूक्ष्म नामक दोष से दूषित माना गया है।

वरन—सूक्ष्म दोष कौन से हैं ?

उत्तर—उठने बैठने सोने खतर बिड़ाने गमनादि से उपजा हुए दोष सूक्ष्म दोष हैं। इन दोषों को गुरु के निकट प्रकट करते समय शिष्य कहता है। हे भगवन् ! जिस भूमि में ओस आदि बहुत थी उस भूमि पर ईर्या समिति में चित्त सावधान करके न बसा सका था। पिच्छिका स भूमि का माजन (शोधन) किये बिना बैठ गया था सोया था करबन बदली थी और खड़ा हो गया था। उचित काल में मैंने सामाधिकारि आवश्यक का पालन नहीं किया था। जल म शरीरादि का स्पश किया था। मैं सचित रज पर बैठा था खड़ा हुआ था सो गया था। धूल स भरे हुए पावों स जल म प्रवेश किया था। जल म गीले पावों से मैंने धूल में प्रवेश किया था। आठ या नव मास की गम ली खा म मैंने आहार लिया था। रोते हुए या स्तन पान करते हुए बालक का छोड़ कर आई हुई स्त्री ने मुझे आहार दिया था। इत्यादि सूक्ष्म दोषों का निवेदन करता है।

इस प्रकार छोटे २ दोषों को प्रकट कर स्थूल ( बड़े २ ) दोषों का ज्ञाता है। बड़े दोष यदि प्रकट कर दूगा तो आचार्य मुझे महान् प्रायश्चित्त देंगे इस भय स अथवा मेरा परित्याग कर बैठगे स भय म स्थूल दोषों को प्रकट नहीं करता है। सूक्ष्म दोषों को प्रकाशित करन और स्थूल दोषों को छिपान क कारण उसका कण स्वभाव स्पष्ट होता है। मैं सङ्ग के सब मुनियों स निर्वोष चारित्र का पालन करने वाला हूँ म अभिमान स स्थूल दोषों को यत्न नहीं करता है ज स सूक्ष्म दोष का भागी माना गया है

(६) प्रद्वज्ज दोष—मुझे अमुक् अतिचार या अनाचारज म अपराध हुआ है ऐसा स्पष्ट न कहकर आचार्य से पूछता है। अहो गुरु महाराज! यत्न किसी मुनि क अठार्डे म मूलगुणों म था अतश्चान्ति तप उत्तर गुणों में एवं अर्द्धसात्नि महाव्रत में अतिचार लग जावे तो उसको वीनसा प्रायश्चित्त दिया जाता है ? वह किस उपाय म शुद्ध हो सकता है ? इस प्रकार प्रद्वज्ज रूप स पूछता है। गुरु महाराज से गुप्त रूप स पूछकर अपना शुद्धि कर लेना चाहता है। य० प्रद्वज्ज नामय आलोचना का छठा दोष है।

शङ्का—अपराध की शुद्धि उचित प्रायश्चित्त के आचरण म होती है। किसी प्रकार गुरु महाराज से अपने दोष की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित्त को जानकर यदि वह उस प्रायश्चित्त को ठीक तरह आचरण करता है तो उसकी शुद्धि कैस नहीं मानी जा सकती है ?

नम धान—दोष की शुद्धि करने क लिए निष्कपट भाव स गुरु महाराज के सामने अपने दोषों की यथाथ आलोचना करना अत्यंत आवश्यक है। पद्वज्ज रूप स मायाचार द्वारा गुरु महाराज म अपराध का प्रायश्चित्त पूछकर उसका आचरण किया है। उसके हृदय से माया भाव नहीं निकला है। अत उसकी शुद्धि होना असभव है अत इस दोष ही माना गया है।

( ७ ) शांत्कुल दोष—सम्पूर्ण मुनि मिलकर पाल्ति क वातुर्मासिन्न मात्र सरिक या वार्षिक दोषों की आलोचना कर रहे हों उस समय महान् कोलाहल होता है। ऐसे अवसर को पाकर अपना इच्छानुसार दोषों की आलोचना करना वह शांत्कुल दोष है।

क्योंकि कोलाहल में जब गुरु उनके अपराध को स्पष्ट नहीं सुन पाते हैं उस समय अपराध कह सुनाने स गुरु उसको यथाथ प्रायश्चित्त देने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। लिए यह शांत्कुल नामक दोष माना गया है।

( ८ ) बहुजन दोष—निम्न प्रत्याख्यान नामक नवमे अङ्ग का अध्ययन किया है तथा अङ्ग बाह्य में कल्प नामक प्रकरण है उसका आर शेष अङ्गों में तथा प्रकरणों में जहा जहा प्रायश्चित्त का निरूपण आया है उन सबका मनन किया है, उस आचाय के द्वारा अध्यात् उपलब्ध सब प्रायश्चित्त प्रयोगों को ज्ञाता आचाय के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त पर विश्वास न करके यदि कोई मुनि अन्य आचार्यों से उन प्रायश्चित्त क औचित्य या अनौचित्य का प्रश्न म पूछे तो वह बहुजन दोष माना गया है।

( ९ ) अयत्न दोष—जो मुनि आगमज्ञान स शून्य है वह आगम बाल है तथा जो चारित्र से हीन है वह चारित्र बाल है। उस ज्ञान चारित्र हीन मुनि क सम्मुख अपने अपराधों की आलोचना करने वाले को आलोचना का अयत्न नामक दोष होता है। यद्यपि आलोचक ने मन बचन क्रय स कृत कारत आर अनुमोदना जय सब अपराधों का आलोचना की है तथापि उसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि आगम बाल या चारित्र बाल आचाय स उचित प्रायश्चित्त द्वारा अपराधों की शुद्धि नहीं हो सकती है। अतः स अयत्न दोष कहा है।

( १० ) तमवी दोष—यह पार्श्वस्थ ( अष्ट मुनि ) मेर मुखिया स्वभाव को तथा मेरे सब दोषों को जानता है। यह भी मेरे समान दोषी है इसलिए मुझे यह महान् प्रायश्चित्त न देगा ऐसा विचार कर जो पार्श्वस्थ ( अष्ट मुनि ) के निकट जाकर अपने सब अपराधों की आलोचना करता है उनको तमवी नाम का दोष होता है।

जैसे—रुधिर स भोगी बन्ध रुधिर में घोने पर शुद्ध नहीं होता है वैसे ही दोष सहित पतित मुनि के पास आलोचना करके कोई मुनि अपने अपराध स मुक्त नहीं होता है। क्योंकि रुधिर उरत्र स्वच्छ जल से घोने पर ही शुद्ध होता है। वैसे ही दोषों का निवारण निमल चारित्र क धारक आचाय क पाद मूल में आलोचना करके उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण करने से ही हो सकता है। अन्यथा नहीं होता। इसलिए हे सुपक। जो मुनि जिनप्रणीत आगम क वचनों का लोप करते हैं और दुष्कर पाप का आचरण करते हैं उनका मोक्ष अनन्त काल में भी नहीं होता है। वैसे ही जो मुनि अतः करण में मायाशक्त्य रखकर अपने दोषों की आलोचना करते हैं, उनको भी मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दूर है।

अतएव सुनियों का कतन्य है कि भय भाया मृषा मान और लज्जा का परित्याग कर उक्त वश दोषों से रहित आलोचना करे। क्योंकि दूषित आलोचना आत्मा को निर्दोष बनाने में समर्थ नहीं होती है।

### साधु किन २ दोषों की कैसे आलोचना करें ?

पत्र—साधु किन २ दोषों की किस प्रकार आलोचना करे ?

उत्तर—पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय वनस्पतिकाय द्वीनिय तीनद्विनिय जो न्दिय और पचेन्द्रिय इन जीवों में से जिसकी विराधता हुई हो उनकी आलोचना करे।

पृथिवीकाय जीव अनेक प्रकार के हैं—जैसे मिट्टी पाषाण शकरा (ककर) बालुरेत नमक अन्नक आदि अनेक भेद हैं। उनको खोन्न हलानि म दिगारण करने जलान फोड़ने मोड़ने पटकन फेंकने आदि में से मैने अमुक पाप किया है।

जल कायिक जीवों के भी पानी बर्फ ओम ओले आदि अनेक भेद हैं। उनका पान करने उसमें स्नान करने कूटने तेरने हाथ पैरों म या शरीर म मत्न करने उगैरह म मैने उनका अमुक प्रकार से घात किया है।

अग्नि कायिक जीवों के जाला गोपक जलता हुई लखड़ी आदि भेद हैं। उनके ऊपर मैने पथर मिट्टी जल डालकर ननका प्रिना किया है। अथवा पापण या लखड़ा आदि से पाटा है मत्न किया है। नके अतिरिक्त भी अनेक तरह क आरम्भ में से मैने अमुक प्रकार से अग्नि कायिक जीवों को बाधा पहुंचाई है।

वायु कायिक जीवों क ममतात म लिक आधी आदि भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है उसे ममतात कहते हैं। जो वायु गोलाकार भ्रमण करती हुई बहती है उस मडलिक वायु कहते हैं। तेज वायु को आधी कहते हैं। इत्यादि प्रकार से बहने वाली वायु को मैने पख म बस्र म सूत्र म प्रातपान किया है वायु को किवाड़ छत्रादि से रोक है। पखे आदि से उसे सताया है बाधा पहुंचाई है। वायु के सम्मुख गमन किया है। त्याग प्रकारों में म जिस प्रकार से वायुकाय के जीवों को बाधा पहुंचाई हो उसका निवेदन करे।

वनस्पति कायिक जव—साधारण (अनन्त कायिक नीलन पूलन काय आदि वनस्पति प्रत्येक वनस्पति वृक्षादि बीज वही लता छोटे पौधे के समूह पुष्प फुल वृण दि वनस्पति कायिक जीवों के अनेक भेद हैं। उनमें से अमुक को मैने जलाया है या तोड़ा है। या उनका छेदन भन्न किया है ? अथवा मत्न मोत्न (मरोडना) बधन रौत्न आदि अनेक क्रियाओं में से अमुक द्वारा उनका घात किया

है। उनको बाधा पहुंचाई है।

द्विन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में से अमुक् का अज्ञान व प्रमाद स ज्ञान या विना जाने विधात किया है। या उनका छेदन भेदन ताड़न बाधन किया है। उनकी गति का निरोध कर सताया है। या गमनागमन करके उन्हें पीड़ा या बाधा पहुंचाई है।

आहार उपकरण वसति का अङ्गीकार करते समय मुक्त स उद्गम उत्पादन एषणा आदि अमुक् २ दोष हुए हैं।

गृहस्थियों के कुंभ कलश सकोरा आदि भाजनों में से किसी भाजन में कोई वस्तु रखी या उन भाजनों में से किसी से कोई वस्तु ग्रहण की हो तो ये सब चाित्रातिचार हैं। क्योंकि इन पात्रों का भीतर स प्रतिलेखन (माजन) करना अत्यन्त कठिन है।

छोटी चौकी वेत्रासन खाट पलंग इन पर बैठने स अपराध हुआ हो। क्योंकि इनमें अनेक छिन् होते हैं। उनमें जो प्राणियों निवास करते हैं वे नत्रों स लिखाई नहीं देते। यदि वे दिखाई द तो उन्हें निकालना अशक्य होता है। इसलिए ऐसे छोटे चौकी वगैरह आसनों पर बैठने स अहिंसा व्रत में अतिचार उत्पन्न होता है। अथवा आहार के लिए आवक के पर जाकर बहा पर बैठना भी निषिद्ध है। क्योंकि आबक के पर बैठने स श्रद्धाचय व्रत का विनाश हो सकता है। भोजनार्थी मनुष्यों के भोजन में विघ्न उपस्थित होता है। वे लो। मुनियों क समस्त भोजन करने में सङ्कोच करते हैं। सुधादि स पीड़ित होने के कारण उनके मनमें संक्लेश उत्पन्न होता है। लोग कहने लगते हैं कि ये मुनि महिलाओं के बीच किस लिए बैठे हैं? आहार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यत्र बंटे रहने की क्या आवश्यकता है? इनको यहाँ से अब तो बह्ना जाना चाहिए? इत्यादि उनके अन्तःकरण में कोपावेश से दुर्विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

स्नान करना उबटन लगाना मस्तकादि शरीर के अवयवों का प्रक्षालन करना न नकाशों को वाकुस कहते हैं। ठंडे जल से या गम जल से स्नान करने पर आसों में अज्ञान शरीर पर उबटन करने से शरीर पर स्थित प्राणी नष्ट होते हैं। तथा बिलों में रहने वाले प्राणी और भूमि के छोटे-छोटे में निवास करने वाले कीड़े मकोड़े आदि जंतु मृत्यु के मुख स प्रविष्ट होते हैं। इसलिए आगम में मुनियों के लिए स्नान का निषेध है। मुनियों को आजीवन यह घोर व्रत पालन करना परमावश्यक होता है। लोभ आदि सु धित पदार्थों का उबटन भी मुनियों के लिए वर्जित है।

बिना दिये हुए पदार्थ का तथा रात्रि भोजन का त्याग मुनियों को रहता ही है। बिना आह्ला के किसी वस्तु का ग्रहण करना क्या है मानो उस वस्तु के स्वामी के प्राणों का हरण करना है। क्योंकि धन प्राणियों का बाह्य प्राण है। जो दूसरों की वस्तु का हरण करता है उसको राजा दण्ड देते हैं।

रात्रि भोजन अनेक असयम का मूल कारण है। रात्रि में भोजन करने से तब और स्थावर जीवों का वध होता है। तथा जिसका त्याग किया उसका और अयोग्य वस्तु का भक्षण हो जाता है। रात्रि में दाता की परीक्षा नहीं हो सकती है। अपने हाथ में रखे हुए भोजन की हाथ से उच्छिष्ट भोजन जिस जगह गिरता है उस भूमि प्रदेश की तथा दाता के गमनागमन मार्ग की दाता के लक्ष्य रहने तथा अपने लक्ष्य रहने के प्रदेश की मन्त्री भाति देख भाल ( यह जीव रहित है या जीव सहित है ऐसी जांच ) नहीं कर सकते हैं। ऐसे अनेक दोष रात्रि भोजन करने से उत्पन्न होते हैं। इसलिये रात्रि में आहार ग्रहण करना सबथा निषिद्ध है। मैथुन सेवन परिग्रह धारण और असत्य भाषण आदि महा पापों के तो मुनि सबथा त्यागी होते ही हैं।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य तप और वीर्याचार में मन वचन कर्म द्वारा कृत कारित अनुमोदना से जो अतिचार उत्पन्न हुए हों उनकी में आलोचना करता है।

राजा काष्ठा आदि दोष सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। सम्यग्ज्ञान की क्या आवश्यकता है। तपश्चरण और चारित्र्य ही फल देने वाला है इसलिए उन्हीं का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार मन से सम्यग्ज्ञान की अज्ञानता करना अथवा सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना व वचन से प्रकट करना मन से वचन से व कर्म से सम्यग्ज्ञान में अर्थात् प्रकट करना मुह बिगाड़ कर मुह मोड़ कर अथवा सिर हिला कर यह सम्यग्ज्ञान नहीं है ऐसा प्रकाशित करना। आदि ज्ञान के अतिचार हैं।

तपस्या करते समय असयम में प्रवृत्ति करना तप का अतिचार है। अपनी शक्ति को छिपाना वीर्याचार का अतिचार है। ये सब अतिचार कृत कारित और अनुमोदना के अन्त में तीन प्रकार के होते हैं। स्वयं करना स्वयं कराना और करते हुए की स्वयं अनुमोदना करना। दूसरे को प्रेरित करना प्रेरित कराना और प्रेरित करते हुए की अनुमोदना करना। इस तरह प्रत्येक अतिचार के तीन भेद होते हैं।

दूसरे देश के राजा का आक्रमण होने पर जब देश के सम्पूर्ण गमनागमन के मार्ग रुक जाते हैं उस समय वहां से निकलना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसर पर भ्रजा दुलभ होने से अतः करण में सक्लेश होता है। कदाचित् उस काल में अयोग्य पदार्थ का सेवन कर लिया हो तो क्षणिक को आलोचना करते समय ऐसे सब दोषों का सुलासा करना चाहिए। अमुक् अतिचार रात्रि के समय या अमुक् अतिचार दिन के समय हुआ है उन सब का स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक है।

जिस समय संघ हैजा प्लेग आदि भयानक रोगों से या अन्य दारुण विपत्तियों से आक्रान्त हो गया हो, उस समय उनका प्रतिकार करने के लिए विद्या मन्त्रादि का उपयोग करना पड़ा हो उसमें जो अतिचार हुआ हो उसकी भी स्पष्ट आलोचना करनी चाहिए।

अति दुर्भिक्ष के समय अन्नमौद्य तप में जो दोष लगे हों या अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो अथवा अन्य मुनिबों ने अनुचित भिक्षा प्रदण जिस प्रकार की हो उन सबका निवेदन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद आदि से जो जो दोष लगे हों उन सबको गुरु के निकट प्रकट कर देना मुनि का कर्तव्य है।

### दर्पादि बीस अतिचार

दर्पादि के निमित्त से बीस अतिचार होते हैं। आगम के अनुसार उनका नीचे स्पष्टीकरण करते हैं।

( १ ) वप ( गर्व ) अनेक प्रकार का है—जैसे क्रीड़ा में स्पर्धा करना व्यायाम करना झूल-कपट करना, रसायन सेवन हास्य करना गीत में शृंगार के वचन बोलना उल्लङ्घना कूदना, ये वप के प्रकार हैं।

( २ ) प्रमाद के पाच भेद हैं—विक्रया कषाय इन्द्रियों के विषयों में आसक्त निग्न और प्रेम। अथवा संकिल्ल हस्तकर्म, कुरीलानुवृत्ति बाह्यशास्त्र कान्य रचना करना और समिति में उपयोग न रखना इस प्रकार भी प्रमाद के पाच भेद होते हैं।

वेदन करना भेदन करना पीसना, टकराना चुभाना खोदना बाधना फड़ना धोना रङ्गना लपेटना गूँथना भरना, राशि करना ( इकट्ठा करना ) लेपन करना फेंकना चित्र बनाना, इत्यादि काम करने को संकिल्ल हस्तकर्म कहते हैं।

व्योति-शास्त्र ब्रह्म-शास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र लौकिकशास्त्र और मन्त्रशास्त्र इत्यादि शास्त्रों को बाह्यशास्त्र कहते हैं।

( ३ ) अनाभोगकृत—उपयोग रखने पर भी जिन अतिचारों का ज्ञान नहीं होता है उन्हें अथवा चित्त की प्रवृत्ति दूसरी ओर होने पर जो अतिचार होते हैं अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं।

( ४ ) आपात कृत—नदी का पूर आने पर अग्नि कारख के उपस्थित होने पर भयानक आधी का तूफान आने पर, वृष्टि के दान पर रात्र की संना से चिर जाने पर तथा ऐसे ही और कारखों के प्राप्त होने पर जो अतिचार होते हैं उन्हें आपात अतिचार कहते हैं।

( ५ ) आतताकृत—रोग जन्य पीड़ा शोक जन्य क्लेश, और वेदना व व्यवसाय से होने वाले अतिचारों को आतताकृत अतिचार कहते हैं।

( ६ ) तिच्छिदाकृत रसा में आसक्ति होने से तथा अधिक बकवाद करने से जो अतिचार होते हैं। उन्हें तिच्छिदाकृत

आतचार कहते हैं।

( ७ ) शक्ति—पिच्छिका आदि उपयोगी द्रव्यों में सचित या अचित का सन्देश रहते हुए भी उनको मोड़ना पटकना तोड़ना, फोड़ना झीलना एवं आहार उपकरण और वसतिका में 'उद्गमादि दोष हैं या नहीं' ऐसा सन्देश होने पर भी उनका सेवन करना ये शक्ति अतिचार हैं।

( ८ ) सहस्रातिचार—अशुभ मानसिक विचारों में अथवा अशुभ वचनों में बिना विचारे शीघ्र प्रवृत्त होना उसको सहस्रातिचार कहते हैं।

( ९ ) भयातिचार—एकान्त प्रदेश में वसतिका होने पर इसमें चोर सप दुष्ट—हिंसक—पशु व्याघ्र सिंहादि अन्दर घुस आयेगे इस भय से वसतिका के द्वार बन्द करने से होने वाले अतिचार को भयातिचार कहते हैं।

( १० ) प्रदोष—तीव्र संज्वलन कषाय के उदय से होने वाले जल के ऊपर की रेखा के समान को गन्धि चार कषाय के निमित्त से होने वाले अतिचारों को प्रदोष ज्ञय अतिचार कहते हैं।

( ११ ) मीमासा—अपने और दूसरे के बल के तरतम भाव की परीक्षा करने से उत्पन्न होने वाले अतिचार को मीमासा अतिचार कहते हैं।

अथवा सीधे हाथ को मोड़ना मुड़े हुए हाथ को मोधा करना धनुष आदि को चढाना वजन दार पथर को ऊपर चठाना उसे दूर फेंकना दौड़ लगाना काटे की बाड़ आदि को लापना पशु सर्पादि को मंत्रों की परीक्षा करने के लिए पकड़ना औषधियों के सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अजन और चूण का प्रयोग करना अनेक द्रव्यों को मिलाकर त्रम और एकैन्द्रिय प्राणियों की उत्पत्ति होती है या नहीं उसकी परीक्षा करना ऐसे कृत्य करने को परीक्षा कहते हैं। इन कामों से त्रतो में लोप उत्पन्न होते हैं।

( १२ ) अज्ञानातिचार—अज्ञानी मनुष्यों का आचरण देखकर उसमें दोष न समझ कर स्वयं भी वैसा ही आचरण करने अथवा अज्ञानी से प्राप्त हुए उद्गमादि दोष वाले उपकरणों दि का सेवन करने से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं उन्हें अज्ञानातिचार कहते हैं।

( १३ ) स्नेहातिचार—शरीर उपकरण वसतिका कुल ग्राम, नगर देश बन्ध तथा पारवस्थमुनि आदि में ममत्व भाव रखने से जो अतिचार होते हैं उन्हें स्नेहातिचार कहते हैं। यह मेरा शरीर है ऐसा ममत्व रखने से यह शीत पवन मेरे शरीर को बाधा देती है ऐसा विचार कर शरीर को चटाई से ढकता है अग्नि का सेवन करता है, भीष्मकाक्ष की लू आदि स वचने के लिए वस्त्र पहन करता है, शरीर पर

उपटन लगाता है उसे खण्ड करता है तैलादि मदन करता है, यह सब ठीक नहीं है। इससे अतिचार होते हैं।

मेरा उपकरण बिनष्ट हो जायगा, इस भय से पिच्छिका द्वारा प्रमाजन न करना तैलादि से कमखडलु का संस्कार कर खण्ड रखना, इसे उपकरणातिचार कहते हैं।

वसतिकर के गुणादि का भक्षण करते हुए पशु आदि का निवारण करना वसतिकर का भङ्ग होता हो तो उसका निवारण करना बहुत से ब्रति मेरी वसति में निवास नहीं कर सकेंगे ऐसा कहना आज्ञाने पर उन पर क्रोध करना बहुत साधुओं को वसतिकर मत दो—ऐसा निषेध करना अपने कुल के मुनियों की ही सेवा वैयावृत्त्य करना, निमित्त ज्ञानादि का उपदेश देना ममत्त्व भाव से ग्राम नगर या देश में रहने का निषेध न करना अपने से सम्बन्ध रखने वाले मुनियों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होना पारवस्थादि मुनियों की वन्दना करना उनको उपकरणादि का प्रदान करना उनके वचनादि का उत्तरधन करने की सामर्थ्य न रखना इत्यादि कार्यों से जो अतिचार होते हैं उन सबकी आलोचना करना चाहिए।

(१४) गारव अतिचार—ऋद्धि रस और साता में आसक्ति रखना। ऋद्धि में आसक्ति रखने से परिवार में आदर भाव होता है। प्रिय भाषण करके उपकरण देकर दूसरे की वस्तु अपने अधीन करता है। रस में आसक्ति के कारण प्रिय रस का लक्षण नहीं करता है और अप्रिय रस में अनादर भाव होता है। साता गारव से प्रिय मजुर सुहाबने भोजन करता है और शरीर को सुख देने वाले शयनासनाआदि में प्रवृत्ति करता है। इससे जो अतिचार होते हैं उन्हें गारव अतिचार कहते हैं।

(१५) परतन्त्रता जन्य अतिचार—उन्माद से पित्त के प्रकोप से भूत पिशाच के शरीर में प्रवेश करने से परतन्त्रता होती है। ज्ञाति के लोगों के परवश होकर इत्र गन्ध पुष्प माला आदि का सेवन करना रात्रि भोजन करना छोड़े हुए पदार्थों का सेवन करना जिनों के या नपुंसकों के साथ बलात्कार से मधुन सवन में प्रवृत्ति करना भी परतन्त्रता के काय हैं। इनसे जो अतिचार होते हैं वे परतन्त्रता—जन्य अतिचार कहलाते हैं।

(१६) आलस्य—अतिचार—आलस्य के वश वाचना पुच्छनादि स्वाध्याय में प्रवृत्ति न करना आवश्यक कृत्यों में उत्साह नहीं रखना इससे जो अतिचार होते हैं उन्हें आलस्य—जन्य अतिचार कहते हैं।

(१७) उपधि—अतिचार—मायाचार को उपधि कहते हैं। छिपकर अनाचार में प्रवृत्ति करना दाता के घर का पता पलाकर अन्य मुनियों के पहुंचने के पहले वहा आहार के लिए प्रवेश करना। अथवा किसी काय के बहाने से दाता के घर में इस प्रकार प्रवेश करना

जिस दूसरे न जान सकें। सुन्दर स्वर्णिष्ठ भोजन करने के पश्चात् विरस भोजन किया ऐसा कहना रोग प्रसूत मुनि की या आचाय की वयावृद्ध के निमित्त श्रावकों स कुड्ग चीज माग कर स्वय उसका सवन करना आदि स अतिचार लगते हैं ये सब उपधि ( भाषा ) जन्य अतिचार कहे जाते हैं।

( १८ ) स्वप्नातिचार—निद्रा में सोये हुए कं स्वप्न में अयाग्य पत्थाय का सवन करने स जा पाय होता है उस स्वप्नातिचार कहते हैं।

( १९ ) पल्लिकुचन—व्यय क्षेत्र काल और भाव के आश्रय से जो अतिचार होते हैं उनका अन्यथा वखन करने को पल्लिकुचन अतिचार कहते हैं। जैसे—सचित्त पदाथ का सेवन करके अचित्त पदाथ स सवन प्रक करना। स्वकीय आश्रय के स्थान में जो दोष हुआ हो उस माग में हुआ कहना दिन म जो तोष किया है उसे रात्रि में किया हुआ निवेदन करना नीच क्रोधाग्नि भागे स किये गये अपराध को मन्द क्रोधाग्नि किया गया कहना। ऐसे विपरीत वखन करने को पल्लिकुचन कहते हैं।

( २० ) स्वय शुद्धि—आचाय के समीप यथाथ आलोचना करन पर आचाय क प्रायश्चित्त तन मे पहले ही स्वय ही यद् प्रायश्चित्त मैं लिया है ऐसा कहकर जो स्वय प्रायश्चित्त लेता है उस स्वय शाश्वत रहते हैं। मन स्वय ऐसी शुद्धि री है ऐसा स्वय कहना। तस प्रकार वप आग्नि क निमित्त स जो र अतिचार होते हैं उनका स्पष्टता पूर्वक निवृत्त करना चाा ए। अतिचार क क्रम का उल्लखन करना कदापि ठीक नहीं है।

### आचाय का कतव्य

प्रश्न—जब मुनि आलोचना कर चुके तब आचाय महाराज को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—ज्ञपक द्वारा की गई सम्पूर्ण आलोचना को सुनकर आचाय ज्ञपक स तीन बार पढ़ते हैं कि हे ज्ञपक ! तुमने क्या र अपराध किये हैं वे भली भांति ध्यान में नहीं आये हैं उन्हें फिर म कहो ज्ञपक के वचन से और यवहार से जब गुरु देव को उसकी सरलता—निष्कपटता—प्रतीत होती है तब तो वे ( आचाय ) ज्ञपक को प्रायश्चित्त देने हैं और जब उसके अन्त करण में कपट मालूम होता है तब उसे प्रायश्चित्त नहीं देते हैं। क्योंकि भाव शुद्धि के बिना पाप का निवारण नहीं होता है और न रत्नत्रय की शुद्धि होती है।

प्रश्न—निष्कपट आलोचना कौनसी है ? जिसको सुनकर आचाय प्रायश्चित्त देते हैं और सकपट आलोचना कौनसी है ? आचाय जिसका प्रायश्चित्त नहीं देते हैं।

उत्तर—बैद्य रोगी को तीन बार पूछा करते हैं—तुमने क्या भोजन किया ? क्या आचरण किया तुम्हारे रोग का क्या हाल है ? शरीर काटा फास आदि लग जाने पर भी तुम्हारे काटा या फास आदि कहा लगा कैम लगा ? अब घाव अच्छा हुआ या नहीं—ऐसे तीन बार पूछते हैं। तीन बार पूछने पर यदि तानों बार एकसी आलोचना करता है तब उसकी वह निष्कपट आलोचना मानी जाती है और जो भिन्न भिन्न प्रकार स आलोचना की गई हो उसे वक्रा ( कपट्युक्त ) आलोचना कहते हैं। उस आलोचना में मायाचार रहता है।

द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के आश्रित उपपन्न हुए त्रियों को प्रति सवना कहते हैं। अर्थात् सेवना के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विकल्प से चार भेद होते हैं। द्रव्य सवना के तीन भेद हैं—सचित्त द्रव्य सवना अचित्त द्रव्य सवना और मिश्र द्रव्य सवना। जिस पुद्गल शरीर में जीव रहता है उस शरीर को सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीव रहित पुद्गल को अचित्त द्रव्य कहते हैं। तथा सचित्त और अचित्त पुद्गल के समुदाय को मिश्र द्रव्य कहते हैं। जीव स ग्रहण किये हुए पृथ्वी जल अग्नि वायु आर वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जिस पुद्गल को जीव ने छोड़ दिया है, उस पुद्गल को अचित्त कहते हैं।

क्षेत्राणि क आश्रित होने वाले स्थूल व सूक्ष्म त्रियों का यदि त्रियों का त्यों वगणन नहीं करता है तो प्रायश्चित शास्त्र के ज्ञाता आचार्य उसे प्रायश्चित नहीं देते हैं। आगम में भी यही कहा है—

पडिसेवखादि चारे जदि आजयति नहाकम सन्वे ।

कुन्वति तहा सोधि आगमववहारिणा तस्म ॥ ६ १ ॥ ( भग आ )

अर्थ—जब क्षपक द्रव्य क्षेत्र काल और भाव क आश्रय से उत्पन्न हुए त्रियों का प्रातपादन यथाक्रम से करता है, तब उसको प्रायश्चित देने में कुशल आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं।

प्रश्न—जब मुनिराज निर्दोष आलोचना करते हैं तब आचार्य का क्या कर्तव्य होता है ?

उत्तर—जब आचार्य को निश्चय हो जाता है कि इस क्षपक की आलोचना निर्दोष है तब प्रायश्चित्त आगम के वेत्ता आचार्य आगम से अपराधों की परीक्षा करते हैं। अर्थात् इस प्रायश्चित का विधान करने वाला यह सूत्र है और सका यह अर्थ है। इस अपराध का यह प्रायश्चित्त बतलाया है इत्यादि रूप स आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं।

प्रश्न—दोष के अनुरूप प्रायश्चित्त का विचार करने वाले आचार्य को अतिचार सेवन करने के पश्चात् क्षपक के भावों का परि  
स प्र  
पू कि ५

खमन कैसे है, उस पर भी ध्यान देना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—प्रतिसेवना के आचरण से ज्ञापक के मनो परिणामों में हानि या वृद्धि कैसी हुई है ? अर्थात् प्रति सेवना ( विकला चरण ) करने से जो इसके पाप हुआ है उसके बाद इस ज्ञापक के संस्कार भाव हुए हैं या सवेग भाव उत्पन्न हुए हैं। यदि उसके संस्कारा परिणाम हुए हैं तब तो इसका पूर्वोक्त पापकर्म की वृद्धि हुई है और यदि उसके संवेग पूरा भाव हुए हैं तब उसके पूर्व दुष्कर्म की हानि हुई है। तथा जो पाप कर्म की हानि या वृद्धि हुई है वह भी मंद हुई या तीव्र हुई है ? इसका भी आचार्य विचार करते हैं।

जैसे—किसी ज्ञापक ने पहले असयम का आचरण किया पश्चात् उसका अन्तःकरण 'हाय यह मैंने बहुत बुरा किया' इत्यादि पश्चात्ताप से वृद्ध हुआ। और बाद में संयमाचरण में प्रवृत्त हुआ। इस पश्चात्ताप पूर्वक संयमाचरण के प्रभाव से नवीन और सचित कर्म का एक देश निजरा अथवा सम्पूर्ण निजरा होती है। अर्थात् सम्भ्रम या मंद परिणाम से एक देश निजरा होती है और तीव्र परिणाम से सम्पूर्ण कर्म की निजरा होता है।

इन सब बातों का विचार करके प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य ज्ञापक के परिणामों को जानकर जितने प्रायश्चित्त से वह शुद्ध हो सकता है उसे उतनाही प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे स्वयंकार अग्नि की शक्ति की न्यूनाधिकता को जान कर उसके अनुसार ही अग्नि को धमता है वैसे ही प्रायश्चित्त का जिसे पूरा अनुभव है ऐसा आचार्य भी यह अपराध अल्प है यह महान् है इसके क्रोधादि परिणाम तीव्र थे या मन्द थे—इत्यादि का विचार करके उसके अनुरूप ही प्रायश्चित्त देते हैं।

प्रश्न—दूसरे के परिणामों का ज्ञान आचार्य कैसे करते हैं ?

उत्तर—साधु के साथ रहने से उसके नित्य के कर्मों को देखकर आचार्य उसके परिणामों का पता चला लेते हैं अथवा आचार्य साधु से पूछ लेते हैं कि जब तुमने प्रतिसेवना की थी उस समय तुम्हारे परिणाम कैसे थे ? इत्यादि उपायों से साधु के परिणामों का ज्ञान आचार्य करते हैं।

आचार्य आयुर्वेद विहारद वैद्य के समान होते हैं। जैसे विद्वान् वैद्य रोगों का भली भांति परीक्षा कर साम्य, कष्ट—साध्य अथवा असाध्य व्याधि के अनुरूप औषध देकर उनकी चिकित्सा करता है वैसे ही आचार्य भी अल्प प्रायश्चित्त मध्यम प्रायश्चित्त या महान् प्रायश्चित्त देकर साधु को दोष से मुक्त ( विशुद्ध ) करने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न—आचार्य के आपने पहले आचारत्व आधारबत्वादि गुण बताये हैं उनके धारण करने वाले आचार्य ही निर्वापक हो सकते

हैं। यदि कलादि शेष से उक्त गुण धारक आचार्य न मिलें तो अन्य मुनि भी क्षपक का समाधि मरण कर सकते हैं? या नहीं?

उत्तर—उक्त गुणों का धारक आचार्य अथवा उन गुणों से शांति उपाय भी न हो तो प्रवक्त मुनि या स्थविर ( बृद्ध ) अनुभवी मुनीश्वर अथवा बालाचार्य यत्न पूर्वक ऋतौ में प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधन करने के लिए निर्वाणकाचार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—प्रवक्त कितने कहते हैं?

उत्तर—जो अल्पभुक्त का ज्ञाता होने पर भी संघ की सम्पूर्ण मन्मथ और चारित्र्य का ज्ञाता होता है वह प्रवक्त होता है।

प्रश्न—स्थविर किसे कहते हैं?

उत्तर—जो चिरकाल के दीक्षित तथा मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर होते हैं वे स्थविर मुनि हैं।

प्रश्न—आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लेने के पश्चात् और देहत्याग करने का उचित काल प्राप्त नहीं होने के पूर्व क्षपक क्या करता है?

उत्तर—जिसने अपने चरित्र को निर्दोष बना लिया है तथा शास्त्रोक्त विधि म गुरुक समीप रहकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर उज्वल किया है वह क्षपक समाधिमरण के लिये धारणा विग्रह विशेष चरित्र में उत्पन्न करने की कामना करता हुआ वर्षाकाल में नाना प्रकार के वपश्चकरण कर हेमन्त में सन्तान का आश्रय लेता है। क्योंकि श्रौतमणि ऋतु की तरफ हेमन्त ऋतु में अनशनानि तप करने पर भी शरीर को विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—जिसने समाधि के सूत्र साधनों का अभ्यास कर लिया है। अर्थात् अनन्त कष्ट-प्रद तप का आचरण कर कष्ट सहन करने का जिसने सामर्थ्य उत्पन्न कर लिया है उसका लिये वसति का कौनसा नियम है या नहीं? अर्थात् उसे किस बाधा रहित वसति में ही रहना चाहिए या सवाध साधन वसतिका में भी रह सकता है? यदि विशेष नियम है तो उसका लिए कौनसी वसति तो अयोग्य मानी गई है और कौनसी योग्य?

उत्तर—अनेक दुर्धर तपस्वरणों का पालन कर जिसने ऋतु साहचर्य प्राप्त करली है समाधि मरण के लिए संस्तर पर आरुह्य हुए उस क्षपक के लिए भी निर्विघ्न और निर्बाध वसति का ही योग्य मानी गई है। क्योंकि क्षुणा प्यास आदि के सताने पर यदि शान्ति को देने वाली वसति नहीं होगी तो उसके परिणामों में सक्तेरा उत्पन्न हो सकता है? अतः उसे योग्य वसति में ही ठहरना उचित है।

प्रश्न—उसके लिए अयोग्य वसतिका कौनसी होती है ?

उत्तर—सगीतशाला नृत्यशाला गजशाला अश्वशाला तेली का घर कुम्हार का घर जोबी का घर बाजे बजाने वालों का घर दोषका घर बास के ऊपर बड़कर खेल करने वालों का घर रस्सी पर बड़कर नाच करने वाले का घर इन सबके समीप की वसतिका मुनि के लिए योग्य नहीं होती है। तथा राज माग ( मङ्क ) के समीपवर्ती वसतिका भी मुनि के निवास के योग्य नहीं है।

लोहार सुनार ( बदर्ई ), चमार कोली लीपे ठठेर कबाल भाङ व वनीगण ( स्तुतपाठक ) सलाबट, तथा करोत से काठ को चीरने वाले जहा रहने हों उस के निकट तथा बाटिका और कूप बावड़ी आदि जलाशय के समीप ए प्र जागी यभिकारी लोग तथा ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करने वाले शराबी धोवर आदि अधम पुरुष जहा रहते हैं ऐसे स्थानों के निकट का वसतिका में समाधि की इच्छा रखने वाले मुनीश्वरों को कदापि नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उक्त स्थानों के समीप रहने वाले क्षपक कर्मात्मा में उद्विग्नता तथा शान्ति का भंग होने की पुण्य समावना बनी रहती है इसलिए एतद्वय की उज्ज्वलता बढ़ाने वाले क्षपक को उक्त आयोग्य वसतिका में कदापि नहीं ठहरना चाहिए।

प्रश्न—क्षपक सातु को कहा और किस प्रकार रहना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक मुनि को ऐसे स्थान में ठहरना चाहिए जहा उसकी पाचों इन्द्रिय शांत रहें जहा पर इन्द्रियों के विषयों को उच्छेजित करने वाले साधन न हों जहा पर मन में उद्वेग और विकार भाव उत्पन्न न हों ऐम शान्त वातावरण वाले स्थान में वसतिका के साधक स्थान में प्रगुप्ति के चारक मुनीश्वर रहते हैं।

प्रश्न—जहा पर मन में लोभ उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों का प्रचार नहीं है ऐमो प्रत्येक वसतिका मुनि के निवास करने योग्य मानी गई है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी वसतिका मुनि के निवास के लिए योग्य मानी है जो उक्त गुणों से युक्त होता हुई उद्गम उत्पादन और एषण दोषों से रहित है। तथा जिसमें मुनि के उद्देश्य से लीपना पोतना सफेना करना या अन्य सस्कार किया नहीं का गई है। जिसमें जन्तुओं का निवास नहीं है तथा बाहर से आकर प्राणों वास नहीं करते हैं ऐसी वसतिका में मुनि ठहरा करते हैं।

प्रश्न—क्षपकादि मुनियों को कैसी वसतिका में प्रवेश करना चाहिए ?

उत्तर—जिस वसतिका में बाल वृद्ध मुनि सुख पूर्वक प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं जिसका द्वार बन्द होता है,

जिसमें प्रकाश भी विपुल हो ऐसी वसतिका होनी चाहिए। इसमें कम से कम दो शाल १ या कमरे होने चाहिए। उनमें से एक में तो क्षपक के लिये। और दूसरी अन्य मुनि तथा धर्म श्रवणाथ आए हुए भावकों के लिए। यदि तीन कमरे हों तो एक में क्षपक मुनि का संस्तर दूसरे में अन्य मुनियों का वास और तीसरे में धर्मापदेश प्रण करने के लिए आए हुए लोगों का रहना होता है।

वसतिका का द्वार यदि बन्द न होता है तो शीतपायु आदि का प्रवेश होने से जिस क्षपक के अरिथ व चम मात्र शेष रह गये हैं ऐसे क्षपक को अतिशय क्लेश उत्पन्न होगा। जिसका द्वार बन्द न होता हो अर्थात् खुला हो रहता हो ऐसी वसतिका में क्षपक शरीर के मल का त्याग कस कर सकगे ? इसलिए वसतिका बन्द होने वाले द्वार की ही होनी चाहिए।

यदि वसतिका में अधिकार होगा तो बह्य पर रहने से जीव जन्तु का अत्रलाकन न हो सकने के कारण असयम होगा। जिस वसतिका में अन्तर घुसने या बाहर निकलने में कठिनाई होती हो उमम सिर मस्तक या तुन्ने आदि म चो लगन को सम्भावना रहती है तथा सयम की भी विराधना होती है।

प्रश्न—क्षपक का संस्तर कसे स्थान में होना चाहिए ?

उत्तर—क्षपक का संस्तर ऐस स्थान में होना चाहिए जहा बालक वृद्ध तथा चार प्रकार का सध सुगमता से आ जा सके। वसतिका का कागड़ और दीवाल मजबूत होना चाहिए। उद्यान-गृह गुफा या शूय-गृह भी सम तल के योग्य माने गये हैं। ऐम निर्वाध स्थान में क्षपक का संस्तर करना चाहिए। दूसरे ग्राम या नगर के आगत व्यापारियों के ठहरने के लिए जो मानवाम बनाय गये हों उनमें भी तथा ऐम ही अन्य निर्वाध और निर्वाध स्थानों में क्षपक के संस्तर की योजना की जा सकती है।

प्रश्न—जहा उद्यान-गृह शूय-गृह सराय धमशाला गुहा आदि क्षपक संस्तर के योग्य स्थान ( वसतिका ) न मिले बहा क्या करना चाहिए ?

उत्तर—जहा पर क्षपक के योग्य उक्त प्रकार की वसतिका न मिले बहा के आदि में अन्तर्य होता है कि वे बास के बने टट्टी आदि से क्षपक के तथा वैयावृत्त्य करने वाले साधु आदि के सुखद बास के लिए कुटिया बना ल तथा सम-प्रण क लिए आगत चतुर्दिध सध के बैठने आदि के लिए मजुल मण्डप की रचना करदे। परन्तु ध्यान रहे इस काय में बहुत अल्प आरम्भ होना चाहिए। कहा भी है—

आगतधरादीसु वि कडएहिं थ चिलिमिलाहिं कायव्वो ।

खवयसोच्छागारो धम्मसवणमबवादी थ ॥ ६ ६ ॥ ( भग आ )



जो भूमि निमल न होगी अर्थात् क्षेत्र द्विज और प्राणियों के विलो सन्ति नोमा तो द्विजों में प्रविष्ट हुए तथा उनसे निकले हुए जीव जन्तुओं को बाधा पहुचने स प्राण सयम की विराधना होगी। भूमि यन्ति जल स भीगा होगी तो जल नाय के जीवों को पीड़ा होगी, सल्लिप भूमि सूखी होनी चाडप। भूम चपक के शरार क बराबर होनी चाहिए। यन्ति शरीर प्रमाण स आधक होगी तो प्रति लेखना क व्यासग अधिक करना पडगा। प्रमाण स न्यून होी तो शरीर को सुको ना पडगा। प्रकाश रहन या अलर प्रकाश वाली भूमि में जीव जातु दिखाई न देने पर प्राण सयम की रक्षा केंस हो सकगी। सल्लिप उक्त गुण वाली भूमि ही चपक क सस्तर योग्य होती है।

( २ ) शिलामय सस्तर—जो पत्थर की शिला अग्नि से तप कर प्रासुक होगई हो या टाकी से चारों ओर स उकेरी गई हो अथवा घिसा गई हो वह प्रासुक शिला सस्तर के योग्य होती है। वह शिला टूटी फूटी न होना चाहिए। निम्नल तथा चारों ओर स पाषाण मट्टण ( खटमल ) आदि क सम्पक म रहित और समतल एव प्रकाश युक्त होना चाहिए।

( ३ ) काष्ठमय सस्तर—जो काष्ठ का फलक ( तखता ) अखड एक है आग्नी के लेटने योग्य चौड़ा तथा हलका है—अर्थात् जिसको उठाने लाने रखने म अधिक परिश्रम न करना पडे ऐसा है भूमि पर चारों तरफ स लगा हुआ है अच्छा चिक्का और छेद-दरारों स रहित है जिस पर शयन करने या बैठने पर सूचा आदि शब्द नहीं होता है—ऐसा पुरुष पमाण निजन्तुक खक्क काठ का तखता साधु के सस्तर के योग्य माना गया है।

( ४ ) तृण सस्तर—चपक के लिए तृण का सस्तर वही प्रशस्त होता है जो गाठ रहित तृण स बनाया गया हो अन्तर रहित एक स लम्बे तृणों से जिसकी रचना की गई है। जिन तृणों से सस्तर बनाया जावे वे पाले न हों किन्तु ठोस हों। शृदु स्पर्श सहित तथा निज तुक्त हों जिस पर सोन स चपक को सुख मिले और शरीर में म्बुजली आदि का क्लेश न हो। ऐस तृण का सस्तर चपक के लिए योग्य माना गया है।

उक्त चारों प्रकार के सस्तरों में निम्नोक्त गुण अवश्य होने चाहिए।

किसी भी प्रकार का सस्तर हो वह यथोचित प्रमाण वाला हो। न तो अधिक छोटा हो और न अधिक बड़ा हो। सूर्योत्पत्य के समय व स्यास्त के समय दोनों वला में प्रति लेखन से शुद्ध किया जाता हो। अर्थात् देख शोध कर जिमका भली भाति प्रमाजन किया जाता है। शास्त्र कथित त्रिधि स जिसकी रचना की गई हो। ऐमा गुण विशिष्ट सस्तर चपक के योग्य होता है।

चपक अपना आमा निर्यायकाचाय को सौंय कर-उसक। शाण मानकर-उक प्रकार के शास्त्र सम्मत सस्तर पर आरोदण करता है और विधि वृद्धक सल्लेखना का आचरण करना प्ररम्भ करता है।

सल्लेखना दो प्रकार की होता है। ब्रह्म सल्लेखना और आभ्यन्तर सल्लेखना। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना। ब्रह्म सल्लेखना अर्थात् त्रय सल्लेखना—आहार का विना पूर्वक त्याग करके शरीर कुरा करने को ब्रह्म या द्रव्य सल्लेखना कहते हैं। आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना—स व्यक्त तथा ज्ञानात्मा से विना से मिथ्यात्व तथा कोषादि कषायों के कुरा करने को आभ्यन्तर या भाव सल्लेखना कहते हैं।

इस प्रकार वस्तुतः और सत्त्व का विवेचन पूरा हुआ।

**वैद्यावृत्त्य-दृशान सहायक मुनि कैसे होने चाहिए ?**

जिन समाधि के आराध्यक स्वरूप के समाधि के साधकों का भली भाँति अभ्यस कर लिया है तथा जो आगमोक्त वस्तुतः में विधि पूर्वक सत्त्व पर आरु हो गये हैं उमकी समाधि विधि को सफल करने के लिए नियामक व अदालीस सहायक (वैद्यावृत्त्य करने वाले) मुनियों की योजना करते हैं। वे वय वृत्त्य कुशल साधक मुनि से होना चाहिये। उनकी स्वस्व लिखते हैं—

पियधम्मा द्दधम्मा सवेगाउज्जभीरुणा धीरा।

छत्तएह पच्चय्या पच्चक्खवाणम्मि य रिण्हू ॥ ६४७ ॥

कप्पाकप्पे कुमन्ना ममात्तिकरणुज्जदा मुत्तरहम्मा।

गीदत्त्या भयवता अडदालीम तु खिज्जवया ॥ ६४८ ॥ भग आ

अर्थ—जिनके साथ स्वरूप को अर्हतिश घनिष्ठ सम्बन्ध रहना है स्वरूप के जीवन का बनना व विगडना जिनके आश्रित है वे साधु कैसे होने चाहिए—उमके विषय में बनलाते हैं कि वे धर्म-प्रिय होने चाहिये क्योंकि जिनको स्वयं चारित्र-धर्म प्यारा नहीं होगा वे स्वरूप को अशक्त अवस्था में चारित्र में प्रवृत्ति करने के लिए उमसे हित कामे कर सकेंगे ? मलिए आचार्य चारित्र प्रेमी साधुओं को स्वरूप की सेवा के लिए चुनते हैं। सम्यग्दृष्टि होने के कारण साधु चारित्र प्रेमा तो लेफिन चारित्र मोहनीय कम के उन्म से जो स्थिर चारित्र वाले नहीं हैं वे स्वरूप को चारित्र में सुस्थिर कैसे कर सकते हैं इसलिए आचार्य उम प्रेमी साधुओं में से भी ट्ट चारित्र वाले मुनियों को स्वरूप की सेवा में नियुक्त करते हैं। जो पाप से नहीं डरते हैं वे असंयम का त्याग नहीं कर सकते हैं इसलिए जिनके हृदय में चतुर्गति में भ्रमण करने का तथा पापाचरण का भय सदा विद्यमान रहता है वे ही चारित्र को दृढता में आरण करने में क्षमता रखते हैं। वैद्य धारक मुनि परिवर्ध के

आने पर अपने धम से कभी विचलित न होते हैं। अतः धीरे मुनि सवा के राय में निपुण होते हैं। वैयावृत्त्य करने वाले मुनि क्षपक के अभिप्राय को उसको चेष्टानि स जान मरुने वाले होने चाहिए। जो शर र नी चेष्टानि स क्षपक के अभिप्राय का ज्ञान करने में कुशल नहीं होते हैं वे उसका भला नहीं कर सकते। इसलिए अभिप्राय — ज्ञाना माधु सवा काय में नियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन्होंने पहले भी वैयावृत्त्य काय में निपुणता प्राप्त की है तथा जो साकार और अकार प्रत्याख्यान के क्रम के ज्ञाता होते हैं वे परिचारक होते हैं। तथा जो अनुभवों साधु क्षपक के योग्य तथा अयोग्य आहार पान के ज्ञाना होने हैं वे ही क्षपक को उचित आहार पान में प्रवृत्त कर सकते और अनुचित भोजन पान स निवृत्त कर मरुने हैं। परिचारक प्राग्जित शास्त्र के सत्यामी आगम रहस्य के वेत्ता तथा स्व और पर का उद्धार करने स दक्ष होने चाहिए। उक्त गुणों स अलकृत परिचारक साधु एक क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए अद्वानालीस होते हैं।

प्रश्न—परिचारक मुनि क्षपक की क्या र सवा करते हैं। किस ० परिचर्या क लिए कितन र मुनि नियुक्त किये जाते हैं ? इसका विवेचन कर स्पष्ट सुलासा करने की कृपा करें ?

आमासखपरिमासखचक्रमखासयख शिसीदखे ठाखे ।

उव्वत्तखपरियत्तखपमारखा उटखादीसु ॥ ६४६ ॥

सजदकमेख स्वययस्म ढ्हकिरियासु खिचमाउत्ता ।

चदुरो समाधिकामा आलग्गता पडिचरनि ॥ ६५ ॥ ( भग आ )

अ १—शरीर क एक देश के स्पर्श करने को आमश कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के स्पर्श करने का परिमर्शन कहते हैं। क्षपक की सवा के लिए शर उधर गमन करने को चक्रमण कहते हैं। क्षपक को संस्तर पर तुलाना आवश्यकता पड़ने पर उस हस्त द की सहायता दकर बैठाना उठाना एक करवट स दूसरी करवट बैठाना, उसक हाथ पाव सकोचना पसरना त्या ० सेवा करते समय परिचारक मुनि मन वचन काय द्वारा सावधानी स मुनि माग का रक्षा करते हुए क्षपक क शरीर और अन्त रण की समाधि (सुख शान्ति) का पूरा र ध्यान रखते हैं।

आवाय —परिचारक मुनियों की मनोवृत्त क्षपक अ त हरण के समाधान स लगी रहती है। जब क्षपक के हस्त पादादि किसी अवयव में पीड़ा का अनुभव होता है, त काल उस अवयव का कोमल स्पर्श द्वारा उसको दवाने सुलसुलाने लगते हैं। जब सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है तब यथायोग्य रीति से उसक हृत्स । पूरा ध्यान रखते हुए शरीर का शनै शनै मर्दानादि करने में हत्पर

रहते हैं। जब क्षपक को बैठे रहने को इच्छा होती है, तब उसे सावधानी से उठाकर बैठते हैं। उसके इगित ( शारे ) स सोने की अभिलाषा जानकर आराम स सुनाते हैं। खड़े होने का अभिप्राय जानकर शीघ्रता स खड़ा करते हैं। धर उधर थाड़ा चलने की इच्छा होने पर उस हस्तावलम्बन देकर चुमाते हैं। उसको सेवा के लिए परिचारक साधुओं को इधर उधर जाना पड़ता है तो तत्क्षल निरलस होकर गमन करते हैं ता पय यह है कि जिस समय ( रात्रि में या दिन में ) जिस परिचया की आवश्यकता प्रतीत होती है उसी समय परिचर्या करने में वे परिचारक साधु क्षण भर का भी वलम्ब नहीं करते हैं। अपने मन उचन श्री कथी को क्षपक की परिचर्या में सावधानी स लगाये रहते हैं। सत्र परिचर्या को करते हुए क्षपक के श्रीर अपने समय की रक्षा का पूर्ण यान रखते हैं। इस प्रकार चार परिचारक मुनि क्षपक की शरीर सम्बन्धी परिचया में तमय रहते हैं।

चार मुनीश्वर विक्रमों का त्याग कर धम कथा कहकर क्षपक के अत करण से धम भावना में न्तचित रहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के सम्मुख कौन २ मी विख्याए नहीं की जाती हैं ?

उत्तर—निन कथाओं को सुनकर क्षपक के चित्त में धर्म भावना नष्ट होकर आतर्गन्ध्यान उपपन्न होते हैं उनको विकथा कहते हैं। नस-नार प्रकार क आहार का वरण करना आहार कथा है। स्त्रियों के सौन्दर्यात् का निरूपण करने वाली कथा स्त्री कथा है। राजाओं के प्रेम्वात् का प्रणन करना राज कथा है। नाना प्रकार के देशों का वरण करने वाली वाता से देश कथा कहते हैं। काम विकार से उन्मत्त होकर हास्य मिश्रित अमभय भगड वचन उच्चारण करने को कल्प कथा कहते हैं। वास के रूपर रसी के ऊपर चढकर खेल करने नृत्य करने वाली गान वाग्नित्रात् शृ गार रसात् का विवेचन करनेवाली सब कुकथाए हैं। वे स आ मा के स्वरूप चिन्तन मे बाधा पडुवाने वाली होती हैं। सलिए इनका त्याग कर चार मुनीश्वर क्षपक को उचित समय पर सवदा धम कथाओं का उपदेश देने रहते हैं।

प्रश्न—धम कथाओं का श्रवण कराने वाले मुनीश्वर क्षपक को किम प्रकार धर्मापदेश देते हैं ?

उत्तर—जिस समय जैसे धर्मापदेश की आवश्यकता प्रतीत करते हैं वे धर्मापदेशक मुनिराज उस समय बैसा ही मधुर स्निग्ध आर न्यगम हितकारक धर्मापदेश विचित्र २ कथाओं द्वारा देते हैं जिससे क्षपक का अन्त करण उस उपदेश की शीघ्र ग्रहण कर लेता है।

जिनमें वाक्यदुता होती है तथा जिनका वचनोच्चारण अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीरता पूरा होता है ऐसे ही वग्मी चार मुनि धम कथाओं द्वारा क्षपक को धर्मापदेश देते हैं।

वे मुनि जब धर्मापदेश देते हैं उस समय जिस अभिप्राय का विवेचन करना चाहते हैं उसी अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले उनके शब्द निकलते हैं। उन शब्दों से कभी विपरीत अर्थ का भास नहीं होता है। एक ही शब्द का वे दो तीन बार उच्चारण नहीं करते हैं। उनके सब वचन असंग्रह्य और प्रत्यक्षान्ति प्रमाण से अविरोध निकलते हैं। उनका भाषण न तो अतिमन्द स्वर में होता है और न अति उच्च स्वर में ही होता है, किन्तु वे मध्यम स्वर में ही भाषण करते हैं। वे अति शीघ्र नहीं बोलते और न रुक रुक कर ही उच्चारण करते हैं। अपितु मध्यम पद्धति से इस प्रकार शब्दों का शब्दालावद्ध क्रम से उच्चारण करते हैं जिनको सुनकर श्रोताओं को अर्थ का स्पष्ट भास होता जाता है। उनका भाषण कण-मधुर मिथ्यात्व से हीन (सम्यक्त्व का पोषक) तथा साधक होता है। उनके भाषण में पुनर्कति दोष नहीं होता है।

प्रश्न—सस्तरारूढ़ क्षपक को कौनसी कथा धर्मापदेशक मुनि श्रवण कराते हैं। कौनसी कथा उसके लिए हितकारिणी हो सकती है?

उत्तर—जो कथा क्षपक के अन्त करण में उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों का निवारण कर सवेग और वैराग्य को दृढ़ करने वाली हो वही कथा क्षपक के लिए हितकारिणी हो सकती है। वही कहा है—

आकसेवशी य सवेगया य शिन्वेयशी य स्वयम्स ।

पात्रोग्गा ह्येति कथा ख कथा विकसेवशी जोग्गा ॥ ६५५ ॥ [ भग आ ]

अर्थात्—कथाएँ चार प्रकार की होती हैं। १ आक्षेपणी २ विक्षेपणी ३ सवेजनी और ४ निर्वेजनी। उनमें से विक्षेपणी को छोड़कर शेष तीन कथाएँ क्षपक के योग्य होती हैं।

प्रश्न—आक्षेपणी कथा किसे कहने हैं? उसका स्वरूप सप्रमाण समझने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—आक्षेपणी व विक्षेपणी कथा का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आकसेवशी कथा सा विजाचरखमुवदिसदे जत्य ।

ससमयपरसमयगदा कथा दु विकसेवशी खाम ॥ ६५६ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—जिसमें विद्या (सम्यग्ज्ञान) और चरण (सम्यक् चरित्र) का विवेचन किया जाता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। तथा स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा को विक्षेपणी कथा कहते हैं।

भाषा—मति श्रुत अथर्वि मन पयय और केवल ज्ञान के स्वरूप, लक्षण और भेदों का वर्णन जिस कथा में किया गया हो तथा सामायिक छेत्नेपस्थापना परिहार—त्रिशुद्धि सूत्रम्—आम्पराय और यथाचर्यात इन पाच प्रकार के चारित्र का अथवा अहिंसादि पाच महाव्रत ईर्या भाषानि पाच समिति और मनोगुणि आदि तीन गुणि इस प्रकार तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप विवेचन जिसमें होता है उसे आत्मेपणी कथा कहते हैं।

जीवादि पन्था सत्रथा नित्य ही है या सबथा क्षणिक ही है। स—मात्र तत्र है या विज्ञान मात्र तत्र है या सब शूय ही तत्र है इत्यादि पर(अथ मत के) सिद्धांतों को पूव पक्ष में लेकर इन तत्त्वों में प्रत्यक्ष अनुमान और अ गम प्रमाण से विरोध निखाकर कथचित् नित्य कथचित् अनित्य कथचित् एक और कथचित् अनेक तत्त्व रूप अपने सिद्धान्तों का समयन जिसम किया जाता है उसे विज्ञेपणी कथा कहते हैं।

प्रश्न—सवेजनी और निर्वेजनी कथा किसे कहते हैं ? उनका स्वरूप दिखाने की कृपा कर।

उत्तर—उनका स्वरूप वर्णन करने के लिए निम्न गाथा उद्धृत करते हैं।

मवेयणी पुण क्हा णाणचरित्तववीरिय इत्थिग्गदा ।

सिणवेयणी पुण क्हा सरीरभागे मवेधे य ॥ ६५७ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—ज्ञान का अभ्यास चारित्र का पालन और तपश्चरण का आराधन करने से आत्मा में जो जो नित्य शक्तियां प्रकट होती हैं उनका स्पष्टता से विवेचन करने वाली कथा को सवेजनी कथा कहते हैं। शरीर भोग और जम परम्परा से वैराग्य—पञ्ज करने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं। यह शरीर अशु च है क्योंकि यह रम रक्त मास चर्मा हड्डी मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं से पूरित है। यह शरीर और भोग सामग्री सजदा आत्मा को क्लेश का कारण होती है। देव पचाय व मनुष्य पचाय ये दोनों उत्तम माने गई हैं। उन दोनों में भी मनुष्य जन्म अति दुर्लभ व श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि इसमें ही सयम और तप की आराधना हो सकती है। इस प्रकार का निरूपण जिस कथा में होता है उसे निर्वेजनी कथा कहते हैं।

प्रश्न—क्षपक के लिए विज्ञेपणी कथा का निषध क्यों किया गया है ? स्व मत का समयन और पर मत का निवृत्तन (खनन) सुनन से तो घमे से ब्रह्मा दृढ होती है और जिन—कथित चारित्र पालन करने में वसाह की वृद्धि होती है। क्षपक के लिए उसका अर्थ क्यों मना किया गया है ?

उत्तर—संस्तरारूढ़ ज्ञापक का जीवन किनारे आ लगा है। उस समय उसकी आत्मा में राग द्वेष का अभाव होना आवश्यक है। क्रोधदि का त्याग और ज्ञानदि धम में परिणाम तन्मय होना ही परम हितकर है। यदि ऐसे समय में उसके सामने स्वसिद्धांत की सिद्धि और परमत में प्रत्यानादि विरोध दिखाकर स्वहन मंडन का प्रसन्न छेड़ा गया और उसका चित्त उसमें तमय होगया और इतने में ही कदाचित् उसकी आयु का अन्त हो गया तो उसके अंत करणमें क्रोधान्ति काय का प्रादुर्भाव और रागद्वेष की जागृति हो जाने से उसका समाधिर्मण विगड़ जावेगा। और यह भी हो सकता है कि वह स्वहन मंडन में व्यामुग्ध होकर पूव पक्ष को ही सत्य मान बैठे क्योंकि उस समय बुद्धि अस्थिर होती है।

राज्ञा—मन्द बुद्धि ज्ञापक के लिए विज्ञेपणी कथा अनुपयोगिनी है किन्तु तीव्र बुद्धि बहुश्रुत ज्ञापक के लिए तो उपबोगिनी हो सकती है ?

समाधान—विज्ञेपणी कथा से आत्मा में राग द्वेष की उत्पत्ति होने से संस्तरारूढ़ ज्ञापक के लिए उसका (विज्ञेपणी) आचार्यों ने सवथा निषेध किया है क्योंकि यह कथा समाधिर्मण की बाधक होती है। इसलिए जो कथा समाधिर्मण की साधक होती है उनका उपदेश ज्ञापक के रत्नत्रय आराधना का साधक होता है। शास्त्र में कहा है।

अभुजदमि मरखे सद्यारत्यस्स चरमवेलाए ।

तिविह पि कहति कह तिद्वपरिमोहया तम्हा ॥ ६६० ॥ [ भग आ ]

अर्थ—अशुभ मन वचन काय का निवारण करने में लगे हुए आचार्य ज्ञापक की मृत्यु के सन्निकट समय में विज्ञेपणी सवेजनी और निर्देजनी इन तीन कथाओं का ही उपदेश देते हैं। विज्ञेपणी कथा का कथन ऐसे समय में अनुचित मानते हैं। अतएव अर्थापदेश के काय में नियुक्त किये गये मुनीश्वर उक्त तीन कथाओं का मनोज्ञ एवं हृदयस्पर्शी इस प्रकार निरूपण करते हैं जिनको सुनकर छुवा रोगादि की पीड़ा को भूल कर ज्ञापक का चित्त रत्नत्रय की आराधना में तत्पर रहता है।

चार मुनीश्वर ज्ञापक की आहार विषयक योजना करने में नियुक्त किये जाते हैं। यथा —

चचारि जब्बा भस उवकप्पेति अगिलाए पाभोग्ग ।

छदियमवगददोस अमाइखो लदिसपयखा ॥ ६६२ ॥ [ भग आ ]

अथ—लघि म यन्न तथा मायाचार रहित औगन्धिने ग्लानि पर विनय प्राप्त करालया हे ऐमे चार मुनीश्वर क्षपक के योग्य उद्गमनि शेष रहित भोजन को उप कल्पना करते हैं ।

भगवती आराधना का अपराजित सूरिकृत विजयोन्मया संस्कृत टीका तथा श्री प आशा रजो कुन मूलाराधना संस्कृत टीका न तोनों में उपक्षपति गाथा निष्प्रिष्ट पत्र का अथ आनयन्ति किया है । इन दो टीकाओं के अतिरिक्त एक प्राचीन प्रकृतिका टीका और भी प्रतीत हाता है । उक्त टीकाओं में कई जगह इस प्राकृत टीका का मत उद्धरणों सहित दिया गया है । वह टीका हमको उपलब्ध नहीं हुई है । उसमें क्या अर्थ किया गया है यह अनिश्चय की गोल में है । किन्तु भगवती आराधना मूल में भी क्षपक के लिए भोजन लाने का कई गाथाओं में उल्लेख है । वह आगे लिया गया है ।

भगवती आराधना का अतिरिक्त समाधिमरण का सविस्तर वर्णन करने वाले कई संस्कृत या प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ हमसे उपलब्ध न हुआ है । इसलिए एक विषय में अन्य आचार्यों का क्या अभिमत है इस विषय में लिखन के लिए हम असमर्थ हैं । आचार्य परम्परा का क्या सम्प्रदाय है ? यह सन्देहास्पद है ।

निगम्य साधु संस्था की अथाचक-वृत्ति होता है । वे आहारानि वस्तु अपने या दूसरे के लिए कभी नहीं मागते हैं । दूसरी बात यह है कि उनके पास पिच्छी कमण्डलु और ज्ञानोपकरण पुस्तकानि के अतिरिक्त कोई पात्रानि नहीं रहते हैं । वे मुनीश्वर क्षपक के लिए आहार पान के पदार्थ किस पात्र में लाते होंगे । यदि गृहस्थ के यहा से पात्र भी माग कर लाते हैं तो तावे पीतल आनि पात्र का ग्रहण करना उनके पद के अनुकूल नहीं है । इसमें सपरिग्रहता का दूषण आता है । पात्र में भोजन लाकर क्षपक को मुनि आहार कराते हैं । उम आहार का ग्रहण करने वाले क्षपक उद्दिष्टानि शेष युक्त आहार होता है । मुनि का आहार गृहस्थ के घर नवधा भक्ति से युक्त गता के द्वारा दिया हुआ होना चाहिए । यह सामान्य नियम सब मुनियों के लिए आवश्यक विज्ञान है । उसका पालन नहीं होता है । परिवारक मुनीश्वरों के द्वारा लाया हुआ आहार आधाकर्मोनि में दूषित है या उद्गम उत्पादना एषणादि दोषों से दूषित है इसका सस्तराहूद क्षपक को क्या ज्ञान हो सकता है ? परिवारक मुनि उद्दिष्ट उद्गमनि शेष रहित आहार लेकर क्षपक के पास लेजावेंगे किन्तु क्षपक के लिए उद्दिष्ट उद्गमादि दोषों का निवारण कैसे हो सकेगा ? इत्यादि अनेक शकाने एक के बाद एक उठती रहती हैं । इनका समाधान करने वाला कोई श्रेष्ठि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है । इसलिए हमने भगवती आराधना मूल और उसकी उपलब्ध दोनों संस्कृत टीकाओं का आधार लेकर स विषय का प्रतिपादन किया है । इस विषय के विशेषज्ञ विद्वान् त्रटि का सरोधन कर पढ़ने की कृपा करें ।

## भगवती आराधना की टीकाओं का उद्धरण

त्रिनयोन्याटीका—चत्वारि नणा चत्वारो यतय । भक्त अशान । पादमं प्रायोग्य उद्गमादि दोषानुपहतं । उक्त्वेति आनयति । अगिलाए ग्लानिमन्तरण कियन्त कालमानयामति सकलेश विना । छिनिय सपकण इष्ट अशान पान वा क्षुत्पिपामापरीषहप्रशातिकरण सममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौ यान् । अबगन्नेस वातपित्तलेध्मणामजनक । क आनयति ? अमाइणो मायारहिता अयोग्यमिते ये नानयन्ति । लद्धिसपण्णा माहा तरायच्चयोपशामाङ्गिलात्तिसमविता । अलधिमान्त्तर्फ क्लशयति । मायावी अयोग्य योग्यमिति कथयेत् ।

प आशाधरजी कृत मूलाराधना संस्कृत टीका—

### चत्वारस्तदथ समुचितमशन उपनयन्तीत्यनुशास्ति—

उक्त्वेति आनयति । अगिलाए ग्लानि विना कियन्त कालमानयामति सकलेश विना । छिनिय भक्तपान क्षुत्पिपासादु लमसमा धिकर निराकरोतीत्यतावतैव सपकणेष । अबगद्वोष वातपित्तलेध्मणामजनक प्रशमक च उद्गमादि दोषरहित वा । अमाइणो अयोग्य योग्य मि मिति प्रतारणरहिता लाभान्तरायच्चयोपशामाङ्गिलात्तिसमविता । तयैव सपकस्यानक्नेशानान् ।।

इनका अर्थ निम्न प्रकार है—

परिचया क लिए नियत किये गये चार मुनीश्वर कितने काल तक हम आहार लाया करेंगे उस प्रकार की ग्लानि (संकलेश) से रहित होकर उद्गमान्नि दाघ रहित भोजन क वे पन्था सपक के लिए लाते हैं जिनको सपक चाहता है । सपक भी आहार की लोलुपता नहीं रखता है । किन्तु वह भी उन्हीं पन्थों की च्छा करता है जो पन्था उसकी भूख त्याग पारपह को शांत करने में समर्थ होते हैं । परिचारक मुनियों के अंत करण मायाचार रहित होते हैं । वे अयोग्य को योग्य कहकर सपक के प्रति कभी झूठ कपट का व्यवहार नहीं करते हैं । वे जो पन्था लाते हैं वे पन्था सपक क वात पित्त और कफ की वृद्धि नहीं करते किन्तु उनकी शान्ति करने वाले होते हैं । तथा वे उद्गमादि दोष से रहित होते हैं । आचार्य उन्हीं मुनिगर्जों को आहार के लिए नियुक्त करते हैं जिनको मोहनीय कर्म और अन्तराय कम के स्योपशाम विशेष रूप लधि प्राप्त होती है । क्योंकि जिनक उक्त भोजन लधि प्राप्त नहीं हुई है उन परिचारकों से सपक को सकलश उत्पन्न होता है ।

आचार्य अतिमर्गाति ने भगवती आराधना की प्रत्येक गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाले संस्कृत पद्य तथा गद्य दिये हैं । उनसे भी उक्त गाथा का अर्थ प्रतिपादन करने वाला निम्न लिखित श्लोक दिया है ।

स प्र

पू कि ४

तस्यानयति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमा ।

निर्माणा लन्धिसम्पन्नस्तदिष्ट गतदूषणम् ॥ ६८८ ॥ [ स भग वा ]

अथ—परिचारक चार मुनिराज सूपक क योग्य आहार लाते हैं । वे आहार क लाने में श्रम की परवा नहीं करते हैं । वे निरभिमान और भोजन लक्षि स सम्पन्न होते हैं । आहार भी बढी लाते हैं जो सूपक को अभीष्ट होता है और सब दूषणों से रहित होते हैं ।

चार मुनिराज पीने योग्य पदार्थ के लिए नियुक्त किये जाते हैं ।

चत्वार जया पाण्ड्यमुत्रकम्पति अगिलाए पाण्ड्यम् ।

छदियमवगददोम अमाइयो लद्विसपण्या ६६३ ॥ [ भग वा ]

अथ—मायाचार रहित और भोजन पान लक्षि स सम्पन्न चार मुनिराज श्रम रहित होकर सूपक के इष्ट उद्गमादि दोष रहित तथा सूपक की प्रकृति क योग्य पीने योग्य पदार्थों की उपकल्पना करते हैं अर्थात् लाते हैं ।

इसकी दोनों की संस्कृत टीकाए नीचे उद्धृत करते हैं—

विजयोन्त्या—चत्वारि जया इति स्पष्टार्था गाया—सूरिणा अनुज्ञातो निवेदितात्मानो द्वो द्वो पृथग्भक्त पृथक् पानं चानयत ॥

( अपराजित सूरिः )

मूलाराधना—चत्वार सूपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलाराधना—स्पष्टम् ।

टीकाथ—आचार्य के आदेश स सूपक क लिए पृथक् दो साधु भोजन और दो साधु पृथक् पीने योग्य पदार्थ लाते हैं ।

चार मुनि लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की रक्षा करते हैं

चत्वारि जया रक्षन्ति दवियमुक्कपियय तय तेर्हि ।

अगिलाए अप्पमत्ता स्ववयस्स समाधिभिच्छति ॥ ६६४ ॥ [ भग वा ]

पान नयन्ति चत्वारो द्रव्य तदुपकल्पितम् ।

अप्रमत्ता समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमा ॥ ६८६ ॥ [ अमितगति ]

अथ—क्षपक के लिए लाये हुए भोजन पान के पदार्थों की चार मुनि प्रमाद रहित हुए रक्षा करते हैं। वे बड़ी सावधानी से इस का ध्यान रखते हैं कि उनमें ऊपर स त्रस जाव न गिर जावें तथा दूमरे उन पदार्थों को गिरा न सकें।

बिचयोदया—तैरानात भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमाद रहिता त्रसा यथा न प्रविरान्ति। यथा वापरे न पातयन्ति ॥

मूलारायणा—चत्वारस्तद्रूपपान तरा रक्षन्तीत्याह। रखाति यथा त्रसादधी न पतति परे वा न पातयन्तीत्यर्थः। दधिच द्रव्यं। उपकल्पिय आनीत। नय भक्तपान वा ॥

नका अथ स्पष्ट है। मूल अथ स विशेष अथ न होने से इनका भिन्न अथ नहीं लिखा गया है।

नोट—शास्त्रों में नियम दो प्रकार का बताया गया है। एक उत्सव और दूसरा अपवाद। साधुओं के लिए आगम में उक्त दो प्रकार के नियम का वही स्थान ० पर मिलता है। साधु के २८ मूल गुण का पालन करना साधु के लिए परमावश्यक माना गया है। यह उत्सव भाग है। इन गुणों का अस्तित्व जिसमें नहीं पाया जाता है वह मुनि नहीं कहा जा सकता है। किन्तु २८ मूल गुणों के धारक तथा आगम के अनुकूल चरित्रादि के पालन करने वाले साधु को भी समाधिमरण करने वाले साधु का वैयावृत्त्य करने के लिए भगवती आराधना मूल तथा उसकी संस्कृत टीकाओं में क्षपक के लिए भोजन पानादि उचित पदार्थों के खाने के लिए जो विशेष विधान किया गया है वह अपवादाभागा है। उस भाग का सवदा और स त्र पालन करने की आज्ञा है। अपवाद भाग का अमुक अवसर पर अमुक प्रकार आचरण करने को कहा गया है। यही समाधिमरण का प्रकरण है। इस प्रकरण में भगवती आराधना में जो साधुओं को क्षपक के लिए भोजन पान सामग्री लाने का तथा उसकी रक्षा करने का एव क्षपक को बहुत समझने बुझने पर आहार दिव्यज्ञाकर उसको संतोष प्राप्त कराने के अनेक उपाय करने पर भी जब उसके चित्त में व्याकुलता की शान्ति नहीं होती हुई देखते हैं तब आज्ञा की आज्ञा से उसे चित्त शान्ति के लिए भोजन पान का सेवन भी करने का जो यह निरूपण शिव कौटि आचार्य ने किया है वह सब अपवादभागा है। साधु लोग वैयावृत्त्य के लिए गृहस्थ के यथा से उचित पान्या ला सकते हैं। भगवती आराधना में तो समाधिमरण प्रकरण में स्थान २ पर क्षपक के वैयावृत्त्य के लिए उचित वस्तु लाने के लिए स्पष्ट शब्दों में कहा है। यद्यपि गाथा न ६६२ व ६६३ में उपकरणेति' शब्द दिया है। तथापि उसका अर्थ टीकाओं में भोजन पान का लाना ही किया है। उस प्रकरण में उक्त अर्थ ही सगत होता है। गाथा न ६८८ में क्षपक को कुरते करवाने के लिए तैल

और कसायले पन्थ गृहस्थ के वहा से वेत-वा ग्रहण करने चाहिए अर्थात् जाने चाहिए—ऐसा स्पष्ट शब्द निया है।

मूलाचार की टीका में भी वैद्यावृत्त्य के निमित्त आहारदि की योजना करने में निर्दिष्टता निस्सार्ह है। इन सबका आशय यह है कि समाधिमग्न के अवसर पर क्षपक की वैद्यावृत्त्य के लिए उचित भोजन पान व तला- औषध साधु गृहस्थ के घर से लाते हैं। यह अपवाद मार्ग है। वैद्यावृत्त्य के समय अपवान् भाग का आचरण करने के कारण परिचारक मुनियों को प्रायश्चित्त का आचरण करना पड़ता है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि की प्रतिष्ठापना करते हैं तथा शय्यादि की प्रतिलेखना (प्रमाजन ) करते हैं।

काश्यमाटी सव्व चत्तारि पडिडुवन्ति ग्ववयम्म ।

पडिलेहति य उवधोकाले सेज्जुवधि सथार ॥ ६६५ ॥ [ भग आ ]

अथ—चार मुनीश्वर क्षपक की विष्टा मूत्र कफ आदि का जन्यु भूमि देखकर एक तम क्षेत्रण करते हैं। तथा प्रात काल और सायंकाल दोनों समय म क्षपक की शय्या पिन्दी कमण्डलु पुस्तकान् उपकरण का शोधन और प्रमाजन करते हैं।

चार मुनि द्वारपाल का वाय करते हैं तथा चार मुनि धम श्रवण मण्डप के द्वार पर रहते हैं।

खवगम्स घरदुवार सारक्खति ज्जा चत्तारि ।

चत्तारि समोमरणदुमार रक्खन्ति जदयाए ॥ ६६६ ॥ [ भग आ ]

अ २—चार मुनिराज क्षपक की वसतिका के द्वार की यन् पूजक रत्ना करते हैं। अर्थात् क्षपक के समीप अत्यन्त मनुष्यों को जाने में गोकत हैं। चार मुनि धमपदेश देन के सभा मण्डप क द्वार का रक्षण सावधानी से करते हैं।

भावाथ—क्षपक पवित्रामा है। उसके नशान के निमित्त कई ग्राम व नगरों से नरनारी जन आते रहते हैं। यदि उनको रोकने वाला न हा तो व क्षपक के समीप जाकर क्षपक के अन्त करण म क्षोभ उ पन्न कर देते हैं मलिए द्वार पर चार मुनिराजों को नियौपकावाय नियुक्त करते हैं। वे उनको मधुग और शांत वचन बोल कर आग जान से रोकते हैं। तथा किसी प्रकार का क्षोभ जनक वातावरण उपन्न न होने देते हैं। सत्ता क्षपक की समाधि का यान रखते हुए वसतिका के द्वार पर बैठे हुए अपने कर्त्तव्य का भली भाति पालन करते रहते हैं।

आचार्य की आज्ञा बिना अतिरिक्त माधुष्यों के प्रवेश को भी रोकते हैं। न जाने वे अनुचित बार्तालाप करके या क्षपक के असुहाते वातावरण को उत्पन्न कर क्षपक के समाधान का भग कर बैठे इसलिए उन्हें भी भीतर जाने का निषेध करते हैं।

जो चार मुनिराज सभा मण्डप के द्वार का रक्षण करते हैं उनका कर्तव्य होता है कि वे आगत मनुष्यों के आकार वाणी वेषभूषादि में उनके स्वभाव को जानकर सभा मण्डप में प्रवेश करने दें। जिनमें सभा में क्षोभ उत्पन्न होने का सम्भावना होती प्रतीत होती है उनको वे वहीं रोक देने हैं सभा में भीतर नहीं जाने देते। यह सब कार्य वे प्रिय व मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

चार मुनिराज रात्रि में जागते हैं और दशादि की बार्त्ता जानने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

त्रिदक्षिणा तल्लिच्छा रादौ जग्गति तह य चचारि ॥

चचारि गवेसति सु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—निद्रा पर विजय पान की इच्छा रखने वाले क्षपक की सेवा में तप चार मुनीश्वर क्षपक के निकट जागते रहते हैं। जहाँ क्षपक व सघ का वास है उस देश राज्यानि की क्षेम कुशलतादि ( शुभाशुभ ) बाता का निरीक्षण करने के लिए चार मुनीश्वर आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

चार मुनिराज आगत भोताओं को उपदेश देते हैं—

वाहि असइवडिप क्हति चउरो चदुम्बिषकहाओ ।

ससमययरममयविदू परिसाए सा समोसटाए सु ॥ ६६८ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—क्षपक के आवास स्थान से कुछ दूर पर जहाँ से शब्द क्षपक के कानों में न पड़ सके वहाँ पर बैठकर स्वमत व परमत के रहस्य के वेत्ता चार मुनिराज सभामण्डप में आस्य हुए भोताओं को आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी और निर्वेजनी इन चार धमकथाओं का यथोचित व्याख्यान करते हैं।

भावार्थ—धर्म विपात्या से आगत धम प्रिय जनता को धम श्रवण कराने के लिए आचार्य चार ऐसे मुनिराजों को नियुक्त करते हैं जिनहानें अपने सिद्धांत प्रन्थों का तथा अन्य धम प्रन्थों का भली भाँति अनुसोचन किया है और जो अपने सिद्धान्तों का पोषण युक्ति

और अनेक शाखा के प्रमाथों से कर सकते हैं। ऐसे वाग्मी चार साधु एक के पश्चात् एक मुझ लत और ओजस्विनी भाषा में धर्म का रहस्य समझते हैं। जिस सुनकर प्रमाथों के हृदय में धर्म बामना जागृत हो और अद्वैतवादी के अतः करण धर्म पर अत्यन्त दृढ़ हो जाते हैं एवं अनक उग्र भावनाओं से पूर्णतः दूरे सन्मुख होकर घर लौटते हैं।

उनकी स्वमत और परमत की विवेचनात्मक धर्म कथा को सुनकर जैनेतर धर्मवासित अतः करण वाले मनुष्यों के मन भी सुसंस्कारित होकर कुसंस्कारों का त्याग करते हैं।

प्रश्न—यदि कोई मिथ्या अभिमान से उन्मत्त होकर सभा में वाग्मि प्रवाद करने के लिए उद्यत हो जावे तो वे धर्मोपदेशक मुनिराज अपना धर्मोपदेश रोक कर वचन साथ वाद विवादा करने में प्रवृत्त होत हैं या धर्मोपदेश पूर्ण होने के पश्चात् उसको वाग्मि विवाद करने का अवसर देते हैं ?

उत्तर—धर्मोपदेश के समय वाद विवाद करने का अवसर नहीं दत्त है क्योंकि उस समय श्रोताओं के धर्म-अवस्था में बाधा होती है। धर्मोपदेश समाप्त होने के बाद उस वाद विवाद का अवसर दत्त जा सकता है।

वाद विवादा के लिए चार वाग्मी मुनियों को आचार्य नियुक्त करते हैं उनका कत्रल प्रतिवादी से वाद करना ही मुख्य प्राय होता है।

वादी चत्वारि जगा माहाणुग तह अण्येयमत्थविद् ।

धम्मरूढयाण रक्खाहेदु विहरति परिमाण ॥ ६६६ ॥ [ भगवा ]

अर्थ—सिंह के समान निर्भोक अनेक शाखाओं के समस्त चार वाग्मी मुनिराज धर्मोपदेशक मुनिराजों की धर्मकथा का रक्षण करने के लिए सभा स्थान में इधर उधर विचरण करते हैं।

उक्त प्रकार महाप्रभावशाली अद्वैतातीत निर्यापक मुनीश्वर जी तोड़ प्रयत्न करके समाधिप्रणय करने में तत्पर हुए ज्ञापक की समाधि (सुख शान्ति) के अर्थ सेवा करने में एकाग्रचित्त रहते हैं।

परन्तु समाधिप्रणय काय का सम्पन्न करने के लिए क्या समयकाल में अद्वैतातीत परिचारक मुनियों का होना आवश्यक माना गया है। या भिन्न काल में परिस्थिति के अनुसार हीन एक परिचारक मुनिराजों के लिए भी आगम में विधान है ?

उत्तर—परिचारक मुनियों की संख्या में काल क अनुसार हाताथ ता हुआ करती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का परिवर्तन होता रहता है। और काल के प्रभाव से मनुष्यों के गुणों में भी जघन्यता मध्यमता और उत्कृष्टता होती है। जब उत्कृष्ट काल का वर्चन होता है उस समय में अ तालीस नियापक मुनिराज क्षपक का समाधिमरण मरु ज करान में सहायता करते हैं। क्योंकि उस समय परिचारक मुनि भूत परिणाम वाले अधिक होते हैं वे हृष पूर्वक क्षात्र की सभा में मन्त्रण रहकर अपने को कृताथ समझते हैं। मध्यम काल के प्रारम्भ में चत्वारिंश मुनिराज क्षपक की सभा में नियुक्त रहते हैं। पश्चात् यों अथो काल में हीनता आती है त्यों त्यों परिचारक मुनियों की संख्या अल्प होती जाती है। अथात् काल के अनुसार क्रम से चार मुनिराज कम किये जाते हैं। अतः में मन्त्रण परिणाम युक्त काल में चार मुनीश्वर के लिए भी क्षपक के समाधिमरण काय को सुसम्पन्न करान की आज्ञा है। आतशय सकलेशा परिणाम युक्त काल में दो मुनिराज भी क्षपक की समाधि मृत्यु का साधन कर सकते हैं। किन्तु एक नियापक साधु समाधिमरण काय की साधना नहीं कर सकता है। आगम में एक नियापक मुनि का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। वही कहा है—

जो जारिसभो काला भद्रवदसु हाह वासेसु ।

ते तारिसया तन्धिया चाहालीम पि शिञ्जवया ॥ ६७१ ॥

एव चदुरो चदुरो परिहावन्वगा य जदक्षाण् ।

कालमि सकिल्लद्ध मि जाव चचारि सार्थेति ॥ ६७२ ॥

शिञ्जावयाया टीण्णि वि होंत जहण्णेष कालमसयथा ।

एवको शिञ्जावययो ण होइ कइया वि जिण्णमुत्त ॥ ६७३ ॥ [ भग आ ]

अथ—भरत और ऐरावत क्षेत्र में जिस समय जैसा काल चक्र का वर्चन होता है उस समय काल के अनुरूप नियापक मुनिराज होते हैं। उत्कृष्ट अर्थात् तालीस नियापक मुनियों की संख्या जो बनाई गई है वह उत्कृष्ट है। उत्तम काल में नियापक मुनियों को जब व संख्या चत्वारिंश तक होती है। सकलेशा भाव की वृद्धि के अनुक्रम से चार चार नियापक मुनियों की संख्या हन होती जाती है। और वह अतः में चार तक पहुँचती है। जब उत्कृष्ट सकलेशा परिणाम सन्त काल का वर्तन होता है उस समय जो नियापक मुनिराज भी क्षपक का समाधिमरण काय सिद्ध करते हैं। किन्तु किसी काल में एक नियापक मुनि का उल्लेख जैनागम में कहीं पर नहीं है।

प्रश्न—आगम जिस जघन में नियायक मुनि की आज्ञा देता है वैसे ही एक नियायक मुनि के लिए आज्ञा क्यों नहीं देता ? उसमें क्या शेष निश्चय देता है ?

उत्तर—एक नियायक मुनि ज्ञापक का समाधिमरण करवाने में मवया असमर्थ होता है। सलिए आगम में एक नियायक का निषेध किया गया है। यदि अकला नियायक मुनि साधु के समाधिमरण रूप अतिदुष्कर काय का भार ग्रहण करता है तो वह नियायक अपना और ज्ञापक दोनों का विनाश करता है।

जब नियायक मुनि आहार विनाश काय के नामत्त ज्ञापक को अकेला छोड़कर बाहर जावेगा उस समय ज्ञापक को क्षुधादि वेदना के कारण जो कष्ट होगा अथवा अयमित्यादिप्रियों या असम्यमोजना के सम्पर्क से जो रत्नत्रय में अज्ञ और चिन्म में अराति उत्पन्न होगी मन्त्रा प्रतीकार कान करेगा ? यदि उस समय मरणकाल आ पहुँचे तो उसके अशुभ अर्थान के कारण रत्नत्रय का विनाश होकर वह असद्वृत्ति का भाजन होगा।

अथवा अकला ज्ञापक तीव्र क्षुधादि वेदना में पीड़ित होकर अयोय सेवन करने लगेगा। अर्थात् वास में किसी मुनिराज के न होने में बैठकर भोजन करने लगा। मिथ्यादिप्रियों के समीप जाकर याचना करने लगेगा मैं क्षुधा से मरा जाता हूँ प्यास के मारे मेरा दम पुनरहा है मुझे खाने का भोजन और पीने से पानी तो त्यागि याचना करने लगेगा। उस तरह अनेक तप ऐस उपलब्ध होते हैं जिससे ज्ञापक के समय का विनाश या दुश्चान के प्रादुर्भाव से समाधिमरण का विनाश होता है जिससे ज्ञापक दुर्गति का पात्र होता है।

अकला नियायक अपना भाविनाश करता है व यदि मवा को परम कृत्य समझकर ज्ञापक की परिचर्या में लक्ष्मी रहेगा तो उसकी आहार ग्रहण करने का शयन करने का तथा शरीर मल का त्याग करने का अवसर न मिलने से स्वयं वसे असह्य क्लेश होगा। सम उसका शरीर गिरने लगेगा। शरीर के क्षीण होने अथवा स्वयं रोगग्रस्त हो जाने पर वह ज्ञापक की परिचर्या भी न कर सकेगा और अपने धर्म का भी भलीभांति पालन न कर सकेगा—सामाधिकारि ब्रह्म आचर्यकों का पालन न कर सकेगा। ज्ञापक को अकेला छोड़कर यदि वह अपने कर्तव्यों का पालन करता है तो ज्ञापक को समाधि भंग होती है। और यदि ज्ञापक को अकेला न छोड़कर उसी के समाधान (सुख शान्ति) के लिए तप रहता है तो अपने आचर्यक कर्तव्यों का आचरण न करने से तप्य विमुख होता है।

स प्रकार एकाकी नियायक या म विनाश ज्ञापक का विनाश और आगम का विघात करने वाला होता है। आगम में अकले नियायक का निषेध किया गया है उसकी अज्ञानता करने के कारण वह आगमाज्ञा का विघातक भी होता है।

प्रश्न—समाधिमरण ( सल्लेखना ) से प्राण त्याग करने वाला जीव ससार में अधिक म अधिक कितने भव धारण करता है ?

उत्तर—जो जीव एक बार विवि पूर्वक म ज्ञेखना ( समाधिमरण ) से शरीर का त्याग करता है वह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव ही धारण करता है । नवमा भव धारण नहीं करता है । आठवें भव में तो वह मोक्ष का पूण अधिकारी हो जाता है । वो कहा है—

एगम्मि भवग्गहणे ममाधिमरणेणो जो मदी जीवो ।

य इ सो हिंदुदि बहुसो मचहभवे पमोत्तूण ॥ ६८२ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—जो प्राणी एक भव में समाधिमरण से युक्त मरण करता है वह बहुत काल तक ससार में भ्रमण नहीं करता है । उसको सात आठ भवों में अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

यह हम पूव विवेचन कर आये हैं कि समाधिमरण का प्रारम्भ स लेकर समाप्ति तक का उच्छ्रित काल १२ वर्ष का है । उस काल के प्रारम्भ के चार वर्ष नाना प्रकार के उग्र काय क्लेशाणि तप तीनों योगों द्वारा करता है । तन्मन्त्र प्रथम चार वर्षों में रसों का त्याग कर कार्क को तपश्चरण द्वारा कृश करता है । तन्मन्त्र आचार्य तप तथा नीरसाहार द्वारा नौ वर्ष यतीत करता है । तत्रा एक वर्ष स्वप्न आहार द्वारा पूण करता है और छह माह मध्यम तपश्चरण का आचरण करने हुए बिताता है । इस प्रकार सात ग्यारह वर्ष स्वाध्याय ध्यान करते हुए आवश्यक कर्म के लिए चलते फिरते हुए एव तपश्चरण द्वारा काय कृश करते हुए समाप्त करता है ।

जब भक्त प्रत्यक्ष्यान की मयाग का काल छह महिने अवशिष्ट रह जाता है उस समय अनक प्रकार क उमोष तपस्या करने के कारण क्षपक का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है । तब वह मस्तरासुद होता है । अधान् शय्या की गरण प्र एण करता है । तब वह गुरु के निकट आलोचना करता है । उसके पञ्चानु नियामक आचार्य द्वारा अधिक म अधिक धृन् मुनि आ काल वो अतिनिष्ठुष्टना प्राप्त हान पर कम से कम दो मुनि परिचया म नियुक्त किये जाते हैं । न सब बात का स्पष्ट विवचन पूर्व में कर आये हैं । यहा मिहावलोकन मात्र किया गया है ।

क्षपक का शरीर और कषाय तपश्चरण द्वारा कृश हो जाते हैं । कृश शरीर को भी व अत्यन्त कृश करते हैं । उसका विधि का सल्लेख आग करते हैं ।

क्षपक का कर्तव्य यह है कि शास्त्र क ज्ञाता अनक आचार्यों के विद्यमान हाते हुए भा सत्यास विधि प्रारम्भ करते समय जिस आचार्य के निकट प्रथम आलोचना की हो उसी आचार्य क चरणा के समीप प्र याख्यान प्रा क्रमण आदि आवश्यक कर्तव्यों का आचरण

करे। उन्हीं की आज्ञा का ग्रहण करे। उपदेश श्रवण जल-के अतिरिक्त तीन प्रकार के आह्वान का त्याग तथा प्रायश्चित्त का ग्रहण और संदिग्ध विषयों का समाधान करने के लिए प्रश्न करना इत्यादि सब कार्यों में लक्ष्यके लिए प्रथमावाय ही प्रमाण होते हैं। यदि प्रथमावाय उपदेश देन आदि कार्यों में सामर्थ्यहीन हों तो उनकी आज्ञा के अनुसार दूसरे आवाय के निकट प्रतिक्रमणादि कस्त-य कर्मों का आचरण कर सकता है।

श्रीमन् शिवकोटि आवाय ने चपक की वचन सुनने की शक्ति का विकास और मुख तथा जिह्वा की मजबूती दूर करने के लिए तैल का प्रयोग और कषायले द्रव्यों से मिश्रित जल के कुरले करने को भी लिखा है। वह निम्न प्रकार है।

तेलकमायादीर्हि य बहुमा गृह्मया दु घेतन्वा ।

जिन्भाकण्ठ्याश्च बल होहिदि तु ड च से विमन् ॥ ८८ ॥ [ भग आ ]

अथ—चपक को तैल और कषायले द्रव्यों के बहुत बार कुरले करने चाहिए। क्योंकि कान में तैल डालने से कानों में शब्द श्रवण शक्ति बढ़ती है। तथा जीभ पर जब मेल जम जाता है मुख में मल का संचय बढ़ जान स दुग्ध घणने लगती है। वचनोच्चारण में क्षीणता बढ़ने लगती है। उन त्यों का निवारण करने के लिए कषायले द्रव्यों के कुरले करण ज ते हैं।

इसी का समर्थन अमातगति आवाय ने भी निम्न प्रकार किया है।

तेन तैलादिना कार्या गृह्मणा सत्यनेकश ।

जिह्वावदनकण्ठादिर्नैमन्य जायते तत ॥ ७१५ ॥ [ स भग आ ]

उक्त गाथा का और इस श्लोक का अर्थ एकसा है। यह श्लोक ऊपर की गाथा का अनुवाच मान है।

तापय यह है कि चपक का यह अन्तिम व अभिप्रशस्त समय है। इस समय मनको योग्य उपदेश द्वारा समाधि में स्थिर करना उसके अन्त करण में उत्पन्न हुए उत्तरों को जानकर उनके अनुकूल व्यवस्था करके उसको मनोप उत्पन्न करना निर्योपकावाय तथा निर्योपक मुनियों का परम कर्तव्य होता है। वह तभी हो सकता है कि चपक के कर्णों में उपदेश सुनने की शक्ति तथा मन के उद्गारों को प्रकट करने के लिए चपक की वचन शक्ति बनी रहे। इसीलिए इस काय की सफलता के लिए चपक को तैलादि के कुरले करवाये जाते हैं।

चपक के विचारों पर बुरा प्रभाव न पड़े इसलिए आगम के ममज्ञ मुनियों को भी चपक के समस्त भोजनादि कथाओं का

वर्णन कदापि नहीं करना चाहिए। वही कहा है—

भक्षादीद्य मत्ती गीदत्येहिं वि ख तद्य कायन्वा ।

आलोयखा वि हु पसत्यमेव कादन्विया तद्य ॥ ६८७ ॥ भग आ

अर्थ—गीतार्थ ( विशेषज्ञ ) मुनियों को भी क्षपक के निकट भोजनादि की कथाओं को नहीं करना चाहिए। क्षपक के निकट वर्त्ती आचाय क समीप अप्रशस्त आलोचना भी किसी मुनीश्वर को करना उचित नहीं है।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्षपक के लिए उस समय उच्च भावना की आवश्यकता है। उस समय छोटा सा प्रतिकूल वातावरण उसके हृदय में क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। जैसे स्वच्छ व निष्कम्प जल में स्वरूप वायु भी कम्पन और थोड़ा नैल मलीनता उत्पन्न कर देती है वैसे ही क्षपक के स्वच्छ व निष्कम्प हृदय को विपरीत संयोग विकृत व उथल पुथल कर सकता है। इसलिए निर्यापक मुनियों को उसकी समाधि बनाये रखने के लिए प्रतिकूल संयोगों का निवारण और अनुकूल साधनों की योजना करने में सावधान रहना पड़ता है।

प्रश्न—भक्त प्रत्याख्यान मयादा के लड़ महीन शेष रहने पर क्षपक को तीन प्रकार के आहार का त्याग करवाते हैं। तो क्या प्रत्येक क्षपक के लिए एकसा विधान है या क्षपक की प्रकृति की जाच करके उचित कम स भोजन का त्याग करवाते हैं? शास्त्रोक्त रीति से निरूपण करने की कृपा करें।

उत्तर—जब आचाय क्षपक का जल के सिवा तीन प्रकार के आहार का त्याग करव न के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उसके पहले आचाय क्षपक को सब प्रकार के आहार को दिखाते हैं। आहार दिखाने पर उसकी भोजना की जालसा का परिचय प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् त्याग करवाते हैं।

इस विषय में शिवकोटि आचाय ने भगवती आराधना में निम्न प्रकार वर्णन किया है।

दम्बपयासमकिषा जइ क्षीरइ तस्स तिविहवोमरख।

कम्दिवि मत्तविसेममि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८६ ॥

तम्हा तिविह वोसरिहिदिचि उक्कस्सयाखि दम्वाणि ।

सोसिषा सविरलिय चरिमाहार पयासेज्ज ॥ ६९ ॥

पासिचु कोइ तादी तीर पत्तस्सिमेहिं किं भेत्ति ।

वेरग्गमणुप्पत्तो सवेगपरायणो होदि ॥ ६२१ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—यद्यपि क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए उत्सुक हो रहा है तथापि उसकी किसी प्रकार के आहार में अभिलाषा बनी न रहे इसलिए क्षपक को विचित्र विचित्र आहार दिखाते हैं। यदि क्षपक को आहार दिखाये बिना ही उसमें तीन प्रकार के आहार का त्याग करवा लिया जावे तो उसके चित्त में 'कमी आहार विरोध की अभिलाषा बनी रही तो वह उसका अन्त करण को यत्न करती रहेगी। इसलिए उसका त्याग करवाने के पूर्व तीनों प्रकार के उत्तम उत्तम आहार के पन्थ बताने में प्रयत्न पृथक् पृथक् क्षपक को समीप लाकर आचाय दिखाते हैं। उन उत्तमोत्तम भोजन के पदार्थों को देखकर कोई क्षपक मुनिराज अपने अन्त करण में विचार करते हैं कि मैंने अनन्त काल तक इनमें भी उत्तम पदार्थों का भोजन किया किन्तु मुझे इनमें कुछ भी लुप्त नहीं हुई। अबतो इस भव के अन्तिम किनारे पर आ जगा हूँ। अब नस मरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? ऐसा सोचकर इनसे विरक्त होकर ससार से भयभीत हुए आहार का त्याग करने में तद्वत् सकल्प होते हैं।

आसात्तिचा कोई तीर पत्तस्सिमेहिं किं भेत्ति ।

वेरग्गमणुपत्तो सवेगपरायणो होदि ॥ ६२२ ॥

देम भोच्चा हा हा तीर पत्तस्सिमेहिं किं भेत्ति ।

वेरग्गमणुपत्तो सवेगपरायणो होदि ॥ ६२३ ॥

मव भाच्चा धिद्धि पत्तस्सिमेहिं किं भेत्ति ।

वेरग्गमणुप्पत्ता सवेगपरायणो होदि ॥ ६२४ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—कोई क्षपक सम्मुख स्थित पदार्थों में स थोड़ा चक्कर विचार करते हैं कि स थोड़े में क्षप मात्र के जिह्वा के सुप्त से क्या सुख मात्रा प्राप्त होगी। मैं जीवन की अन्तिम सीमा पर पहुँच चुका हूँ। मेरा भला नन्का ग्रहण करने से नहीं बल्कि त्याग करने से ही सिद्ध होगा ऐसा विचार कर उनसे चित्त का हटाता है और ससार से भयभीत हुआ आहार के त्याग करने में ही कटबद्ध होता है।

कोई क्षपक उन नेत्र और मन को लुप्त करने वाले पदार्थों का कुछ भाग ग्रहण करके उनसे सहसा विरक्त होता है। विषय के स्वरूप का चिन्तन कर उत्पन्न होकर विषयों को धिक्कार देता है और सोचता है कि मेरा बुद्धि को धिक्कार है तो नन्की ओर अक्षिप्त हानी

है। इस अन्तिम जीवन को सफल करने के लिए इनका त्याग ही श्रेयस्कर है—ऐसा सोचकर संसार भोग से विरक्त हुआ तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में न चिन्त होता है।

कोई क्षपक मुनि चारित्र मोहनीय कर्म के उन्मेष विशेष से उन मन लुभाने वाले उत्कृष्ट आहार के द्रव्यों को देखकर मोहित हुआ उन सब पदार्थों का भक्षण करता है। भक्षण करने के पश्चात् अन्तरङ्ग में विवेक बुद्धि का प्रकाश होते ही उसका अन्त करण उद्विग्न हो उठता है। वह सडसा चीक पड़ता है श्रीर बिचारने लगता है कि हे आत्मन् ! तेरी इस विषय सुगमता को धिक्कार है। वर्षों तक के विवेक ज्ञान का अभ्यासी तू जिज्ञा इन्द्रिय के विषय में कैसे प्रवृत्त हो गया ? इस कर्म की बलवत्ता को धिक्कार है। अब तेरा यही कर्तव्य है कि भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान इन भोगों से पृथक् होकर अपना हित साधन कर। इस प्रकार संसार भोग से वैराग्य को प्राप्त हुआ वह क्षपक इन्द्रिय विषय भोग से विरक्त हुआ आहार का त्याग करने में उत्सुकता धारण कर शीघ्र तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में तत्पर होता है।

उक्त अथ हा विवेचन अमिति िति आचाय ने भी निम्न प्रकार किया है—

अप्रकाश्य त्रिधाहार त्याज्यते क्षपको यदि ।

तदोत्सुक स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥

तत् कृत्वा मनोज्ञानामाहाराणा प्रकाशना ।

सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥

कश्चिदृष्ट्वा तदेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम ॥

इति वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥

आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम ।

इति वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥

अशित्वा कश्चिदशेन तीर प्राप्तस्य किं मम ।

इती वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥

क्वचित्त्वा सर्वमेतेन तीर प्राप्तस्य किं मम ।

इति वैराग्यमापन्न सवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥ (सं भग आ )

इसका आशय ऊपर लिख चुके हैं। क्योंकि ये श्लोक भगवता आराधना की उक्त गाथाओं का अर्थानुवाच मात्र है। इनको यहाँ उद्धृत करने का अभिप्राय अभितिगति आचाय का मत भी शिवकोटि आचाय के अनुकूल है—ऐसा दिखलाना मात्र है।

प्रश्न—आहार लिखलाने से आचाय को चार प्रकार के अभिप्राय वने क्षपक का ज्ञान हुआ। एक तो विचित्र प्रकार के आहार को लखकर उससे विरक्त होने वाला उत्कृष्ट वैराग्यवान् क्षपक है। दूसरा लिखलाय गये आहार में सं किंचित् मात्र चखकर आहार से विरक्त होन वाला मध्यम वैराग्यवान् क्षपक है। तीसरा लिखलाई भोजन सामग्री के एक अंश का भक्षण कर समस्त भोजन से विरक्त होकर त्याग में प्रवृत्त होने वाला जघन्य वैराग्यवान् क्षपक है। तथा चौथा जघन्यतर वैराग्यवान् यह क्षपक है जो सम्पूर्ण आहार का सवन कर पश्चात् उससे विरक्त होकर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करने में समुक्त हुआ है।

इनके अतिरिक्त एक ऐसे क्षपक की सम्भावना होती है जो चारित्र्य मोहनाय कम के तीव्र उदय के वशीभूत होकर दिखलाय गये आहार का सवन कर उसके स्वान में आसक्त हुआ भोजन का त्याग न करे तो उसके उद्धार के लिए आचाय क्या करते हैं ?

उत्तर—आपने उक्त प्रश्न में प्रथम क्षपकों को जो चार भागों में विभक्त किया है वह विभाग आहार दिखलाने से लेकर जब तक वे आहार का त्याग करने में प्रवृत्त नहीं हुए हैं तब तक के लिए ही हो सकते हैं। क्षपक सब उत्कृष्ट वैराग्य परायण होते हैं। तभी तो वे सत्यास मरण विधि में तत्पर हुए हैं।

उक्त चार प्रकार के अतिरिक्त आहार में आसक्त हुए क्षपक के विषय में जो प्रश्न किया है। उसका खुलासा निम्न प्रकार है—

कोई तमादयित्ता मणुगणरमवेदशाए सचिद्धो ।

त चेवणुवधेज हु सच दस च गिद्धीए ॥ ६६५ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—यदि कोई क्षपक दिखलाए आहार का भक्षण कर मनोरम रस के स्वान में मूर्छित हुआ उस भक्षण किये गये सम्पूर्ण आहार को बारम्बार सेवन करने की लालसा करने लगे। अर्थात् उक्त अतिरिक्त आहार सामग्री में से किसी एक पदार्थ को पुनः पुनः सेवन करने की उच्छ्रिता करने लगे तो

तत्य अवायोपाय दसेदि विसेमन्ते उवदिसतो ।

उद्धरिदु मथोसन्त सुद्धम गणिण्ववेमाथो ॥ ६६६ ॥ [ भग आ ]

अथ—तब आचाय मनोज्ञ आहार के भक्षण करने की आसक्ति से होने वाली हानि और क्षाम को समझते हैं। हे क्षपक ! देखो ! तुम अपने मन को बश में न रखोगे तो तुम अनन्त काल में भी अति दुःखमय इस इन्द्रिय संयम का विनाश करहालोगे और जिस मनुष्य ने इन्द्रियों पर अधिकार नहीं किया है। जो आत्मा इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है उसकी आत्म शक्ति बिलीन हो जाती है। वह अपने काय की सिद्धि कभी नहीं कर सकता है।

इम प्रकार गुरु के उपदेश को सुनकर धीरे धीरे दुःख का संहार करने में समर्थ समाधि मरण को सफल बनाने के लिए वह विवेकी क्षपक तीन प्रकार के आहार का त्याग करने के लिए आतुर होता है।

यदि कोई क्षपक तीव्र मोहनीय क्रम के चक्र में फँसा हुआ आहार को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है तब भी आचार्य उस क्षपक पर श्रद्धा करते हैं। उसको मधुर और त्रिय वचनों से समझ बुझा कर अनेक प्रकार के आहार पदार्थों में से एक एक पदार्थ को क्रम से घटाते हैं। सके विषय निम्न प्रमाण है—

अणुपुञ्जेषु य उविदो सवद दूष्य सन्वमाहार ।

पाण्ड्यपरिष्कमेण दु पञ्चा भावेदि अप्पाण ॥ ६६६ ॥ [ भग आ ]

अर्थात्—क्षपक का आयुष्य जब अल्प रह जाता है तब निर्यापकाचाय सम उत्तमोत्तम विविध आहार वचन में धरकर क्षपक को आहार त्याग की पुष्टि करने के लिए उसे दिखाते हैं। उन विज्ञापक विचित्र आहार का देखकर क्षपक उममें अत्यंत आसक्त हो जाता है और उन आहार क पदार्थों का पुन पुन सेवन करने का अत्यंत लोलुपी हो जाता है। आचाय के अनेक उपदेशाश्रुत का पान करने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी आसक्ति कम नहीं होती है। तब आचाय उन समस्त आहार के सुन्दर पदार्थों में से क्षपक को क्रम से एक एक आहार पदार्थ का त्याग कराते कराते सादे भोजन पर ले आते हैं। अर्थात् मिष्टान्नादि विशिष्ट आहार से विरक्त करके भात दाल आदि साधारण आहार पर नियत करते हैं। पश्चात् वह क्षपक साधारण भात दाल पूरे आदि तीन प्रकार के आहार पदार्थों का क्रम क्रम से त्याग करता हुआ पानक आहार पर अपने को स्थिर करता है। अर्थात् जलादि पेय पदार्थ के अतिरिक्त सब प्रकार आहार का त्याग कर देता है। अपने शरीर को जलादि के आधार पर रखता है।

प्रश्न—पानक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—पानक पदार्थ आगम में छह प्रकार के माने गये हैं।

स्वच्छ बहल लेवडमलेवड च ममित्ययमसित्य ।

छन्विह पाण्यमेय पाण्यपरिक्रमपात्रोग्ग ॥ ७ ॥ [ भग आ ]

अथ—१ स्वच्छ २ बहल ३ लेवड ४ अलेवड ५ ससिक्थ और ६ असिक्थ इम प्रकार पानक के ब्रह्म भेद हैं ।

( १ ) स्वच्छ पानक—गम जलादि को स्वच्छ पानक कहते हैं ।

( २ ) बहल—काजी गन्तारस इमली का पानी तथा ऐसे हा आ य फलादि के रस को बहल पानक कहते हैं ।

( ३ ) लेवड—हाथ पर लिपट जाने वाले दही के घोल वगैरह गान् पानक को लेवड कहते हैं ।

( ४ ) अलेवड—जो हाथ पर नहीं लिपटता है ऐसा चावल का माड तक आनि पतले पानक को अलेवड पानक कहते हैं ।

( ५ ) ससिक्थ पानक—जिसमें चावल आनि के सिक्थ पाय जाव ऐम माड आदि पानक को ससिक्थ पानक कहते हैं ।

( ६ ) असिक्थ पानक—जिसमें भात आनि के सिक्थ ( रुण ) न पाये जाव ऐस पानक को असिक्थ पानक कहते हैं ।

म प्रकार पानक छह प्रकार का माना गया है ।

इन छह प्रकार के पानकों में भी आचाय को क्षपक के स्वाय का पूण ध्यान रखना चाहिए । अनुभवी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता नियापकाचाय आसन्न मरण वाले क्षपक की शारीरिक स्थिति के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धांत के अनुसार वात पित्त और कफ का शमन करने वाला उचित पानक क्षपक को देने हैं ।

पानक पदार्थ का सवन करवाने के पश्चात् उन्तर के मलको शुद्धि करने के लिए क्षपक को माड के समान मधुर बिरेचन पदार्थ पानना चाहिए ।

क्षपक के उन्तर स्थित मल का शोधन करने के लिए काजी से भीगे हुए बिल्व पत्राणि से उदर का सेक करना चाहिए तथा सैषा नमक आनि की बत्ती बनाकर गुदा में प्रवेश कर उदर का शोधन करना चाहिए ।

प्रश्न—इतना महान् परिश्रम करके उन्मथ मलका निवारण क्यों किया जाता है ?

उत्तर—क्षपक के उदर में संचित हुआ मल यदि नहीं निकाला जायगा तो वह महती वेदना उत्पन्न करेगा इसलिए उसे निकालने का प्रयास करते हैं।

प्रश्न—उक्त प्रकार उदर का शोधन करने के पश्चात् क्षपक के योग्य किस काय का आचाय सम्पादन करते हैं।

उत्तर—क्षपक की उदर शुद्धि होने के बाद आचाय को क्षपक अशन स्वाश और स्वाश इन तीन प्रकार के आहार का याव-जीव त्याग करेगा इस प्रकार समस्त सघ से निवेदन करते हैं। तथा क्षपक तुम से क्षमायाचना करता है इस प्रकार कन्ते हुए आचार्य ब्रह्मचारी आग्नि के हाथ में क्षपक को पिच्छी देकर उसे दिखाते हुए सम्पूर्ण सघ के मुनियों को वमनिकाओं में धुमाते हैं।

प्रश्न—क्षपक की पिच्छी मिललाकर आचाय क्षपक की ओर से सवादान मुनियों में याचना करते हैं यह ठीक पर चलन फिरने की शक्ति स हीन क्षपक का अभिप्राय जानकर सम्पूर्ण सघ का उस समय क्या कृत्य होता है ?

उत्तर—समस्त मंघ क्षपक को क्षमा प्रदान करते हैं। तथा क्षपक की र तत्रय आ राना निर्वि न सद्ध होवे इस हेतु से सम्पूर्ण सघ कायोत्सग करता है।

प्रश्न—सक अनन्तर क्षपक क प्रति नियापकाचाय का क्या कृत्य होता है ?

उत्तर—नियापकाचाय क्षपक को सकल सघ के मध्य चार प्रकार क आहार का अथवा तीन प्रकार का आहार का विकल्प सहित त्याग करवाते हैं। आचाय जब क्षपक को क्षुधाग्नि परिषह के सहन करने में मंली भाति समथ पाते हैं तब चारो प्रकार क आहार का कालाग्नि के विकल्प पूरक त्याग करवाते हैं। यदि क्षपक को उतना सहनशील नहीं रहते हैं तो उस तीन प्रकार क आहार का ही त्याग कराते हैं। और उस को चित्त शान्ति क लिए ब्रह्म प्रकार के पानक आहारों का हा सवन करवाते हैं। इसके अन तर धीर क्षपक की शक्ति का हास होता जाता है लो लो पानक प िथों में परिवर्तन करते र अन्तमें सब का त्याग करवा देते हैं।

प्रश्न—इसके बाद क्षपक क्या करता है ?

उत्तर—भक्त प्रत्यारयान करने के बाद क्षपक के हृदय में आचाय उपाध्याय शिष्य साधमी मुनि कुल मुनि ( दीक्षागुरुशिष्य परम्परा ) गण मुनि ( स्थविर मुनि शिष्य सन्तान ) इन सब के विषय में जो क्रोध मान माया और लोभ होगा उन सब को निकाल फेंकता है। तथा मुमुक्षु का जो कृत्य होता है उस सब का मैंने आचरण किया है ऐसा विचार कर उसका चित्त आनन्द से उछलने लगता है।

प्रसन्नचित्त हुआ वह मरतक पर दोनों हाथ जोड़ कर सकल सच को नमस्कार करता है। सब से उचित शब्दों में बोलने की शक्ति न होने के कारण हाथ जोड़ कर आप सब मुझे क्षमा करी' इस प्रकार क्षमा माँगने का अभिप्राय प्रकट करता है।

नपक अपने अन्त करण में अत्यक्त भाषा में कहता है कि हे सच के मुनिराजो आप मेरे माता पिता से अधिक पू्य व हितकारक हो आप निष्कारण जगत् के बन्धु हो सब के उद्धार करने में कटिबद्ध हो आप का मन बचन काय से कृत कारित और अनु मोदना द्वारा जो अपराध अज्ञात भाव स किया हो उन सब की मैं क्षमा चाहता हूँ मैं भी सब की क्षमा करता हूँ।

स प्रकार क्षपक और सम्पूय सच की परस्पर क्षमा क्षमापणा हो जाने के बाद आचाय सस्तरारुद क्षपक को श्रुत ज्ञान के अनुसार शिक्षा देने हे और सबेग व पैराग्य का वपादक कणजाप देते हैं।

प्रश्न—वह कणजाप क्या है जिस नियर्पकाचाय नपक को देते हैं ?

उत्तर—सस्तरारुद क्षपक को उस समय के योग्य जो क्षपक के कण के समीप शिक्षा देते हैं वने कणजाप कहते हैं। वह निम्न प्रकार है—

निस्मन्लो कदसुद्धी विज्जावल्चकर वसधिसघार ।

उवधि च सोधइत्ता सन्लेइह्य भो कुस इदासि ॥ ७२<sup>१</sup> ॥ ( भ ग आ )

अर्थ—हे क्षपक राज ! इस समय तुम वैयावृय करने वालों की तथा नि शक्य होकर रानत्रय की शुद्धि करने में तप रहो ।

याधि ( रोग ) वपसर्ग परीषह असंयम मिथ्याज्ञान यह विपत्ति हैं। इस विपत्ति का प्रतीकार करने को वैयावृच्य कहते हैं। ऐसी वैयावृच्य करन वालों को वैयावृच्यकर अर्थात् परिचारक कहते हैं। वैयावृय करने वाले मुनि असयम के ज्ञाता हैं या नहीं नसका ध्यान रखो। यदि वे असयम के ज्ञाता नहीं प्रतीत हों तो उन्हें पृथक् कर दो। और मन बचन तथा काय से जो असयम का निवारण करते हों ऐस मुनिराजों को परिचर्या करने की आज्ञा दो।

प्रात काल सार्यकाल दोनों समय वसतिक्रा सस्तर और वपकरणों की प्रतिदिन शुद्धि करो। अर्थात् तुम क्षीण शक्ति हो, इसलिये परिचारकों को वसतिका सस्तर और वपकरणों की माजना करने की प्रति दिन आज्ञा दो। आज्ञा देना हो तुम्हारा प्रतिलेखन ( शुद्धि ) करना सिद्ध होता है।

माया मिथ्या और निदान ये तीन आत्मा को अनादि स बलेश देते आये हैं इसलिए तत्त्व अज्ञान पर हड़ रहकर मिथ्यात्व का नारा करो। सरलता निष्कपट भाव धारण कर माया को हू य स निकाल फँको और भावों भोगों को निस्तुहता से निदान शक्य का नारा करो। इससे तुम्हारा रत्नत्रय शुद्धि को प्राप्त हो ॥

सम्यग्दान सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की आराधना करने को रत्नत्रय की प्राप्ति कहते हैं। हे क्षपकोत्तम ! मिथ्यात्व का वसन करने से सम्यग्दान प्रकट होता है। मिथ्यात्व ससार का मूल कारण है। और यह सब कर्मों से प्रधान है। इसलिए हे क्षपक ! तू मन वचन और काय से त्वस मिथ्यात्व शत्रु का त्याग कर।

शक्र—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान कैसे कहा है ? ज्ञानावरण दरानावरण आदि के अनुक्रम से आचार्यों ने इसे प्रधान नहीं कहा है ? आत्मा के माथ अनादि काल से आठों कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। इसलिए तपस्वि की अपेक्षा भी मिथ्यात्व मोहनीय दराना वरणादि में पहले पाछे का सद्भाव नहीं है। अतः आपने मिथ्यात्व को प्रधान कैसे कहा है ?

समाधान—मिथ्यात्व को सब कर्मों से प्रधान इसलिए कहा है कि य आत्मा के ज्ञानान्ति गुण को विपरीत करता है। अन्यक्रम तो ज्ञानान्ति गुणों की शक्ति का हास मात्र करते हैं उनको विपरीत नहीं बनाते हैं। और मिथ्यात्व उन्हें सप्रथा उल्टा कर देता है। अर्थात् शुभ्रथा ( सुनने की शक्ति ) शास्त्र भवण करना श्रवण कर इन्द्रिय में धारण करना और धारण किया हुआ नहीं भूलना ये सब बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व इन को भी विपरीत करता है। तथा चारित्र्य तपश्चरण भावना आदि सब में विपरीतता उत्पन्न करता है, इसलिए मिथ्यात्व को सम्पूर्ण कर्मों में प्रधान व प्रधान क्रम कहा गया है। अतएव हे क्षपक !

परिहर त मिच्छत सम्माचाराहयाए ददचित्तो ।

होदि क्षमोकारम्भि य खाखे वद भावखासु धिया ॥ ७२५ ॥

मयतयिहयाओ उदयत्ति मया मयखति वह सतएहयगा ।

सन्भूदति असन्भूद तव मयखति मोहेषा ॥ ७२६ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—तू इस मिथ्यात्व का परित्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना में चित्तको स्थिर कर। तथा परम भक्ति से अरिहत आदि परमेष्ठी के भाव नमस्कार में रत हो। हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर पंथ परमेष्ठी को नमस्कार हो ऐसा वचन उच्चारण करते हुए नमस्कार करने को द्रव्य नमस्कार कहते हैं। भी अरहतादि पूज्य व्यक्तियों के गुणों में अनुराग करना भाव नमस्कार है। तू निरन्तर भाव

नमस्कार में तथा ज्ञान की आराधना और व्रतों की भावना में बुद्धि को लगा।

दशान मोहनीय कर्म क उद्यम से यह जीव अविद्यमान वस्तु में विद्यमान और विद्यमान वस्तु में अविद्यमान प्रतीति करता है तथा अतएव को तब समझता है जैसे जल से व्याकुल हुआ मृग मधुमत्त की बालु रेत में पड़ी हुई सूय की किरणों को लहराता हुआ जल समझ कर पानी पीने की आशा से नौडता है। वैसे ही मिथ्यात्व से व्याकुलित बुद्धि मनुष्य विवेकज्ञान राहत हुआ पर पत्थ को अपना समझ कर दुःखी होता है। घट्टर का सवन करने से उत्पन्न हुआ चमत्तपना (पागलपन) कुञ्ज तिन तक जीव को मोहित (मूर्छित) रखता है वह एक भव में भी कुछ काल पयन्त ही रहता है। किन्तु मिथ्यात्वमोह का सवन करने से आत्मा अपरिमित काल तक पागल बना रहता है और वह अनेक कुयोनिभों में ज म मरण परम्परा को उत्पन्न करता है। इसलिए मिथ्यादर्शन मोह सम्यग् मोहो से अति निकृष्ट है। इसका त्याग करने से ही जीव सुखी होता है अत हे चपक 'तुम से अपरिमित असह्य घोर दुःख के कारण मिथ्यात्व का परिचाग करो।

शङ्का—चपक ने तो इस मिथ्या व का पहले से ही त्याग किया है। स समय तो सयम की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहा है। अत सयम की दृढता का ही म समय उपदेश देना चाहिए। मिथ्यात्व के त्याग करने का उसको उपदेश क्यों किया गया है ?

समाधान—जीवो अणान्तिकाल पयत्तमिच्छत्तमाविना मतो ।

एव रमिज्ज हु मम्मत्ते एत्थ पयत्त सु काट व ॥ ७२८ ॥ (अग अ )

अर्थ—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व क मस्कार म स्कारित रहा है। मिथ्यात्व के साथ जीव का अत्यंत परिचय रहा है। अत सम्यग्दर्शन में यह रमता नहीं है। किंचिमात्र विपरीत निमित्त का संयोग मिलते ही सका अन्त करण मिथ्य व की ओर मुक्त जाता है। भलिए आचाय चपक का स यक्त्व में आसक्त रखने के लिए बारम्बार मिथ्या व के दुःखण व्रतार उसम विमुख रखने के लिए उपदेश देने हैं। जिसका चिरकाल म जीव को अभ्यास हो रहा है उसका त्याग बड़ी ही कान्ताई से होता है। उसे सप अपने चिर परिचित बिल में निगारण करने पर भी प्रवेश करता है उमे तही छोडता है जैसे ही डम जीव को मिथ्यात्व से अनन्त काल का परिचय हो रहा है सलिए आचाय बार बार मिथ्या व का परित्याग करने और सम्यक्त्व में तद्व र न का उपदेश देने हैं। जैसे-प्रतीकार गदित विष से बुझे हुए बाण से बीजा गया मनुष्य बीहड जङ्गल में पडा हुआ भयानक वेत्ना को सहकर मृत्यु को प्राप्त होता है वम ही मिथ्यात्व शल्य से पीडित हुआ यह जीव भव भव में नरकानि योनि के असह्य दुःखो को अनन्त काल तक सहता है।

हे चपक ! सवश्री नाम के प्रधान मात्री क चशु महान् मिथ्यात्व क प्रभाव से नष्ट हुए। वह उसी भव में दुःख से मरकर दीघ

ससारी हुआ ।

इस मिथ्यात्व के दोष से आत्मा के सुन्दर और सुन्दर ज्ञानादि गुण निकम्मे हो जाते हैं जैसे कड़ुबी तुम्बी में रखे हुए दुग्धादि मित्र पदार्थ भी कड़ुवे हो जाते हैं । कहा है —

कडुगमि अशि बलिदमि दुद्विप कडुगमेव जह स्वीर ।

होदि शिद्धिद तु शिञ्चलियमि य मधुर सुगध च ॥ ७३३ ॥

तह मिञ्चत्तकडुगिदे जीवे तवशाख चरणविरियाशि ।

शासति बतमिञ्चत्तमि य सफलाशि जायति ॥ ७३४ ॥ ( भग आ )

अथ—गूदे सहित कड़ुबी तुम्बी में भरा हुआ दूध जैसे कड़ुवा हो जाता है और शुद्ध तुम्बी में रखा हुआ दुग्ध मधुर और सुगन्धित रहता है वैसे ही मिथ्यात्व से कटुता ( विपरीतता ) को प्राप्त हुए जीव के ज्ञान चारित्र्य तप और वीर्य नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् ज्ञान चारित्र्यादि मोक्ष के कारण नहीं होते हैं । तथा जब यह जीव मिथ्यात्व का वमन कर देता है तब वे ही ज्ञानादि गुण स्वर्गादि के सुख एवं मोक्ष के कारण होते हैं ।

इसलिए हे षष्पक ! मिथ्यात्व की आत्मा में ज्ञानादि तत्त्व मत पढ़ने दो और सम्यक्त्व के आराधन में सदा साधधान रहो ।

हे साधु भद्र ! तुमने अनेक परीषद् उपसर्गादि सहकर इतने काल तक जो ज्ञान चारित्र्य तप आदि की साधना की है उसकी सफलता इस सम्यग्दर्शन से ही हो सकती है, इसके बिना उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है । वे सम्यक्त्व बिना केवल आत्मा के भारभूत हैं । आत्मानुशासन में कहा है —

शमबोधवृत्तपसां पाषाणस्येव गौरव पु साम् ।

पूज्य महामखेरिव तदेव सम्यक्त्वसयुक्तम् ॥

अथ—क्रोधादि का उपशम ज्ञान चारित्र्य और तप का आचरण ये सब सम्यक्त्व के बिना आत्मा को पाषाण के समान भारभूत हैं । जब आत्मा में सम्यक्त्व गुण उत्पन्न हो जाता है तब वे ही महामखि के समान पूज्य ( प्रशस्त ) हो जाते हैं ।

शागरस्स जह दुवार मुहस्स चक्खु तरुस्स जह मूल ।

तह जास्य सुसम्मत्तं शास्य चरस्य वीारय तवाण ॥ ७३६ ॥

अर्थ—जैसे नगर का नर्वाजा नगर में प्रवेश करने का उपाय है। वैसे ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप आर वार्थादि गुणों के प्रवेश करने का उपाय है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना सार्तिशय अवधिज्ञान तथा उत्कृष्ट निजरा के कारण यथाख्यात चारित्र सार्तिशय तपश्चरण और विशेष वीय का प्रादुर्भाव नहीं होता है। नैम-चक्षु सुख की शोभा बढ़ाने वाली होती है। वैसे ज्ञानान्ति की शोभा सम्यक्त्व से होती है। बिना सम्यक्त्व के ज्ञानान्ति गुण मिथ्यापन से दूषित रहते हैं। सम्यक् के उत्पन्न होते ही वे सब उक्त दूषण से रहित होकर पूज्यता को प्राप्त होते हैं। जिस वृत्त की स्थिति का कारण मूल (जड़) होती है। वैसे ज्ञानान्ति गुणों की स्थिति का कारण सम्यक्त्व होना है। अर्थात् बिना सम्यक्त्व के सम्यक् ज्ञानान्ति गुण आत्मा से निरल जाते हैं और आत्मा में इस ज्ञानान्ति का निवेश हो जाता है। अतएव हे क्षपक तू नित्य सम्यक्त्व को आराधना में रत रह क्योकि—

दसण भट्टो भट्टो दमखभट्टस्स शात्थं शिवागं ।

सिज्झन्ति चरियभट्टा दसखभट्टा ख मिज्झन्ति ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट समझा गया है। क्योकि दर्शन भ्रष्ट जाव का निवाण नहीं होता है। चारित्र भ्रष्ट मोक्ष सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं किन्तु दर्शन भ्रष्ट मुक्ति से वंचित रहते हैं।

सुद्ध सम्मत्तं अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणाम ॥

जादो दु सेखिगो आगमेसिं अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥

अशिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शन ।

आर्हत्त्यपदमासाद्य सिद्धिसौध गमिष्यति ॥ ७६६ ॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्व के प्रभाव से व्रत रहित जीव भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। समय हीन श्रेष्ठिक महाराज सम्यग्दर्शन की निमग्नता के कारण भविष्य काल में त्रिलोक चूडामणि अर्हत्त पत् पाकर सिद्धि सौध (महल) में गमन करेगे।

कल्याण पर परय लहति जीवा विसुद्धसम्पत्ता ।

सम्मद् सगारयण खग्वदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को निमल करने से यह जीव देवेत् पर चक्रवर्तीय पद अहमिन्द्र पद और तीथकर पद ऐसी लक्षरोत्तर कल्याण परम्परा को प्राप्त करता है। यह सम्यग्दर्शन इतना अमोघ अमूर्त्य रत्न है कि सुर और असुर सहित यह लोक भी इसके मोल की तुलना नहीं कर सकता है।

हे क्षपक ! तुम समाधि मरण ( रत्नत्रय पूर्वक मरण ) के सम्पादन करने में प्रयत्नशील हो। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना में सलग्न रहो। इस आराधना की सिद्धि के लिए आराधन के नायक अहन्त विद्व परमेष्ठी तथा उनके चैत्य और प्रवचन में परम भक्ति धारण करो। यह भक्ति ही आराधना का मूल कारण है शास्त्र में कहा है —

विधिष्या कदस सस्स जहा शिप्पादय इवदि वास ।

तह अरहादिग भत्ती याणचरखदसण तवाण ॥ ७४१ ॥

अर्थ—विधि पूर्वक बोधे हुए धान्य का उत्पादक जैसे वृष्टि या जल सिंचन है वैसे ही दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना का निष्पादक कारण अर्हतात्ति की भक्ति है।

वीणख विणा सस्स इच्छदि सो वासमभण्ण विणा ।

आराधणमिच्छन्तो आराधनभत्तिमकरणे ॥ ७५ ॥

अर्थ—आराधना व आराधक की भक्ति न करता हुआ जो मनुष्य दर्शन ज्ञान चारित्र तप की आराधना च हना है वह वीज के बिना धान्य और मेघ के बिना वृष्टि की इच्छा करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय में अर्हतात्ति में भक्ति नहीं है उस से इतनी ऊँच भूमि के समान है। उस में बोया हुआ आराधना रूप वीज दर्शन ज्ञान चारित्रादि रूप सस्य ( धान्य ) को कभी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है।

जिस को चित्त भूमि में भक्ति का स्रोत बहता है उसको अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं।

विज्जा वि भचिवतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।

किह पुण्ण सिञ्चुदिबीज सिञ्काहिदि अमचिम तस्स ॥ ७४८ ॥

अथ—भक्ति परायण पुरुष के विद्या सिद्धि होती है। उसकी विद्या फलवती होती है। और तो क्या उसकी रत्नत्रय आराधना भी सफल होती है। जो भक्ति हीन है उस के मोक्ष के बीज भूत रत्नत्रय का क्या सिद्धि हो सकती है ? अर्थात् भक्ति शून्य हृदय में रत्नत्रय की आराधना कभी नहीं होस ती है ।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को अहंतादि की भक्तिमें तन्मय रहना चाहिए। भक्ति के बिना सम्यग्दर्शनादि की आराधना आकाश पुष्प के समान असंभव है। इसलिये हे क्षपक 'तुम निरन्तर अहंतादि परमेष्ठी की भक्ति में मग्न रहो ।

जो पुरुष अहंतादि की भक्ति में तपन रहता है उसकी प्रवृत्ति एमोकार ( पञ्चपरमेष्ठी के नमस्कार ) में अवसर होती है। एमोकार स भक्तिका पोषण होता है। सलिये—

आराधणा पुरस्सर मणपणहिदंओ विसुद्ध लेस्माओ ।

मसारस्म स्वयकर मा मोचीओ णमोक्कार ॥ ७५३ ॥

अथ—मुनिसत्तम 'विषय कषायादि सब विकार भाव को हृत्प्य से निकाल कर एकप्रवृत्ति होओ। तथा कषाय की संज्ञा कर लेश्या को उज्वल बनाकर संसार का क्षय करने वाले आराधना के अग्रं सर एमोकार मंत्र को मत छोड़ो। इसका निरन्तर चिन्तन करो ।

मरण के अवसर में भवण गोचर हुआ एमोकार मंत्र सन्निधि का कारण होता है। देखो मरणो-मुख्य हुए कुत्ते ने जीवन्धर स्वामी द्वारा कान में सुनाये गये एमोकार मन्त्र को सुनकर देव गति प्राप्त की। और अन्तमुद्गत मे पूण्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो तत्काल आकर उसी जगह मृत कुत्ते के शव के समीप बैठे हुए श्री जीव धर स्वामी को पूजा की ।

दृढ सुय नामक चौर मरण समय एमोकार मन्त्र का स्मरण कर महार्थिक त्व हुआ यथा :—

ददसुण्णो झलहदो पचयमोक्कारमेत्त सुदणाणे ।

उवजुत्तो कालगदो देवो जाओ महड्डीओ ॥ ७७३ ॥

अर्थ—सूती पर लटकनाया गया हृद्ग्रन्थ नाम का चौर पंच नमस्कार मात्र अतः ज्ञान में उपयोग रखता हुआ उस पंच नमस्कार मंत्र के प्रभाव से इस शरीर का त्याग कर महद्विक देव हुआ। इसलिए हे साधो! पंच परमेष्ठो का नमस्कार स्वर्गादि की दिव्य सुख सामग्री देता है और परम्परा मोक्ष सुख को देने वाला है। इसलिए हे भाई! इस अपूर्व समाधिमरण के समय इसे किसी प्रकार मत भूलो। अन्य विषयों के स्मरण करने का यह समय नहीं है अतएव सावधान होकर अर्हतादि क नाम का स्मरण और उनके स्वरूप का चिन्तन करो।

निर्यापकाचाय उक्त रीति से अनेक प्रकार उपदेश देकर उसको सम्यग्ज्ञान ज्ञान व चारित्र्य और तपश्चरण में सावधान करते हैं

सधारत्यो खवञ्चो जह्या खीखा हवेज्ज तो तहया ।

वोसरिद्व्वो पुब्बविधिखेव सो पाणगाहारा ॥ १४६२ ॥

अर्थ—संस्तर पर सोये हुए क्षपक का शरीर जब क्षीण हो जावे तब पहले वस्त्रन की गई जो तीन प्रकार के आहार करने की विधि उसक अनुसार पानक आहार का त्याग भी क्रम से करना चाहिए। अर्थात् पानक आहार द्रव्य के छह भेद पहने बताये गये हैं, क्षपक के बलाबल को देखकर आयुर्वेद के नियमों को ध्यान में रखते हुए क्रम से उनका त्याग करवान में निर्यापकाचाय को सावधान रहना योग्य है।

प्रश्न—वैद्यावुच्य करने वाले यदि और निर्यापकाचाय को क्षपक के शारीरिक पीड़ा तपन्न होने पर उनका प्रतिकार करने के लिए वैद्य की सम्मति लेकर औषधि की योजना करने का शास्त्रीय मत क्या है ?

उत्तर—वैद्य के आदेशानुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक द्रव्यों से आवश्यक करना चाहिए। इसके लिए भगवती आराधना में निम्नांक आशा है।

तो तस्स तिगिंखा जाणएण खवयम्म सवमचीए ।

विज्जादेसेण बसे पडिकम्म होह कायव्व ॥ १४६७ ॥

याऊण विकार वेदथाए तिस्से करेज्ज पडियार ।

फासुगद्व्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडियार ॥ १४६८ ॥

अर्थ—प्रतिचारक यदि व निर्यापकाचाय ( जो रोग की चिकित्सा रोग का निदान व उसकी निवृत्ति का उपाय जानता है ) को स्वयं अथवा वैद्य के उपदेश के अनुसार क्षपक के रोग का प्रतीकार प्रासुक औषध द्रव्यों के द्वारा आवश्यक करना चाहिए। क्षपक के वात पित्त व

कफ का प्रतीकार साधु के योग्य निर्दोष द्रव्य से करना निर्यापकाचार्य व परिचारक मुनियों का परम कतव्य है ।

परम—ज्वर के रोग का प्रतीकार करने के लिए निर्यापकाचार्य व परिचारक किन् २ उपायों का आश्रय ले सकते हैं ?

वर्त्योर्हि अवदवक्ष्यतावयोर्हि आस्वेवसोदकिरियाहि ।

अभ्रमगणपरिमद्वा आदीर्हि तिगिंक्षदे स्वय ॥ १४६६ ॥

अर्थ—वस्त्र कम ( मल मूत्राशय में श्लेष्म करना—इनीभा करना ) गर्म करने के लिए तपाना औषधि का श्लेष करना प्रासुक शीत जलादि का सवन कराना अग्न दधाना शरीर मन्त्र करना इत्यादि वैद्यशुच्य प्रासुक न्यो द्वारा निर्यापक मुनि व धर्म परायण आर्यक ज्वर की वेदना निवारण करने के लिए करते हैं ।

भावाथ—जितने भी उचित उपाय रोग अथवा पीड़ा शमन करने के आयुर्वेद में बताये गये हैं उन सब का प्रयोग कर ज्वरक की शारीरिक वेदना का शमन करने में परिचारक प्रमाद नहीं करते हैं । किन्तु वे सब प्रासुक व मुनि के सन्नीय पदार्थों का ही सवन कराते हैं अप्रासुक द्रव्यों का परित्याग और प्रासुक उचित द्रव्यों का ही उपयोग करते हैं ।

परम—यथाशक्ति भरसक उपाय करने पर भी तीव्र वेदनीय कम द्रव्य म बाह्य उपचार कुत्रक्षय नहीं होते हैं । अर्थात् अन्त उपचार करने पर भी किसी के रोग की शान्ति नहीं होती है । और किसी के बाह्य उपायों से वेदना का प्रकीर्ण हो जाता है । इससे कर्मान्य की त्रिचित्रता प्रकट सिद्ध होती है । कहा भी है —

कस्पचित् क्रियमाणेषुऽपि बहुषा परिक्रमण ।

पापकर्मोदये तीव्र न प्रशाम्पति वेदना ॥ १५६ ॥

उस समय में अथवा—भूल्य व्यास आदि परिषद्दों से पीड़ित होकर ज्वरक याकुल चित्त या चेष्टाहीन ( मूर्छित ) हो जाता है । कभी कभी तीव्र वेदना से अति पीड़ित परीषद्दों से घबराकर आपसे बाहर हो जाता है । उटपटाग बकने लगता है । कभी रात्रि भोजन पानादि समय विकृष्ट क्रिया करने के लिए भी उत्तारू हो जाता है उस समय निर्यापकाचार्य किस उपाय से उसको शान्त करते हैं ?

उत्तर—उस समय आचार्य बाह्य उपायों की ओर स उपेक्षा टाढ़ न रखते हुए भी उनसे अपनी मनोवृत्ति को हटाकर अन्तरंग स प्र

श्रीषध उपदेशामृत का पान कराते हैं। उसके स्वरूप का भान कराते हैं। उसके निज की महत्ता का स्मरण दिना कर उसके हृदय में आत्म सम्मान का भाव जामत करते हैं। तथा उसको अनेक प्रकार से धैर्य बंधाते हैं।

कोसि तुम किं श्यामो कृत्य वसमि को व मपही काला ।

किं कुशसि तुम कहवा अत्यसि किं श्यामगो वाह ॥ १५ ५ ॥

हे ज्ञपकोत्तम ! हे आत्म कल्याण के इच्छुक ! स्मरण करो ! तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? तुम कहाँ बसते हो ? इस समय कौन सा काल है ? अर्थात् अभी रात है या दिन ? तुम क्या काम कर रहे हो ? तुम क्या चाहते हो ? मेरा नाम क्या है ? स प्रकाश निर्यापकाचाय ज्ञपक स बार बार पूछते हैं।

भावाथ—दयालु आचाय ज्ञपक की सावधानता या असावधानता का परीक्षा करने के लिए उमम अति प्रेम से भरे अनेक प्रश्न करते हैं। कोई ज्ञपक आचाय महा ज्ञ के इस प्रकार पूछने पर सचेत हो जाता है और अपनी अवस्था पर विचार करता है कि मैंने सन्यास मरण्य प्रारम्भ किया है मेरा इस समय क्या कर्त्तव्य है। ये परम दयालु आचाय महाराज भरे हित के लिए कितना दृष्ट सहन कर रहे हैं। धैर्य है इन दयालु महापुरुषों को जो इतना काय क्लेश उठाकर मेरे कल्याण के अर्थ उद्योग कर रहे हैं। ऐसा चिन्तन कर शुभ ध्यान में लीन होता है। कोई ज्ञपक आचाय द्वारा अनेक बार सचेत करने पर चतय का प्राप्त होकर तीव्र वेदना व क्षुब्ध की दुस्सह परिषद उपसग क सहन न कर सकने के कारण तीव्र अशुभ क्रम क वरा पुन अनेन ( बेहारा ) हो जाता है तथापि परापकार में त्वर आचाय महाराज उपासीनता धारण नहीं करते हैं। उसको पुन कोमल शब्दों से प्रेम पूरा वाक्यों स पुन भाव गान करने का पूरा उचित उपम्य करते हैं। उस आराधना का स्मरण दिलाते हैं। तथा चार प्रकार के आद्या का याद दिलाते हैं।

कोई सचेत हुआ भी होश में आया हुआ भी क्रम क उन्मय स परिषदा क क्लेश स मतप हुआ अयोग्य वचन बोलन लगता है। प्रतिज्ञा भंग करने पर उतारू हो जाता है रुदन करने लगता है। तथापि अ गाय उमम तिर्कर नहीं करते हैं। उसके प्रति कटु वचन का प्रयोग नहीं करते हैं। उसके प्रति आचाय के हृदय में पूरा सहानुभूत का वेग हो आता है और उसके कल्याण के लिए अधिक तत्परता दिलाते हैं।

विचक्षण बुद्धि शक्ति शाली धैर्य धुरंधर आचाय महाराज ज्ञपक को प्रेम पूरा वण प्रय राष्ट आरामद बढाने वाले वचन उच्चारण करते हैं। जिनका श्रवण करते ही ज्ञपक का सब दुःख निवारण हो जाता है। आचाय धीर ममभ्रकर वचन बोलते हैं। शीघ्रता नहीं करते हैं।

हे शारित्र धारक मुने । सचेत होवो । क्याल करो तुमने धार प्रहार के सच के समज्ञ महा प्रतिज्ञा धारण की है कि मैं मरण पयन्त आराधना का सेवन करूंगा रत्नत्रय का निर्दोष पालन करूंगा इस प्रतिज्ञा का स्मरण करो । अब क्या तुम भूल गये हो ?

हे धीर वीर । मैं अवश्य शत्रु का पराजय करूंगा ऐसी जनता के समज्ञ जिसने दृढ़ प्रतिज्ञा की है ऐसा कौन स्वाभिमानी वीर पुरुष शत्रु के निफट आने पर डर कर पलायमान होगा । कुलीन शूर वीर पुरुष मिड शत्रु को पीठ दिखाने की अपेक्षा समराण्य में प्राणों का त्याग करना ही सब श्रेष्ठ समझता है । वैसे ही हे वीर मुने । तुमने सम्पूर्ण संघ के समज्ञ प्रतिज्ञा की है कि कठिन परीष्वह व धीर उपसर्ग के आने पर भी परित्यक्त आहारोदि पदार्थों को अङ्गीकार नहीं करूंगा । मर्यान्ति विपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञात व्रत नियमों का यथावत् पालन करूंगा । हे मुने । क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर स्वाभिमानी साधु कष्टों से घबराकर कायरता धारण करेगा । अपनी प्रतिज्ञा का भंग करेगा ? हे सयमिन ! वह कदापि अपने स्वाभिमान व वचन का भंग न करेगा । वह मरण को तुच्छ समझ अपने यश का विनाश न होने देगा । लज्जारपद जीवन को अधम मनुष्य ही अकला समझता है । गौरव शाली मानव पुंगव लज्जा युक्त जीवन स मृत्यु को ही उत्तम मानकर प्राणपण से अपना प्रतिज्ञा का पालन करता है ।

हे मुने । तुमतो महान् शूर वीर हो । क्या कायरता धारण करना शूर वीर पुरुषों को शोभा देता है ? शूर वीर पुरुषों के तो युद्धस्थल में शत्रु की ललकार सुनकर पाव चठते हैं । वे प्रसन्न चित्त होकर अपनी वीरता दिखाने के लिए बड़ी वसुकता से सम्पुख गमन करते हैं । तथा शरीर में जीवन व्योति की किरण के प्रकाश मान न होते हुए कदापि रखागण से पश्चात्पद नहीं होते हैं । हे शूर वीर मुने । तुम तो महान् वीर और धीर हो । तुमको इन आगत परीषह व उपसर्ग का वीरता के साथ सामना करना चाहिए । तुम अनन्त शक्ति के धारक त्रैलोक्य साम्राज्य के अधिपति चेतन्य हो । ये जड़ तुम्हारे सामने कैसे ठहर सकते हैं । ये तो तुम्हें अपने कृत्य से ज्युत करने के लिए तुमको त्रिजगत्पति बनने के कृत्य में बाधा डालने के लिए शत्रुता कार्य कर रहे हैं । इसलिए यदि इस समय तुमने कायरपना धारण कर लिया तो तुम इन लुटेरों से छुट लिये जावोगे । ये तुम्हारे रत्नत्रय के भण्डार को ज्वीन लेंगे । और अपरिमित काल के लिए तुम्हें शक्ति हीन दरिद्री बना देंगे अतः यह तुम्हारे सावधान रहने का समय है ।

हे मुने ! अपने कुल के अपने गण के, तथा सच के यश को उज्वल बनाने वाले का जीवन मनुष्य समाज में ही नहीं, देवों से भी पूज्य होता है । इसलिए तुम कुल गण और संघ की लज्जा का क्वाल रहो । उस को मलिन कर जीवन धारण करना क्या उचित प्रतीत होता है ? तुम्हारे खरोखे महात्मा क्या ऐसे निन्दनीय क्रय कर सकते हैं ? अतएव हे मुनिश्रेष्ठ अब सावधान होकर अपने प्रतिज्ञात कृत्य का स्मरण करो ।

इतने ही महापुरुष समस्त परिग्रहों का परि त्याग कर अपने आत्मा के स्वरूप में आपा धारण कर उपसर्गादि की परवाह न कर आपात्तियों को निमंत्रण न कर कल्प अनक विपत्तियों का आह्वान करने के लिए सिंह-यात्रा सप-दुष्ट द्विष तियच मनुष्य और देवकृत तथा अचेतन कृत वयमर्गां स याज भयानक कानन में पात की गुफाओं में व शिखरो पर और शरानों में जाकर निवास करते हैं। वहा पर ध्यान धरते हैं। वहा पर पकाकी रहकर उत्तमाथ (रत्नत्रय) की आराधना में कन्धिबद्ध रहते हैं। वे मन्मा अप्तशीघ्र रत्नत्रय की पूजा कर परम सद्गति को प्राप्त करते हैं।

हं मुन ! तुम्हारे समीप तो अनक परिचारक मुनिराज वयावृन्ध करने में सदा तत्पर रहते हैं। तुम को क्या इस समय वय धारण करना चाहत नहीं है? अ य मुनि अनेक गोर उरसग सकर जो रस्तु प्राप्त करते हैं वह वस्तु तुम्हें थोड़े स वय धारण करने से आत्मा में सावधानी रत्न स प्राप्त हो सकेता है। सलिए स समय गाफल मन रहा। पूण सावधान होकर अपनी प्रतिज्ञा सा पालन करने में नत्तचित्त हो जाओ।

हं न कौन्म ! त्रि हाने अलाकिक त्रय धरण कृष्ण है त्रिनके चारित्र में लशमात्र भी दूषण का सम्पक नहीं हुआ है तथा त्रिन्होन त्रनज्ञान का अबलम्वन लिया है ऐस महामुनीश्वर जगली हिम-पशुओं की तीक्ष्ण दाद में पडुचकर भी उत्तमाथ जो रत्नत्रय है उसकी गसिद्धि कर्गलत है। वे प्रात स्मरणीय मन्मा त्रनत्रोक्त प्रकार हैं—

उपसर्गों से विचालत न होने वाले महामुनियों के कुल्ल उदाहरण

मन्लक्षिण तिरक्त खज्जतो घोरवेण्डुवो वि ।

आराधण पवण्यो ज्झाणेणावतिसुकुमालो ॥ १५३६ ॥ [ भग आ ]

भावार्थ—जिन अत्रय पुण्यगामी पुरुष दुःख ने महलों में भी मखमली गलीचों को छोडकर भूमिपर पाव नहीं रखा था दिव्य रत्नों के लोपको क-दोति के मित्ता कमी देपक के प्रकारा का ननों स नहीं देखा था सदा शीतल छाया में ही अपना जीवन चिनाया था कभी सूर्य तक का अवलोकन नहीं किया था रात भर कमल के मध्य में वासित उत्तम चौबलों के अतिरिक्त कठोर पदाथ का भोजन नहीं किया था सरसों के दाने जिनके कमल मम कोमल शरीर में शूल समान गड़ते थे वे अवति सुकुमाल मुनिराज देवोपम सब सुषों पर लात मारकर सब ऐश्वर्य का परित्याग कर वन में त्रयोसग कर आत्म-यान में आरुद्ध थे। उनके शरीर को तीन रत्न लगानार नेच २ कर शृगाली भनय करती रही। उनक अग प्रत्यय ने भयानक वेण्णा द्वा रक्षो था तथापि वे घोर और अवति सुकुमाल महामुनि रत्नत्रय की

आराधना में मलग्न रह। शुभ ध्यान से रचमात्र विचलित नहीं हुए। अन्ततक अपने शुभ ध्यान में मग्न रहे और उन्होंने उत्तमाय की सिद्धि की।

मोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो सिद्धत्यदृश्य भयवतो ।

वग्दीय वि खञ्जतो पडिवण्यो उत्तम अट्ट ॥ १५४० ॥ [ भग आ ]

अ — सुद्वलनाम क पवतपर ध्यानारूढ सिद्धाथ नृपतिके पुत्र सुकोशल महासुनिराज को उनके पूर्वभव की माता के जीव व्याघ्रों ने भक्षण किया तो भी उन महासुनीरवर ने अपने शुभ ध्यान का याग न कर उत्तमाय ( रत्नत्रय ) की सिद्धि की। परम धैर्य के धारक सुनिपुण ने अत्यन्त घोर उपसर्ग पर विवेकज्ञान बल से विजय प्राप्तकर अपने स्वाथ की ( आत्मकाय रत्नत्रय की ) प्राप्ति करली।

भूमिण मम कीलाकोट्टिदेहे वि अन्नचम्म व ।

भयव पि गणकुमारो पडिवण्यो उत्तम अट्ट ॥ १५४१ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—भगवान गणकुमार सुनिराज को भूमिपर गिराकर उनके शरीर में कीलें ठोककर गीले वम के ममान भूमिपर बिद्धादिया था भूमि और शरीर को एक कर दिया था। ऐसे भयकर दुष्ट मनुष्यों से किये गये रोमाचकारी उपसर्ग को शान्ति से सहकर उन घोर घोर आत्म ध्यानी सुनिराज ने उत्तमाय ( रत्नत्रय ) की प्राप्ति की थी। वे शुक्ल ध्यानाग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति साम्राज्य के अधिकारी बने।

हे मुन । जो गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती थे वे सनत्कुमार नामा महासुनि सौ वष पयत्त खाज वर खासी, आसरोग भस्मक-व्याघ्र नेत्ररोग उत्तरपीडा आदि उग्र रोग जनित तोत्र चेटना का सहन करते रहे। रचमात्र सक्केरा परिणाम न कर ध्यान में मग्न रहे। धर्मावलम्बन लेकर अपने उत्तमाय की सिद्धि में लगे रहे।

हे साधो ! गङ्गा नदी के मध्य नाव में डूबते हुए एणिक पुत्र सुनिराज ने शरीर के मोह का परित्याग कर आन्तध्यान के अवसर में भी शुभ ध्यान धारण कर चार आराधनाओं को प्राप्त करते हुए मरण किया।

घोर अकर्मोदय तपश्चरण करते हुए भन्बाहु सुनिराज तीव्र लुधा की पीड़ा से पीड़ित होने पर भी लेशमात्र सक्केरा परिणाम के वशीभूत नहीं हुए। शान्तभाव से शुभ ध्यान में मग्न रहकर रत्नत्रय की प्राप्ति की।

कोसबीललियघडा वृत्ता गङ्गापरएण जलमज्जे ।

आराधण पवएणा पावोवगदा अमूदमदी ॥ १५४५ ॥ [ भग आ ]

अथ—कौशाम्बी नगरी में ललितघट नाम स प्रसिद्ध इन्द्रलतादि वृत्तीस महासम्पत्तिशाली श्रावण यमुना नदी के प्रवाह में डूब कर भी सकलेश परिणाम रहित प्रायोपगमन संन्यास धारण कर उत्तमाथ को प्राप्त हुए ।

चम्पानगरी के बाह्य गङ्गा के तट पर घम घोष नामा महामुनि एक मास के उपवास धारण कर भयानक तृषा की वेदना से पीड़ित होने पर भी सकलेश भाव रहित होकर उत्तमाथ ( आराधना सहित ) भरण को प्राप्त हुए ।

हे लूपक ! श्री दत्त नामक मुनिस्वज के पूत्रभव क बैरी किसी देव ने विक्रिया द्वारा शीतल जल की वृष्टि व शीतल वायु उत्पन्न कर उन म आयु को घोर क्लेश लिया । किन्तु वे महामुनि सकलेश भाव रहित हुए उत्तमार्थ की साधना में ही रत रहे ।

श्री वृषभसन महामुनि न अत्युष्ण वायु तथा अत्यंत उष्ण शिलातल और सूर्य के पक्षर किरण मताप से उत्पन्न हुई उष्ण परावह का सहन कर सकलेश पारणाम न करते हुए उत्तमाथ की साधना की ।

रोहेडयम्मि सचीए हआ कोंचेण अग्गिटइदो वि ।

त वेपणमधियासिय पडिवएणा उत्तम अट्ट ॥ १५४६ ॥ [ भग आ ]

अ ५—रोहेडग नगर म कौच नाम के राजा ने आग्रराजा के पुत्र कार्तिकेय मुनिराज को शक्ति नाम के शास्त्र विशेष से मारा था । उस समय मुनिराज ने लेश मात्र भी परिणामों म विकार भाव उत्पन्न नहीं किया । शान्त परिणाम से उस उपसग को सहकर उत्तमाथ का साधन किया ।

हे मुने ! काकदी नाम की नगरी में चंडवेग नाम के एक दुष्ट राजपुत्र ने अभयघोष मुनिराज क समस्त अंगों को काट डाला । तथापि उन महामुनि ने रचमात्र रोष नहीं किया । किन्तु साम्य भावना से उस रोमाचकारी दुःख को सहन कर रत्नत्रय की आराधना में तन्मय रहे ।

विद्युत्तर नामा चोग हास और मच्छरों स भक्षण किया गया किन्तु वह उनकी तीव्र वेदना को सकलेश भाव रहित साम्य भावना से सहकर उत्तमाथ ( आ म कल्याण माग ) को प्राप्त हुआ ।

हस्तिनापुर के स्वामी गुरुदत्त नाम के मुनिराज लोथमनि पवत पर तपस्या कर रहे थे। किसी दृष्ट नरनिशाच ने सबलि स्थाला के समान उनके मस्तक पर अग्नि जलाई थी। मिट्टी के पात्र में हरे नाज की बालों भर कर उस पात्र के मुख पर शंख के पत्ते भर देते हैं। पश्चात् उस पात्र को ओषा भूमि पर रख कर उसके चारों तरफ अग्नि जला कर बालों भुनते हैं। उस सबलिस्थाला कहते हैं। इस प्रकार उन मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जला कर घोर उपसर्ग क्रिया गया था। किन्तु वे मुनिराज तीव्र वदना से सकलेश भाव की प्राप्ति न होकर साम्य भावना भाते हुए आराधना के फल से प्राप्त हुए।

किसी पूर्वभव के बँरे ने चित्वातपुत्र नामक मुनिराज पर शत्रु प्रहार किया। सबेरे उनके शरीर पर अनेक घाव हो गये। पश्चात् उनके शरीर को स्थूल मस्तक वाली काली चींटियों ने खाकर चला। इ समान छिन्मय कर लिया। किन्तु उन घोर घोर महामुनि राज ने मुनि मात्र से रोमांच पत्र करन गयी घोर वेदना को प्राप्ति से सहा और आराधना के निमित्त न साधन किया। अर्थात् रत्नत्रय की आराधना से रचमात्र भी नहीं टले।

एहनाम के मुनिराज पर यमुनावक नाम के किसी पापी पुरुष ने प्राणों की उच्छि करके उनका सम्पूर्ण शरीर बाणों से बीध लिया। किन्तु उन मुनिराज ने रत्नत्रय की आराधना से अपने समाधि मरण से नहीं विगाडा।

प्रभिणदशादिया पचमया ग्यरम्मि कु भकारकडे ।

आराधण पवसया पालिज्जता मि यतेष ॥ १५५५ ॥ [ भ - आ ]

अर्थ—कुभकारक नाम के नगर में अभिनन्नादि पाच सौ मुनिराजों को घानो (काष्ठ) में डालकर पील दिया। लेकिन वे मुनिराज रत्नत्रय आराधना से विचलित न हुए।

गोठान (गायो के गह) में चाणक्य मुनि ने प्रायोपगमन समय में धारण कर रखा। सुशु नामा मंत्री उनका शत्रु था। गदा फडा की राश थी। उसमें भाग लगा कर उसमें चाणक्य मुनि को डालकर जलाया। किन्तु वे मुनिराज अपने से तास मरण से चलायमान नहीं हुए। साम्यभाव धारण कर रत्नत्रय को निमल बनाये रखा।

इसी प्रकार कुणाल नामक नगर के वहिभाग में अनक शिष्य बग के साथ वपभसेन नामा मुनिराज ठहरे हुए थे। रिष्ट नामक राजमन्त्री ने आग लगाकर उनको त्व किया किन्तु उन सब मुनिराजों ने उस उपसर्ग से सहन किया। रत्नत्रय आराधना में बाधा न आने से अर्थात् रत्नत्रय का त्याग नहीं किया।

जन्मिदा एव एदे अणुगारा तिव्वदग्गड्डा वि ।

एयागीऽपडियम्मा पडिवएणा उत्तम अट्ट ॥ १५५८ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—आगम प्रसिद्ध जगद्विख्यात पूर्वजि मुनीश्वरों ने अति घोर वेदनाओं से पीड़ित होकर भी उनका प्रतीकार नहीं किया। उनका कोई सहायक नहीं था। उनका वैयवृत्त्य करने वाला एक भी मुनि पास में नहीं था। कोई वैद्य उनकी चिकित्सा करने वाला नहीं था। उनपर दुष्ट वैरियो ने रोमाचकारी उपसग किये। जिनको सुनकर आत्मा काप उठता है। उन्हें अग्नि से दग्ध दिया शखों से छिन्न भिन्न किया कोल्ह में पीसा कई पवतों से गिराये गये। दुष्ट तिर्यचों ने उनके शरीर का शनै शनै नाच नोच कर भक्षण किया प्राण रहि। किया तथापि उन्होंने साम्य भाव का त्याग नहीं किया। आराधना के पालने में वे शिथिल नहीं हुए। अपने आत्म-कल्याण के माग से तनिक भी नहीं हटे।

हे क्षपकात्तम ! तुम्हारे तो अनेक सहायक हैं। वैयवृत्त्य पगायण परम दयालु धैर्य के धारक तुम्हारे कल्याण के अभिलाषी हितोद्देशक व दान में उद्यमो समस्त आचार्यानि वैयवृत्त्य करने में आप ध आदि का उपचार में तन मन म लगे हुए हैं। सम्स्त संय सम्पूर्ण उचित उपायों द्वारा तुम्हारे सुख व शान्ति की प्राप्ति में लगा हुआ है। तुम्हारे ऊपर तो कोई तीव्र उपसगाद भी नहीं आया है। ऐस सवानुकूल सामग्रो रहते हुए सुखणसम त्रयमर म तुम आराधना प्रदण करने में क्यों शिथिल हो रहे हो ? भो मुने ! अब तुम को सम्भलना चाहिए। २। अबसर के लिये तुमने कठिन मुनि ब्रा धारण किया था। अनेक प्रकार के क्लेशों का सहा था। अब समय पर तुम क्यों कायरता धारण कर रहे हो ? ३। कायरता का समय नहीं है। घय धारण करने आर मोडा सा साहस रखने से तुम अपने ष्ट कल्याण का प्राप्त कर सकते हो। अत अत्र सावधान होकर स नश्वर शरीर के मोह का त्याग कर अपन आत्मा की सुध लो। आगधना देवी की भक्ति करो। इसमें ही तुम्हारा कल्याण है।

जिणवयणममिन्भूद मधुर कएणाहुदिं सुखतेण ।

सक्का हु सधमज्जे साहेदु उत्तम अट्ट ॥ १५६० ॥ [ भग आ ]

अ ३—हे मुने ! अमृत स्वरूप तथा मधुर कण को रम करने वाले जितेन्द्र देव के लक्ष्मणों का श्रवण समस्त मंध के मध्य तुम्हें प्रतिनिध मिलता रहा है। मलिय से सध में तुम को उत्तमाथ ( रत्नत्रय का आराधन ) की सिद्धि कोई कठिन नहीं है।

हे क्षम ! यह तुमको क्या दुःख है जो तुम इतने शिथिल हो रहे हो ?

नरकादि गतियों में भोगे हुए दुखों का दिग्दर्शन कराते हुए षपक का मन्वोधन

स्त्रियगतिरिक्त्वगनीमु य प्राणमदेवत्तखे य सतेष

ज पत् इह दुक्स्व त अणुचिंतेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥ [ भग आ ]

अथ—हे साधो ! ससागर में भ्रमण करते हुए तुमने नरकगति तिर्यचगति मनुष्यगति और देवगति में जो दुःख भोगे हैं उनको अच्छे लगाकर सुनो । ऐसा कोई दुःख बाकी नहीं रहा है जिसको तुमने पहले ससागर में नहीं सहा है । निरन्तर जलने वाली वज्राग्नि में अनन्त बार दग्ध होकर तुम भस्म होते रहे । अनन्त बार जल में डूब डूब कर मरे । अनन्त बार पतत से गिर गिर कर तुम्हारे शरीर का खूण हुआ । अनन्त बार कूपादि में गिर गिर कर मृत्यु को प्राप्त हुए । तया तालाब में समुद्र में और अनन्त बार नदी के प्रवाह में बह बहकर मरे । अनन्त बार शरों से विनारण किये गये । अनन्त बार कोल्ह में पीले गये । अनन्त बार दुष्ट तिर्यच पशुओं से खाये गये । अनन्त बार पक्षियों से नोच नोच कर भक्षण किये गये । अनन्त बार चक्री में पोंस गये । सँके गये । भुने गये । राधे गये । कडाही में तले गये । इसी प्रकार तुम अनन्त बार भूख की तान्न वेदना सहकर भूख के मार त्रिलचिला कर मरे हो । अनन्त बार व्यास के मारे तद्वत् २ कर मरे हो । अनन्त बार शीत की वेदना सहकर मन प्राण गवाय हैं । अनन्त बार उष्ण ( गर्मी ) की वेदना से छटपटाकर बुरी तरह मृत्यु पाई है । अनन्त बार वर्षा की बाधा सह सब कर मर हो । अनन्त बार पवन की पीड़ा से प्राणों का त्याग कर चुके हो । अनन्त बार विष भक्षण से शरीर और प्राणों का नाश हुआ है । अनन्त बार निरुपाय व्याधि की कठोर वेदना से मरे हो । अनन्त बार भय से व्याकुल होकर मरे हो । अनन्त बार शोक से झुर झुर कर मरे हो । अनन्त बार सिंह यात्रा तथा सर्पादि द्वारा मारे गये हो तथा दुष्ट जीवों से विदारण किये गये हो । अनन्त बार चोरों के द्वारा किये गये उन्मत्त सह अनन्त बार भीलादि जगली जाति के मनुष्यों से तथा कोतवालादि पशु धम हीन दुष्ट राजाओं से श्लेष्क मनुष्यों से तुम अनन्त बार मारे गये हो । यह शरीर आयु पूरा होने पर किसी न किसा निमित्त से अक्षय नष्ट होता रहा है और अब भी अक्षय नष्ट होगा । अब इस अवसर पर मरण के भय से या वेदना के भय से संक्लेशा भाव धारण कर रत्नत्रय की विराधना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है । अति भयानक दुखों को सहते सहते तो अनन्त काल बिताया और अब ससागर पार करने का अवसर मिला है उसमें किंचिमात्र वेदना के प्राप्त होने पर ससागर सागर से उद्धार करने वाले परम धम का आश्रय छोड़ देना कहा की बुद्धिमानी है ?

जदि कोइ मेरुमेत्त लोहुएइ पक्वविज्ज खिरयम्मि ।

उएहे भूमिपत्तो णिमिसेण विलेज्ज सो त्थ ॥ १५६३ ॥ [ भग आ ]

अथ—हे क्षपक ! कोई देव या दानव उष्ण नरक में मेह भ्रमान लोहे का पिण्ड ऊपर से गिरावे तो वह नरक भूमि पर गिरने के पूव ही नरक विलों का उष्णता से ज्वल मात्र में पिघल कर बह जाता है ।

तद्देव य तद् हो पञ्जलिदो सीयश्चिरय पक्षिस्त्वो ।

सीदे भूमिमपचो क्षिमिसेष सडिज्ज लोहुण्ड ॥ १५६४ ॥ [ भग आ ]

अथ—यदि वही नरक की उष्णता से पिघला हुआ लोहे का पिण्ड कोई देव या दानव इकट्ठा करके शीत नरक में फेंक दे तो वह शीत नरक के विलों की भूमि को प्राप्त करने के पहले ही भाग म बिलों के शीत से टुकड़े टुकड़े होकर बिखर जाता है ।

हे क्षपकोत्तम ! वहाँ नरक भूमि में लोहे से निर्मित मण्डप में अतितप्त हुई अग्नि समान लाल वण की लोहे की पुवकिर्बा रहती हैं । तुमको उनके साथ बलात्कार से आलिंगन करवाया गया है । उस समय जो तुम्हें दुःख दुःख हुआ था उसका स्मरण करो । तथा तुमको अनेक बार पत्यन्त चाररञ्जयुक्त अग्नि स तप्तयमान कञ्जुबारस पिनाया गया था, उसका तो ध्यान करो ।

हे साधो ! वहाँ पर तुमको यत्र द्वारा मुख फड़कर बलात्कार से लोहे के जलते हुए अगारे खिलाये गये थे, तुमको कच्चाही में पूरी कचोरी के समान तला था—उसका तो ख्याल करो ।

नरक में सब नारकी एक दूसरे के शत्रु होते हैं । वे परस्पर दुःख देने में तत्पर रहते हैं । वे बाण चक्र तलवार, कुरी, कर्बौत, भाला शूली गदा आदि शस्त्र रूप बन जाते हैं । तथा क्रुषा बिल्ली भेड़िया सिंह व्याघ्र सर्पादि दुष्ट तिर्यच बन जाते हैं । कोई नारकी पर्वत बनकर दूसरे नारकी पर गिर पड़ता है । कोई नारकी करीत बनता है और दो नरकी करीत चठाकर दूसरे नारकी के शरीर को कवरते हैं । इसी प्रकार एक दूसरे को दुःख देने में सहायक होते हैं । वहाँ पर ऐसे क्लेश तुमने अनन्त बार सहे हैं ।

हे साधो ! नरक में तुम्हारी आँखें निकाल ली गई थी तथा तुम्हारी जीभ लीचकर बाहर निकाल ली गई थी । उस समय कितना घोर दुःख तुम्हें हुआ था उसको सोचो ।

हे क्षपक ! नरक में तुम्हें अनेक प्रकार कुभोषक में पकाया गया था । तथा शूली में पिरोकर अग्नि में मक्का था । भाँड़ में डालकर तुम्हें चन क समान मुना था । तुमको भात क समान बटलोई में उबाला था । मांस के टुकड़े के समान तेरे टुकड़े र किये गये थे । और आटे के समान तुम्हें चक्का म पीसा था ।

ह मुने । तुम नरक में चक्रे में दहन करते गये थे । क़रीब स कड़ै बार चोरे गये थे । कुल्हाड़ा फामे से फाड़े गये थे और मुद्दरों से तुम्हारा कच्चा मर जाना था । उनको तो बचाने करो ।

नरक में तुझे पाश में बांधकर ऊपर से मस्तक पर पत्थर पड़े गये थे । और पश्चात् आगत तीक्ष्ण चार के कीचड़ में तुझे ओघा गिरा दिया था । वहाँ पर तुझे घोंटा था । तब शरीर में नसा र तोड़ लिये था । एक टांग को पात्र से दबाकर दूसरी टांग ऊची करके तुझे चार चला था । तब शरीर में त्रिभुजा क्रिया गयी थी । लोह के पात्रों में पात्रों का पीर तु लुब्धकिया गया था । तेरे अतिमित्र हुए शरीर पर नाशक खार चूरे का जल सींच कर ऊपर से दहन करत था । उसक अनन्तर शक्ति नामक शस्त्र से तथा जिनक अप्र भाग हैं लोहे के काट लगे हुए वस्त्रों लोहियों से लाल पात्र किये प्र तुम्हारा गये । सब तेरे शरीर में रुधिर की धारा बह रही थी । शरीर में चमड़ा नीचे लटक गया था । पेट फट गया था । अन्तर की डाँट लिये वह निकल आरु थी । अन्त्य अत्यन्त सतम हो रहा था । आरों फट गये थीं । तेरे शरीर का चूर्ण हुआ गया था । ऐस भयानक दुःख तु नरक में अनक बार भाग आया है । उसका चिन्ता कर । उस दुःख के मार तेरे शरीर का अत्रयव अवयव सपता । नू दुःख से थर थर गये । उन दुःखों के सामने हृत्पक । यह दुःख कुछ भी नहीं है ।

हे श्रमणोत्तम ! तुमने अपुत्र पुण्य क उच्य स मनुष्य ज म पाया और देव दुलभ सबलोक पूय गुणि मी भी अङ्गीकार किया । समे भी उत्तम समय का पालन किया और अन्त म मत्र शत्रु समाधि मरण को भी अङ्गीकार किया । इस परमात्मन्य म प्रपालन करते हुए तुम्हारे पुत्र मापन म क उच्य स किंचित वेदना आगई । जिससे तुम अपने परम पुनीत धम से चलायमान हो रहे हो । यह क्या तर्ह रे समाधि धैर्यशाली शूर और पुरुष पुण्यों को शोभा देन वाला कृत्य है ? यह लज्जा जनक क्रिया तुम्हारे यश को मलिन करने वाली है । इस प्रसाक चिन्तनाशङ्करी कायरपन का त्याग कर साधधान होवो और स्वाभमान की रक्षा करो तथा पतनोमुख होत हुए अपने आत्मा क सम्भालो ।

खो तुमने अनन्त काल तक स धम के अभाव से भ्रमण किया उमभ जन त बार तियच गति भी पाई । समक दु खो का किंचित मात्र वणन करते हैं उम तुम सावधान होकर सुनो । न दु खो को तुम अपना आत्मा म प्रयत्न देख रहे हो ।

तिरियगदि अणुपत्ता भीममहावेदयाउलमपार ।

जम्भखमरखरहइ अणतसुचा परिगत्तो न ॥ १५०१ ॥ [ भग अ ]

अर्थ—भयानक तीव्र वेदनाओं से याकुल जिसका पार पाना अति कठिन है ऐसी तत्पर्यन्त गति को प्राप्त हुआ तू अरुण की

घड़ियों के समान लगातार जन्म मरण को प्राप्त होता रहा। उसक दु खों का भी तु विचार कर, स्मरण कर चिन्तन कर। अपने दोषों का स्मरण करने से गुणों की वृद्धि व प्राप्ति होती है। इसलिए अपने दोषों का स्मरण कर। देखो तिर्यग्गति प्राप्त करके तूने पृथिवीकाय जलकाय अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय एव त्रसकाय मे जन्म धारण किया है।

हे क्षपक ! मनुष्य शीत की बाधा होने पर निर्वात स्थान का आश्रय लेते हैं। गर्मी से पीड़ित होने पर उसका निवारण करने के लिए शीत जल में स्नान करते हैं ठंडा पानी पीते हैं। भय उपज होने पर भय रहित स्थान का सहारा लेते हैं। हीन्द्रियादि त्रस जीव भी उक्त बाधाओं से बचने का यथोचित उपाय करने में समर्थ होते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय जीवों में ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है।

जैसे वैराग्य परायण मुनीश्वर सब प्रकार के उपसर्ग बाधाएँ स्वतंत्र होकर सहते हैं वैसे एकेन्द्रिय जीव परकृत व प्रकृत अन्य उपसर्ग बाधाओं को परतन्त्र हुए सह लेते हैं।

हीन्द्रिय तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय जीव गाय बैल भैंस घोड़े हाथी आदि पशुओं के पैर तले दब कर तथा गाड़ी रथ मोटर आदि वाहनों के नीचे कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

पचेन्द्रिय पशु पक्षी भी भूख प्यास शीत उष्ण का असह्य दु ख भोगते हैं। एक प्राणी का दूसरा प्राणी भक्षण कर लेता है। कई अधम मनुष्य प्राणी भी इनका घात करते हैं। इन दीन हीन प्राणियों का सहारा कर कई अपने उदर-दानव की बलि चढ़ाते हैं। कई शरीर बल से तथा कई अन्य राश्यादि के ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर इन दीन अशरणा निहत्ये जीवों के प्राणों से क्रीडा कर प्रसन्न होते हैं अपने निशाने के लक्ष्य बनाकर आनन्दित होते हैं। इन जीवों पर विपत्ति आने पर इनके माता पिता बांधव मित्रादि सब दूर भाग जाते हैं। उनके शरीर में रोग व्याधि आदि उपज होने पर कोई उनके दु ख का प्रतीकार नहीं करता है। उनको एकाकी असह्य होकर सब क्लेश स्वयं भोगना पडता है। उनको छेदन भेदन ताडन बाधन मोचन शीत उष्ण वृष्टि पवनादि जय जो २ दु ख सहन करने पड़ते हैं वे बचनातीत हैं। उनको केवली भगवान के सिवा अर्य जानने में असमर्थ हैं।

हे क्षपक ! ऐसे दु खों को अनन्त काल तक तूने भोगे हैं। निगोद में तू अनन्त काल तक निवास कर चुका है। निगोद ही तेरा सदा का निवास है। त्रस पर्याय तो प्रवास के समान है। जैसे कोई मनुष्य किसी निमित्त से विदेश में प्रवास करता है और महीने दो महीने भ्रमण कर अपने घर पर वापिस लौट जाता है वैसे ही यह अपने निगोद निवास से निकलकर किसी पुण्य कर्म के योग से त्रस पर्याय में प्रवास करने के लिए आता है आर कुल्ल ( पूव कोटि पृथक्त्व ) अधिक दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में भ्रमण कर पुन

अपने निगौ रूप घर में वापिस लौट जाता है। फिर वहा से अनन्त काल तक निकलना नहीं होता है। वहा पर वह एक आम म अठारह बार जन्म मरण करता रहता है। वहा जो दुःख होता है वह नरक के दुःखों से अनन्त गुणा दुःख है। उस दुःख को स जीव ने अनन्त काल पयन्त सहा है। हे क्षपक ! वहा पर तुम्हारा कोई भी सहायक नहीं था। अब तुम इस अप कालान रिचि माच दुःख स तन अग्रीर हो रहे हो। हे तपवक्त्र मुने ! अब सावधान होकर थोड़े विचार करो और अपने कल्याण के माग से मत गिरो।

### मनुष्य गति में प्राप्त दुःख

दीक्षुचरोसचितासोगामरिसग्गिपउल्लिदमखा ज ।

पचो धार दुक्ख माणुसजोखीए सतेण ॥ १५६१ ॥ ( भग आ )

अर्थ—मनुष्य पर्याय मे अपन प्राणो स अधिक प्यारे पुत्रादि का धन वभव का वियोग तय दुःख भोगा है। जिनका स्मरण मात्र करने से हृदय के टुकड़ २ हो जाते हैं ऐसा दुःख अनन्त बार भोगा है। जिनका नाम मात्र सुनने से मत्क मे शूल व समान वेदना होने लगती है ऐसे अप्रिय महान दुःख प्राणियों क सयोग से तुझ अनन्त बार घोर दुःख व सन्ताप हुआ है। अभीष्ट ( वांछित ) पत्न्या की प्राप्ति न हो सकने के कारण मनमें जो सन्ताप होना था उसके दुःख का सहन भी तुमने किया है। सक्कपन मे पराधीन होकर स्वाभिमान के नाराक अपमान जनक दुःखचन सुनकर जो तुमको अ त र्गण में दुःख हुआ है उसका हे मुने ! तुम स्मरण करो। मनुष्य ज म पाकर कभी तुम दीन हुए तब दानता व दरिद्रता का ममभदो दुःख तुमने पाया। कभी रोप वपन्न हुआ कभी चिंता बाला म तुम जलते रह। कभी शोकाग्नि स झुलसते रहे। कभी असहनशीलता के कारण दुःख दावानल में दग्ध होते रहे। ऐस ही अनेक मान सक वेदना स तुम रात न्तिन य कुल होकर दुःखो को सहन करते रहे हो उनका चिन्तन करो। अब हे मुने ! इस साधारण शारीरिक वेदना स क्या घबरा रहे हो ? यह साहस धारण करने का समय है। इसलिए सावधान होकर अपने धम व कर्त्तव्य को सम्भालो।

मनुष्य गति मे इस जीव ने पारित्र मोहनीय कम से प्रेरित होकर किसी प्रकार का अपराध किया तब राजा ने तथा राजप्रती ने या गव्याधिकारी कोतवाल आदि ने तीव्र दृष्ट दिया। बँतों से तथा चाबुकों से पीटा। इस जीवका मुग्धन कर अपमानित किया। अनेक प्रकार के लाइन लगा कर अपमानित किया। राजा ने सवस्व अपहरण किया। चोर डाकुओं ने धन का अपहरण किया। कोई आततायी दुष्ट मनुष्य आयादि का अपहरण करते हैं। अप्रि दाह स धनादि स विनोरा हो जाता है। कभी प्रकृति के प्रकोप से भूकम्प, जल की अथाह वृष्टि आदि

से शुद्ध बनादि का विध्वंस होता है तब जीव को जो मानसिक यथा उपपन्न होती है उस दुःख का भी तुमने अनेक बार अनुभव किया है। जिसका श्रवण करने से रोमांच उपपन्न हो जाते हैं उन दुःखों के सामने तुम्हारा यह स्वरूप दुःख क्या चीज है। हे क्षपक ! उनपर विचार तो करो।

मनुष्य गति में भी विरोधी मनुष्य लाठियों से मार मार कर शरीर का कचूर निकाल देते हैं। तलवार से सिर काट देते हैं। छुरा भोंक कर आतंशिका निकाल लेते हैं। आग्नि में बला देते हैं। पानी में डुबोते हैं। पवतादि सपटक कर शरीर के टुकड़े र कर देते हैं। मस्तक पर आग्नि जलाते हैं। आग्नि स तपे हुए लोहे के जाल सुख गहन पहना कर दग्ध करते हैं। बटूक और तोपों से उड़ा देते हैं। बम गिराकर प्राणों का सहार करते हैं। धन सम्पत्ति गृह द्वारादि सब उस्तुओं का देखते देखते विनाश कर देते हैं। जला स्वर्ग तुल्य दिव्य नगर था उस शमशान तुल्य बना देते हैं। जो पूव क्षण में सुन्दर लहलहाता हुआ हरा भरा पुण्य फलों से परिपूर्ण नन्दन वन सा उपवन था उसे दूसरे क्षण में भयानक जगल बना देते हैं। जो राजा था उसका सवस्व नाशकर भिखारी बना देते हैं। असहाय और पुत्रादि से प्रथक् कर बन्दीगृह की नरक समान यातना भोगने के लिए विवश करते हैं। वहा पर वह भूख व्यास ताडन वगैरे बधनादि के अरुण दुःखों को भोगते भोगते मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। हे मुने ! ऐसे दुःख यह सदा भोगता रहा है। उनको ध्यान में लावो और सावधान होकर आत्मा का चिन्तन करो।

कण्ठोद्गुसीसखासाछेदणदताश्च भज्जण चेव ।

अप्पाडय च अच्छीण तहा जि भायणीहरण ॥ १५६५ ॥ ( भग आ )

अथ—हे क्षपक ! इस मनुष्य गति में तुम्हारे कान काट दिये गये थे। होठों का छेदन किया गया था। छत्र से नाक उगारली गई थी। मस्तक तोड़ दिया गया था। दात तोड़े गये थे। आख निकाल ली गई थी फोडनी गई थी। जीभ खींची गई थी। उनसे जो तुम्हें दुःख उत्पन्न हुआ था उसके सामने यह दुःख कितना सा है ? हे क्षपक ! तुम उनका चिन्तन करो।

हे मुने ! तुम अनेक विष के प्रयोग से मरे हो। आग्नि काण्ड से जलकर मरण को प्राप्त हुए हो। अनेक शत्रु के द्वारा हनन किये गये हो। अनेक बार सप के द्वारा हस गये हो। अनन्त बार सिंह यथा स्थाल रौद्र आदि दुष्ट हिमकं नतुओं के द्वारा भक्षण किये गये हो और नाना प्रकार के शस्त्रों के अघात से तुम मारे गये हो। उन दुःखों को तुमने कई बार महा है। हे क्षपक ! अथ इस थोड़े से दुःख को सहन में कायरता क्यों दिखा रहे हो ? तुम समान शूरवीर आत्मज्ञानी महापुरुषों को ऐसी कायरता लिखाना क्या योग्य है ? अब धैर्य और साहस का आश्रय लो और सावधान होकर इस परम उत्कृष्ट समागमरण को सुगो। तुमने पूर्वकाल में परवश होकर तो पूर्वोक्त भारी २ दुःख सहें हैं। उनसे तुम्हें सिवा क्लेश क और नवीन कर्म बंध के कुछ हाथ नहीं लगा। इस समय तुम स्वतंत्रता से इन आगत दुःखों को

शान्ति से सह लोगे तो तुम्हें इस समय भी क्लेश न होगा और पूर्व संचित कर्मों की निजरा होगी तब नवीन कर्मों का सवर होगा। इसके फल स्वरूप तुम्हारा आत्मा सदा के लिए सुखी हो जावेगा। सम्पूर्ण कष्टों का संहार होगा और अनन्त काल तक शान्ति और नित्य आनन्द का अनुभव करोगे।

### देवगति क दु खों का वर्णन

हे लक्षक ! देवगति में तुमने शारीरिक दु खों की अपेक्षा आत्मा को दु खान्नि में सतल जलाने वाले मानसिक सताप का बार बार अनुभव किया है।

सरीरादो दुःखत्वादा हाह दवेसु माणम ति व ।

दुःखं दुःसहमवसस्म परण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५६८ ॥

देवा माणी मना पासिय देवे महड्डिण् अण्ण ।

ज दुक्ख सपत्ता धोर भग्गण माण्ण ॥ १५६९ ॥ ( भग आ )

अर्थ—जब अल्प पुण्य के धारक आधियोग्य जाति के देव का महधिक अधिक पुण्यशाली देव वाहन बनाता है—उसे अथ हस्थी बनाकर जब उसपर सवार होता है तब उस देव को जो मानसिक सताप होता है वह सख होता है। वह दु ख तथा अन्य मनुष्यगति के दु खों से—शारीरिक दु खों से—बहुत अधिक होता है। एक स्वाभिमानी देव के जन्मदमरे देव को अधिक श्रद्धिराली अनेक सुन्दर २ अप्सराओं के साथ नाना प्रकार के वैभव के साथ क्रीड़ा करने देकर जो मानसिक पीड़ा होती है वह मरण के दु ख से भी अत्यधिक होती है। अहिम्मा गरिमादि अनेक श्रद्धियों और नाना प्रकार का वैभूतिशाली देव के सम्मुख हीनशक्ति के धारक देव का गव चूर चूर हो जाता है उस समय उसके अन्त करण के भी टुकड़े २ हो जाते हैं। देवगति में वर दु ख बढ़ा सतार उत्पन्न करने वाला होता है।

देवगति में जब तुम्हारे गले में यमराज ( मृत्यु ) का पाश आ गिरता है तो वह महीने पहले माला मुझने लगती है। स्वर्ग के दिव्य कल्प वृक्षों से प्राप्त सुख सामग्री का परम सुन्दरी देवागनाओं के सत्यानास जब त्याग रना पडा है उस समय तुमको जो हृदय विदारक दु ख हुआ है हे मुने ! उसका विचार करो।

उस देवगति में जब तुम्हारी आयुष्य समाप्त होने वाली थी उस समय वहा से चय कर जब तुम नो गर्भ में जन्म लेने का आभास हुआ था तब तुमको कितना दु ख हुआ था ? उस समय तुमने सताप किया था कि मुझे महा दुःखमय गर्भ में निवास करना

पडेगा और गर्भावस्था में शक्ति दुःख युक्त पदाथ का आहार करना पडेगा। सुप्त वृषादि की मुझे असह्य पीडा होगी। नवमास पयत्त माता के उदर में निरन्तर अग्नि की बाला में पचता रहूँगा। माता स्वारा व चरण पदाथ भक्षण करेगी वह मेरे कोमल शरीर में भयानक वेदना उत्पन्न करेगी। हाय ! मैं देव पर्याय में अत्यन्त सुखी और पवित्र रहा हूँ। अब मुझे अति दुःखी और महा अपवित्र विष्टाघर के समान उदर में एक दो दिन नहीं नव मास पयन्त अधि लटकें रहना पडेगा। हाय ! अब मैं क्या करूँ ? यह आगामी निकट समय में आने वाली विपत्ति कैसे टल सकती है ? ऐसा विचार करते समय जो तुम्हें दुःख प्राप्त हुआ उसक हेतु जपक। पुन विचार तो करो।

इस प्रकार हे मुन ! वतुगति के दुःखों को तुमने मना है उनका धनतन्त्र भाग भी यह दुःख नहीं है। हे आम ज्ञानिन् ! इस समय तुम विवेक ज्ञान को जाग्रत करो। उसका उपयोग करो। यत्तु दुःख का तू खोके सामने कुछ नहीं मा है। इससे घबराकर अपने कल्याणकारी माग से च्युत होना तुम सरीखे समझदार महात्माओं को याग्य नहीं है। विपरीत समय आते पर अपने आत्मा को सामग पर स्थित रखने वाला ही महापुरुष होता है। इस समय के लिए ही व्रत का धारण भगवत का पालन और गुप्ति का साधन और अनेक तपश्चरण का आचरण किया जाता है। यदि इस समय तुम मावचान न रहे तो तुम्हारे व्रत नियम तपश्चरणादि उत्तम कृत्य निष्फल हो जावेंगे। इसलिए हे महात्मन् ! अब सचेत हो जाओ और अपनी गति को सुधारो। तुम वीरात्मा हो परम धर्म के धारक हो स थोड़े से कष्ट से क्या घबरा गये हो ?

हे मुने ! जब सख्यात काल तथा असख्यात काल पर्यन्त जगतात्पर्य अति घोर दुःख नर पाद गतियों में परतन्त्रा से तुमने सह लिये हैं। तो अब स्वाधीनता स यह अत्यल्प कष्ट थोड़े समय काल में तुम सहन नहीं होत हैं क्या ? उन दुःखों का तो निराकरण करने के लिए तुम्हारे पास कोई साधन नहीं था। इस समय तो तुल्य ध्यान का असली साधन तुमको प्राप्त है। इस साधन का उपयोग कर शान्ति का अनुभव करो।

प्रश्न—बह साधन कौनसा है। जिससे सुखा वृषादि का वेदना भी शान्त हो जाव ?

सुधादि वेदनाओं को शान्त करने के साधन

सुदृषाण्यश्च अणुसाहभोग्योऽथ मदोवगहिण्युः।

ज्ज्वाखोसहेष्य तिष्ठन् वि वदया तीरदे माहदु ॥ १६०८ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—सवेग निर्वेद उत्पन्न करने वाली आम अनात्म पदाथ का भोग्य विज्ञान कराने वाली धमकथा-श्रुतज्ञान रूप असूत का पान करने से तथा नियापकाचय की शिक्षा उपदेशा रूप भोजन का भक्षण करने से हेतु जपक। तुम्हारे आत्मा में बल का संचार होगा। शुभ

प्यान रूप औषधि का सेवन करने से तुमपर इस वेदना का कुल्ल भी असर न होगा। और तुम उसका नाश करने में समर्थ हो सकोगे।

हे श्रमणोत्तम ! जब वेदनीय कम का तीव्र उदय होता है उस समय उसका प्रतीकार करने में देवादि कोई भी समय नहीं होते हैं। उस समय जो वेदना होती है उसका प्रतीकार साहस और धैर्य है। साहसी और धैर्यवान् आत्मा ज्ञान रूपी शीतल जल से उस दुःख को शान्त करता है।

हे महात्मन् ! जब वेदनीय कम का तीव्र उदय होता है उस समय किसी का बल काम नहीं देता है। राजा महाराजाओं के पास सेना शुभ्रवा करने वाले तथा विद्वान् अनुभवी बड़े वैद्य डाक्टरों क रहते हुए असयम का आचरण करने पर भी वे दुःख से मुक्त नहीं हुए। तीव्र वेदनीय कम का उदय आने पर सब जीव दुःख दूर करने में असमर्थ होते हैं। मलिन ऐसे समय श्रतज्ञान सृत् का पान करने से ही दुःख की निवृत्ति होती है। अतएव हे क्षपक ! तुमको उसीका पान करने में सावधान होना चाहिए।

मोक्षस्वामिन्नि मिथो सजदस्स शिष्यणगमस्य पि होदि वर ।

य य वेदस्यासिमित्त अप्पासुगसेवण काटु ॥ १६१३ ॥ ( भग आ )

अर्थ—हे मुने ! मोक्ष के अभिलषी सयमी जनों का मरण को प्राप्त होना तो श्रेष्ठ है, विन्तु वेदना का उपशम करने के लिए अप्रासुकियों का सेवन करना सर्वथा अयोग्य है। सयम धन के रक्षक साधुओं को प्रासुक औषधादि मिल सकता वे उनका सेवन करते हैं अन्यथा प्राण जाने पर भी सयम का त्याग नहा करते। क्योंकि अप्रासुक औषधि का सेवन करने से सयम का नाश होता है। सयम का रक्षण भव भव में सुख का अक्षुर उत्पन्न करता है। मृत्यु करल उसी भव का घात करती है। और असयम का आचरण अनेक भवों में सैकड़ों व हजारों पर्यायों में दुःख के अतुरों का उत्पादक होता है।

स प्रकार परम दयालु नियापकाचार्य के शिष्योपदेश को पाकर क्षपक अपनी पूण शक्ति लगाकर साहस व धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा के कल्याण के निमित्त शीघ्र सचत होता है और पूण शक्ति की पताका को फहराने लगता है। मैत्रो प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं के चिन्तन में तत्पर होता है। जब क्षपक का शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है तब वह संस्तर का भी त्याग कर देता है। किसी स वैयावृत्त्य नहीं करता है। अपने शरीर का भी त्याग कर देता है और आत्म-भावना में तल्लीन रहता है।

एव सुभाविदप्पाज्झाणावगओ पसत्थलेस्साओ ।

आराधणापडाय हरह अविग्गेण सो स्ववओ ॥ १६२४ ॥ ( भग आ )

अथ—एक प्रकार जिसने आत्मा को शुभ ध्यान में लीन किया है जो शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेरया को प्राप्त हुआ है, वह क्षपक निर्विघ्न पूवक आराधना पताका को हस्त में ग्रहण करता है। अर्थात् वह चारों आराधनाओं के फल को प्राप्त करता है।

अह सा नसेसकम्मा मलियकसाया पण्डमिच्छता ।

हासरइअरइभयसोगदुगु छावेयत्तियम्महखा ॥ १६३० ॥

पचममिदा तिगुत्ता सुसवुडा सन्वसगउम्मुक्का ।

धीरा अदीणमखसा समसुइदुक्त्ता अममूदा ॥ १६३१ ॥

सन्वसमाधाखेण य चरित्तजागे अधिद्विदा सम्म ।

धम्मे वा उवनुत्ता ज्जाखे तह पढमसुक्के वा ॥ १६३२ ॥

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरय हिच्चा ।

हु ति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धनेस्सा य ॥ १६३३ ॥ ( भग आ )

अथ—हे क्षपक ! जिनके कम बाकी रह गये हैं जिन्होंने अन-तानुबन्धी आदि कषायों का मथन कर दिया है तथा मिथ्यात्व का संहार किया है और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा पुहषवेद स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद का उच्छेद किया है जिन्होंने पाँच समिति का पालन और तीन गुणों का धारण किया है आगामी कर्मों का निरोधकर सबर किया है अर्थात् सबर का कारण जो तपश्चरण और ध्यान है उसका सेवन किया है। मिथ्यात्व कषायान्त्रिचौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का सन्तान त्याग कर भावनिग्रन्थावस्था को प्राप्त हुए हैं जो अनेक कष्टों के आने पर धीरज धारण करते हैं, जिनके मन में दीनता का भाव लेशमात्र भी नहीं है जो सुख और दुःख में समबुद्धि रखते हैं जो शरीर में भी मोह नहीं रखते हैं जो मनोयोग वचन योग और काययोग में आत्म स्वरूप में स्थिर रहते हैं अर्थात् जो निरन्तर चारित्र्याचरण में तत्पर रहते हैं तथा जो धर्मध्यान में तथा प्रथम शुक्ल ध्यान में और द्वितीय शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं, इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करते हुए शरीर का त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेरया के स्वामी बनकर अनुत्तर विमान वासी देवों में उत्पन्न होत हैं।

हे क्षपक ! रूपवासी देवों में जन्म देनेवाले रत्नत्रय से उत्कृष्ट—रत्नत्रय का पालन करने में जो समर्थ होते हैं अर्थात् उत्तम

ध्यान और उत्कृष्ट तप का आचरण करने में जो ग्यमी सदा तत्पर रहते हैं जिनके भावों में विशेष निमलता रहती है कल्याणीत देवों में जन्म देने वाले विशेष पुण्यास्त्रव की प्राप्ति जिन्होंने की है वे नवप्रवेयक और नव अनुदिश विमानों में अहमि होते हैं। जिस सुख का अनुभव सौधर्मादि कल्पवासी देव दिय देवोगनाओं के माय भोग भोगकर नित्य नन्दन वनादि के सुन्दर ललित कुञ्जों में विहार व क्रीड़ा करके प्राप्त करते हैं उससे भी अनन्त गुणा सुख अहमि देवों को प्रतिसमय निरंतर प्राप्त होता है।

हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दान और यथायथा चारित्र में सदा तत्पर रहते हैं तथा तपश्चरण में उत्तरोत्तर जिनके परिणाम उद्विग्न होते रहते हैं तथा जिन की लेश्या सतत शिशुद्धता धारण करती है ऐसे ज्ञपक इस औत्तारिक शरीर का त्याग कर अष्टिमादि गुणों से सब से बड़े षट् देवेन्द्र के अन्तिम पद को पाते हैं।

हे श्रमयोत्तम ! जिनका अन्त करण श्रुत की आराधना न अति निमल हुआ है जिन्होंने उग्रोत्तप और उत्तमोत्तम नियम आतपनादियोग और यान से अपनी आत्मा को विशेष निमल बनाया है व धैर्यगुण के धारक आराधक लौकिक देव होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस जगत् में जितनी ऋद्धियाँ और वजय सुख और ऐश्वर्य सम्पदाएँ हैं वे सब निमल भाव के धारक ज्ञपक को स्वतः आकर प्राप्त होती हैं।

तजोलेश्या के धारक ज्ञपक की आराधना को जषय आराधना कहते हैं। इस आराधना क सेवन करने वाले ज्ञपक सौधर्मादि स्वर्गा में जन्म लेते हैं। सौभमा स्वर्गों के देवों से हीन देवों म वे भी जन्म नहीं लेते हैं।

किं जपिष्य बहुणा जी सारा केवलस्स लोगस्स ।

त अचिरेण लहत फामित्ता आराहण्य शिखिल ॥ १६४१ ॥ ( भग आ )

शय—अधिक कहा तक कहा जावे। तनों आराधनाओं म से किसी भी आराधना न सवन करने वाला महात्मा सम्पूर्ण लोक के सार भूत पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट आराधना का आराधक तो उसी भय में मोक्ष कल्याण सुख का सदा के लिए भोग करता है। मध्यम आराधना का आराधक अहमिद्राणि महर्द्धिक देव होकर स्वर्ग कल्पित नित्य जय मुक्ता का अनुभव कर दूसरे या तीसरे आदि भव में मुक्ति अगना का पति होता है। जषय आराधना का आराधक भी कम सक्रम सौधर्मादि स्वर्गों में उत्तम देव होता है और बहा पर दिय

देवागणों के साथ अनेक प्रकार ऐत्थिक ( इद्रियचन्त्य ) सुख भोगकर अधिक से अधिक सात आठ बवों के अनन्तर अवश्य मुक्ति को प्राप्त होता है ।

हे क्षपक ! जघन्य आराधना का सेवन करने वाले भी महा पुण्यशाली होते हैं । वे सौधमानि स्वर्गों में उत्तम जेवों में जन्म लेते हैं । वहा से शुभध्यान पूर्वक चयकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं । मनुष्य भव में भी उन्हें सम्पूर्ण विभूतियों व ऋद्धियों प्राप्त होती हैं । विश्व की सुख मामग्री सदा उनक चरणों में पडी र ती है । नस विश्व विभूति का भी याग कर मुनि धम का आचारण करते हैं और तपस्वध्याय में मग्न रहते हैं । परिषद और उपसग आने पर उनस बिचलित नही होते । न तु उनका चय के साथ हृदय से स्वागत करते हैं । वे कभी मद्ध सवेग और वराग्य से नही डिगते हैं ।

उनमें स नई क्षपक तो उमी मनुष्य भव में यथास्यात चारित्र और शुक्लध्यान से सम्पूर्ण मों का क्षय कर चतुगति के भ्रमण जाल स निकलकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

कई क्षपक मनुष्य भव में अनेक दुर्घर तपश्चरण का आराधन कर स्वर्गलोक में महर्द्धिक देव होते हैं और वहा पर चित्त रजन करने वाले न्य भोगों को भागते हैं । मनोनिन्द की अपूव सामग्री के अनुभव करने में तल्ला रहते हैं । वहा से आयुष्य को सुख पूर्वक चितार शाणित स देव पयाय छोडकर पुन मनुष्य जन्म पाते हैं । वहा पर चक्रवर्ती उत्तम विभूत के धारक होते हैं । अनेक मनोर्वाद्धित सुखों का अनुभव कर उसको नि सार समग मुनिदीक्षा प्रहण करते हैं । तथा अनेक दुष्कर तप का आचरण कर शुक्ल ध्यानागि सं वाति व अघाति कर्मों का दग्ध कर रिखरमण का रसिक होते हैं ।

एव सधारगदो विसोधइत्ता वि दसणचरित्त ।

परिवददि पुणो कोई भ्मायतो अट्टरुहाण ॥ १६४६ ॥

ज्भायतो अणगारा अट्ट रुद चारमकालाम ।

जो जहइ सय देह सो ण लहइ सुग्गदि खवआ ॥ १६४७ ॥ ( भग आ )

अथ—कई साधु ससार के सब विषयभोग का परित्याग कर निग्रजावस्था धारण कर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का निर्विज्ज आराधन करने के लिए सस्तार का आश्रय लेते हैं और सम्यग्दर्शन व चारित्र की विशुद्धि करने पर भी पूर्व कर्म के भार से अन्त समय आत्तध्यान व रौद्रध्यान मे अशुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप स भ्रष्ट होते हैं ।

हे क्षपक ! जो मरण काल में आत रौद्रध्यान में प्रवृत्ति करते हैं वे क्षपक आयुष्य के पूण होने पर उत्तम गति नहीं पाते हैं ।

हे मुने ! जिस साधु ने पहले अपने आत्मा को अ राधना से सुसंस्कृत किया था वह भी संस्तर पर आरूढ होकर मरण समय में संक्लेश परिणामों के उपज होने से उत्तम भाग से गिर जाता है तो क्या जो पाश्वस्थ कुशील ससक्त अवसन्न और स्वच्छ हैं वे पतिन साधु समागम म भ्रम नहीं होते हैं ? अवश्य होते हैं ।

जो मून्तुद्धि पूर्वक दोषों का वमन नहीं करते हैं तोर्षा को धरण किये हुए मृत्यु को प्राप्न हुए हैं वे मायाचार तथा असत्य वचन क कारण देव दुभगता ओ अर्थान् नीच देव पने को प्राप्न होते हैं ।

प्रश्न—जो मुनि सय सवा नहीं करते हैं समय आने पर दूसर मुनीश्वरों की वैयावृत्त्य नहीं करते हैं वे किस गति में जाते हैं ?

किं मज्झ शिरुच्छादा हवति जे सच्चमपकज्जमु ।

ते देवसमिन्निबज्जा कप्पति हु ति सुग्मेच्छा ॥ १८५८ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—मेरा इसम क्या प्रयोजन है ? क्या मैं ही हूँ ? मुझसे तो अपना भी काय नहीं होता है ? मैं किस किम का काम करू ? इस प्रकार विचार कर जो साधु सम्पूर्ण संघ का काय बरने म व साह रहित होता है उसी रोगी बुद्ध तथा अशक्त मुनि की वैयावृत्त्य करने में उदासीनता दिखाता है वह स्वार्थी साधु देव नभा स बहिष्कृत होता है अगान वह नभा क य बैठने का अधिकारी नहीं होता है । सौधमार्नि स्वर्गा के अ भाग मे चाण्डालानि जाति का म्लच्छ देव होता है ।

हे मुने ! जो कल्प भावना के वश होकर मरण करते हैं वे कल्प जाति के नीच देव होते हैं । असत्य निन्द्य बोलने सुलवाने में तथा काम रति म लीन रहने को कल्प भावना कहते हैं । जो तीर्थंकरों का आज्ञा स प्रतिकूल होकर संघ का चत्य ( प्रतिमा ) का और जिनागम का आचिनय अनादर करते हैं मायाचार करते हैं उनके किल्बिष भावना होता है उस भावना में जो मरण करते हैं वे किल्बिष जाति के देव होते हैं ।

हे साधो ! जो मुनि तत्र मत्रादि तथा हामी मजाक तथा "यथ वरुवान् एव वाग्जालानि का उपयोग करते हैं उनके आभियोग्य भावना होती है । इस भावना स जो प्राण त्याग करते हैं वे आभियोग्य जाति के बालन बनने वाले देव होते हैं ।

हे लूपक ! जो कोधी मानी और मायावी होते हैं तथा त श्रृंगण म और चारित्राचरण मे सकलेश परिणाम रखते हैं एष दृढ़ वैर में जिनकी रुचि होती है उनके आसुरो भा ना होत है । उस भावना स युक्त होकर जो मरण करते हैं वे असुर जाति के देवों म जन्म ग्रहण करते हैं ।

हे मुने ! जो उ-माग मा उपदेश देकर म-माग मा उच्छेत्त करते हैं तथा सन्चे वीनराग माग को बिगाड़ कर राग बद्धक माग की तथा नगीन माग की स्थापना करते हैं मिथ्यात्वा का उपदेश देकर संसार क जीवों की मोह उन्मूल कर विपरीत माग म प्रेरित करते हैं उनके सम्मोह भावना होती है । उस भावना स युक्त होकर जो मरण करते हैं वे गम्भोद् जाति के देवों में जन्म धारण करते हैं ।

जे सम्मत्त खवया विराधयित्ता पुण्या मरेज्जएह ।

ते भवणवासिजादिममोमेज्जा वा सुरा हौति ॥ १६६३ ॥ भग आ

अथ—हे मुने ! जो लूपक सम्यक्त्व की विराधना करक मरण करते हैं वे भवन्वासी यत्तर अथवा योतिष देव होते हैं । वे अन भवनत्रिक देवों म ही ज म लेते हैं और वहा से आयुष्य पूण कर वहा स चय-र सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से हीन हुए दु ख वेत्ना को लहरें जिसम सतत वटा करती है ऐस समास सागर में भ्रमण करते हैं ।

हे लूपक ! जो साधु मिथ्या व को प्राप्त होकर जिस लेख्या म मरण करते हैं परभव में उमो नरया के धारक होते हैं ।

परन—जो साधु समाधमरण से प्राण छोडता है उसक शरीर की क्या व्यवस्था होती है ।

एव कालगदस्म दु मरीर मनावद्विज्ज नार्हि वा ।

विज्जावचकरा त सय विक्किचात जण्णाए ॥ १६६६ ॥ भग आ

अथ—जब लूपक पूर्वोक्त सत्यास विधि से मरण करता है तब वेयागृच्य करने वाले साधु उसक शरीर को जो गाव में अथवा नाहर की बसतिहा में पडा रहता है यन पूवक ले जाते हैं ।

भावाथ—जो लूपक गुरु के निकट आलोचना से लेकर निम्तरण पय त सम्यक् प्रकार सम्यक्त्वादि चार आगधनाओं का भवन कर पवित्र हुआ है उसका शरीर नगर के भीतर किसी बसतिहा में हो अथवा वाहर किसी जगह बसतिहा मे पडा हो उम वेयागृच्य करने

बले मुनीश्वर आगे कही जाने वाली विधि से यत्न पूरक ले जाते हैं।

### क्षपक की निषीधिका

जहां क्षपक का मृत शरीर स्थापना करते हैं उसको निषीधिका ( निषया ) कहते हैं।

प्रश्न—साधु की निषीधिका कैसी होती है ? उसके लिए जिन २ बातों पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए उन सबको सक्षेप से समझने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—जहां पर साधु के मृत शरीर को रखते हैं वह ( निषीधिका ) स्थान उद्देही ( चीटी आदि ) में रहित निरिद्धन्तानि गुणों सहित होना चाहिए। उसके लिए कहा है—

अभिसुआ असुमिआ अपसा उज्जोवा बहुभमा य अमिषिणा ।

खिज्जतुगा अहरिदा अविता य तहा अखावाधा ॥ १६६६ ॥

जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अरराए ।

वमधीदो वखिज्जदि खिसीधिया सा पमत्थत्ति ॥ १६७ ॥ अग आ

अर्थ—क्षपक की निषीधिका उद्देहियों से रहित होनी चाहिए। भूमि में नीच छेद या बिल न हाना चाहिए। घसी टूट न हानी चाहिए। प्रकाश महिल तथा समतल धरा पर होनी चाहिए। भोगो तथा जन्तु सहित न होनी चाहिए। हरताकुर रहित निरिद्ध बिल रहित और बाधा रहित हानी चाहिए।

### निषीधिका किस दिशा में हानी चाहिए

वह नष्टत्व निशा में निष्ण निशा में या पाप निशा में प्रशस्त मानी गई है। पूजाचार्या ने उक्त निशाओं में ही क्षपक की निषीधिका योग्य बताई है।

प्रश्न—नैऋत्यानि निशा में ही क्षपक की निषीधिका प्रशस्त आर पूर्वानि निशाओं में क्यों अपशस्त मानी गई है। उनका ( प्रत्येक दिशा सम्बन्धी निषीधिका का ) शुभाशुभ फल क्या है ?

सन्वसमाधी पटमाए दक्खिणाए दु भत्तग सुलम ।

अवराए सुहविहारो होदि य उवधिम्स लामो य ॥ १६७१ ॥

जदि तेमि बाधादो दह्ठवा पुण्वदक्खिणा होइ ।

अवरुत्तरा य पुण्वा उदीचि पुण्वुत्तरा कमसो ॥ १६७२ ॥

एदासु फल कमसो जाणोच्च तुमतुमा य कल्लहो य ।

भेदो य गिलाण पि य चरिमा पुण कडुदे अण्ण ॥ १६७३ ॥ भग आ

अथ—नैऋत्य दिशा की निषीचिका सम्पूर्ण संघ की समाधि ( शान्ति ) की सूचक होती है। दक्षिण दिशा की निषीचिका से सर्वे संघ के लिए आहार की सुलभता का सूचन होता है। पश्चिम दिशा सम्बन्धी निषीचिका संघ का सुख पूर्वक विहार और पुस्तकदि उपकरणों की प्राप्ति को प्रकट करती है।

इन दिशाओं में निषया बनवाने में यदि कोई बाधा उपस्थित होती हो तो आग्नेय, वायव्य, ऐशान पूर्व व उत्तर इन पाच दिशाओं में से जिसमें भी सुविधा हो उसमें बनाना चाहिए।

परन्तु इन आग्नेयादि पाच दिशाओं में निषया करने का फल अच्छा नहीं है। आग्नेयदिशा की निषया से संघ में तू तू, में में होती है। अथात् तू ऐसा है में ऐसा हूँ ऐसी स्पर्धा होती है। वायव्य दिशा की निषया से संघ में कलह उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा की निषया से संघ में फूट पड़ती है। उत्तर दिशा की निषीचिका से याधि उत्पन्न होती है। और ऐशान दिशा की निषया से संघ में खैचातानी होती है या किसी मुनि का मरण होता है। अर्थात् आग्नेयादि पाच दिशाओं का फल उत्तरोत्तर अधिक २ अशुभ है। इसलिए इन दिशाओं में जहा तक बन सके लपक की निषीचिका न करनी चाहिए। पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम इन दिशाओं में ही करनी चाहिए।

### लपक के मृत्यु समय की क्रियाएँ

प्रश्न—लपक के मरण समय में कोई विशेष कर्तव्य होता है क्या ?

उत्तर—हां, लपक का मरण होने पर निम्नप्रकार क्रिया की जाती है।

ज बेल कालगदो भिक्षू त बेलमेव शीहरण ।

जग्गाश्चपथच्छेदश्चविधी अवेलाए कादम्वा ॥ १६७४ ॥ भग आ

जिस समय क्षपक का मरण हुआ हो उसी समय उसका शव लेजाना उचित है। यदि साधु का मरण रात्रि आदि अवेला (असमय) में हुआ तो उस समय जागरण बाधन और छेदन ये तीन विधि करना चाहिए।

प्रश्न—इन तीन विधियों को कौन करते हैं ?

उत्तर—जो धीर वीर मुनि सप में होते हैं वे ही इन विधियों को करते हैं। कहा है—

बाले वड्ड सीसे तबस्सिभीरूगिलाणय दुट्ठिदे । भग आ

आयरिए य विक्किंचिय धीरा जग्गणि जिदग्गिहा ॥ १६७५ ॥

अथ—सब में जो बालक मुनि वृद्ध मुनि शिष्य मुनि ( शीक्ष ) तपस्वी भीक ( भय युक्त ) रोगी दुःख पीडित और आश्रय इनको छोड़ कर जो वैय धारक मुनि होते हैं और जिन्होंने निद्रा पर विजय पाया है वे मुनि ही जागरण करते हैं। अथान् रात्रि आनि असमय में क्षपक का मरण हो जावे तब धोरता के धारक तथा निद्रा को जातने वाले आ मबली मुनि ही शव के समीप रहकर जागरण करते हैं।

प्रश्न—कौन मुनि किस अवयव का बाधन व छेदन करते हैं।

उत्तर—जिन मुनियों ने आगम के रहस्य को भलीभांति जान लिया है तथा अनेक बार क्षपक के कृत्यों ( वैषाद्युत्य सम्बन्धी कार्यों ) का निर्वाह किया है और जो शारीरिक बल आत्म बल एवं धैर्य के धारक हैं ऐसे साधु अष्ट क्षपक के हाथ तथा पाव और अगुटे के कुछ भाग को बाधत हैं अथवा छेदन करते हैं।

प्रश्न—यदि क्षपक के शव की उक्त बाधनादि क्रिया नहीं की जावे तो क्या हानि होती है ?

जदि वा एम न कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ।

आदाय त कनेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज वाधेज्ज ॥ १६७७ ॥ भग आ

अथ—यदि क्षपक के शरीर की बन्धनादि क्रिया न की जावे तो उस स्थान का तग आसपास में निवास करने वाला कोई क्रीड़ाप्रिय भूत या पिशाच ( व्यन्तर देव ) उस शरीर में प्रवेश कर जावे तथा उसको नेकर वह उठ खड़ा हो जावे, इधर उधर दौड़ घूम करने लगे एवं अनेक प्रकार की ऐसी ही क्रीड़ा करने लगे तो इसको देखकर बाल मुनि अथवा भय प्रकृति वाले अन्य मुनि भयभीत होजावगे या अति भयानुर होकर मृत्यु को भी प्राप्त होजावें। कई अधीर मुनियों के श्रद्धा न व चारित्र्य में शिथिलता आजावे अनेक उपद्रव उत्पन्न होजावे। अत उक्त क्रिया करना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। हाथ पाव आदि छेदन या बन्धन कर देने पर उक्त दोष निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—मुनियों के पास चाकू आदि शस्त्र तो रहता नहीं और वस्त्र भी नहीं रहना है वे क्षपक के हस्त पाद या अंगूठे के किसी भाग का किसस छदन या बन्धन करेंगे ?

उत्तर—मुनि लोग सब मे रहते हैं तब उनको चाहिए कि वे अपने दश अंगुलियों के नखों में से एक अंगुलि के नख को सदा बड़ा हुआ रखे। काम पढ़ने पर व उसस अंगुलि का चमड़ा विदारण कर सकें। तथा वृण का जो सस्तर ( सधारा ) होता है उसमें से वृण लेकर उसस अंगूठे आदि के भाग को बाध सकते हैं। इस उक्त काय क लिए एक नख रखने की सिद्धान्त मे आज्ञा है।

प्रश्न—जिन यन्तरदेवकृत उपद्रव का निवारण करने के लिए साधुओं को भी लजक वे मृतक शरीर क निमित्त जागरण तथा बन्धन छेदन करना पड़ता है उन क्रीड़ाप्रिय यन्तर देवों का विशेष स्वरूप और उनके भयों का भी विवेचन कीजिए।

### व्यन्तर देवों का उर्षान

उत्तर—यन्तर जाति के देव कौतुक प्रिय होते हैं। वे केवल क्रीड़ा के लिये सब कौतुफ करते हैं। अन्य मत वाले भूत पिशाचादि देवों का मासभक्षी रुधिर पान करने वाले कहते हैं। वह सबथा मिथ्या है। सय देव मात्र अमृत भागी होते हैं। उनके आहार की इच्छा होते ही कण्ठ मे अमृत भरता है। उसस उनका उर्षि होती है। मास भक्षण और रुधिर पान तो उत्तम। त न कुल क मनुष्य भी नहीं करते हैं। तथा नई धम क ज्ञाता नीच जाति व कुल क लोग भी उन स दूर रहते हैं तो जिनक बक्रियिक शरीर है जिम में रुधिर मासादि कोई भी धातु नहीं है ऐसे उत्तम शरीर के धारक देव इस पृष्ठित दुगन्धमय मॉस रुधिर का सवन कैसे कर सकते हैं।

हाँ कई नीचकुल जाति स आये हुए नीच जाति के देव अपने पूव जन्म के मन्काग बरा क्रीड़ा के निमित्त अशुचि पदाथा का स्पश कर लेते हैं। मृतक शरीर स क्रीडा करने के निमित्त उसमें प्रवेश कर लेते हैं। इधर उधर नौदने लगते हैं इत्यादि क्रियाए करते हैं। उन

व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं—

### व्यन्तरो के भेद प्रभेद

व्यन्तरा किन्नरकिं पुरुषमहोरगन्धवच्च राक्षस भूत पिशाचा ( तत्राय सूत्र )

१ किन्नर २ किम्पुक्व ३ महोरग, ४ गन्धव ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत और ८ पिशाच ये व्यन्तरो के मूल आठ भेद हैं। इन के आबान्तर भेद निम्न प्रकार हैं—

१ किन्नरो के दश भेद हैं। वे सब हरित वर्षीय सुन्दर सौम्य दशनीय मुकुट हार आदि भूषणों के धारक और अशोक वृक्ष ध्वजा वाले होते हैं।

( १ ) किन्नर ( २ ) किम्पुक्वा ( ३ ) किम्पुक्वोत्तम ( ४ ) किन्नरोत्तम ( ५ ) हृदयंगम ( ६ ) रूपशालिन ( ७ ) अतिमन्दित ( ८ ) मनोरम ( ९ ) रतिप्रिय और ( १० ) रतिश्रेष्ठ ये दश भेद होते हैं।

( २ ) किम्पुक्व—इनकी जघा और सुजा अधिक शोभित होती है और मुख अति सुन्दर होता है। नाना प्रकार के अलकारों से तथा लेपनादि से भूषित होते हैं। और इनके चम्प वृक्ष की ध्वजा होती है। इन के भी दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

( १ ) पुरुष ( २ ) स पुरुष ( ३ ) महापुरुष ( ४ ) पुरुषवृषभ ( ५ ) पुरुषोत्तम ( ६ ) अतिपुरुष ( ७ ) गुह्येश ( ८ ) मङ्गल ( ९ ) मेरुप्रभ और ( १० ) यशस्वत।

( ३ ) महोरगों के शरीर का वण कृष्ण होता है। महावेगवान् सौम्यदशनीय स्थूलकाय मोटीगदन और स्थूलकन्धोंवाले होते हैं। नाना अलकारों के धारक और नागवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके दश भेद होते हैं। वे निम्नोक्त प्रकार हैं—

( १ ) सुजग ( २ ) भोगशालिन ( ३ ) महाकाय ( ४ ) अतिकाय ( ५ ) स्कन्धशालिन्, ( ६ ) मनोरम ( ७ ) महावेग, ( ८ ) महेश्वर ( ९ ) मेरुकान्त और ( १० ) भास्कर।

( ४ ) गन्धव—इनके शरीर का वण रक्त होता है। ये गंभीर प्रियङ्गनीय पुरुष, सुन्दर सुखाकृति सुस्वर व मात्साधारी होते होते हैं। इनकी ध्वजा बाघों के आकार की होती है। इन के भेद बारह होते हैं। वे निम्नप्रकार हैं—

(१) हाहा (२) हूह (३) तुम्बुगव (४) नारग (५) ऋषिवादी (६) भूतवाणी (७) कादम्ब (८) महाकादम्ब (९) रैवम् (१०) विश्वावसु (११) गतिर्गति आर (१२) गतियश।

५) यज्ञ—ये काले वण गले गम्भीर तान्त्रिक प्रयत्नान् प्रमाणयुक्त रक्त हस्तपादादि अवयव वाले चमकीले मुकुट नगाना भूषणों के धारक तथा वटवृक्ष की ध्वजावाले होते हैं। नव तरह भ हैं। वे ये हैं—

(१) पूगभद्र (२) मण्डिभद्र (३) श्वेतभद्र (४) हरिभद्र (५) सुमनाभद्र (६) व्यतिपातिकभद्र (७) सुभद्र (८) सर्तोभद्र (९) मनुष्ययज्ञ (१०) वनाधिपति (११) वनाहार (१२) रूपयज्ञ और (१३) यज्ञोत्तम।

(६) राज्ञम—भयकर दशन वाले भयानक मस्तिष्क मुखान् अगों वाले अनक आभूषणों के धारक तथा सटवा (खनिया) रूप ध्वजा के धारक हान ह। नफी ध्वजा वतुलाकार (गोल) होती है। इनके सात भद्र हैं। वे ये हैं—

(१) भीम (२) महाभीम (३) विष्णु (४) विनायक (५) जलराक्षस (६) राजसराक्षस और (७) ब्रह्मराक्षस।

(७) भूत—ये कृष्ण वण वाले सुन्दर रूपवान् सौम्य दुबले नाना भक्ति युक्त और सुलस काले रङ्ग की ध्वजा के धारी होते हैं नके ६ नव भद्र हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) सुरूप (२) प्रतरूप (३) अतिरूप (४) भूतोत्तम (५) स्कन्दिक (६) महास्कन्दिक (७) महावेग (८) प्रतिद्वन्द्व और (९) आकाशग।

(८) पिशाच—ये सुरूप सौम्य त्रशनीय हाथों और गले में मण्डि आनि रत्नालकारों के धारक तथा कदम्बवृक्ष की ध्वजा वाले होते हैं। इनके १५ पन्द्रह भद्र हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) कुष्माण्ड (२) पटका (३) जोषा (४) आहका (५) काल (६) महाकाल (७) चौक्ष (८) अचौक्ष (९) तालपिशाच (१०) मुखर पिशाच (११) अचस्तारका (१२) विदेह (१३) महाविदेह (१४) तृष्णीक और (१५) वनपिशाच।

### मुनि के शव का क्या करना चाहिए ?

प्रश्न—मुनि क सतक शरीर का सघ के मुनि क्या करते हैं ?

स प्र

५ कि ५

उत्तर—नगर के समीप या मनुष्यों के गमनागमनादि क मग भे किसी वसतिग में मुनि का मरण हो जावे तो मुनि उसे एकान्त जगल में हालते हैं। मुनीश्वर शरीर के अनुरागी नहीं होते हैं। वे तो शरीर में जब तक आमा रहता है तब तक ही उसका वैयावृष्य कते हैं। शरीर स आमा निरुल जान पर शय क साथ उनका कोम मम्ब नहीं रहता है। वे उम स्वय म्ब नहीं करते और न किसी आधिक्य को उसके दग्ध धरन का उपदेश ही देते हैं। वे केवल उम शरीर को एका त वन म जहा मनुष्यो आदि को बाधा न हो वहाँ रखते हैं। जहा पर वह स्वय धूप आदि से सूख जाता है अथवा वन क पशु पक्षी म्ब भक्षण कर लते ह।

साधु लोग वनविहारी होने हैं। यदि उनका मरण किसी वन म प त की गुफा म प त के शिखर या क्तरा में पुलों में वृक्षों की कोटर में श्मशान में एव नदियों के तट इत्यान् जन शय एकान्त स्थान पर हो जावे तो वहा उसे कौन उठावे ? वह मुनि शव वहा ही पबा रहता है।

प्रश्न—किसी विख्यात स्थान पर किसी मुनि का मरण हो जावे तब ग स्यो को क्या करना चाहिये ?

उत्तर—मुनि का मरण ज्ञ त हाने पर उनका कत्तय होता है कि व मुनि के शव का विधि पूर्वक दाह कम करें। शास्त्रों में कहा है —

जदि विक्रवादा भक्तपद्मणा अज्जा व हाज्ज कालगदा ।

देउलसागारिचि व मिवियाकमण पि तो होज्ज ॥ १६७६ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—जब जन समुदाय में मुनि का भक्तप्रत्याप्यान नमक समाधिमरण प्रसिद्ध हो जावे तब वसतिका के स्वामी का एव सम्पूर्ण गृहस्थों का परम कत्तय होता है। कि वे मुनीश्वर आर्थिका आमा क्षुब्धकान्ति त्यागी के शव का दाह कम करें। शिविका (पालकी) बनाकर उसमें शव को स्थापित करके उस दग्ध क्रिया करने के लिए प्रभाजना साहत ले जावें।

प्रश्न—यदि आर्थिका समाधिमरण कर तब मुनि वगैरे की नति ही करें या उनके लिए कोई विशेष विधान है ?

उत्तर—आर्थिकाओं की समाधिमरण विधि मुनीश्वरों के समान ही होती है। परन्तु उसमें थोड़ा सा अन्तर है। वह यह है कि आर्थिकान्ति मित्रियों की वसतिका ग्राम के अति सन्निकट या ग्राम में ही होनी चाहिये। तथा समाधिमरण करने वाली आर्थिकादि की वसतिका म प्रश अत्य त गूढ होना चाहिये। जहा पर पुरुषों का दृष्टि प्रवेश भी न हो सके। आर्थिकाओं के नम्र होना का निषेध है। यदि कोई परम बिरक्त आर्थिका समाधिमरण के लिए नम्र वेश धारण कर तो उमको वसतिका क गूढ प्रदेश से बाहर निकलने का सबथा निषेध किया गया

है। उस दिग्म्बर रूप को धारण कर उसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए। वहाँ पर मनुष्यों का गमनगमन कभी भी न होना चाहिए। आर्यिका का समाधिप्रकरण हो जाने पर कोई भी आर्यिक शव को लेजान या दग्ध करने आदि के सम्बन्ध में गृहस्थों को नहीं कइ सकती। काल के भी उपरान्त महाव्रत की धारण करने जला है। मृत्यु मोक्ष प्राणादि नहीं कर सकती। एक बातों के सिवा सब विधि मुनियों के समान ही हानी है।

आर्यिकाएँ तो सग गृहस्थों के समीपवर्ती स्थान में ही रहती हैं मलिन उनके मुनि के समान शव को उठाकर एकान्तादि स्थान में रखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—श्रावक लोग मुनीश्वर अथवा आर्यिकाएँ के शव को किम विधि से लेजावें ?

तेषु पर सठाविय मथारगत् च तत्थ बधित्ता ।

उद्धोतरक्खण्डु गाम तत्ता सिर किच्चा ॥ १६८ ॥

कुममुहिं घेत्तूण य पुग्दो एणेष हाइ गत व ।

अट्टिदयश्चियत्त तेष पिट्टना लोयख मुच्चा ॥ १६८२ ॥

तेष कुसमुट्टिगाए अवाच्छिएणाए समणियादाए ।

मथारो काद वा मव्वत्थ समा समिं तत्थ ॥ १६८३ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—पहले गृहस्थ शिविका ( पलकी ) बनवे। उसके पश्चात् मुनि आदि के शव को शिविका में स्थापित करे और संस्तर सहित उसको रस्सी से बांधे। जिससे उठाने में वह सुरक्षित रहे। तथा बिना बाधे कभी २ मुनी शरीर ढँठ कर उठ भी जाता है। बाधन में वह उठ नहीं सकता है। शव का सिर गाव की तरफ करे। पर मनुष्य कुश का पूला हाथ में लिए हुए आगे २ चले। माग में बिना उड़ने शीघ्र २ चले जाना चाहिए। पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहिए।

पहले ही देखे हुए स्थान पर जाकर वह जानघर मनुष्य उस कुश ( डाम ) के पूले को बराबर बिलेख कर सम संस्तर करे।

प्रश्न—जहाँ पर कुश ( धर्म ) न मिले वहाँ क्या करे ?

जत्य ण होज्ज तथान्नु एणोहिं वि तत्तं कमरोहिं वा । [ भग आ ]  
मथरिन्वा लोहा सन्वत्थ समा अबोच्छिण्णया ॥ १६८४ ॥

अर्थ—जग पर भूमि मम मरने के लिए कुशा वृण न मिले तो प्रायुक्त चावल मसूर आदि के आटे से अथवा ईंटों के चूण से अथवा प्रामुक कमलादि के केसर से या सूख पत्तों आदि से मस्तक सलकर पाव तक की भूमि को समान करे। उसमें ऊचा नीचा प्रदेश न रखे।

मस्तक भूमि के सम न होने से निमित्त ज्ञान में हानि बतलाइ गई है।

जो मस्तर ऊपर से त्रिपम होगा तो उससे आचाय वा मरण एवं गरीर में व्यधि सूचित होती है। मध्यम विषम होने से सब में प्रशान्त मुनि ( एलाचार्य को मनु या शारीरिक विषेय यात्रि सूचन जाती है आर याद राव के समीप में नीचे का संस्तर विषम होगा तो मनु के अंग मुन रा का मरण या उनमें भयानक रोग उत्पन्न होने का सूचना होती है। माले सतर भूमि को सम बनाने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। तम मरिया म्मान में विषमता ऊचा-नीचापन न रहने पर विषय म पूरी मात्रा मनी गनी चाहिए।

मात्र के सत गरीर को गौरव की ओर मस्तक करके उभ नम करके हुए म्मान पर रखना चाहिए और शरीर के पास पिन्डिका रख लेनी चाहिए। उर्ह सत माधु के दाहिन हाथ में पिन्डिका स्थापित करने के लिए कहत है।

प्रश्न—ग्राम व तरफ सिर करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—याद व शत्रु य तत्र के निमित्त स उठ पड़ा हो आर उमका मुख ग्राम का तरफ हो तो ह ग्राम में प्रवेश करगा इसमें ग्रम के भीरु लोग भयभीत हो जायें ग आ जो अति भीरु होंगे वे प्राण भी छोड़ न्या त्यागि अनेक उपन्य होंगे इसलिये शत्रु का मस्तक ग्राम की तरफ करने से उक्त उपन्यों का निवारण होता है।

प्रश्न—चपक के मरण का समय निमित्त ज्ञान से किन २ शुभाशुभ का सूचक होता है ?

शुचा भाए रिक्खे जदि कालगदो सिव तु सन्वेमि ।

एको दु समे खेत्त निवडुखेत्ते मरति दुबे ॥ १६८८ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—यदि अन्य नक्षत्र में चपक का मरण हो तो समस्त सघ में सुख शान्ति रहती है। मध्यम नक्षत्र में मरण होने पर एक  
लं प्र पू कि ४

आर साधु का मरण सूचित होता है। और यन्मन्त्रममरणो जावे तो तो अथ साधुओं के मरण को सूचना होता है।

भावाथ - शतभिषज भरणी आत्मा स्वाति आत्मेपा आर यद्य ये ब्रह्म पञ्च मुहूर्त वाले नक्षत्र त्रय नक्षत्र कहलाते हैं। इनमें स किसी नक्षत्र म या नरे अश मेष क्षपक की मृत्यु होना प्रतीत होता है। अश्विनी कृत्तिका मृगशिरा पुष्य मया पूषा फाल्गुनी हस्त चित्रा अनुराधा मूल पूर्वाषाढा श्रवण रेवती पूर्वभाद्रपदा और ऐश्विनी इन नक्षत्रों को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। नक्षत्र काल तीस मुहूर्त प्रमाण होता है। इनमें स किसी नक्षत्र म या नक्षत्र अश म यदि क्षपक का मरण हो जावे तो एक दूसरे मुनि को मृत्यु होती है। तथा उत्तरा फाल्गुनी सर्गापादा उतरभद्रा पुनरसु रोहिणी और मया यन्कृष्ट नक्षत्र रह जाते हैं। इनका काल पैताबीस मुहूर्त प्रमाण है। इन नक्षत्रों म स किसी नक्षत्र म अथवा इनके अश म स किसी क्षपक मृत्यु हो जावे तो दो मुनि और मरण करते हैं। ऐसा निमित्त ज्ञान से सूचित होता है।

प्रश्न—क्षपक का मरण आयु कम के आधीन है। यदि मध्यम या - कृष्ट नक्षत्र में क्षपक का मरण हो जावे तो वह उत्पात का निवारण करने का कोई उपाय है या नहीं ?

उत्तर—हा उपाय है। और वह निम्न प्रकार है—

गण्डकस्वथ्य तम्हा तण्णमयपडिबिबय खु कादूण ।

एक तु समे खेत्त त्विस्सेता तुवे देज्ज ॥ १६६ ॥

तद्वाणसावण चिय तिकमुत्ता ठविय मडयपामम्मि ।

विदियवियपिय भिकव कुज्जा तह विदियतदियाण ॥ १६६१ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—सप्त की रक्षा के निमित्त मध्यम नक्षत्र म मरे हुए क्षपक के राव के समीप एक तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात् एक घास के पूले म प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उस पूले की स्थापना करे और उस मुनि के स्थान में मैंने यह दूसरा (मुनि) स्थापित किया है यह चिरकाल तक बड़ा रहे और तपस्या करे ऐसा तीन बार उच्च स्वर से उच्चारण करे। उक्त नक्षत्र में मृत्यु को प्राप्त हुए मुनि के निकट तो तृणमय प्रतिबिम्ब की स्थापना करे। अर्थात् दो घास के पूलों में प्रतिबिम्ब की कल्पना करके उन्हें स्थापित करे। तथा दोनों पूलों को स्थापन करके उन दोनों (मुनियों) के स्थान में मैंने ये दो स्थापन किये हैं ये चिरकाल तक बड़ा रहें और तप करे ऐसा तीन बार उच्च स्वर से उच्चारण करे।

प्रश्न—यदि घाम का पूला न मिले तो शान्ति के निमित्त क्या करना चाहिए।

असदि तखे चुणखोईं च केसरच्छारिद्वियादिचुणखोईं ।

कादम्बोय ककारो उवरिंहिद्धा यकारो से ॥ १६६२ ॥ [ भग आ ]

अथ—तृण न मिलने पर चावल आदि के आटे से अथवा पुष्प की सूखी प्रासुक केसर या भरम वा ईंट अथवा पत्थर के चूर्ण से काय ऐसा लिखे।

अथवा क ऐसा लिखकर उसके ऊपर लपक के राव को स्थापन करे। तथा अह पूजा आदि से शान्ति करना भी इष्ट है ऐसा मूलाराधना नामक टीका में कहा है—

महन्मध्यमक्षत्रपृत शान्तार्विधीयते ।

यत्नतो गच्छरक्षाय जिनार्वाकरणादिभि ॥

अथ—उत्कृष्ट और मध्यमनक्षत्र में लपक का भरण होने पर गन्ध का रक्षा क अथ यत्नपूर्वक जिन पूजादि क्रियाओं से शान्ति की जाती है।

आशय यह है कि सघ में शान्ति बनी रखने का महान प्रयोजन है। वह जैसा साधुओं का कर्त्तव्य है वैसा आबकों का भा है। दोनों अपने-पन के अनुसार अपना कर्त्तव्य करते हैं। साधुनोग तपश्चरणा यानादि द्वारा आगत विघ्न की शान्ति का उपाय करते हैं और आबक जिन पूजा दानादि द्वारा शान्ति कम करते हैं। अत आबकों को जिन पूजादि काय करना उचित है और मुनियों को अनशानादि तप श्रमण व ध्यानादि का आचरण करना योग्य है। अथवा जिने-देव की भाव पूजा मुनि भी कर सकते हैं किन्तु द्रव्य पूजा आबक ही करते हैं।

लपक के राव के साथ पिच्छी व कमण्डलु भी स्थापित कर दे। यान् शिविका ( पालकी ) बनाई हो और उसमें उपकरण लगाये हों तो उनमें स चो उपकरण जिसस भागकर लाये हो वे उनको वापिस दे दे और जो नहीं देने योग्य हों उनको वही स्थापित कर दें।

प्रश्न—आराधक की वसतिका में जाकर समस्त सघ क्या करे ?

उत्तर—उसके पश्चात् हमको चारों आराधना की प्राप्ति हो इस हेतु स समस्त सघ को कायोत्सग करना चाहिए। और लपक पृ कि ५

की जहा आराधना हुई है उस वसतिका के अधिष्ठातृ देवता स सम्पूर्ण मुनि इच्छाकार करें अर्थात् हम सब सच के मुनि यहां पर तुम्हारी अनुमति से रहना चाहते हैं—ऐसा कहना चाहिए।

अपने सच के मुनि का मरण हो जावे तो उस जिन सम्पूर्ण सच के मुनियों को उपवास करना चाहिए। यदि मुनियों की गोचरी हो जाने के बाद कोई मुनि मरण को प्राप्त हो जावे तो दूसरे जिन उपवास न करे। मरण के दिन स्वाध्याय करना वर्जित है। यदि दूसरे सच में मुनि का मरण हो जावे तो उपवास करे या न कर अपनी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु उस जिन स्वध्याय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—साधु की मृत्यु होने के तीसरे दिन का क्या कृत्य है ?

उत्तर—सच के मुख सहित बिहार के लिए तथा जपक की गति जानने के लिए तीसरे जिन सच के शरीर का अवलोकन करना चाहिए। चित्तने दिन तक जपक के शरीर को वृक ( भेड़िया आदि पशु और गध्राणि पक्षी मृश न करके उमका शरीर अन्नत रहेगा उतने वष पयन्त उम रा य भर मे क्षेम कुशल रहेगा। ऐसा सूचित होता है।

उस मृत शरीर को या उमक अवयव को पशु पक्षी जिम निशा में ले गये हों उस निशा में यदि सच बिहार कर तो सच में क्षेम कुशल तथा कल्याण होता है। एसा निमित्त शास्त्र में कहा गया है।

प्रश्न—मृत जपक की गति का ज्ञान कैसे होता है ?

जदि तस्स उत्तमग जिम्मदि दत्ता च उवग्गिग्गिग्गिहरे ।

कम्ममलविप्पम्लकका मिद्धि पत्तात्ति षायव्वा ॥ १६६६ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—यान् मृत जपक शरीर का उत्तमग ( निर ) या दात पवत के शिखर पर पड़ हुए दिखाई दें तो समझना चाहिए कि वह जपक कम मल स रहित होकर सिद्धावस्थ को प्राप्त हुआ है।

चयनदी के टिप्पण में कममल का अर्थ मिथ्यात्वादि अ प कम और सिद्धि का अर्थ सर्वाथसिद्धि किया गया है। अर्थात् जिनके दात अथवा सिर गिर के शिखर पर पड़ हुए दिखाई दें तो उस क्षण साधु के मिथ्यावादि का क्षय होगया है और वह सर्वाथसिद्धि को प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। तथा प्रकृत टाका में एसा या त्याग्य टाका स कममल स मुक्त होकर तन्वाण प्राप्त हुआ है—ऐसा अर्थ किया गया है। चन नौ मतों में जन्म दी का मन बुद्धिप्राप्त प्रतीत होता है किन्तु दूसरे मत को बुद्धि स्वकार नहीं करती कारण कि यदि

अन्य तन्त्र केवली भी होना तो देवों द्वारा उनका मोक्ष कर्त्तव्य होना है। लेकिन देवों का आगमन न होने के कारण अथ साधुओं के मोक्ष का निश्चय नहीं हो सकता है।

यदि क्षपक के सूतक शरीर का मस्तक उच्च प्रवेश में लिवाई दे तो उसका जन्म वैमानिक देवों में हुआ प्रतीत होता है। यदि वह समभूमि में शील पड़े तो उसकी उत्पत्ति ज्योतिष देवों में एवं य तरां म निश्चित होती है। कोई कोई आचार्य समभूमि म मस्तक देखकर वाग्य तर जानि के अन्तर देवां मे ही जन्म मानते हैं और यन्नि गद्द मे मस्तक लिवाई न तो भवनवासि देवों मे जन्म निर्धारित होता है।

क्षपक की गति कं ज्ञान कराने वाले जो ऊपर चिमित बताया है वे सूचना मात्र हैं। उनसे क्षपक की गति का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता है। यह तो केवलीगम्य है या अबधीज्ञान क गोबर हैं। मालए हम इम्का पूरा निश्चय नहीं कर सकते हैं।

ते मूरा भयवता अहम्बुद्ध्या सधमज्भूमि म।

आराधनापढाय नउपयागा इह्ना जहि ॥ २ १ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—व मुनिराज क्षपक शूरीर और पूर्य हैं निहान सध क मध्य प्रतिज्ञा लेकर आराधना प्रहण की है।

भावार्थ—जिन महापुरुषों ने सासारिक सुख स मुद मोड पर निव्यो क विषय और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोधकर खड्ग धार पर चलन क समान मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है वे धर्य हैं। गन क पूर्य हैं। किन्तु जिन्होंने अपने शरीर को नि सार समक र नत्रय की आराधना क लिए समाधमरण सरीखे दिव्य कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा लेकर अन्तरग और बाह्य घोर तपश्चरण का आचरण कर शरीर आ रूपयो का शापण करके समाधि पूरक मरण किया है अत्यान मरण पयन्तर नत्रय की आराधना का निर्वाह किया है वे जगत्पुत्र्य महामुनि धर्य हैं। वे महा भाग्यशाली व ज्ञानी हैं। जिन्होंने अभीष्ट फल ( मोक्ष ) देन शाली आराधना को प्राप्त किया है। उन्होंने किस तलम पन्थ को प्राप्त नहीं किया है ? अर्थात् उन्होंने तीनों लोक म तो निव्य पन्थ हैं उन सबकी प्राप्ति करली है। जो महाभाग एक बार जधय आराधना का सेवन कर चुके हैं वे सात आठ भवों के अनन्तर अवश्य मोक्ष के अधिकार होते हैं। ऐम भाग्यशाली महात्मा की महमा का उरण कक्षा तक किया जावे ? उनकी जितनी स्तुति को चाहे वह थोड़ी है।

वे नियापक मुनि भी धर्य हैं वे अपूव भाग्यशाली हैं जि हान जा पूर्य क्षपक का आराधना को सफल बनाने में पूरा यत्न पवक सहायता की है। आदर भक्ति स अपनी पूरा शक्ति लगातार अनक क्लेशों का सफर रात निन क्षपक का वैयावृत्य किया है। वे

परिवारक महाभागों का जन्म भी धन्य है। उन्हने क्षपक की आराधना को निर्विघ्न क्या किया है अपनी भविष्य में होने वाली आराधना को निर्विघ्न बनाया है। जो साधु दूसरे की आराधना को निर्विघ्न बनाते हैं वे निकट भविष्य में सुख पूर्वक अपनी आराधना की पूर्ति करते हैं। शोक में कहा गया है।

ते वि य महाशुभावा धरणा जेहि च तस्स स्ववयस्स ।  
 सव्वादरसचीए उवविघ्दिदाराधणा मयला ॥ २ ४ ॥  
 जो उवविघ्दि सव्वादरेष आराधण सु अणखरस ।  
 सपज्जदि खिन्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥ [ भग आ ]

इनका आशय ऊपर आगया है।

जो धर्मात्मा क्षपक के दर्शन के लिए यात्रा करते हैं वे भी पुण्यशाली होते हैं।

ते वि कदत्था धरणा ष हु ति पाउक ममलहरणे ।  
 एहायति स्ववयित्थे सव्वादरभत्तिसज्जो ॥ २ ६ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—उन मनुष्यों का भी जन्म कृताय है जो अनादिकाल से आत्मा के साथ क्षपक के रूप में श्रद्धा व भक्ति सहित स्नान करने के लिए जाते हैं।

भावाय—भक्त प्रत्याख्यान करके संन्यास मरण करने वाला क्षपक महान् पवित्रात्मा है। ऐसे पवित्रात्माओं के स्पर्श से क्षेत्र भी तीर्थ बन जाते हैं। उन तीर्थों में जाकर लोग स्नान करके अपने को पवित्र हुआ मानते हैं। जिसके चरण स्पर्श मात्र से भूमि तीर्थ बनती है उसके दर्शन करने से पाप कम का क्षय हो तो इसमें आश्चर्य क्या है। इसलिए जिन भाग्यशाली पुरुषों को ऐसे क्षपक मुनीश्वर का दर्शन लाभ होता है वे धन्य हैं। ऐसा सुयोग पाकर प्रत्येक धार्मिक पुरुष को दर्शन स्पर्शन सेवादि सुकृत्य करके अपने जन्म को सफल बनाना चाहिए।

गिरिबुद्धियादिपदेसा तित्थाखि तवाधरणेहि जदि उसिदा ।  
 तित्थ कष ख हुज्जा तवगुणरासी सय स्ववओ ॥ २००७ ॥ [ भग आ ]

अथ—जहा पर तपोधनों ने निवास किया है वे पवत नदी वनादि क्षेत्र यदि तीर्थ हो जाते हैं तो फिर सतत ओषध तपस्या करने वाले गुणों के पुंज क्षपक के तीर्थ होने में क्या सन्देह हो सकता है ?

पुष्करिणीय पद्धिमात्रो वदमाख्यस्त होइ यदि पुण्यम् ।

स्वपयस्त वदन्तो किं विपय्य विउल्ल ख पावेज्ज ॥ २००८ ॥ [ भग आ ]

अथ—प्राचीनकाल के ऋषि महर्षियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वालों को यदि पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक महर्षि की वन्दना करने वाला क्या विपुल पुण्य का अधिकारी न होगा ? अक्षय्य होगा । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

भाषा—आगम में पंच परमेष्ठी की प्रतिमाएँ वन्दनीय और पूज्य मानी गई हैं । पंच परमेष्ठी में अठारह मूल गुण के धारक मुनिराज भी एक परमेष्ठी हैं । कई क्षेत्रों में साधु परमेष्ठी की प्रतिमाएँ इस समय भी नित्य प्रति पूजी जाती हैं । इतना अवश्य है कि जिनके भाव से मुनिपने का पूण्य रूप से निश्चय हो जाता है उनकी ही प्रतिमाएँ हो सकती हैं और ऐसे निश्चित भाव-मुनियों की ही प्राचीन प्रतिमाएँ देखी जाती हैं । जैसे मन्दिरों में सप के फण स हत पाशनाथ भगवान् को प्रतिमा है वे सब मुनि अवस्था की प्रतिमाएँ हैं । लता बेल आदि स वेष्टित बाहुबलि की प्रतिमा भी मुनि अवस्था की ही है इत्यादि । उनके वन्दन पूजन करने से महान् पुण्य का वच होता है । जब कि मुनि प्रतिमा के दशन वन्दन पूजनादि से पुण्य उत्पन्न होता है तो क्या परम तपस्वी अठारह मूल गुण के धारक रत्नत्रय की निर्विघ्न आराधना करने के लिए शरीर का वसग करने वाले कषायों का दमन कर उन्हें अत्यन्त क्रुश करने वाले वीतरागी क्षपक की वन्दना स्तुति करने वाला पुण्य का भागी न होगा ? अवश्य होगा । और तो क्या जो क्षपक की यथाशक्ति उपासना करता है जिसका अतः करण में भक्ति का स्रोत बहता रहता है वह महापुरुष भी निकट भविष्य में सम्पूर्ण आराधना को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार यहा तक सविचार भक्त प्रत्याख्यान का वरण हुआ ।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान

तत्त्व अविचारभक्तपद्धत्या मरुत्तमि होः आगाडे ।

अपरकम्मस्त सुशिशो कालम्मि असपुहुत्तमि ॥ २०११ ॥

अथ—अकस्मात् मृत्युकाल उपस्थित हो जाने पर हीन शक्ति क धारक मुनि के उपरोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान नहीं होता है। उस समय अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। अर्थात् जिसमें अल्प शक्ति है और जिसकी आयु का काल अधिक नहीं बचा है, मरण शीघ्र होने वाला है ऐसे मुनि के अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान तीन प्रकार का है—( १ ) निरुद्ध ( २ ) निरुद्धतर ( ३ ) और परमनिरुद्ध।

प्रश्न—निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं।

तस्स विरुद्ध भस्विद रोगादकेहि जा समभिभूदो।

जघाबलपरिहीखो परगखगमखांम ख ममत्थो ॥ २०१३ ॥ [ भग आ ]

अथ—जा मुनि साधारण रोग अथवा अघानक रोग से निरंतर पीड़ित रहता है और जिसकी जाघों में भग्न करने की शक्ति नहीं है अतएव जो दूसरे संघ में नहीं जा सकता है उस मुनि के निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है।

भाषा—जब तक मुनि के पात्रों में चलने फिरने की शक्ति रहती है तब तक वह अपने कार्यों को स्वयं करता है और जब शक्ति का अत्यंत ह्रास हो जाता है तब सच के मुनियों की सजा स्वीकार करता है। अर्थात् सतत रोग से पीड़ित रहने के कारण अथवा अघानक अघानक बीमारी के आजाने पर जिसमें गमनागमन की शक्ति नहीं रहती है जो अन्य सब में जाने के लिए असमर्थ हो जाता है ऐसे मुनि के मरण को निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। वह मुनि अपने संघ में "। आचाय के निकट रहता है। सविचार भक्त प्रत्याख्यान वाला मुनि अनियत विनगर कर अन्य आचाय संघ में जाता है और यह अनियत विहार न करके अपने संघ में ही रहता है इसलिए इसको अविचार नाम से कहा है। यह अपने आचाय के पादमूल में रहकर मुनि दोषा से लेकर अब तक के जितने दोष हुए हैं उनकी आलोचना करता है। उनकी निन्दा गर्हा करता है। गुरु महाराज से लिये हुए प्रायश्चित्त का आचरण कर दोषों से निवृत्त होकर आत्म शुद्धि करता है। तथा जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरों की सहायता के बिना रत्नत्रय को आराधना में तत्पर रहता है। और जब चलने फिरने में अशक्त हो जाता है तब अन्य मुनीश्वरों की सहायता लेकर रत्नत्रय की साधना करता है।

इसकी शेष सब विधि सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान ही जाननी चाहिए। वही मूलाराधना टीका में कहा है—

सन्निरुद्धप्रवीचार स्वगण्यमिति रितम् ।  
अपर प्रक्रम सर्व पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

अथ—अपने गण ( संघ ) में ही रहकर समाधिमरण सम्पन्न करने वाले मुनि के अविचार निरुद्ध भक्त प्रत्याख्यान होता है । इसके अतिरिक्त भक्त प्रत्याख्यान को सब प्रक्रिया पूर्वोक्त सविचार भक्त प्रत्याख्यान के समान होती है ।

इस निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान के प्रकाश और अप्रकाश ये दो भेद होते हैं ।

जो भक्त प्रत्याख्यान (समाधिमरण) प्रकट रूप में किया जाता है उस प्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भक्त प्रत्याख्यान लपक के मनोबल ( घय ) की हीमता तथा क्षेत्र की अयोग्यता आदि से प्रकट नहीं किया जाता है उसे अप्रकाश भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं ।

यदि लपक घैय का कारण करने वाला न हो और भ्रुवादि परीपहों के प्राप्त हो जाँ पर पीड़ित होने लगे अथवा बसविका एकान्त स्थान में न हो या काल अतिरुद्ध हो या लपक के पुत्र मित्रादि बाधुगण स्याम ( भोजनाद क त्याग ) म विधन वाचा उर्पा जत करने वाले हों ता लपक का भक्त प्रत्याख्यान मरण गुण रक्षता चाहिए क्योंकि प्रकाशित होने पर स्यास वाय में विधन वाधाओं को पूरी सभावना रहता है ।

प्रश्न—निरुद्धतर भक्त प्रत्याख्यान किसे कर्ते है ?

उत्तर—अग्नि आदि अचेतन कृत तथा सप याघ्रादि चेतन कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर या हैजा मग आदि मारक रोगों की अचानक उत्पत्ति होने पर आयु के शीघ्र क्षय होने का निश्चय हो जावे उस समय सब प्रकार के आहारानि का त्याग करके आचाय के निकट दीक्षा स लेकर अब तक के सब अपराधों की आलोचना गहरी निन्ना करके अ वाय त्रग दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर शुद्ध हो रत्नत्रय की आराधना में जब तक सुष बुध रहे तब तक लगे रहने को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं । शास्त्रों में कहा है—

बालगिगवग्महिमगयरिच्छ पडिष्ठीयतेऽमेच्छेहि ।

मुच्छा विस्वचियादीर्हि होज्ज सज्जो हु वावची ॥ २०१८ ॥ [ भग आ ]

जाव य वाया त्विप्पदि बल च विरिय च जाव कायम्मि ।

तिष्वाए वेदशाए जाव य चित्तं य विक्त्वत् ॥ २ १६ ॥

यथा सवद्विज्ज तमाउग मिग्घमेऽ तो भिक्खु ।

गच्छियादीश सयिखदिदाय आलाचए सम्म ॥ २०२० ॥ [ भग आ ]

अथ—सप, अग्नि सिद्ध व्याघ्र जैसा हाथी, शीघ्र शत्रु चोर तथा स्लेच्छ और मूढ़ा हैजा आदि प्राण घातक रोग वृत्तियों का कारण भूत वेदना या मरण के उपरिगत होने पर जब तक बोलने की शक्ति बनी रहे तथा जब तक शरीर में बल व वीर्य विद्यमान रहे तथा तीव्र वेदना से जब तक सावधानता का नाश न हो व तक आधु को शीघ्र नष्ट होते हुए जनकर आचार्य के चरणों की शरण ग्रहण कर और उनके समीप अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करे एवं मन्थक प्रकार रत्नत्रय की आराधना में तत्पर हुआ अपने शरीर का उपकरणों का तथा आहार संस्तर व वसति का और परिचारकों का त्याग करके अर्थात् इनपर से समत्व भाव को हटाले।

आशय यह है कि विपत्ति आने पर बल वीर्य का ह्रास हो जाने से अन्य सध में जाने के लिए असमर्थ हुए साधु को निरुद्ध कहते हैं। और जब साधु उससे अधिक आत्मिक विपत्ति आने पर अतः असमर्थ होता है उस समय आशय का संयोग न मिले तो अन्य साधु के निकट आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना में सावधान रहने को निरुद्धतर कहते हैं और उसके मरण को निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

परम—परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर—सप व्याघ्र अग्नि आदि के उपद्रव के कारण जिन मुनीश्वरों की बोलने की शक्ति भी नष्ट हो गई हो जब वे मुनीश्वर अपने मन ही मन में अरिहन्त सिद्ध आचार्यादि परमेश्वरों का स्मरण व ध्यान कर अपने दोषों की आलोचना कर अपने आत्म ध्यान में अर्थात् रत्नत्रय की आराधना में दृष्टचित्त हो जावें तब उनके मरण को परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जैसा कि कहा है—

वालादिर्हि जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।

तइया परमखिरुद्ध भखिद मरख अविचार ॥ २०२२ ॥ [ भग आ ]

अथ—जब साधु के शरीर में सर्पादि के विष का संचार हो जावे या किसी अग्नि आदि के उपद्रव से अत्यन्त पीड़ित हो जावे और उसकी वचन प्रवृत्ति का भी भंग हो जावे बोलने की शक्ति भी नष्ट हो जावे उस समय परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण

होता है अर्थात् वचन उच्चारण करने की शक्ति न रहने पर परमनिष्ठ ब्रह्म होता है। उस समय उस साधु को चाहिए कि अपने अन्तःकरण में अहन्त सिद्ध साधु को धारण कर शीघ्र आलोचना करले और शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सिवा शरीरादि सब पदार्थों से भ्रमता हटाकर अमभ्यान में लवलीन रहे। उस साधु के ब्रह्म को परमनिष्ठ अविचार भक्त प्रत्यक्ष्यान कहते हैं।

जैसी आराधना की विधि पूर्व सविस्तर बखान की गई है वैसे ही शेष विधि इस अविचार भक्त प्रत्यक्ष्यान में भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि स चार प्रकार की आराधना का प्रारम्भ करके यदि पूर्वोक्त सप्त विधि अग्नि आदि आयु की शीघ्र उदीरणा (क्षय) करने वाले कारणों के उपशान्त हो जाने पर कोई आराधक शीघ्र प्राण त्याग करने का अवसर प्राप्त हो जावे तो कोई साधु इस पंडित ब्रह्म से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं और कोई २ मुनीश्वर उक्त आराधना के फल स्वरूप वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा अपने २ भावों के अनुसार उत्तम मध्यमादि देवों में जन्म धारण करते हैं।

शङ्का—इतने अल्पकाल में मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान बहुत लम्बे काल तक आराधना का सेवन करके ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। कोई २ लघुकर्मा मुनिराज अन्तमुहूर्त काल में ही रत्नत्रय की आराधना करके ससार समुद्र को पार कर लेते हैं।

वचन नाम नृपति अनादि मिथ्यादृष्टि था। वह श्री देवाधिदेव ऋषभ तीर्थंकर के पादमूल में आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर स्वप्न का भद्र विज्ञानी होकर क्षणमात्र में निर्वाण पद का अधिकारी हुआ। जैसा कि कहा है —

सिद्धो विवर्धने राजा चिर मिथ्यात्व भावित ।

वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन ध्रुतकल्मष ॥ २१०० ॥

इसका अर्थ ऊपर आगया है।

सोलसतित्थयराण तित्थुप्पण्णम्म पदमदिवमम्मि ।

सामण्णसाणसिद्धी मिएण्णमुहुत्तेण सण्णसा ॥ २०२८ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—श्री ऋषभ नाथ तीर्थंकर से लेकर शातिनाथ तीर्थंकर पयन्त सोलह तीर्थंकरों के जिस दिन दिव्य ध्वनि की उत्पत्ति हुई थी उसी दिन कई महापुरुषों के मुनिदीक्षा केवलज्ञान और निर्वाण ये तीनों क्रय अन्तर्मुहूर्त काल में निष्पन्न हुए।

## इगिणी मरण

पव्वज्जाए सुद्धो उवसपज्जितु णिग कप्प च ।

पवयणमोगाहिता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥ [ भग आ ]

व्यथ—जो महानुभाव निमग्नलिंग धारण करने योग्य है अर्थात् दिगम्बर भेष धारण करने के लिए जा अयोग्यता पहले बता आये है उससे रहित है वह मुनिदीक्षा धारण कर आगम का अवगाहन करता है। आचारागादि चारित्र धर्म के निरूपण करने वाले तथा अन्य आगम प्रार्थों का मनन करता है। विनय और समाधि में परिणमन करता है।

भावार्थ—परिहृतम ए का द्वितीय कल्प इगिणी मरण है। इगिणी मरण करने वाला साधु अपना वैयावृत्त्य आप सुद्ध करता है। दूसरे से अपना वैयावृत्त्य नहीं कराता है। जिसने आगम में वणन किये हुए मुनि पद धारण करने की योग्यता होने पर जिन लिंग ( दिगम्बर भेष ) को धारण किया है तथा आचारागादि आगम अथवा आचार के प्रतिपादक अन्य शास्त्रों में भले प्रकार अवगाहन किया है उनके रहस्य को सम्यक प्रकार से जान लिया है अपने आत्मा को विनय और समाधि में प्रवृत्त किया है ऐसा साधु इगिणी मरण के लिए उद्यत होता है। यदि आचार्य स पढित मरण में प्रवृत्ति करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपने सच को इगिणी मरण की विधि के साधन करने योग्य बनावे, पश्चात् वह एलाचार्य की स्थापना करके उसे संघ संपालन करने के योग्य उचित उपदेश ( जैसा भक्त प्रत्याख्यान मरण में कह आये है वैसा उपदेश ) देकर सम्पूर्ण संघ से अपना सम्बन्ध छोड़कर उससे पृथक हो जावे और संघ के वृद्ध ब्रह्म आदि सब मुनियों से क्षमा याचना करे। रत्नत्रय के पालन में जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना करे। सब में आचार्य की स्थापना करने के अनन्तर सम्पूर्ण संघ को भी पूव की भाति उपदेश देवे। मैं जीवन पयन्त तुम से पृथक होता हूँ ऐसा कहकर अपने को कृतार्थ मानता हुआ आनन्द से प्रफुल्लित होकर वहा से प्रयाण करे।

प्रश्न—अपने सच से निकलकर आचार्य अथवा अन्य मुनि क्या करे ?

एष च शिष्यकमिच्छा अतो वाहि च थदिल्ले जोगे ।

पुढवी सिलामए वा अप्पाण शिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥ [ भग आ ]

पुत्रुत्ताणि तथाणि य जाचिन्ता थडिलम्मि पुत्रुत्त ।

जदणाय मथरिच्चा उत्तरमिर मधव पुवसिर ॥ २ ३६ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—निज संघ से निकलकर योग्यमुनि वा आचार्य ऐसे स्थान प्रवेश ( कठिन भूमि प्रदेश ) का आश्रय ले जो समतल हो और उचा हा ज़िमम छिन्न व बिल न हो तथा जीव जन्तु रहित हो । अथवा प पाण शिला हो उसपर सस्तर की रचना करे । स्तर बनाने के लिए बिना सर्पि ( जोड़ ) वाले छेद रहित निजन्तुक व कोमल तृण पास के गाव या नगर में जाकर गृहस्थों स याचना कर ले आवे । तृण उतने ही लावे जिनपर उसका शरीर स्थिरता को प्राप्त हो सके और उनकी प्रतिलेखना भी अच्छी तरह कर सके । उन लाये हुए तृणों ( पास ) को स्थूल भूमि या शिला पर ढके यत्न स बिद्धावे अर्थात् तृणों को पृथक २ कर देख शोधकर तथा सस्तर भूमि को पिच्छी से प्रमाजन करके सस्तर की रचना करे । अलग २ बिखेर कर शय्या रूप बिद्धावे । उत्तर दिशा में या पूव दिशा में सस्तर का शिर करे अर्थात् पूव या उत्तर दिशा में मस्तक रखन योग्य तृण का उपधान ( तकिया ) बनावे । सस्तर की रचना करने के पश्चात् अपने मस्तक हाथ पाव आदि ममत्त शरीर के अवयवों का पिच्छी से प्रमाजन करे । तपश्चात् इगिणी मरण करने में प्रवृत्त हुआ वह माधु उस सस्तर पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो जाता है और मस्तक व हाथ जोड़कर आत करण में परिणामों को उज्वल करता है । अरिहत मच्छानि को हन्य में विराजमान कर उनके समीप अपने पूव कृत अपराधों की आलोचना करता है । निन्दा गहा करता है । उससे आत्मा को तनमल करता हुआ रत्नत्रय को पवित्र बनाता है । अपनी लेख्या को विशुद्ध करता है । यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा ममत्त बाह्य और आन्तर्य परिग्रहों का त्याग करता है अर्थात् उपकरणों से तथा शरीर स भी ममत्त्व हटा लेता है । अत वह आगत परीषद और उपसर्गों का धैर्य स सहन करता है । अपने अन्त करण को निर्बिकार रखता हुआ धमध्यान का आश्रय लेता है ।

वह क्षपक महामा चक सस्तर पर कायोत्सग में खड़ा रहकर या पर्यक ( पालथी ) आदि आसनो से बैठकर या एक पादों ( पसवाडे ) बाजू से लोटकर धमध्यान में तप्य रहता है । वह मुनिराज अपनी शरीर सम्बन्धी तथा प्रतिलेखनादि सब क्रियाए अपने आप करता है ।

उपसग रहित अवस्था में प्रतिलेखन प्रतिष्ठापना समिति शौच क्रिय के पालन करने में वह सदा सावधान रहता है । किसी काय में वह दूसरों की सहायता नहीं लेता है ।

यदि पूव के शत्रु किसी देव के द्वारा अथवा प्रतिपत्नी किसी मनुष्य के द्वारा अथवा दुष्ट तिर्यंच द्वारा किसी प्रकार का उपसग उपस्थित हो जावे तो वह धीर धीर महामना मुनीश्वर उसका प्रतीकार नहीं करता है । उनके धैर्य रूपी दृढ़ कवच को धीर उपसग रूपी तीक्ष्ण

राक्ष भेदन नहीं कर सकते हैं। उसके अन्त करण में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि उनमें पूरा कष्ट-सहिष्णुता होती है। इस इगिखी मरण की आराधना करने वाले महामुनि होते हैं। इनके आदिम तीन उत्तम सहनन होते हैं। हीन सहनन का धारक इस पद्धित मरण का अधिकारी नहीं हो सकता। उनका सस्थान (शरीर का आकार) भी उत्तम होता है। वे निद्रा विजयी होते हैं। उनका शारीरिक बल एवं आत्म-पराक्रम भी अपूल होता है।

वे आत्मध्यान में लवलीन रहते हैं। उनके तपस्वरण के प्रभाव स वैक्रियिक ऋद्धि, आहारक ऋद्धि, धारण ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धिया उत्पन्न हो जाती हैं फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते।

वे सदा मौनव्रत धारण करने हैं। रोगादि की तीव्र वेदना होने पर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। तथा शीत उष्ण भूख प्यास आदि का प्रतीकार करने की इच्छा तक नहीं करते हैं।

वीभत्स और भयानक रूप धारण करने वाले भूत वेताल राक्षस शाकिनी पिशाचिनी आदि क्षोभ उत्पन्न करने के लिए आवे हुए दुष्ट देवी देवताओं के अनेक प्रयत्न करने पर भी जिनको लेश मात्र भीति उत्पन्न नहीं होती है।

अनेक सुन्दर रूपवाली किन्नर किम्पुक्वादि की देवकन्याएँ उनको लुभाने का प्रयत्न करती हैं तो भी उनका मन-सुमेक चलित नहीं होता है।

यदि सम्पूर्ण जगत् का पुद्गल समूह दुःख जनक पर्याय धारण कर उन धैर्य धुर धर को पीड़ा देने के लिए उपस्थित हो जावे तो भी उनका चित्त ध्यान से व्युत्त नहीं होता है।

अथवा समस्त पुद्गल सुख जनक पर्यायों को धारण कर सम्मिलित हुआ उन परम ध्यानी को सुख देने के लिए चरणों में लौटा करे तो भी उन्हें विचलित करने के लिए समय नहीं हो सकता है।

प्रश्न—न्याय सिद्धादि के द्वारा प्राणियों से न्याय भूमि पर गिरा देने पर वह साधु क्या करते हैं?

सच्चि साहरिदो तत्थोवेकस्वदि विषत्तसम्बवो ।

उवसग्गे य पसते जदब्बाए थडिल्लुवेदि ॥ २०४६ ॥ ( भग आ )

अथ—हरी पास या अन्य जीवों से व्याप्त भूमि में इगिणी मरण करने वाले साधु को यदि व्याघ्रादि लेकरकर फेंक दें तो भी वह मुनीश्वर उपसग काल पयत शरीर से मोह भ्रमत्व रहित रूप परम शान्ति का आश्रय लेकर वहा पर ही ध्यान में लीन रहते हैं और उपसग दूर हो जाने पर स्वयमेव य न से स्थविल भूमि की ओर चले आते हैं ।

इस प्रकार वे मुनिराज उपसग और कषायों को जीतते हैं । मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति द्वारा मन वचन काय वी क्रियाओं को रोककर आत्म ध्यान में अपने को लगाते हैं । आध्यात्मिक तत्त्वों का चिन्तन करते हैं । इसके अतिरिक्त किसी विषय में उनका चित्त प्रवृत्ति नहीं उठरती है । वचन का उच्चारण नहीं करते क्योंकि उन्होंने मौन व्रत धारण किया है । काय से भी तो यन्त्रि कोई क्रिया करनी पकती हो वो बड़ी क्रिया करते हैं जो आत्मध्यान की साधक होती है ।

इस लोक और परलोक के पदार्थों में जीवित रहने और मृत्यु की प्राप्ति में सामारिक सुख में और दुःख में न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं । विपत्ति म धय धारण कर दुःख से कभी नहीं घबराते हैं । केवल आत्म स्मरण मनन चिन्तन और ध्यान में लवलीन रहते हैं ।

वे महागुप्ति वाचना प्रच्छन्ना परिवर्तन ( पाठ ) और धर्मापदेशा इन चार प्रकार के स्वाध्याय को छोड़कर केवल अनुप्रेक्षा ( चिन्तन ) स्वाध्याय को ही करते हैं । दिन का पूव भाग मध्याह्न ( दिन का मध्य भाग ) दिन का अन्त भाग और अघरात्रि इन चार कालों में ती रकरो की दिव्य प्रति होती है । ये स्वाध्याय के काल नहीं माने गये हैं । इनमें भी वे अनुप्रेक्षा ( चिन्तन ) रूप स्ना याय करते हैं ।

तापय यह है कि रात्रि दिवस आठों पहर तत्त्व चि तन म रत रहते हैं । निद्रा नहीं लेते हैं । यन्त्रि लेना ही पडे तो अल्प निद्रा लेकर प्रमद रहित हो पुन तत्त्व चिन्तना करने लगते हैं ।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का आचरण करने वाले मुनियों को स्वाध्याय काल का ध्यान ( स्वयाल ) रखना पकता है उससे उनके चित्त में विक्षेप होता है तथा क्षेत्र अग्रुद्ध होने पर ध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है अतएव आपने उनके आठों पहर चौबीस घण्टे आत्मध्यान कैसे कह ?

उत्तर—उन मुनिराज के स्वाध्याय के काल की गवेषणा और क्षेत्र की शुद्धि नहीं होती है । उनको तो श्मरान में भी ध्यान करने का निषेध नहीं किया गया है ।

प्रश्न—क्या वे मुनि के ब्रह्म आबरयक ( सामायाकादि ) कम भी नहीं करते हैं ? तथा उपकरणादि का प्रतिलेखन भी नहीं पृ कि ५

करते हैं ?

उत्तर—वे यथ समय ब्रह्म आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य करते हैं। उपकरणों का प्रतिलोचन भी प्रयत्न पूर्वक प्रातः और सायं दोनों समय बराबर करते हैं। किन्तु यदि आवश्यक कर्म में स्थलन होजावे मिथ्या मया कृत मैंने मिथ्या किया ऐसा बोलते हैं और बन्दनादि क्रिया के लिए ज्ञाते अथवा आसिका शब्द और वहाँ स निकलते समय निषीधिका शब्द का उच्चारण करते हैं।

प्रश्न—उन महासुनीश्वरों के यदि पाव में काटा लग जावे या नेत्र में कुछ गिर पड़े तो वे उन्हें ( कंटकादि को ) अपने हाथ से निकालते हैं या नहीं ?

उत्तर—उनके पादादि में कंटकादि लग जावे या आँखों में रज कूड़ा आदि गिर जावे तो उसको वे अपने हाथ से नहीं निकालते हैं। न किसी को निकालन के लिए कहते हैं। यदि स्वयं दूसरा कोई मनुष्य निकालन लगे तो वे मौन चारण करते हैं। रोगादि का प्रतीकार भी नहीं करते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विक्रिया चारण क्षीरस्नावित्व आदि ऋद्धियों का उपयोग भी नहीं करते हैं।

प्रश्न—इगिणी मरण विधि का पालन करने वाले मौन प्रती मुनीश्वर किसी के प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं या नहीं ?

उत्तर—वेव या मनुष्य के धर्म विषयक प्रश्न करने पर थोड़ा धर्मापदेश भी देते हैं ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

इस प्रकार इगिणी मरण विधि का साधन कर कई कम-क्लेश का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं और कई वैमानिक देव होते हैं।

इस प्रकार इगिणी मरण का बखान समाप्त हुआ।

### पङ्क्तिमरण का तृतीय भेद प्रायोपगमन

श्वरिं तबसघारो पाओवगदम्स होदि पडिसिद्धो ।

आदपरपओगेथ य पडिसिद्ध सच्चपरियम्म ॥ २०६४ ॥ ( भग था )

अथ—भक्त प्रत्याख्यान विधि का आचरण करने वाला मुनि अपना वैयावृत्त्य आप भी करता है तथा दूसरे से भी करवाता है। इगिणी मरण विधि का पालक अपना वैयावृत्त्य दूसरे से नहीं करवाता वह अपना वैयावृत्त्य स्वयं करता है। किन्तु प्रायोपगमन नामक पङ्क्ति मरण का आचरण करने वाला महासुनीश्वर अपना वैयावृत्त्य आप भी नहीं करता है और दूसरों से भी नहीं करवाता है। उसके लुखों का सथारा

सं प्र

पृ कि ५

भी नहीं होता। उसके लिए सब प्रकार की शरीर-शुद्धि वर्जित है।

प्रश्न—रोगादि से पीड़ित होने पर औषधादि का सेवन तथा परीषद् उपसर्ग का निवारण, फंटकादि का छद्मण (निष्कलना) आदि क्रियाएँ वे स्वयं नहीं करते हैं न दूसरे स करवाते हैं और कोई करना चाहे तो न करने देते हैं। किन्तु मलमूत्रादि का निराकरण तो वे अवश्य करते ही होंगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर प्रयोग से अर्थात् स्व या परके प्रयत्न से मलमूत्रादि का निराकरण भी नहीं करते हैं। कहा है —

सो सन्लोहिद देहो जम्हा पाओवगमयासुवजादि ।

उचरादिविकिंचखमवि स्यात्थि पओगदो तम्हा ॥ २ ६५ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—प्रायोपगमन मरण विधि का प्रारम्भ करने वाला महामुनीश्वर पहले से अपने शरीर को सम्यक् प्रकार से इतना कुरा कर लेता है कि उसके शरीर में केवल अस्थि और चम ही शेष रह जाता है। पश्चात् प्रायोपगमन संन्यास विधि का प्रारम्भ करता है। अतएव उसके मलमूत्र की किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है। बाधा के अभाव में स्व तथा परके प्रयत्न से मलमूत्र का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

प्रश्न—प्रायोपगमन संन्यास विधि का सवन करने वाले महामुनीश्वर को यदि व्याघ्रादि किसी दुष्ट तित्थ ने अथवा किसी पूव जन्म के बैरी मनुष्य या देव ने जीव जन्तुओं से सकल भूमि भाग में लेजाकर फेंक दिया हो तो वे क्या करेंगे ? वहा ही रहेंगे या वहा से उठकर अथ जीव जन्तु रहित स्थान में चले जावेंगे ?

उत्तर—वे महामुनीश्वर परम धैर्य के चारक ब एकाग्रचित्त होते हैं। वे वहा से नहीं उठते। उसी जगह आ-मग्यान में लीन रहते हैं। शास्त्र में कहा है —

पुदवीआऊतेऊवखण्फदितसेसु जांद वि साहरिदो ।

बोसडुचचदेहो अघाउग पालए तत्थ ॥ २०६६ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—प्रायोपगमन विधि का सेवन करने वाले परम तपोधन को यदि कोई विरोधी मनुष्य या देव सचिच पृथ्वी पर नदी समुद्रादि जलाशय में, दहकती हुई आग्नि के पुंज में लहराती हुई सस्य आदि वनस्पति सहित बौद्ध बन में या जीव जन्तु से व्याप्त किसी

भयानक प्रदेश में लेजाकर पटक दे तो वे परम धीर वीर मुनीश्वर वहा स नहीं उठते हैं । आयु पर्यंत उसी स्थान में व्यो के लों निश्चल रहकर आत्मध्यान में लीन रहते हैं ।

मुनिमात्र जल स्नान के त्यागी होते हैं । यदि कोई अज्ञानी जीव भक्ति के वश उनका जलसे अभिषेक करने लगे या गंध पुष्पादि से पूजा करने लगे तो वे उस पर प्रेम नहीं करते हैं । तथा कोई विरोधी जीव उनपर शस्त्रादि का प्रहार करने लगे तो वे उस पर क्रोध नहीं करते हैं । कहीं भी वे उठा कर गिरा दिये जावें तो व्यो के लों पड़े रहेंगे । एकाग्रचित्त हो आत्म-स्वरूप में मग्न रहना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं ।

उपसग से हरण किये हुए महामुनि का अन्य स्थान में मरण होजाने पर वह नीहार मरण कहलाता है और उपसग के अभाव में मुनिराज का जो स्वकीय स्थान में मरण होता है वह अनीहार मरण कहलाता है । इस प्रकार प्रायोपगमन सन्यास का वरण हुआ ।

प्रश्न—एक तीन पक्षित मरण के भेदों के अतिरिक्त भी पक्षित मरण होता है या नहीं ?

आगाढे उवसग्गे दुब्भिकखे सच्चदो वि दुत्तारे ।

कदजोगिसमाधियासिय कारखजादेहिं वि मरति ॥ २०७२ ॥ [ भग आ ]

अथ—बलवान् ( प्राणघातक ) उपसग के प्राप्त होने तथा दुर्निवार दुष्काल पड़ जाने पर तथा अथ आयु नाशक कारणों के उपस्थित होने पर परीषद् उपसग का सहन करने में समर्थ धीर वीर मुनीश्वर रत्नत्रय की साधना के लिए आत्मध्यान में लीन हुए प्राण त्याग करने में उत्साही होते हैं ।

प्रश्न—इस प्रकार उपसगादि आने पर आत्म ध्यान में लीन होकर प्राणों का उपसग करने वाले परम ध्यानी मुनि कौन २ हुए हैं ? उनका उदाहरण दीजिए ।

उत्तर—धर्मसिंह वृषसत्सेनादि अनेक पुरुषपुंगव हुए हैं । इनोंने भयानक उपसगों के आने पर रत्नत्रय की आराधना करते हुए शान्ति से प्राणों का त्याग किया है ।

कोसलय धम्मसीहो अट्ट साघेदि गिद्धपुच्छेख ।

खपरम्मि य कोट्टगिरे चदसिंरिं विण्णजहिद्व ॥ २०७३ ॥ [ भग आ ]

अथ -अयो या के राजा घमसिंह ने चन्द्रमौ नाम की अपनी पत्नी का त्यागकर कोल्लगिरि नामक पर्वत पर गृहपिच्छ से युक्त होकर अपने आत्मीय अथ ( रत्नत्रय ) की साधना की ।

पाटलीपुत्र ( पटना ) नगर में अपनी सुता के निमित्त मामा का उपसर्ग सहकर वृषभसेन नाम के पुत्रवत्सल ने आत्मीय अथ ( रत्नत्रय ) का साधन करते हुए वैश्वानस मरण किया अर्थात् श्वास रोध कर आराधना की ।

इस प्रकार अनक उदाहरण आगम में विद्यमान हैं । जिन्होंने प्राण घातक संकट के आ जाने पर शक्ति से पहिन मारण कर आत्मा के कल्याणकारी सम्यग्दर्शनादि की साधना में बाधा न आने दी ।

सारारा यह है कि यह शरीर किसी न किसी निमित्त को पाकर अग्रय नष्ट होने वाला है । इस मनुष्य शरीर को रत्नत्रय धम के आचरण में लगाने से ही इस की सफलता है । इन्हीं लिए प्राणों का घात करने वाले भयानक संकट के उपस्थित होने पर भी भेद विज्ञान रूपी सजीवनी औपधि का सवन करते हुए सब पापों से मन्त्र हटाकर आत्म ध्यान में आत्मा के स्वरूप चिन्तन में ही चित्त को एकत्र करना उचित है ।

अथ परिहृत परिहृत मरण का निरूपण करते हुए प्रथम जीवमुक्ति की उपत्ति का क्रम दिखलाते है ।

साहू जहुत्तचारी वट्ट तो अप्पमत्तकालम्मि ।

भाण उवेदि धम्म पविट्टिकामो खवगसेदिं ॥ २०८८ ॥ [ भग आ ]

अथ -आचार शास्त्रों ( आचारागानि ) के अनुसार आचरण करने वाला अप्रमत्तगुण स्थान में वृत्तमान साधु सपक प्राणि में प्रवेश करने का इच्छुक हुआ उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त होकर धमध्यान का आश्रय लेता है ।

धम ध्यान का अन्तरङ्ग मरण आत्म विशुद्धि है उसकी निरन्तर प्राप्ति होता रहे उसके लिए बाह्य निमित्त का आवश्यकता होती है । अत ध्यान के बाह्य निमित्त का निरूपण करते हैं—

सुचिए समे त्रिचित्त देसे शिज्जतुए अणुणखाए ।

उज्जुअआयददेहो अचल बधेत्तु पलिअक ॥ २०८८ ॥ ( भग आ )

अथ जिम यान पर मुनि ध्यान करे वह उसके स्वामी की आज्ञा से प्राप्त हो अर्थात् क्षेत्र के स्वामी मनुष्य देवादि से आज्ञा लेली गई हो। तथा वह रगन पवित्र हो समतल और जीव जंतुओं से रहित हो। उस स्थान में ध्याता निश्चल चार अंगुल अंतर बाजे दोनों पाँवों पर खड़ा रह कर अथवा पश्चासन वीरासन पर्यंक्रानादि में स जो आसन सुखकर प्रतीत हो उस आसन से बैठकर या उत्तानशयानादि से सोते हुए यान पर मकते हैं। ध्यान की विधि पहले ध्यान के वगन में विराट् रूप से कह आये हैं। उसको लक्ष्य में रखकर जिस प्रकार प्रमाण रहित हुआ चित्त की एकाग्रता कर सके वैसे ध्यान का परिकर प्रहण करे। ध्याता की लेखा अतिविशुद्ध होनी चाहिए और जिनागम में वर्णित जीवात् तत्त्वों की तरफ अपना उपयोग केन्द्रित करे और निरन्तर आम परिणामों की धारा को उत्तरोत्तर नियम करता हुआ धम ध्यान मय उपयोग करे।

धम ध्यान में लीन हुआ वह मुनि सप्तम गुण स्थान में अनतानुषंगी क्रोध माना माया लोभ न चार प्रकृतियों का विसर्गजन (अप्रत्यायानात् उत्तर प्रकृति रूप) करता है तथा मिथ्याव समयमिथ्याव और सम्यक् प्रकृति का क्रम से क्षय करता है। इन सात प्रकृतियों का क्षयकर ज्ञायिक सम्यक् दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी के सम्मुख होता है और सप्तम गुण स्थान के सातिशय भाग में अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों का क्षय चौथे गुण स्थान में लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुण स्थानों में कहीं भी होता है। जिस मुनि ने पहले के चतुर्थादि तीन गुण स्थानों में उक्त सात प्रकृतियों का क्षयकर ज्ञायिक सम्यग्गान नहीं प्राप्त किया है वह सातवें गुण स्थान में उनका क्षयकर ज्ञायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी का आरोहण करता है और वहा पर अधःप्रवृत्तकरण को प्राप्त करता है।

इसके पश्चात् वह क्षपक मुनि क्षपक श्रेणी की पहली सोटी जो अपूर्णकरण है उस पर आरूढ़ होता है। ये परिणाम कभी पहले प्राप्त नहीं हुए हैं इसलिए नको अपूर्णकरण कहते हैं। क्योंकि अनादि काल से इस जीव ने अन्यध्यान का आराधन कर शुक्लध्यान का प्रथम भेद कभी प्राप्त नहीं किया है। अतः यह अपूर्ण (पूर्व काल में अप्राप्त) करण (परिणाम) कहल ते हैं।

जब वह मुनि उक्त प्रकार अपूर्णकरण गुणस्थान में पृथक्त्ववितकवोचार नामक शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर लेते हैं तब उसके अनन्तर अनिवृत्ति करण नवमे गुणस्थान में प्रविष्ट होकर १ निम्न निम्न २ प्रचला प्रचला ३ स्थानगुद्धि इन तीन निम्नों का क्षय करते हैं। तथा ४ नरकगति ५ नरकगत्यानुपूर्वी ६ स्थावर ७ सूक्ष्म ८ साधारण ९ अतप १० उद्योत ११ तिर्यग्गत्यानुपूर्वी १२ एकैन्द्रिय १३ द्वीन्द्रिय १४ त्रीन्द्रिय १५ चतुरिन्द्रिय १६ तिर्यग्गति इस प्रकार इन सोलह प्रकृतियों का क्षय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में करते हैं।

तत्त्वज्ञान् अप्रत्याख्यान १७ क्रोध १८ मान १९ माया २ लोभ तत्प्रत्याख्यान २१ क्रोध २२ मान २३ माया २४ लोभ ये आठ मध्यम कषाय हैं इनका अनिवृत्ति करण के दूसरे भाग में क्षय करते हैं ।

२५ नपुंसक वेद का अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग में क्षय करते हैं ।

२६ स्त्री वेद का विनाश इसके चतुर्थ भाग में करते हैं ।

२७ हास्य २८ रति २९ अरति ३ शोक ३१ भय और ३२ जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का घात सके पाँचवें भाग में करते हैं ।

छठे भाग में ३३ पुरुष वेद का निघातन करते हैं ।

सातवें भाग में ३४ संखलन क्रोध का विघात करते हैं ।

आठवें भाग में ३५ संखलन मान का विलय करते हैं ।

नवमें भाग में ३६ संखलन माया का क्षय करते हैं । और बादर कृष्टि विभाग से लोभ को कृश करते हैं ।

इस प्रकार उक्त छत्तीस प्रकृतियों का सहार वे क्षपक अनिवृत्तिकरण के नव भागों में पृथक्त्व वितक अवीचार शुक्लध्यान के द्वारा करके सूक्ष्मसाम्परायगुण स्थान में पहुँचते हैं । वहा पर वे सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त होकर स बलन सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुए सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती होकर पृथक्त्व शुक्लध्यान के प्रकष स सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अत समय में सूक्ष्मसंखलन लोभ का भी क्षय करते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय कम का क्षय होने पर क्षीणकषाय गुणस्थान को प्राप्त होते हैं । वहा पर वे क्षपक पक्त्व वितक अवीचार शुक्लध्यान का आराधन करते हैं । अर्थात् क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम समय में शुक्लध्यान के द्वितीय भन् एक बवितक अवीचार की प्रारित करते हैं ।

“स शुक्लध्यान के द्वितीय भेद के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र होता ।” म चारित्र के बल से जीव ज्ञानादि गुणों को अन्यथा करने वाले ज्ञानावरण दशानवरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का एक समय में नाश करते हैं ।

जैस तालवृक्ष की मल्लक सूखी का छेदन होने पर सम्पूर्ण ताल का वृक्ष सूख जाता है उसमें नये पत्र पुष्प फलादि नहीं आसकते हैं । वैस ही मोहनीय कम का नाश होने पर ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का भी विनाश हो जाता है ।

मोहनीय कम की सहायता पाकर ही वे ज्ञानावरणादि कर्म में अज्ञान दि भावों को उत्पन्न करते थे । मोहनीयकम का विनाश स प

होने पर उनमें अज्ञानादि भाव उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है।

तीर्णकषाय के त्रिचरम समय ( उपान्त समय ) में निम्न और प्रचला इन दो प्रकृतियों का नाश होता है और उसके अनन्त समय में चौदह प्रकृतियों ( ५ ज्ञानावरण, ४ दशनावरण ५ अंतराय ) का नाश हो जाता है।

**तृचो अंतरसमय उप्पज्जदि सव्वपज्जवधिचघ ।**

**केवलबाध सुद्ध तघ केवलदमय चेष ॥ २१०३ ॥ [ भग आ ]**

अथ—उसके अनन्तर ही सम्पूर्ण द्रव्यों की त्रिकालवर्ती क्षमस्त पदार्थों की युगपत् हस्तरेखा समान स्पष्ट प्रत्यक्ष जानने वाला सम्पूर्ण दोष रहित निमल केवलज्ञान व केवलदशान प्रादुर्भूत होता है। यह किसी पदार्थ में काल में व किसी क्षेत्र में ढकता नहीं है इसलिये अत्र्याघात है। यह निश्चयात्मक है इसलिये असंदिग्ध है। समस्त गुणों में उत्कृष्ट है इसलिये उत्तम है। मतिज्ञानादि की तरह संकुचित नहीं है इसलिये असंकुचित है। यह नाश से रहित है इसलिये अनिवृत्त है। यह अधूरा नहीं है इसलिये सफल है। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता नहीं है अतएव यह केवल कहलाना है। जैसे भूत भावी वत्तमान पदार्थों के अनेक चित्र जिसमें लिखे हुए हैं ऐसे चित्रपट को वत्तमान में हथ स्पष्ट देख सकते हैं, वैसे ही त्रिकालवर्ती समस्त शुष्ण पदार्थों सहित समस्त लोक अलोक का युगपत् एक समय में चित्रपट की तरह वे केवल ज्ञान के धारक भगवान् केवली क्षणिक अवलोकन करते हैं।

वह क्षणिक सुवत्तमान आसुक्ष्म के शेष भाग पयन्त केवली अवस्था में विहार करते हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अन्तस्सुद्ध सहित आठ वष हीन एक पूव कोनी वष पयन्त सयोग केवलज्ञान अवस्था में अघाति वर्मों को भोगते हुए इस मनुष्य पर्याय में रहकर आद्य क्षेत्र में विहार करते हैं और यथाख्यात चारित्र को वृद्धिगत करते हैं।

उसके अनन्तर वे केवली भगवान् अघाति कमा का नाश करने के लिए अवशिष्ट जो सात प्रकार का बोग है उसका निरोध करते हैं। वह बोग निरोध बिना इच्छा के ही होता है। अर्थात् सत्य वचन योग अनुभय वचन योग सत्यमनोयोग, अनुभवमनोयोग, औदारिक काव्ययोग औदारिक मित्रकर्मयोग और कामयोग इन सातों योगों के व्यापार को रोकते हैं।

**समुद्घात का दर्शन**

**उक्कस्सयस्य उम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।**

**वच्चति समुद्घाद सेमा मज्जा समुद्घादे ॥ २१०६ ॥ [ भग आ ]**

अथ—उत्कृष्ट रूप से आयु के जड़ मांस बाँकी रहने पर जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है वे अवश्य समुद्रघात करते हैं। रोष केवलियों के लिए समुद्रघात विकल्पनीय है।

भावाय—मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशों का द्रव्य कपाटादि रूप होकर शरीर के बाहर निकलना समुद्रघात कहलाता है। जिनको उत्कृष्ट जड़ मांस की आयु रोष रहने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाने के तो निष्काम से समुद्रघात करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वैवनीय की स्थिति आयु कम के समान होती है वे केवली समुद्रघात नहीं करते हैं। जिनके नाम गोत्र और वैवनीय कर्म की स्थिति आयु कम से अधिक होती है वे केवली समुद्रघात करते हैं।

प्रश्न—आयु का कितना काल रोष रहने पर केवली भगवान् समुद्रघात करते हैं ?

उत्तर—भुयमान आयु का अन्तमुहूर्त रोष रह जाता है उस समय उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयु कम के समान करने के लिए केवली भगवान् समुद्रघात करते हैं।

प्रश्न—समुद्रघात करने से नामादि कर्मों की अधिक स्थिति कम कैसे हो जाती है ?

उत्तर—जैसे सिमटा हुआ गीला वस्त्र अधिक काल में सूखता है पर वही कपड़ा फैला देने पर शीघ्र सूख जाता है वैसे ही समुद्रघात के द्वारा कर्म की स्थिति का कारण जो स्नेह ( चिकनाई ) है वह सूख जाता है और वह शीघ्र निजरा के योग्य हो जाता है। अर्थात् कर्मों की स्थिति कम हो जाती है।

प्रश्न—केवली भगवान् नामादि कर्मों को समान करने के लिए किस तरह समुद्रघात करते हैं ? और उसमें कितना काल लगता है ?

उत्तर—केवली भगवान् आत्म-प्रदेशों को प्रथम समय में द्रव्यकार निकालते हैं। दूसरे समय में वे कपाट रूप होते हैं। तीसरे समय में प्रतराकार होते हैं अर्थात् वातबलव को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। चौथे समय में वातबलव सहित समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं। पाचवें समय में उनको संकोच कर प्रतराकार करते हैं। छठे समय में कपाटाकार करते हैं। सातवें समय में द्रव्यकार करते हैं और आठवें समय में वे आत्म शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये बार समय संकोच करने के हैं। इस प्रकार समुद्रघात में आठ समय लगते हैं।

इस प्रकार समुद्रघात के द्वारा तीनों कर्मों की स्थिति आयु कम के समान करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए योग्य का निरोध करते हैं

## योगनिरोध

प्रश्न—योगों का निरोध किस क्रम से करते हैं ?

उत्तर—वे केवली भगवान् वादर वचनयोग और वादर मनोयोग का वादर काययोग में स्थिर निरोध करते हैं। तथा वादर काययोग का सूत्र काययोग में स्थिर होकर निरोध करते हैं। तथा सूत्र वचनयोग सूत्र मनोयोग को भी सूत्र काययोग में स्थिर होकर रोकेते हैं।

उक्त नेरया के धारक वे केवली भगवान् सूत्र काययोग स सातावेदनीय कर्म बध रते हैं। तब उनके सूत्रमक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान द्वारा वे सूत्र काय योग का निरोध करते हैं। अब कोई याग नहीं रहता है इसलिए उनके आत्म प्रदेश निश्चल हो जाते हैं। अब उनके सातावेदनीय कर्म का भी बाध नहीं होता है। क्योंकि उनके बाध का कारण केवल योग था उसका भी नाश हो जान पर उतके समस्त बध का अभाव हो जाता है।

योगनिरोध के बाद कौनसी कर्म प्रकृतिया रहती हैं ?

उस समय उनके १ मनुष्यगति २ पचेन्द्रिय जाति ३ पर्याप्ति ४ आदेय ५ सुभग ६ यशकीर्ति ७ सातावेदनीय, या असातावेदनीय इन दोनों में से एक ८ त्रस ९ वादर १० उच्छात्र और ११ मनुष्यायु इन ग्यारह कर्मों का वे अनुभव करते हैं। जो तीर्थंकर केवली हैं, उनके एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक होने स उनके १२ कर्मों का अनुभव होता है। जो मूक केवली हैं उनके उक्त ग्यारह कर्मों का ही उदय रहता है।

औदारिक शरीर वैजस शरीर तथा कामण शरीर इन तीन शरीर का बाध नष्ट करने के लिए वे अयोग केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती ( व्युपरतक्रियानिवर्त्ती ) नामक शुक्ल ध्यान के अथ भव को ध्याते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाच ह्रस्वस्वर के उच्चारण काल के समान काल है। अर्थात् जितना समय न पाच स्वरों के उच्चारण करने में लगता है उतने समय तक वह इस शरीर में रहते हैं।

इस गुणस्थान के उपान्त्य ( द्विचरम ) समय में उदय में नहीं आई हुई मव प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अर्थात् तिहत्तर प्रकृतियों का क्षय करते हैं। और इसके अन्त समय में वह अयोग केवली भगवान् यदि तीर्थंकर हों तो बारह प्रकृतियों का और सामान्य केवली हों तो ग्यारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं।

नाम कम के लय स तैजस बच का नाश होता है और आयु कम के नाश स औत्तारिक बच का लय होता है। इस प्रकार ब घन स युक्त हुए वे केजली भगवान बन्धन युक्त एरुड बीज के समान उत्कृष्ट वेग म ऊपर गति करके सिद्धालय में जाकर विराजमान होते हैं।

### शुद्ध जीव की गति कैसे होती है ?

जस 'मट्टी आदि वे लेप म युक्त तृन्वी जल में डूबी रहती है लेप रहित होते ही जल के ऊपर आ जाती है वैसे ही जीव कम लेप स युक्त हुए ससाग मे पद रहते हैं और कम लेप स रहित होकर प्रयोगवशा से स्वभावत ऊर्ध्व गमन कर लोक के शिखर में जाकर विराजमान होते हैं। वे एक समय में सात राजू क्षेत्र को पार कर वातवलय के अन्त भाग म जाकर निश्चल हुए आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं।

जैम वायु के भौंक के अभाव में अग्नि की लो सदा ऊ व गमन करती है वैसे कमौन्त्य के भौंके से रहित हुए शुद्ध परमासा स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते हैं। आगे गति में कारण भूत धम द्रव्य के न हाने स लोक के अन्तिम सिरे पर जाकर वे स्थिर हो जाते हैं। अलोक में घनका गमन स्थलिये नहीं होता है कि वहा धम द्रव्य नहीं है। धम न्य ही गति करते हुए जीव पुद्गलों का गमन कम में सहायक होता है। जैसे रेल के गमन करने के लिए पटरी तथा मज्जली की गति के लिए जल सहायक हाता है वस ही जीव और पुद्गलों की गमन क्रिया म धम द्रव्य सहायकी होता है। वह आगे नहीं है अत युक्त जीव लोक की आतम सीमा पर जो सिद्धालय है वहा विराजमान हो जाते हैं। सो ही कहा है —

सिद्धशिला कहा है ?

ईसप्यम्भाराए उवर्णि अर्च्छदि सो जोयसम्मि सीदाए ।

धुवमचलमजरठाञ्ज लोगसिहरमस्सिदो मिद्धो ॥ २१३३ ॥ [ भग आ ]

अथ—ईषत्प्रागभारा नाम का आठवीं पृष्ठी है। उसके ऊपर किंचित् ऊन (कुछ कम) एक योजन प्रमाख वातवलय का क्षेत्र है। उसके अत में जो लोक का शिखर है उसमें सिद्ध भगवान विराजमान हैं। वे शारवत और अचल हैं। तथा जरा बन्धन मरुत्वादि दोषों से रहित अनत चतुष्टय में मग्न हैं।

साराशा यह है कि लोक के अप्रभाग में ईषत्प्रागभार नाम की एक पृष्ठी है। जो मध्य में आठ योजन मोटी (जाड़ी) है और फिर क्रमशः हीन (पतली) होती हुई अन्त में सिरे पर अगुल के असंख्यातवें भाग पतला हो गई है। उसका विस्तार (अर्ध्याई-चौथाई)

पतालीस लाख योजन प्रमाण है। वह उत्तानित रवेत द्वज क समान आकार वाली है। उसकी परिधि (गोलाई) १४२३०२४६ एक करोड़ बियालीस लाख तीस हजार दोसौ उनचास योजन प्रमाण है। उसके ऊपर कुल कम एक योजन प्रमाण वातबलय है। उसके अन्तिम भाग में अ नो अपनी अन्तिम शरीर प्रमाण अवगाहना से सिद्ध भगवान् बिराजमान हैं। वे शाश्वत हैं अचल हैं और जरा मरणादि सब दूषणों से पृथक् हैं तथा अतन्त ज्ञान-ज्ञान मुख और बीज रूप अनन्त चतुष्टय से शोभित हैं।

सिद्ध भगवान् की अवगाहना (आमप्रदेशों का आकार) जिस शरीर से योग निरोध कर मुक्त हुए हैं उस चरम शरीर से विचित्र ब्रून होती है। अथवा नख कशादि जिन अवयवों में आम प्रदेश नहीं होता है उतनी कम अवगाहना के धारक होते हैं।

### सिद्धावस्था का मुख

प्रश्न—सिद्ध भगवान् को किस प्रकार का मुख होता है ?

देविदचक्रवड्डी इदियसोक्त्त च ज अणुहवति ।

सदरसरूवगधफरिसप्ययुत्तम लोए ॥ २१४८ ॥

अव्वाबाध च सुह सिद्धा ज अणुहवति लोगमे ।

तम्स हु अखतभागो इदियसोक्त्त तय होज्ज ॥ २१४९ ॥ [ भग आ ]

अर्थ—लोक में उत्कृष्ट मुख का अनुभव करने वाले देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती उत्तमोत्तम स्वरा रस गन्ध रूप व शब्द इत्यादि का सेवन कर जो मुख भोगते हैं वह मुख इस लोक में सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वह लोक का एकत्र किया हुआ सम्पूर्ण मुख सिद्ध भगवान् के मुख का अनन्तवर्ती भाग है और यह कहना भी केवल समझने के लिए है क्योंकि संसार मुख और मुक्ति मुख का जाति भिन्न है।

आ १४—सिद्धों का मुख अतीन्द्रिय व आत्मजन्य है। संसार के मुख पराधीन इन्द्रियजन्य होने से तुच्छ है। सिद्धों का मुख अठ्याबाध (बाधा रहित) है और सासारिक मुख बाधा सहित है। अतः आत्मजन्य और पुद्गलजन्य मुख में समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। संसार का मुख मुख नहीं किन्तु दुःख की किंचित् निवृत्ति रूप कल्पना मात्र है। इसलिए वास्तव में मुख नहीं है और सिद्ध भगवान् के कर्मों का सबथा अभाव होने से तेषा मात्र दुःख का अस्तित्व नहीं रहा है। वहाँ केवल निरन्तर अनुभव मुख का स्रोत बहता रहता है। अतः उनको अनन्त सुखी कहा जाता है। ऊपर दृष्टान्त द्वारा जो सिद्ध भगवान् के मुख की तुलना की गई है वह केवल मूढ बुद्धि संसारो

जीवों के समझने मात्र के लिए है उनका अनिन्दित्य सुख का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है।

अणुवममेयमकवयममलमजरमरुजमभयमभव च ।

एयतियमच्चवतियमन्वावाध सुहमजेय ॥ २१५३ ॥ [ भग आ ]

अ२—हे भयोत्तमो ! इस जगत् में सिद्धों के सुख के समान या उससे अधिक सुख दूसरा कोई सुख नहीं है जिसकी उपमा सिद्ध सुख क दी जा सके। इसलिए सिद्धों का सुख अनुपम ( उपमा रहित ) है। दुःखस्य जीव सिद्धों के सुख को जानने में तथा उसका परिमाण प्रतीत करने में असमर्थ हैं अतः वह अनुल ( अभेय ) है। इसमें प्रतिपत्ती दुःख का सवथा अभाव है इसलिए यह अक्षय है। "समें ॥ ग लोषानि का स र्फ नहीं है अतः यह अमल है। जरा ( वृद्धावस्था ) से राहत होने से यह अजर है। समें रोग का ससग तक नहीं है न लिए य अरुण है। भय रहित होने से यह अभय है। ससार भ्रमण से मुक्त है अतः यह अभव है। यह सिद्ध सुख आत्मा से ही उत्पन्न होता है इसलिए सरो पक्षा तक असहाय रहते हैं। स प्रकार यह अनिन्दित्य सिद्धों का सुख सब बाधाओं से रहित होने के कारण अन्याय सुख है

स भग ती ( समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करने वाली ) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तपश्चरण की आराधना का आराधन ( मन्त्र ) करने से यह आ मा तत्काल या सात आठ भव के भीतर परमानन्द पद को प्राप्त कर लेती है। अतएव हे भय जीवो ! "स भगवतो का मैत्रन कर स्वयं भगवान् बनो।

स प्रकर श्री १ ८ दिगंबर जैनाचार्य भा सूयश्वरजी महाराज द्वारा विरचित

सुयम प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वाह्न की दत्तसमाधि अधिकार

नामक पद्यम क्रिण समस्त हुई।



श्रीमती रत्ना जैन धर्मपत्नी स्वर्गीय ला जुगामदर दास जैन कैलाश नगर	२ /
श्री सत्यपाल सिंह जैन प्रवीण कुमार जैन गली न १ कैलाश नगर	२१ /
श्रीमती डिम्पली देवी जैन धर्मपत्नी राजन लाल जैन (सधना)	२१ /
श्री धनपाल सिंह सजय कुमार जैन अन्नगण मंडी (पीपी)	२ /
श्री महेश कुमार विक्रम जैन ३ इन्टर प्राइमिड शाहादर	५ /
राम आर २६	२ /
गुण दान	२१ /
गुण दान	१३ /
श्री सहाय चन्द जैन पटना बाल कैलाश नगर	१ /
ला मुरारी लाल जयचन्द गंग छपरौली	१ /
कशा राम एक सस विनीली	१ /
श्रीमती सखकली जैन धर्मपत्नी श्री सुमन प्रसाद जैन गठधन दात	१ /
कैलाश नगर	१ /
श्री अजयभूषण जैन गली २ कैलाश नगर	१ /
ला पदम सैन कडर म जैन गली कैलाश नगर	११ /
श्री निवास जैन गली न १ कैलाश नगर	११ /
श्री प्रकाश चन्द राम चन्द जे सतावे बाल कैलाश नगर	१ /
श्रीमती त्रिशला जे धर्मपत्नी नरग चंद जे	१ /
गली ४ कैलाश नगर	११ /
श्री नर जैन नरेश कुमार जैन चन्द्र नगर	१ /
श्रीमती सीमा जैन धर्मपत्नी पी राजबहादुर जैन	११ /
गली ३ कैलाश नगर	१ /
श्रीमती उषा देवी जैन धर्मपत्नी श्री विनाद कुमार जैन	१ /
गली न ६ कैलाश नगर	१ /
श्रीमती राजरानी जैन धर्मपत्नी देवचन्द कुमार जैन	१ /
श्री पांडुराज्य कैलाश नगर	१ /
ला रूपचन्द राजेन्द्र कुमार जे मीनकी बाल गली न २	११ /
श्री सरण चन्द जैन रामपुर बाल कैलाश नगर	१ /
ला मनक चन्द आदीशंकर कुमार जैन गली न १२ कैलाश नगर	११ /

ला कान्ता प्रसाद अशोक कुमार जैन (बाकली वाले)	११ /
गली न ३ कैलाश नगर	११ /
श्रीमती रेखा जैन धर्मपत्नी श्री अरुण कुमार जैन	११ /
गली न ८ कैलाश नगर	११ /
स्वर्गीय महेन्द्रानी रानी जैन धर्मपत्नी श्री मेलुराम जैन कैलाश नगर	१ /
श्री हेमचन्द्र अजय कुमार जैन गली न ११ कैलाश नगर	११ /
श्रीमती रहली देवी जैन धर्मपत्नी श्री पला राम जैन कैलाश नगर	११ /
१ जयचन्द रामचन्द जैन (विनीली वाले) कैलाश नगर	११ /
ला सलक चन्द मुरझ कुमार जैन (ठिकरी वाले) कैलाश नगर	११ /
ला शिखर चन्द मुकेश कुमार जैन बागनी	११ /
ला श्याम सुन्दर सुनील कुमार जैन उमरोल (भातर वाले)	११ /
श्री रघुवर दयाल महेन्द्र कुमार जैन (विनीली वाले)	११ /
श्रीमती विमला देवी जैन धर्मपत्नी प्रेम चन्द जैन कैलाश नगर	११ /
शशी बाला जैन बूही बलान दिल्ली	११ /
श्रीमती सतोष जैन धर्मपत्नी श्री पवन कुमार जैन	११ /
गली न १ कैलाश नगर	११ /
प धनराज सिंह सुजयीर सिंह जैन अमी नगर सराय	११ /
ला जुगल किशोर सजवीर सिंह जैन अमी नगर सराय	११ /
श्रीमती निमा देवी जैन धर्मपत्नी रिषभ कुमार जैन गाहना	११ /
श्री धार सैन मनार कुमार जैन गली न १२ कैलाश नगर	११ /
ला समत प्रसाद सुखमाल चन्द जैन छपरौली	५१ /
ला खेम चन्द विनाद कुमार जैन छपरौली	५१ /
श्रीमती रूपकली धर्मपत्नी श्री प्रेम चन्द जैन छपरौली	५१ /
पदम चन्द जैन नारायण गड अम्बाला	५१ /
नानुभन विनोद कुमार जैन बडौत	५१ /
श्रीमती राजबाला धर्मपत्नी भापाल सिंह जैन छपरौली	५१ /
पदम चन्द	५१ /
गणदत्त	२५ /

